राजस्थान का बृहत् इतिहास

(1707 से 1818 ई०)

खण्ड 1

लेखक
डॉ० राम प्रसाद व्यास



राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

प्राक्कथन

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी अपनी स्थापना के 16 वर्ष पूरे करके 15 जुलाई 1985 को 17वें वर्ष मे प्रवेश कर चुकी है। इस अवधि में विश्व साहित्य के विभिन्न विषयों के उत्कृष्ट ग्रंथों के हिन्दी अनुवाद तथा विश्वविद्यालय के शैक्षणिक स्तर के मौलिक ग्रन्थों को हिन्दी में प्रकाशित कर अकादमी ने हिन्दी जगत् के शिक्षकों, छात्रों एवम् अन्य पाठकों की सेवा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और इस प्रकार विश्वविद्यालय स्तर पर हिन्दी में शिक्षण के मार्ग को सुगम बनाया है।

अकादमी की नीति हिन्दी में ऐसे ग्रंथों का प्रकाशन करने की रही है जो विश्वविद्यालय के स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों के अनुकूल हों। विश्वविद्यालय स्तर के ऐसे उत्कृष्ट मानक ग्रंथ जो उपयोगी होते हुए भी पुस्तक प्रकाशन की व्यावसायिकता की दौड़ मे अपना समुचित स्थान नहीं पा सकते हों और ऐसे ग्रंथ भी जो अंग्रेजी की प्रतियोगिता के सामने टिक नहीं पाते हों अकादमी प्रकाशित करती है। इस प्रकार अकादमी ज्ञान-विज्ञान के हर विषय में उन दुर्लभ मानक ग्रंथों को प्रकाशित करती रही है और करेगी जिनको पा कर हिन्दी के पाठक लाभान्वित ही नही गौरवान्वित भी हो सके। हमें यह कहते हुए हर्ष होता है कि अकादमी ने 325 से भी अधिक ऐसे दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का प्रकाशन किया है जिनमें से एकाधिक केन्द्र, राज्यो के बोर्डों एवम् अन्य संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत किये गये हैं तथा अनेक विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा अनुशंसित।

राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी को अपने स्थापना काल से ही भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय से प्रेरणा और सहयोग प्राप्त होता रहा है तथा राजस्थान सरकार ने इसके पल्लवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, अतः अकादमी अपने लक्ष्यों की प्राप्ति मे उक्त सरकारों की भूमिका के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती है।

प्रस्तुत पुस्तक 'राजस्थान का बृहत् इतिहास' में औरंगजेब के निधन से सन् 1818 तक का इतिहास विवेचित है। विद्वान् लेखक ने इसमें मात्र राजनीतिक

इतिहास लेखन से हटकर राजस्थान के समृद्ध सांस्कृतिक इतिहास का भी सम्यक् निरूपण किया है। पुस्तक निश्चय ही इतिहास के स्नातकोत्तर छात्रों, शोधार्थियों और अध्यापकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी क्योंकि इसमें लेखक के गंभीर अनुसंधान एवं मनन का सार निहित है।

हम इसके लेखक डॉ. रामप्रसाद व्यास, जोधपुर, विषय सम्पादक डॉ. गोपीनाथ शर्मा, उदयपुर एवं भाषा सम्पादक श्री. रामजन्म चतुर्वेदी, जयपुर के प्रति प्रदत्त सहयोग हेतु आभारी हैं।

हीरालाल देवपुरा
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, एवं
शिक्षा मंत्री, राजस्थान सरकार, जयपुर

डॉ. राघव प्रकाश
निदेशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

प्रस्तावना

राजस्थान का इतिहास शौर्य, सौन्दर्य, साहित्य और कला का अनुपम सामंजस्य प्रस्तुत करता है। राजस्थान की गरिमा मंडित ऐतिहासिक परम्पराएं मातृभूमि की रक्षा तथा स्वतन्त्रता हेतु विभिन्न राजवंशों, शासको, वीरो तथा सर्वसाधारण जनता द्वारा किए गए उत्कट संघर्ष के लिए चिर स्मरणीय है। राष्ट्रीय संस्कृति के परिरक्षण तथा जीवन के लिए किए गए अथक प्रयास अनुकरणीय है। बलिदान और प्राणोत्सर्ग की आकांक्षाएं, त्यागपूर्ण साधनाएं, वीरागनाओं के जौहर की भभकती ज्वालाएं आदि सदैव प्रेरणास्पद रहेंगी। राजस्थान का यह गौरवयुक्त रोमांचकारी इतिहास तथा समृद्ध संस्कृति इतिहास के एक सवेदनशील विद्यार्थी के लिए अत्यधिक आकर्षण का विषय है। अस्तु तीन दशक से भी अधिक समय तक स्नातक और स्नातकोत्तर कक्षाओं में इतिहास का अध्यापन करते हुए राजस्थान का इतिहास तथा संस्कृति मेरे विशिष्ट अध्ययन एवम् अनुसंधान का विषय रहा है।

राजस्थान के इतिहास का अन्वेषण तथा प्रस्तुतीकरण करने का प्रशंसनीय प्रयास कर्नल जेम्स टॉड, कविराजा श्यामलदास, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पंडित विश्वेश्वरनाथ रेऊ, पंडित रामकरण आसोपा, जगदीशसिंह गहलोत, डॉ. दशरथ शर्मा और डॉ. मथुरालाल शर्मा जैसे प्रतिष्ठित विद्वानों तथा इतिहासकारों ने किया है। किन्तु उन्होने भारतीय इतिहास के संदर्भ में राजस्थान के रजवाड़ों का केवल वंशगत राजनीतिक इतिहास का सूत्रमापन किया। उसके समृद्ध सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक इतिहास पर यथेष्ठ ध्यान नही दिया। प्रायः शासको का इतिहास उनके ग्रन्थों का मूल विषय रहा था। उनके ऐतिहासिक ग्रन्थों में सर्वांगीण एवम् जन जीवन के दृष्टिकोण को नहीं अपनाया गया जिसकी आज के परिवेश में नितान्त आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त उन्होने ख्यातों तथा प्रशस्तिसूचक साहित्य को अपने लेखन का आधार बनाया था। इनमें अभिलेखागारीय सामग्री का उपयोग नगण्य है। मेरी सम्मति में राजस्थान के आधुनिक इतिहास लेखन में विपुल मात्रा में उपलब्ध अभीलेखीय सामग्री का उपयोग अपेक्षित है।

यहाँ हिन्दी भाषा में लिखे गए डॉ. गोपीनाथ शर्मा के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'राजस्थान का इतिहास' (प्रारम्भिक काल से मध्ययुग तक) का उल्लेख समीचीन

होगा जिसमें राजनीतिक गतिविधियों और प्रशासन के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन को समुचित रूप से प्रस्तुत किया गया। आधुनिक राजस्थान के इतिहास पर ऐसे ग्रन्थ के अभाव की पूर्ति हेतु मैंने राजस्थान का बृहत् इतिहास (1707 से 1950) को दो खण्डों मे प्रस्तुत करने का निश्चय किया। परिणामतः राजस्थान का बृहत् इतिहास, प्रथम खण्ड (1707–1818) पाठकों के समक्ष है।

दस अध्यायो में विभक्त ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में मुगल सत्ता की स्थापना अकबर द्वारा अनजाने एकीकृत राजस्थान के प्रथम वार बीजारोपण के रूप में अजमेर सूबे का संगठन और औरंगजेब के निधन तक का संक्षिप्त सर्वेक्षण किया गया है। द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत जाजो के युद्ध के प्रभाव तथा 'वतन जागीर' के लिए *राजपूत राजाओ का मुगल सम्राट् के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष का विश्लेषणात्मक* विवरण प्रस्तुत किया गया है। औरंगजेब के पश्चात् उत्तर मुगलकाल में राजस्थान के दो प्रमुख शासक जोधपुर के अजीतसिंह और जयपुर के सवाई राजा जयसिंह का विशिष्ट स्थान रहा है। इन राजाओं ने न केवल राजस्थान की राजनीति को ही प्रभावित किया था वरन् अपने ओजस्वी व्यक्तित्व की छाप मुगल दरबार मे भी अंकित की थी। तृतीय अध्याय में उक्त नरेशों के सन्दर्भ मे राजस्थान की राजनीतिक गतिविधियों को स्पष्ट किया गया है। चतुर्थ अध्याय में राजस्थान में मराठों के क्रमबद्ध प्रवेश तथा उनके आधिपत्य की समीक्षा की गई है। पानीपत के तृतीय युद्ध (1761) की पराजय से मराठा तथा मुगल राजशक्ति को प्रभावशाली आघात पहुंचा था। मराठा प्रभुत्व से मुक्त होने की आकांक्षा से राजस्थान के राजाओ ने यदा-कदा मराठा विरोधी अभियानों का संचालन किया। परन्तु मराठों ने तुरन्त अपनी स्थिति सुदृढ़ करली और अन्ततोगत्वा महादजी सिन्धिया के नेतृत्व मे उन्होने राजपूतों के विरोध को कुचल दिया। मराठो के हाथो निरन्तर पराजित होने के फलस्वरूप राजस्थान के राजाओ के मनोवल का ह्रास स्वाभाविक था। जागीरदारों के उत्पात, उत्तराधिकार के संघर्ष और अनुशासनहीन भाड़े के सैनिकों के विद्रोह की अस्थिर राजनीति ने राजस्थान की राजशक्ति को पूर्णतया क्षत-विक्षत कर दिया था। *राजपूत राजाओ मे नैतिक सदाचार का भी अभाव दृष्टिगत होने लगा था।* उनके पारस्परिक द्वेष, ईर्ष्या और प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप राजस्थान की भूमि पर लड़े गये युद्धों और बर्बर पठानो एवं पिंडारियो द्वारा की गई लूट-खसोट ने अन्ततः राजस्थान को दुर्दशा की चरम सीमा तक पहुंचा दिया था। इसका समाधान अन्ततोगत्वा अंग्रेजों के आगमन पर सम्भव हो सका। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ सन्धि हो जाने पर राजस्थान के राजाओं को कतिपय ऐसी शर्तों को स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ा जिससे उनकी आकांक्षाओं पर तुषारापात हुआ और ...। उक्त इतिवृत्त का सविस्तार उल्लेख पाँचवे और छठे अध्यायो

में हुआ है। षष्ठ अध्याय से संलग्न परिशिष्ट में अपने युग के एक सफल कूटनीतिज्ञ कोटा के झाला जालिमसिंह के कृतित्व और व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है। सप्तम अध्याय में भरतपुर में जाटों के अभ्युदय एवम् अंग्रेजों के आगमन तक उनकी अन्य गतिविधियों का विश्लेषणात्मक निरूपण प्रस्तुत किया गया है। राजस्थान में सामन्ती व्यवस्था का विशिष्ट स्थान रहा है। अतः अष्टम अध्याय मे सामन्ती व्यवस्था के उदय, विकास-प्रसार और स्वरूप की व्याख्या की गई है। साथ ही राजस्थान के विभिन्न राज्यो में सामन्तों की विशेष स्थिति पर भी समुचित विवरण प्रस्तुत किया गया है। नवें अध्याय में राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था यथा राजा, राज परिवार के सदस्य, मन्त्रीमण्डल और मन्त्रीगण और अधिकारी वर्ग के अधिकारों और कर्त्तव्यो का परिचय दिया गया है। इस सम्बन्ध में परगना, नगर तथा ग्राम-प्रशासन, पंचायत व्यवस्था, राजस्व व्यवस्था, न्याय व्यवस्था और सैनिक व्यवस्था का समुचित अध्ययन करने का भी प्रयास किया गया है। दसवे अन्तिम अध्याय में राजस्थान के आर्थिक स्वरूप, सामाजिक और संस्कृति के विभिन्न पक्षों यथा धर्म, साहित्य, कला आदि का विवेचन हुआ है।

प्रस्तुत रचना का प्रमुख उद्देश्य वंशगत राजा-महाराजाओं के राजनीतिक इतिहास लेखन पद्धति से पृथक् राजस्थान का सर्वागीण तथा क्रमबद्ध इतिहास को सामान्य जनजीवन के दृष्टिकोण से प्रस्तुत करना एवम् समकालीन परिस्थितियों का भारतीय इतिहास के संदर्भ में विवेचन करना है। अपने उद्देश्य की पूर्ति मे मै कहाँ तक सफल रहा हूँ इसका निर्णय विज्ञ पाठक करेंगे।

पुस्तक का विशेष आकर्षण राजनीतिक इतिहास के अतिरिक्त तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन से सम्बन्धित सामग्री है। मेरी सम्मति में यह सामग्री शोधार्थियो तथा स्नातक और स्नातकोत्तर विद्यार्थियों के लिए समान रूप से उपयोगी सिद्ध होगी।

ग्रन्थ के प्रणयन में अद्यावधि मौलिक तथा समकालीन सामग्री का उपयोग किया गया है। साथ ही तद्विषयक समकालीन शोध कृतियों का भी उपयोग किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को वर्तमान रूप में प्रस्तुत करने में मुझे अभिलेखागारों, पुस्तकालयों संग्रहालयो से सदैव अपेक्षित सहायता प्राप्त हुई। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अनेक विद्वानो और शोधकर्त्ताओं ने मेरा उत्साह वर्द्धन किया। मैं उन सभी के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूँ।

सहयोगी मित्र एवम् परिवार के सदस्य प्रशंसा और साधुवाद के पात्र हैं जिन्होंने अनेक रूपों मे मेरी सहायता की। हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के पदाधिकारियों की तत्परता, लगन तथा ग्रन्थ को सुव्यवस्थित रूप से मुद्रित करवाने के लिए मैं उनके प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ।

—आर० पी० व्यास

विषय-सूची

(1707 से 1818 ई०)

अध्याय 1

औरंगजेब के पूर्व व उसकी मृत्यु के समय राजस्थान

(1526–1707 ई०)

शौर्य, शृंगार और साहित्य की त्रिवेणी का संगम राजस्थान अपनी गरिमा-मंडित ऐतिहासिक परम्पराओं से प्रदीप्त, जौहर की ज्वालाओं से उत्तप्त तथा बलिदान और प्राणोत्सर्ग की आकांक्षाओं से उत्प्रेरित होने के कारण भारत के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त करने में सक्षम रहा है। राजस्थान के विभिन्न राजवंशों के शासकों व वहां के निवासियों ने अपनी मातृभूमि की रक्षा व स्वतन्त्रता के निमित्त समय-समय पर उत्कट संघर्ष कर तथा सहर्ष प्राणाहुति देकर रोमाचकारी इतिहास का सर्जन कर बेजोड़ आदर्श प्रस्तुत किया है। स्थानीय वीरों की वीरोचित साधनाएं एवं वीरांगनाओं की जौहर की भावनाएं परवर्ती पीढ़ी के लिए सदैव प्रेरणास्पद रहेंगी तथा भारतवासियों को स्वतन्त्रता का उज्ज्वल पाठ पढ़ाती रहेंगी।

उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम की ओर फैली हुई अरावली पर्वत की शृंखलाएं राजस्थान को लगभग दो समान भागो मे विभाजित करती हैं। इन्हे व्यापक रूप से उत्तरी-पश्चिमी व दक्षिणी-पूर्वी राजस्थान की सज्ञा दी जा सकती है। पश्चिमी राजस्थान प्रधानतः रेगिस्तानी क्षेत्र है। इस क्षेत्र की प्राकृतिक बनावट तथा भौगोलिक स्थिति ने यहां के जनजीवन व संस्कृति को अत्यधिक प्रभावित किया है। पूर्वी राजस्थान के कतिपय रेतीले भागों को छोड़, बाकी सभी क्षेत्र उपजाऊ और धन-धान्य से परिपूर्ण रहा है। गुजरात और मालवा जैसे समृद्ध प्रदेश इसकी सीमा से जुड़े हुए है तथा इनको जाने वाले मार्ग राजस्थान प्रदेश से होकर निकलते हैं। इन धनी और सम्पन्न प्रदेशों पर अधिकार करने के लिए दिल्ली-शासकों के लिए राजस्थान पर अपना नियन्त्रण रखना नितान्त आवश्यक था। दिल्ली के सुल्तानों तथा मालवा और गुजरात के स्थानीय शासकों ने अपनी विस्तारवादी नीतियों का

अनुसरण करते हुए तीन शताब्दियों तक अनेक वार राजस्थानी प्रदेश, विशेषकर पूर्वी राजस्थान, पर आक्रमण किये और समय-समय पर इन आक्रमणकारियों ने अपनी विनष्टकारी प्रवृत्तियों का भी खुले रूप से प्रदर्शन किया था। फिर भी वे इस प्रदेश पर स्थायी रूप से अपना प्रमुत्व स्थापित नही कर सके। यहां के राजपूत शासकों ने उक्त आक्रमणकारियों का मुकाबला करने में अदम्य साहस का परिचय दिया था। अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए उन्होने हर प्रकार की कठिनाइया व यातनाएं वहन की। उसकी स्वतन्त्रता की वलिवेदी पर आत्माहुति देने के साथ-साथ उन शासको ने राष्ट्रीय सस्कृति की रक्षा एवं निर्वाह के लिए भी अथक प्रयास किये।

21 अप्रेल, 1526 को पानीपत[1] के निर्णायक युद्ध में दिल्ली का अन्तिम सुल्तान इब्राहिम लोदी मुगल सरदार बाबर से परास्त हो गया था। इस तरह दिल्ली और आगरा पर बावर का प्रभुत्व तो स्थापित हो गया, परन्तु वह अपने को अभी सुरक्षित अनुभव नही कर रहा था। राजपूत और अफगानों की बची हुई शक्ति को कुचले विना वह भारत का सम्राट् नहीं बन सकता था। राजस्थान मे मेवाड़ के राणा सग्रामसिंह के नेतृत्व में राजपूत संगठित थे और वे बावर से लोहा लेने की तैयारी कर रहे थे।[2] बावर और राणा सांगा दोनों शक्ति-परीक्षण के लिए लालायित थे। 17 मार्च, 1927 को इन दोनों के बीच खानवा नामक ऐतिहासिक स्थल पर युद्ध हुआ।[3] खानवा का युद्ध भारत के इतिहास मे एक युगान्तरकारी घटना थी। इस युद्ध के परिणामस्वरूप बावर भारत में मुगल शासन की स्थापना करने में सफल हुआ। इस युद्ध से वस्तुतः राजपूत शक्ति को आघात तो पहुंचा, परन्तु यह भी सत्य है कि बावर यद्यपि, इस युद्ध में विजयी रहा था, फिर भी वह राजस्थान में बयाना से आगे बढने का साहस नही कर सका।[4] राजपूतों ने तुरन्त अपनी क्षीण शक्ति को पुनः सुदृढ और संगठित कर ली। राणा सांगा की मृत्यु के पश्चात् कुछ समय के लिए मेवाड की छवि धूमिल रही, परन्तु राव मालदेव के नेतृत्व में मारवाड़ के राठौड़ों ने अपनी अपूर्व शक्ति अर्जित कर ली थी और उनके राज्य की सीमा दिल्ली के निकट तक पहुंच चुकी थी।[5]

बावर का उत्तराधिकारी हुमायू स्वभाव का चंचल और अस्थिर प्रकृति का व्यक्ति था। वह अवसर मिलने पर भी राजपूतों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित नही कर सका।[6] शेरशाह सूरी ने राजस्थान पर अपना स्थायी प्रभुत्व स्थापित करने के लिए सैनिक अभियान प्रारम्भ किये थे। सुमेल के युद्ध में उसने राव मालदेव को परास्त कर दिया। अजमेर, मेड़ता, जोधपुर, नागौर आदि स्थानों पर अधिकार हो गया था। चित्तौड़ के किले पर भी उसका प्रभुत्व स्थापित। उसने सभी जगह शासन-व्यवस्था भी सुचारू रूप से स्थापित कर ली

थी। परन्तु उसका राज्यकाल दीर्घ समय तक नहीं रहा। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। राव मालदेव ने जोधपुर गढ़ पर पुनः अधिकार कर लिया।[7] राजस्थान के अन्य रजवाड़े भी सूर-नियंत्रण से मुक्त हो गये। इस प्रकार राजस्थान में शेरशाह सूरी द्वारा अपनाई गई नीति भी पूर्णतया असफल प्रमाणित हुई।

मुगल सम्राट् अकबर कुशाग्रबुद्धि, दूरदर्शी और चतुर राजनीतिज्ञ था। उसने राजस्थान की राजनीति तथा राजपूत शासकों की मनोवृत्ति का गहरा अध्ययन किया तथा वहां की परिस्थिति को सही प्रकार से समझा था। वह इस तथ्य से परिचित था कि दिल्ली के सुल्तान राजपूत राजाओं को अपनी सैनिक शक्ति द्वारा नहीं कुचल सके थे। वे राजस्थान में स्थायी रूप से अपना प्रभुत्व नहीं जमा सके। इसलिए अकबर ने राजपूत राजाओं के विरुद्ध केवल सैन्य बल का ही प्रयोग नहीं किया, वरन् उसने अपनी उदार व सहिष्णु नीति से उन्हें मित्र बनाकर साम्राज्य-विस्तार तथा उसके स्थायित्व और सुदृढ़ीकरण में उनका सहयोग प्राप्त किया। अकबर राजपूतों और बहुसंख्यक हिन्दू जनता को अपने पक्ष में करने की कामना रखता था। उसने इस प्रकार की नीति का सूत्रपात कर भारत के इतिहास को एक नया मोड़ दिया। उसके दरबारी इतिहासकार अबुलफजल ने इस नीति को 'सुलहकुल' की संज्ञा दी है।[8]

अकबर ने सर्वप्रथम 1562 ई० में आमेर के राजा भारमल की पुत्री से विवाह किया जिससे कछवाहा राजपरिवार के साथ उसका निकट का सम्बन्ध स्थापित हो गया।[9] कालान्तर में जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर आदि राजघरानों तथा उनके भाई-बेटों की पुत्रियां मुगल हरम में पहुंचीं जहां उन्हें अपना धर्म-परिवर्तन करने के लिए बाध्य नहीं किया गया।[10] सम्बन्धित व अधीनस्थ राजपरिवारों के सदस्यों को मुगल प्रशासनिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान दिए गए। उन्हें उच्च मनसब तथा सम्मानसूचक पदवियों व उपाधियों से विभूषित किया गया। राजपूतों को उनकी सैनिक सेवाओं के बदले में अतिरिक्त जागीरें भी दी गईं। इन राजपूत शासकों ने मुगल साम्राज्य के विस्तार में प्रशंसनीय सहयोग दिया। अकबर की इस नीति के फलस्वरूप ही राजस्थान में मुगल शासन की स्थापना में राजपूत नरेशों का भी पूर्ण व अमूल्य सहयोग प्राप्त हो सका। मेड़ता और जैतारण पर मुगल सेना नायक ने अधिकार किया। स्वयं अकबर ने चित्तौड़ पर आक्रमण कर 1568 ई० में इस ऐतिहासिक किले को हस्तगत किया। 1569 ई० में सुर्जन हाड़ा के परास्त होने पर रणथम्भोर के गढ़ पर भी मुगलों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इन सभी सैनिक अभियानों में आमेर राजघराने का सक्रिय सहयोग रहा।[11]

मारवाड़ का राव चन्द्रसेन 1570 ई० में नागौर में अकबर के दरबार में उपस्थित हुआ था। परन्तु उसे शाही बर्ताव रुचिकर नहीं लगा। उसने अकबर की

अधीनता स्वीकार नहीं की और वह जीवनपर्यन्त शाही फौज से अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करता रहा। चन्द्रसेन के विरुद्ध लड़े गये युद्धों में भी राजपूत शासकों ने शाही फौजों को यथासम्भव सहायता पहुंचाई थी। अकबर ने बीकानेर के कुंवर रायसिंह को जोधपुर का प्रशासक नियुक्त किया था।[12] सिरोही में देवड़ा सुरताण की समस्या को सुलझाने के लिए भी रायसिंह को भेजा गया था।[13]

सफल सैनिक अभियान के बाद गुजरात से लौटती शाही फौज को, जिसका नेतृत्व कुंवर मानसिंह कछवाहा कर रहा था, अकबर ने आदेश दिया था कि रास्ते में बागड प्रदेश के स्थानीय शासकों को भी मुगल आधिपत्य स्वीकार करावें। परिणामतः मानसिंह ने डूंगरपुर व बांसवाड़ा क्षेत्र पर अकबर का प्रमुत्व स्थापित कर दिया। मेवाड़ के राणा प्रताप को अकबर की अधीनता स्वीकार करवाने के अनेक प्रयास किये गये परन्तु स्वतन्त्रता-प्रेमी राणा ने अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की।[14] राणा के विरुद्ध मानसिंह के सेनापतित्व में शाही फौज भेजी गई जिसमे अन्य राजवंश के राजपूत सैनिक भी सम्मिलित थे। 21 जून, 1576 को हल्दीघाटी का ऐतिहासिक युद्ध लड़ा गया।[15] यद्यपि इस युद्ध से राणा की सैनिक शक्ति को क्षति पहुंची थी, फिर भी राणा के मनोबल व साहस मे किसी प्रकार की कमी नही आई थी। वह अपने सहयोगियों के साथ छप्पन के पहाड़ों में जा रहा और जीवनपर्यन्त शाही सेनाओं से लोहा लेता रहा। अपने जीवन की सन्ध्या में वह मेवाड़ के अधिकांश भाग पर पुनः अपना अधिकार स्थापित करने में भी सफल रहा था। मेवाड़ के विरुद्ध किये गये सैनिक अभियानों में राजपूत राजाओं ने यथासम्भव मुगल सम्राट् की सहायता की थी।[16] इस प्रकार अकबर ने लोहे से लोहा काटने की नीति का सफलतापूर्वक संचालन किया। फलस्वरूप 1580 ई० तक लगभग सम्पूर्ण राजस्थान पर मुगल-प्रमुत्व की स्थापना हो चुकी थी।

सन् 1580 ई. में मुगल साम्राज्य बारह सूत्रों में विभाजित था। साम्राज्य के प्रशासनिक मानचित्र में राजस्थान जैसा कोई प्रान्त नहीं था, और न कोई राजनीतिक इकाई ही इस प्रकार की थी।[17] अतः राजस्थान का विस्तृत भूखण्ड अपनी राजधानी के नाम पर 'अजमेर सूबा' कहलाया। अकबर ने तब अनजाने एकीकृत राजस्थान का प्रथम बार बीजारोपण किया जो अनेक शताब्दियों के पश्चात् फलीभूत हो सका।[18] अन्य सूबों की भांति अजमेर सूबा भी सरकारों और परगनों अथवा महलों में विभक्त किया गया था। प्रारम्भ मे अजमेर सूबे में सात सरकारें—अजमेर, चित्तौड़, रणथम्भोर, जोधपुर, नागौर, बीकानेर और सिरोही थी। उस समय परगनों की सख्या 197 थी। यह स्थिति 18वी शताब्दी के प्रारम्भ में फर्रुखसियर काल तक थोड़े-से परिवर्तन के साथ चलती रही।[19] शासकीय सुविधा शताब्दी के अन्त मे बीकानेर सरकार से जैसलमेर को निकाल कर एक ...र का गठन किया गया था।' तब में अजमेर सूबे मे आठ सरकारें हो

गई थीं।[20] उस समय परगनों की संख्या 123 रह गई थी। राजस्थान के अधीनस्थ सभी रजवाड़े अजमेर सूबे में सम्मिलित किये गये थे। इस सूबे की यह विशेषता थी कि यहां अधिकांश करद-राज्यों का ही जमघट था। सात सरकारों में केवल दो सरकारें-अजमेर और नागौर-परोक्ष रूप से शाही प्रशासन के अधीन थी। करद-राज्यों का शासन यहां के वंशानुगत राजाओं द्वारा संचालित था। मुग़ल दस्तावेज या राजकीय पत्रों में इन राजाओं को सामान्यतः जमींदार शब्द से ही सम्बोधित किया जाता था, परन्तु व्यावहारिकता में इन्हें अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे। मुगल साम्राज्य में इन शासकों की एक पृथक् श्रेणी थी। ये करद-राज्य एक निश्चित धनराशि कर के रूप में शाही खजाने में जमा कराते थे और निर्धारित संख्या में सैनिक व घुड़सवार राजकीय सेवा में प्रस्तुत करते थे। इन राज्यों में मालगुजारी की वसूली का कार्य राजा स्वयं अपने कर्मचारियों द्वारा करता था। यहां के निवासियों को अपने धर्म को मानने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। इन करद-राज्यों की सीमा में किसी विदेशी को पशु-पक्षी मारने का अधिकार नहीं था। सम्राट् इन करद-राज्यों के क्षेत्र में सुयूरगाल के रूप में भूमि आवंटित नहीं करता था। यहां के शासक यदा-कदा अपने क्षेत्र में राहदारी तथा चुंगी कर की वसूली करते थे।[21]

अजमेर के सूबेदार का सामान्य रूप से सम्पूर्ण सूबे पर नियन्त्रण रहता था। परन्तु वह इन करद-राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करता था। कुछ महत्त्वपूर्ण स्थानों जैसे बैराठ (विराटनगर), सांभर, बयाना आदि पर शाही फौजदार नियुक्त थे। रणथम्भौर किले पर शाही फौज का जमाव रहता था। इन्हीं की सहायता से अजमेर का सूबेदार सूबे में शान्ति बनाये रखने का कार्य करता था।[22]

सिक्के ढलवाना परमोच्च शक्ति का प्रतीक माना जाता था। करद-राज्यों के शासकों को सिक्के ढलवाने का अधिकार नहीं था। अबुलफजल ने 42 टंकशालाओं (टकसालों) का उल्लेख किया है।[23] ये सभी राजकीय टंकशालाएं थीं। सूबे में सर्वत्र शाही सिक्कों का प्रचलन था। उत्तराधिकार के मामलों में परमोच्च सत्ता का पूर्ण रूप से नियन्त्रण रहता था। उत्तराधिकारी को शाही मान्यता प्राप्त करनी पड़ती थी। सिंहासनारूढ़ होते समय उसे मुग़ल सम्राट् को कर के रूप में भारी रकम देय होती थी तथा उपहार आदि भेंट करने पड़ते थे। सम्राट् की ओर से उसे खिलअत व टीका प्रदान किया जाता था।[24] अकबर ने अपने अनुकूल प्रवृत्ति वाले राजपूतों को सिंहासनारूढ़ किया जिससे वे सदैव उसके विश्वसनीय और स्वामिभक्त बने रहे।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अकबर की राजपूत-नीति के परिणामस्वरूप मुगल सम्राटों और राजपूत राजाओं के मध्य मैत्री तथा सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों का युग आरम्भ हुआ। प्रदेश में शान्ति व्यवस्था स्थायी रूप से दीर्घकाल तक चलती रही। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि राजपूत राजाओं और मुगल

सम्राटो के बीच किसी प्रकार का तनाव रहा ही नहीं। यदा-कदा मुगल-राजपूत-संघर्ष की घटनाएँ राजस्थान में हुई तथा सैनिक अभियानों का सिलसिला भी चलता रहा। हम अगले पृष्ठो पर औरंगजेब के देहावसान तक के राजस्थान के इतिहास का सक्षिप्त सर्वेक्षण करेंगे।

हल्दीघाटी के मैदान मे राणा प्रताप पराजित हुआ था। मेवाड़ के सभी मैदानी भाग मुगलों के अधीन हो चुके थे। सर्वत्र मुगल थाने स्थापित किये गये। इस विषम परिस्थिति में भी स्वतन्त्रता का पुजारी राणा प्रताप नत-मस्तक नहीं हुआ। वह निरन्तर मुगलों से लोहा लेता रहा। प्रताप की मृत्यु के पश्चात् उसके लड़के अमरसिंह ने भी अपने पिता की नीति का अनुसरण किया। उसने भी अकबर की अधीनता स्वीकार नही की। अकबर ने अपने पुत्र सलीम के नेतृत्व में एक सेना अमरसिंह के विरुद्ध भेजी थी परन्तु उसे विशेष सफलता नही मिली। अकबर का मेवाड़ पर मुगल-प्रमुत्व स्थापित करने का लक्ष्य उसके जीवन-काल में फलीभूत नहीं हो सका। 15 अक्टूबर 1605 ई० को अकबर की मृत्यु हो गई। तब सलीम जहांगीर के नाम से मुगल बादशाह बना।

जहांगीर ने मेवाड़ी सामन्तो में फूट डालने की दृष्टि से अमरसिंह के चाचा सगर को चित्तौड़ का महाराणा घोषित कर दिया। उसे यह विश्वास था कि मेवाड़ के दो दावेदारों के मध्य गृह-युद्ध छिड़ जायेगा जिससे मुगलो का मेवाड़ पर अधिकार सुगमता से हो सकेगा। जहांगीर की यह योजना निष्फल रही, क्योंकि सगर को न तो मेवाड़ी सामन्तो का सहयोग मिल सका और न उसे जन-समुदाय का विश्वास ही प्राप्त हुआ।[25] जहांगीर ने बाद मे क्रमशः महावतखां, अब्दुल्लाखां व राजा बासु कुंवर को मेवाड़ फतह करने के लिए भेजा, परन्तु ये सभी सैनिक अभियान असफल रहे। अन्त मे शाहजादा खुर्रम के नेतृत्व मे एक विशाल सेना राणा अमरसिंह के विरुद्ध भेजी गई। खुर्रम ने बड़ी होशियारी से मुगल सेना का संचालन किया। शाही सेना ने राजपूतो को पीछे हटने के लिए बाध्य किया। माण्डलगढ, उदयपुर आदि अनेक महत्वपूर्ण स्थानों पर मुगल-वाहिनी का अधिकार हो गया। अन्त में राणा प्रताप द्वारा स्थापित नई राजधानी चावंड का मुगल सेना द्वारा घेरा डाला गया। मुगलों द्वारा की गयी लूट-खसोट और विनष्टकारी-नीति से मेवाड़ में सर्वत्र त्राहि-त्राहि मची हुई थी। खड़ी फसलें नष्ट कर दी गई। गाव के गाव उजाड़ दिये गये। स्त्रियो और बच्चो को पकड़ गुलाम बनाकर बेचना आरम्भ कर दिया। मेवाड़ की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था चरमरा कर अस्त-व्यस्त हो गई। थके-मादे राणा के सामन्त व सैनिक अधिक दिनो तक मुगल-शक्ति के विरुद्ध खड़े रहने की स्थिति मे नही थे। इन सामन्तो ने कुंवर कर्ण से विचार-विमर्श कर मुगलों से समझौता करने का निर्णय लिया। राणा को भी इस निर्णय को स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ा। महाराणा अमरसिंह गोगूंदा में शाहज़ादा खुर्रम से

मिला। अत्यन्त सौहार्दपूर्ण वातावरण में 5 फरवरी 1615 ई० को सन्धि हुई जिसमें निम्न बातें तय हुई।[26]

(1) महाराणा शाही दरबार में उपस्थित नहीं होंगे।

(2) महाराणा का ज्येष्ठ पुत्र ही शाही दरबार में जायेगा।

(3) शाही सेना में सेवार्थ महाराणा के एक हजार सवार रहेंगे।

(4) चित्तौड़ दुर्ग राणा को लौटा दिया जायेगा परन्तु उसकी मरम्मत वह नहीं करा सकेगा और न वहां किसी भी प्रकार की गढ़बन्दी की जायेगी।

इस सन्धि के साथ ही मेवाड़ घराने की स्वतन्त्रता छिन गई। सन्धि के अनुसार राजकुमार कर्ण शाहजादा खुर्रम के साथ शाही दरबार मे उपस्थित हुआ। बादशाह ने कुंवर कर्ण को हर प्रकार से प्रसन्न रखने का प्रयास किया। परम्परागत स्वतन्त्रता के छिन जाने से राणा अमरसिंह को आत्मग्लानि हुई और वह मृत्यु-पर्यन्त महलों में ही रहा। 26 जनवरी, 1620 ई० को अमरसिंह का देहावसान हो गया।

अमरसिंह की मृत्यु के उपरान्त कर्णसिंह मेवाड़ की गद्दी पर आसीन हुआ। उसका राज्यकाल (1620–28 ई०) केवल आठ वर्ष तक रहा। उसके पश्चात् उसका पुत्र जगतसिंह–प्रथम मेवाड़ का शासक बना। इसका काल मेवाड़ में शांति और वैभव का काल माना गया है। उसने अपने राज्यकाल मे उदयपुर में पिछोला झील में जगमन्दिर का निर्माण करवाया। उसने लाखो रुपयों की लागत का जगन्नाथराय (जगदीश) का एक भव्य विष्णु मन्दिर का निर्माण करवाया और उसकी प्रतिष्ठा के समय मुक्त-हस्त से दान दिया।[27]

इस महाराणा के राज्यकाल में डूंगरपुर और बांसवाड़ा के रावल ने मेवाड़ से पृथक् होने का प्रयास किया परन्तु राणा ने अपनी दमनकारी नीति से उनके प्रयास निष्फल कर दिये। राणा की इन राज्यों सम्बन्धी गतिविधियो से बादशाह बहुत खिन्न हुआ। बुद्धिमान् राणा ने भेंट, उपहार आदि भेजकर बादशाह को सन्तुष्ट कर दिया। बादशाह द्वारा दक्षिण मे किये गये सैनिक अभियान मे राणा ने अपनी सैनिक टुकड़ी शाही सेना में सम्मिलित होने के लिए भेजी थी। उसने बादशाह को प्रसन्न करने के लिए अपने ज्येष्ठ पुत्र राजसिंह को अजमेर शाही सेवा में उपस्थित होने के लिए भेजा। बादशाह प्रायः खुश रहा।

राणा ने अपने अन्तिम समय में 1615 ई० की सन्धि के विरुद्ध चित्तौड़ के किले की मरम्मत करवाना आरम्भ कर दिया। उसके पुत्र व उत्तराधिकारी राजसिंह ने भी इस कार्य को चालू रखा। किले की मरम्मत के अतिरिक्त नये दरवाजो का निर्माण भी करवाया गया। यह सब बादशाह शाहजहां के लिए असहनीय था। अतः उसने मेवाड़ के विरुद्ध सैनिक अभियान करने का दृढ़ संकल्प

कर लिया। बादशाह ने वजीर सादुल्लाखां के नेतृत्व में 30,000 सैनिकों को चित्तौड़ के किले को नष्ट करने के लिए भेजने की व्यवस्था की और स्वयं अजमेर की ओर रवाना हुआ। उसका विचार था कि यदि राणा राजसिंह मुगल सेना का विरोध करता है तो वह अजमेर में ठहर कर शाही फौज का संचालन करेगा। जब राजसिंह के पास शाही सैनिक अभियान के समाचार पहुंचे तो उसने तुरन्त एक शिष्टमण्डल बादशाह से मिलने के लिए भेजा। यह शिष्टमण्डल बादशाह से खलीलपुर के शिविर में मिला और क्षमा-याचना की। बादशाह ने मुंशी चंद्रभान को राणा से मिलने के लिए उदयपुर भेजा (1654 ई०)। इस बीच सादुल्लाखां भी चित्तौड़गढ़ के निकट पहुंच गया। राणा की सेना ने उसका विरोध नहीं किया। मुगल सेनानायक ने चित्तौड़ में 15 दिन रहकर किले के दरवाजों, बुर्जों, परकोटों आदि को गिरवा दिया। तत्पश्चात् वह बादशाह के पास पहुंचा। चंद्रभान ने उदयपुर पहुंच राणा से वार्ता कर बादशाह शाहजहां और राजसिंह के मध्य सुलह करवा दी। राणा को यह आदेश दिया गया कि वह अपने युवराज को तो शाही सेना के लिए अजमेर में उपस्थित करे और एक सैनिक टुकड़ी किसी सरदार के साथ दक्षिण में शाही सेवा में भेज दे। राणा ने मुगल आदेशो का पालन किया। शाहजहां ने अजमेर के निकट पुर, माण्डल, खेराबाद, जहाजपुर, हुरड़ा, बदनौर आदि मेवाड़ी परगनो पर भी शाही अधिकार कर लिया। राजसिंह को शांति-समझौता करने के लिए बाध्य होना पड़ा था। इससे उसे आत्मग्लानि हुई थी तथा क्षोभ भी। वह परिस्थितियों के कारण शान्त रहा। वह अब ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में था जब वह अपने इस अपमान का बदला चुका सके।[28]

कुछ ही समय बाद 1656 ई. के सितम्बर मास में बादशाह शाहजहां बीमार पड़ गया। उसके बचने की आशा नहीं रही। शाहजहां के चारों पुत्रों-दारा, शुजा, औरंगजेब, और मुराद के बीच सिंहासन प्राप्त करने के लिए संघर्ष आरम्भ हो गया। औरंगजेब और मुराद के बीच गठबन्धन हो गया। औरंगजेब ने नर्मदा पार की और मालवा मे मुराद की सेना को भी अपने साथ ले लिया। वे दिल्ली और आगरा की ओर अग्रसर हो रहे थे। उनको रोकने के लिए मारवाड़ के महाराजा जसवंतसिंह को आदेश हुए थे। औरंगजेब ने मेवाड़ के राणा राजसिंह को, जो 1654 ई० के मेवाड़-विरोधी सैनिक अभियान के फलस्वरूप बादशाह शाहजहां से रुष्ट था, अपनी ओर मिलाने के लिए पत्र-व्यवहार करना आरम्भ किया। राणा तो पहले से ही सैनिक तैयारी मे लगा हुआ था। वह 1654 ई० के हुए अपमान का बदला लेने के लिए अधीर हो रहा था। उसने औरंगजेब का पक्ष लेना ही उचित समझा। महाराणा ने वैसे औरंगजेब को सैनिक सहायता तो नहीं भेजी किन्तु उसके पत्रों का समय-समय पर उत्तर भेजता रहा और औरंगजेब को प्रसन्न करने की चेष्टा करता रहा। धरमत के युद्ध में विजयी होने के पश्चात् औरंगजेब ससैन्य आगरा की ओर। सामूगढ़ के युद्ध में भी औरंगजेब विजयी रहा। इस प्रकार उत्तराधिकार के

युद्धों में मुगल फंसे हुए थे । इसका राणा राजसिंह ने लाभ उठाया । उसने सर्वप्रथम माण्डलगढ़ पर अधिकार कर लिया । तत्पश्चात् खैरावाद को लूट कर पुर, माण्डल व दरीबा पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया तथा वहां के जमींदारों से 22 हजार रुपये वसूल किये । उसने बनेड़ा और शाहपुरा के क्षेत्रों को भी लूटा और वहां से एक बहुत बड़ी धनराशि एकत्र की । इसके बाद राणा ने सावर, जहाजपुर, फूलिया, केकड़ी आदि स्थानों पर अपना आधिपत्य कायम करता हुआ मालपुरा की व्यापारिक मण्डी को लूटा और वहां से अतुल धन प्राप्त किया । इसके अतिरिक्त टोडा, टोंक, सांभर, लालसोट और चाटसू वर्तमान चाकसू) तक शाही क्षेत्र में लूट-खसोट कर वह अपनी राजधानी उदयपुर पहुंचा । खोये हुए मेवाड़ी परगनों को उसने पुनः अपने अधीन कर लिया और वह अपने अपमान का यथोचित बदला लेने मे सफल रहा ।[29]

औरंगजेब ने बल व छल से अपने सभी भाइयों का अन्त किया तथा अपने पिता को कैद कर 21 जुलाई, 1658 को मुग़ल सिंहासन पर वह आरूढ़ हुआ और आलमगीर गाजी के नाम से उसने स्वयं को मुगल सम्राट् घोषित किया । राणा राजसिंह ने इस अवसर पर औरंगजेब को बधाई दी और भेंट-उपहार भेजे । औरंगजेब ने भी राणा की मनसब में वृद्धि की तथा राणा द्वारा परगनों पर किये गये अधिकार को मान्यता प्रदान कर दी । इन परगनों के अतिरिक्त डूंगरपुर, बसाऊ और गयासपुर जो एक लम्बे समय से मेवाड राज्य से पृथक् कर दिये गये थे, पुनः राणा के अधीन कर दिये गये । देश में राणा की सर्वत्र प्रशसा की जाने लगी ।

महाराणा राजसिंह और मुगल सम्राट् औरंगजेब के सम्बन्ध मधुर और हार्दपूर्ण थे । उनमें भेंट-उपहारों का निरन्तर आदान-प्रदान होता रहा । किशनगढ़ की राजकुमारी चारुमती के विवाह के प्रश्न को लेकर क्षणिक रूप से उनके सम्बन्धों में थोड़ा-सा तनाव उत्पन्न हुआ था, परन्तु बादशाह ने इसे व्यक्तिगत प्रतिष्ठा का प्रश्न नही बनाया । प्रत्यक्ष रूप से मेवाड़-मुगल सम्बन्धों मे कोई अन्तर नहीं आया । पूर्ववत् उनके सम्बन्ध मधुर ही रहे ।

औरंगजेब कट्टर सुन्नी मुसलमान था । वह इस्लामी नियमों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करता था । उसने अपने राज्याभिषेक के ग्यारहवें वर्ष में (1668 ई.) मुगल दरबार में नाच-गान पर प्रतिबन्ध लगा दिये थे ।[30] 1669 ई. में मन्दिरों को तोड़ने और हिन्दू-पाठशालाओं तथा मूर्तियों को नष्ट करने के आदेश प्रसारित किये गये ।[31] अन्ततोगत्वा 1679 ई० मे औरंगजेब ने हिन्दुओं पर जजिया कर भी लगा दिया ।[32] बादशाह की इस प्रतिक्रियावादी नीति से राणा राजसिंह मन ही मन खिन्न था । यद्यपि एक चतुर राजनीतिज्ञ की भाँति उसने अपनी विरोधी भावनाओं का खुला प्रदर्शन नही किया, तथापि वह मुगल बादशाह की इस नीति के प्रति सजग अवश्य था और उसे इस बात की आशंका थी कि निकट भविष्य में

धर्मान्ध औरंगजेब से टकराव होना सम्भावित है। वह इसके लिए तैयारी भी कर रहा था। उसने गिर्वा के फाटक पर, जिसे देवबारी कहते हैं, सुदृढ़ किवाड़ बनवाये और उसके चारों ओर की पर्वतमालाओं को ऊंची दीवारों, बुर्जों आदि से सुदृढ़ कर राजधानी की सुरक्षा की ओर ध्यान दिया था। उसने क्षेत्र में योद्धाओं को कर-मुक्त जमीन आबंटित कर उन्हें इसकी रक्षा का भार सुपुर्द किया।[33]

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि राजसिंह के शासनकाल में मेवाड़ में दीर्घकाल तक शान्ति बनी रही जिससे वहां व्यापार-वाणिज्य और कृषि में आशातीत उन्नति हुई। मेवाड़ के इतिहास में यह काल शान्ति और समृद्धि का था। अकाल-पीड़ितों की सहायता हेतु तथा कलात्मक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने के लिए राणा ने इस काल मे राजसमुद्र जैसी महती झील का निर्माण करवाया। सर्व ऋतु विलास तथा जनासागर के निर्माण द्वारा राणा ने शिल्पकला को प्रोत्साहित किया। जलाशय, वापी, बगीचे, सराय आदि केवल राज्य की ओर से ही नहीं निर्मित किये गये, वरन् रानियों, सभासदों, अनुचरों व सम्पन्न व्यक्तियों ने भी इस लोक-कल्याण के कार्य में हाथ बंटाया। राज्य मे सर्वत्र वैभव व समृद्धि के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। मेवाड़ मे सम्पन्नता की स्थिति 1679 ई० तक अबाध गति से बनी रही।[34] इसी वर्ष मेवाड़ की राजनीति में परिवर्तन आया। 28 नवम्बर, 1678 ई० को जमरूद में मारवाड़ के शासक जसवन्तसिंह प्रथम का स्वर्गवास हो गया। जसवन्तसिंह के मरणोपरान्त उत्पन्न पुत्र अजीतसिंह को औरंगजेब ने मारवाड़ का राजा नहीं बनाया। जोधपुर पहले से ही खालसा घोषित कर दिया गया था। इस प्रश्न को लेकर मारवाड़ मे मुगल-विरोधी संघर्ष का सूत्रपात हुआ। राणा राजसिंह ने भी अजीतसिंह का पक्ष लिया। अब सिसोदिया और राठौड़ सम्मिलित रूप से मुगल-शक्ति का विरोध करने लगे। इसका विवरण आगे यथोचित स्थान पर किया जायेगा।

बून्दी और कोटा-हाड़ौती क्षेत्र के दो प्रमुख राज्य थे। प्रारम्भ में कोटा बून्दी राज्य का ही एक *अंग था। बाद में परिस्थितियों* के कारण कोटा अपने पैतृक-राज्य से पृथक् हो गया। राव सुर्जन हाडा ने 1569 ई० में मुगल सम्राट् अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली थी।[35] तब से वह मुगल साम्राज्य की सेवा मे व्यस्त रहा। सेवा के बदले सुर्जन को बड़ी-बड़ी जागीरें दी गईं, पंच हजारी की मनसब प्रदान की गई तथा उसे रावराजा की उपाधि से विभूषित किया गया। उसे बनारस और चुनार का हाकिम नियुक्त किया गया था। 1585 ई० मे काशी मे ही उसकी मृत्यु हो गई।[36]

सुर्जन हाड़ा के बाद उसका पुत्र भोज (1585-1607 ई०) बून्दी राज्य का अधिकारी बना। उसने उड़ीसा और गुजरात में रहकर मुगल बादशाह की सेवा की थी। इन सेवाओं के उपलक्ष मे अकबर ने उसे कई प्रकार से पुरस्कृत किया था। भोज ने अपने पुत्र हृदय नारायण को कोटा का शासक नियुक्त किया और इसकी

अनुमति मुगल सम्राट् अकबर से प्राप्त कर ली थी। इस प्रकार अब कोटा का स्वतन्त्र अस्तित्व उदय हुआ। भोज की मृत्यु के पश्चात् बूंदी की गद्दी पर राव रतन आसीन हुआ। अतः बून्दी और कोटा पृथक् राज्यों के रूप में विकसित हुए।[37]

जहांगीर के शासनकाल में राव रतन की मनसब और सम्मान में वृद्धि की गई। इसे 'सरबुन्दराय' और 'रामराज' की उपाधियों से अलंकृत किया गया। पिता से विमुख हुए शाहजादा खुर्रम को परास्त किया गया। इस सैनिक अभियान मे हृदय नारायण भी सम्मिलित था। वह युद्ध-क्षेत्र से भाग निकला था। इससे सम्राट् जहांगीर हृदय नारायण से रुष्ट हुआ और उससे कोटा राज्य छीन लिया तथा अस्थायी रूप से कोटा के शासन का कार्य राव रतन के सुपुर्द कर दिया गया। राव रतन के पुत्र माधोसिंह ने विद्रोही शाहजादा खुर्रम के विरुद्ध सैनिक अभियान में साहस और वीरता का परिचय दिया था, इसलिए राव रतन ने बादशाह जहांगीर से औपचारिक सहमति प्राप्त कर माधोसिंह को कोटा का शासक नियुक्त कर दिया। खुर्रम को पकड़ लिया गया था और उसे बुहरानपुर में नजरबन्द कर के रखा गया था। माधोसिंह को उसकी देख-रेख के लिए नियुक्त किया गया। राव रतन और माधोसिंह ने, इस बात को ध्यान में रखते हुए कि खुर्रम मुगल सत्ता का भावी अधिकारी होगा, उसके साथ अच्छा व्यवहार रखा। उसके लिए यथासम्भव सभी सुविधाएं जुटाने का प्रयास किया। खुर्रम उनके सद्व्यवहार से प्रभावित था। इस बीच दिल्ली की राजनीति ने पल्टा खाया। जहांगीर 1627 ई० में परलोक सिधारा। तब आसफखां की सहायता से शीघ्र ही खुर्रम शाहजहां के नाम से शाही सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसने बादशाह बनते ही माधोसिंह को सम्मानपूर्वक कोटा राज्य का पृथक् रूप से शासक बना दिया।

राव रतन के दिवंगत (1631 ई०) होने पर उसका पौत्र गोपीनाथ का पुत्र राव शत्रुसाल बून्दी का शासक बना। बादशाह शाहजहां की उस पर बड़ी कृपा थी। उसे मनसब आदि से प्रतिष्ठित किया गया। शत्रुसाल ने दक्षिण में दौलताबाद के किले पर अधिकार करने में (1632 ई०) तथा बुरहानपुर और खानदेश पर किये गये सैनिक अभियान मे मुगल सम्राट् की प्रशंसनीय सेवाएं की थीं। 1641 से 1651 ई० के मध्य उसने कन्धार, बलख, बदख्शां के आक्रमणों में बड़ी वीरता का प्रदर्शन किया था। 'दक्षिण में औरंगजेब की सूबेदारी के समय मे भी वह मुगल सेवा मे व्यस्त रहा। मुगल उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर शाहजहां के पुत्रों में युद्ध हुए। सामूगढ के युद्ध में दारा व शाही फौज में रह कर वह औरंगजेब के विरुद्ध लड़ा था और इसी युद्ध में 1658 ई० में वह वीरगति को प्राप्त हुआ था।

कोटा-नरेश माधोसिंह की भी शाहजहां के शासनकाल में बड़ी मान्यता थी। उसने विद्रोही खानजहां लोदी को परास्त करने में बड़ा योगदान किया था। उसकी इस सेवा से खुश होकर बादशाह ने अनेक परगने कोटा राज्य में सम्मिलित

किये जिससे कोटा राज्य का आशातीत विस्तार हुआ। अब कोटा राज्य में 43 परगने और लगभग 2000 गाव थे।

माधोसिंह की मृत्यु के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र मुकुन्दसिंह (1648–58 ई०) कोटा की गद्दी पर आसीन हुआ। वह भी सदैव मुगलसेवा में व्यस्त रहा। उत्तराधिकार के युद्ध में औरंगजेब और मुराद के विरुद्ध जसवन्तसिंह के नेतृत्व मे भेजी गई शाही सेना में कोटा नरेश मुकुन्दसिंह भी सम्मिलित था। धरमत के युद्ध मे वह अपने चारों भाइयों के साथ लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ था।[38] जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है कि बूंदी का शासक शत्रुसाल हाड़ा भी औरंगजेब के विरुद्ध लड़े गये सामूगढ़ के युद्ध में धराशाही हुआ था।[39]

जब औरंगजेब सम्राट् बना तो उसने बून्दी राज्य को शक्तिहीन करने के उद्देश्य से माऊ, बारां, आदि कतिपय परगने देकर शत्रुसाल के भाई भगवन्तसिंह को बून्दी से पृथक् राजा बना दिया। शत्रुसाल के ज्येष्ठ पुत्र बून्दी नरेश भावसिंह के विरुद्ध एक शाही सेना भेजी गई जिसमें आत्माराज गौड़ और बरसिंह बुन्देला की सेना भी सम्मिलित थी। औरंगजेब ने इस प्रकार भेद नीति का अनुसरण कर बून्दी राज्य को नष्ट करने की योजना बनाई थी। परन्तु वह अपने इस कार्य मे सफल नही हो सका। भगवन्तसिंह का तो देवलोक हो गया और भावसिंह के विरुद्ध जो सेना भेजी गई थी, वह परास्त हो गई। अन्त में औरंगजेब ने भावसिंह को बून्दी का शासक स्वीकार कर लिया और उसे 3,000 की मनसब देकर प्रतिष्ठित किया। भावसिंह ने बागी शुजा के विरुद्ध शाही सेना की सहायता की और बाद में 1660 ई० मे चाकण के घेरे के समय भी शाही सेना में वह उपस्थित था। दीर्घकाल तक वह औरंगाबाद का फौजदार भी रहा।[40]

कोटा-नरेश मुकुन्दसिंह धरमत के युद्ध में औरंगजेब के विरुद्ध लड़ा था, इसलिए मुकुन्दसिंह के पुत्र जगतसिंह को औरंगजेब कोटा राज्य देने के पक्ष में नही था; परन्तु यह सोचते हुए कि राजपूतो के सहयोग के बिना वह अपनी स्थिति सुदृढ नही कर सकेगा, अन्ततोगत्वा जगतसिंह को कोटा का टीका प्रदान किया गया और उसे 2000 की मनसब प्रदान की गई। जगतसिंह ने भी शुजा के विरुद्ध किये गये सैनिक अभियान मे भाग लिया था। 1680 ई० के पश्चात् दक्षिण में वह निरन्तर मुगल-सेवा मे रहा और वहीं 1683 ई० में उसकी मृत्यु हुई।

जगतसिंह के सन्तान नही थी, इसलिए कोयले का ठिकानेदार पेमसिंह कोटा राजसिंहासन पर बैठा। परन्तु वह अयोग्य प्रमाणित हुआ जिससे फिर माधोसिंह का सबसे छोटा लड़का किशोरसिंह कोटा का अधिकारी बना। वह अनुभवी और योग्य व्यक्ति था। वह अपने राज्यकाल में अधिकांशतः दक्षिण में मुगल बादशाह की सेवा में व्यस्त रहा और अन्त में वही 1696 ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी।[41]

भावसिंह हाडा के देहावसान होने के पश्चात् उसके अनुज का पोता अनिरुद्धसिंह बून्दी का स्वामी बना। पहले वह दक्षिण में मुगल सेवा मे रहा। फिर वह कुछ

समय तक दुर्जनसिंह के विरुद्ध अपने गृह-युद्ध में फंसा रहा। 1688 ई० मे राजाराम जाट के विरुद्ध शाही सैनिक अभियान में वह सम्मिलित हुआ था। तत्पश्च त् शाहजादा मुअज्जम और आमेर के शासक विशनसिंह के साथ रह कर उसने काबुल के युद्धों मे भाग लिया। 1695 ई० में वहां उसका देहावसान हो गया।[43]

सन् 1707 ई० में जब औरंगजेब की मृत्यु हुई, उस समय बून्दी के राजसिंहासन पर अनिरुद्धसिंह का ज्येष्ठपुत्र बुद्धसिंह था। वह शाहजादा मुअज्जम की सेवा में काबुल रहा। किशोरसिंह का द्वितीय पुत्र रामसिंह कोटा का शासक था। वह बड़ा योग्य और अनुभवी व्यक्ति था। वह दीर्घकाल तक दक्षिण मे मुगल बादशाह की सेवा में उपस्थित रहा। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसने आजम का साथ दिया। यह एक विचित्र परिस्थिति थी कि जाजव नामक स्थान पर लड़े गये उत्तराधिकार-युद्ध मे बून्दी के हाड़ा राजपूत बुद्धसिंह के नेतृत्व में मुअज्जम के साथ रहे और कोटा के हाड़ा परिवार के लोग रामसिंह के सेनापतित्व मे शाहजादा आजम के पक्ष में लड़े। भाई-भाई के विरुद्ध लड़े।[43] यही से बून्दी-कोटा के हाड़ा-राज्यों मे संघर्ष का सूत्रपात हुआ। इसका विस्तृत विवरण अगले अध्याय में किया जायेगा।

आमेर के राजा भारमल ने 20 जनवरी, 1562 ई० को अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली। अकबर ने भारमल के साथ बड़ा शिष्ट व्यवहार किया जिससे प्रभावित होकर उसने अपनी पुत्री का विवाह निःसंकोच अकबर के साथ कर दिया। भारमल विशेष प्रकार से सम्मानित किया गया। अमीर-उल्-उमरा तथा राजा की उपाधि से प्रतिष्ठित कर उसे 'पंचहजारी मनसब' प्रदान की गई। अकबर ने भारमल के पुत्र भगवन्तसिंह और पौत्र मानसिंह को शाही सेना में उच्च पदों पर नियुक्त किया।[44] इस वैवाहिक सम्बन्ध से राजस्थान ही नही, भारत की राजनीति मे भी एक नये युग का सूत्रपात हुआ।

भारमल ने अपनी सूझ-बूझ से प्राचीन मान्यताओं की शृंखलाओं से ऊपर उठकर मुगल-कछवाहा सम्बन्धो को सुदृढ़ बनाया जिसके फलस्वरूप आमेर राज्य को शक्ति और स्थायित्व प्राप्त हो सका। उसने अपने वंश के राजनीतिक जीवन व गौरव को बढ़ावा दिया। अगली लगभग दो शताब्दियो तक आमेर के कछवाहा शासक मुगल दरबार में छाये रहे। जनवरी 1573 ई० में भारमल की मृत्यु हो गई।

उसके मरने के बाद उसका लड़का भगवन्तदास[45] आमेर की गद्दी पर बैठा। उसने मुगल सेवा में रहकर अच्छी ख्याति अर्जित की थी। 1582 से 1589 ई० तक वह पंजाब का सूबेदार रहा। 1589 ई० में लाहोर मे ही उसका देवलोक हुआ।

भगवन्तसिह के मरणोपरान्त उसका लड़का मानसिंह आमेर का शासक बना। आमेर व मुगल इतिहास में मानसिंह का विशिष्ट स्थान रहा। वह 13 वर्ष की आयु से ही मुगल सेवा मे प्रविष्ट हो गया था। उसने लग-

किये जिससे कोटा राज्य का आशातीत विस्तार हुआ। अब कोटा राज्य में 43 परगने और लगभग 2000 गांव थे।

माधोसिंह की मृत्यु के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र मुकुन्दसिंह (1648–58 ई०) कोटा की गद्दी पर आसीन हुआ। वह भी सदैव मुगलसेवा मे व्यस्त रहा। उत्तराधिकार के युद्ध में औरंगजेब और मुराद के विरुद्ध जसवन्तसिंह के नेतृत्व में भेजी गई शाही सेना में कोटा नरेश मुकुन्दसिंह भी सम्मिलित था। धरमत के युद्ध मे वह अपने चारों भाइयो के साथ लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ था।[38] जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है कि बूंदी का शासक शत्रुसाल हाड़ा भी औरंगजेब के विरुद्ध लड़े गये सामूगढ़ के युद्ध में धराशाही हुआ था।[39]

जब औरंगजेब सम्राट् बना तो उसने बून्दी राज्य को शक्तिहीन करने के उद्देश्य से माऊ, बारां आदि कतिपय परगने देकर शत्रुसाल के भाई भगवन्तसिंह को बून्दी से पृथक् राजा बना दिया। शत्रुसाल के ज्येष्ठ पुत्र बून्दी नरेश भावसिंह के विरुद्ध एक शाही सेना भेजी गई जिसमे आत्माराज गौड़ और बरासिंह बुन्देला की सेना भी सम्मिलित थी। औरंगजेब ने इस प्रकार भेद नीति का अनुसरण कर बून्दी राज्य को नष्ट करने की योजना बनाई थी। परन्तु वह अपने इस कार्य में सफल नहीं हो सका। भगवन्तसिंह का तो देवलोक हो गया और भावसिंह के विरुद्ध जो सेना भेजी गई थी, वह परास्त हो गई। अन्त मे औरंगजेब ने भावसिंह को बून्दी का शासक स्वीकार कर लिया और उसे 3,000 की मनसब देकर प्रतिष्ठित किया। भावसिंह ने बागी शुजा के विरुद्ध शाही सेना की सहायता की और बाद में 1660 ई० मे चाकण के घेरे के समय भी शाही सेना में वह उपस्थित था। दीर्घकाल तक वह औरंगाबाद का फौजदार भी रहा।[40]

कोटा-नरेश मुकुन्दसिंह धरमत के युद्ध मे औरंगजेब के विरुद्ध लड़ा था, इसलिए मुकुन्दसिंह के पुत्र जगतसिंह को औरंगजेब कोटा राज्य देने के पक्ष मे नही था; परन्तु यह सोचते हुए कि राजपूतों के सहयोग के बिना वह अपनी स्थिति सुदृढ़ नही कर सकेगा, अन्ततोगत्वा जगतसिंह को कोटा का टीका प्रदान किया गया और उसे 2000 की मनसब प्रदान की गई। जगतसिंह ने भी शुजा के विरुद्ध किये गये सैनिक अभियान मे भाग लिया था। 1680 ई० के पश्चात् दक्षिण मे वह निरन्तर मुगल-सेवा में रहा और वहीं 1683 ई० में उसकी मृत्यु हुई।

जगतसिंह के सन्तान नहीं थी, इसलिए कोयले का ठिकानेदार पेमसिंह कोटा राजसिंहासन पर बैठा। परन्तु वह अयोग्य प्रमाणित हुआ जिससे फिर माधोसिंह का सबसे छोटा लड़का किशोरसिंह कोटा का अधिकारी बना। वह अनुभवी और योग्य व्यक्ति था। वह अपने राज्यकाल में अधिकांशतः दक्षिण मे मुगल बादशाह की सेवा में व्यस्त रहा और अन्त मे वहीं 1696 ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।[41]

भावसिंह हाड़ा के देहावसान होने के पश्चात् उसके अनुज का पोता अनिरुद्धसिंह बून्दी का स्वामी बना। पहले वह दक्षिण में मुगल सेवा मे रहा। फिर वह कुछ

समय तक दुर्जनसिंह के विरुद्ध अपने गृह-युद्ध में फंसा रहा। 1688 ई० मे राजाराम जाट के विरुद्ध शाही सैनिक अभियान में वह सम्मिलित हुआ था। तत्पश्च त् शाहजादा मुअज्जम और आमेर के शासक विशनसिंह के साथ रह कर उसने काबुल के युद्धों मे भाग लिया। 1695 ई० में वहां उसका देहावसान हो गया।[42]

सन् 1707 ई० में जब औरंगजेब की मृत्यु हुई, उस समय बून्दी के राजसिंहासन पर अनिरुद्धसिंह का ज्येष्ठपुत्र बुद्धसिंह था। वह शाहजादा मुअज्जम की सेवा में काबुल रहा। किशोरसिंह का द्वितीय पुत्र रामसिंह कोटा का शासक था। वह बड़ा योग्य और अनुभवी व्यक्ति था। वह दीर्घकाल तक दक्षिण मे मुगल बादशाह की सेवा में उपस्थित रहा। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसने आजम का साथ दिया। यह एक विचित्र परिस्थिति थी कि जाजव नामक स्थान पर लड़े गये उत्तराधिकार-युद्ध में बून्दी के हाड़ा राजपूत बुद्धसिंह के नेतृत्व मे मुअज्जम के साथ रहे और कोटा के हाड़ा परिवार के लोग रामसिंह के सेनापतित्व मे शाहजादा आजम के पक्ष में लड़े। भाई-भाई के विरुद्ध लड़े।[43] यही से बून्दी-कोटा के हाड़ा-राज्यों मे संघर्ष का सूत्रपात हुआ। इसका विस्तृत विवरण अगले अध्याय मे किया जायेगा।

आमेर के राजा भारमल ने 20 जनवरी, 1562 ई० को अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली। अकबर ने भारमल के साथ बड़ा शिष्ट व्यवहार किया जिससे प्रभावित होकर उसने अपनी पुत्री का विवाह निःसंकोच अकबर के साथ कर दिया। भारमल विशेष प्रकार से सम्मानित किया गया। अमीर-उल्-उमरा तथा राजा की उपाधि से प्रतिष्ठित कर उसे 'पंचहजारी मनसब' प्रदान की गई। अकबर ने भारमल के पुत्र भगवन्तसिंह और पौत्र मानसिंह को शाही सेना में उच्च पदों पर नियुक्त किया।[44] इस वैवाहिक सम्बन्ध से राजस्थान ही नहीं, भारत की राजनीति में भी एक नये युग का सूत्रपात हुआ।

भारमल ने अपनी सूझ-बूझ से प्राचीन मान्यताओं की शृंखलाओं से ऊपर उठकर मुगल-कछवाहा सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाया जिसके फलस्वरूप आमेर राज्य को शक्ति और स्थायित्व प्राप्त हो सका। उसने अपने वंश के राजनीतिक जीवन व गौरव को बढ़ावा दिया। अगली लगभग दो शताब्दियों तक आमेर के कछवाहा शासक मुगल दरबार मे छाये रहे। जनवरी 1573 ई० में भारमल की मृत्यु हो गई।

उसके मरने के बाद उसका लड़का भगवन्तदास[45] आमेर की गद्दी पर बैठा। उसने मुगल सेवा में रहकर अच्छी ख्याति अर्जित की थी। 1582 से 1589 ई० तक वह पंजाब का सूबेदार रहा। 1589 ई० मे लाहोर मे ही उसका देवलोक हुआ।

भगवन्तसिंह के मरणोपरान्त उसका लड़का मानसिंह आमेर का शासक बना। आमेर व मुगल इतिहास मे मानसिंह का विशिष्ट स्थान रहा। वह 13 वर्ष की आयु से ही मुगल सेवा मे प्रविष्ट हो गया था। उसने लग-

भग 55 वर्ष तक मुग़ल साम्राज्य की महती सेवाएं की थीं जिससे उसकी ख्याति सर्वत्र फैली हुई थी। बून्दी के शासक सुर्जन हाड़ा के साथ मुग़ल-सन्धि करवाने में कुंवर मानसिंह की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही।[46] गुजरात विजय मे मानसिंह का बड़ा योगदान रहा। मेवाड़ के राणा प्रताप को अकबर की अधीनता स्वीकार करवाने के लिए भी उसने अथक परिश्रम किया था। उत्तरी पश्चिमी सीमान्त मे अफगानों, रोशनियाओं और मिर्जा हाकिम के विद्रोहों को कुचलने में कुंवर मानसिंह का विशेष सहयोग रहा। अकबर ने उसकी सेवाओं से प्रभावित होकर बाद में उसे काबुल का सूबेदार नियुक्त किया। तत्पश्चात् वह बिहार और बंगाल के सूबेदार के पद पर भी नियुक्त हुआ था। बिहार में सूबेदार के पद पर कार्य करते समय उसने उड़ीसा का प्रान्त जीता और उसे मुगल साम्राज्य का एक भाग बना दिया। बंगाल में भी यथासम्भव उसने शान्ति और व्यवस्था स्थापित की। अपनी सेवाओं के फल-स्वरूप सम्राट् अकबर के समय 8000 की मनसब तथा 'फर्जन्द' का पद प्राप्त करने का उसे सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अकबर के जीवन के संध्याकाल मे उसके पुत्र सलीम ने बगावत की। उस समय वह सम्राट् की सेवा मे तत्पर रहा। उसने सलीम के पुत्र खुसरू का पक्ष लिया। अन्ततोगत्वा सलीम ने अपने पिता अकबर से क्षमा-याचना कर ली थी। 1605 ई० में अकबर का देहान्त हो गया और सलीम जहांगीर के नाम से बादशाह बना। जहांगीर मानसिंह से प्रसन्न नहीं था क्योंकि उसने शाहजादा खुसरू का पक्ष लिया था। फिर भी समय-समय पर जहांगीर राजा मानसिंह को कभी बंगाल, तो कभी दक्षिण में राजकीय कार्य के लिए भेजता रहता था। यह निश्चित है कि जहांगीर के काल में मानसिंह का मुग़ल दरबार मे कोई विशेष महत्त्व नहीं रहा। 1614 ई० में उसकी मृत्यु हो गई।[47]

मानसिंह सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति था। वह प्रशासक, योद्धा और चतुर राजनीतिज्ञ होने के साथ साहित्यानुरागी भी था। वह स्वयं एक अच्छा कवि और साहित्यकार था और विद्वानों को आश्रय देने वाला था। स्थापत्यकला के प्रति भी उसकी रुचि थी। उसके शासन काल मे बने आमेर के जगतशिरोमणिजी के मन्दिर तथा तोरणद्वार कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर हैं। उसने आमेर मे भव्य व विशाल राजमहलों का निर्माण करवाया था।

मानसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसका लड़का भाऊसिंह गद्दी पर बैठा। परन्तु 1621 ई० मे वह नि:सन्तान मर गया। तब महासिंह का लड़का और मानसिंह के ज्येष्ठ पुत्र जगतसिंह का पौत्र जयसिंह आमेर की गद्दी पर आरूढ़ हुआ। उस समय जयसिंह की आयु मात्र 11 वर्ष की थी। उसने दीर्घकाल तक आमेर का राज्य किया। उसके जीवन में तीन बादशाह—जहांगीर, शाहजहां और औरंगजेब-हुए जिनकी सेवा मे वह उपस्थित रहा। वह सभी का विश्वासपात्र बना रहा और महत्त्वपूर्ण पदों पर उसने कार्य किया। शाहजहां के काल में मुगल-दरबार मे उसकी बड़ी मान्यता रही। उनकी पदोन्नति हुई तथा उसे विविध प्रकार से सम्मानित

किया गया। शाही अनुकंपा से चाटसू और अजमेर के परगने उसे प्राप्त हुए जिससे आमेर राज्य की सीमा का विस्तार हुआ। वह मिर्जाराजा की पदवी से अलंकृत किया गया। 1656 ई० में मुगल शाहजादों के मध्य सिंहासन के लिए संघर्ष हुआ। पहले वह शाही सेना में रहकर विद्रोही शाहजादा शुजा के विरुद्ध लड़ा था। बाद में जब औरंगजेब सर्वत्र विजयी होकर बादशाह बन गया तो वह उसकी सेवा में उपस्थित हो गया और औरंगजेब का कृपापात्र और विश्वसनीय सहयोगी बन गया। दारा को पराजित करने तथा उसे कैदी बनाने में जयसिंह का बड़ा योगदान रहा।

दक्षिण में शिवाजी की गतिविधियों से मुगल सम्राट् औरंगजेब बड़ा चिन्तित था। इसके साथ-साथ वह दक्षिण के स्वतन्त्र राज्य बीजापुर पर भी मुगल-नियन्त्रण स्थापित करना चाहता था। शिवाजी को नतमस्तक करवाने और बीजापुर प्रदेश को जीतने के लिए औरंगजेब ने मिर्जा राजा जयसिंह को दक्षिण में सूबेदार नियुक्त किया। जयसिंह ने अपनी रणकुशलता और कूटनीति से शिवाजी को पुरन्दर की सन्धि के लिए विवश कर दिया था। शिवाजी को मुगल-दरबार आगरा मे उपस्थित होने के लिए भी राजी कर लिया था। जहां अफजलखां और शाइस्ताखां जैसे सेनानायक असफल रहे, वहां जयसिंह ने शिवाजी को विनम्र बना कर मुगल बादशाह की अधीनता स्वीकार करवाने के लिए राजी कर लिया। यह एक महती उपलब्धि थी।

जयसिंह ने शिवाजी को तो मुगलों से समझौता करने के लिए विवश कर दिया था, परन्तु बीजापुर की समस्या को सुलझाने में वह सफल नहीं हो सका। इससे औरंगजेब रुष्ट रहा और उसने जयसिंह को उत्तर में आने के आदेश भेज दिये। जयसिंह जब उत्तर की ओर लौट रहा था, मार्ग में ही 2 जुलाई, 1667 ई० को बुरहानपुर के निकट उसका देहावसान हो गया।[48]

जयसिंह के शासनकाल में आमेर राज्य की प्रतिष्ठा बढ़ी और उसकी सीमा का विस्तार हुआ। टोंक और अलवर के परगने आमेर राज्य के अन्तर्गत कर दिये गये। वैसे वह आमेर से सामान्यतः बाहर ही मुगल सेवा में व्यस्त रहा, फिर भी आमेर राज्य का प्रशासन सुचारू रूप से चलता रहा। आमेर में नये-नये महल व अन्य इमारतें बनी जिससे नगर की शोभा में वृद्धि हुई। आमेर शिक्षा और विद्या का भी केन्द्र बना।

शिवाजी के आगरा से भाग निकलने के कारण औरंगजेब की जयसिंह के पुत्र रामसिंह से नाराजगी थी। फिर भी जयसिंह की मृत्यु के बाद रामसिंह को आमेर का राजा बनाया गया और उसे उच्च पद और मनसब देकर सम्मानित किया गया। दण्ड देने की नीयत से आसाम में विद्रोहियों को दण्डित करने के लिए रामसिंह को वहां नियुक्त किया गया। रामसिंह 9 वर्षों तक आसाम के विद्रोहियों से जूझता रहा, फिर भी उन्हें पूर्णतया कुचल नहीं सका। 1676 ई० में रामसिंह को उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रदेश में भेजा गया। वहां वह

1678 ई० तक रहा। इसके बाद यह कुछ समय के लिए आमेर आया। 1679 ई० में मारवाड़ में अजीतसिंह को जोधपुर की गद्दी दिलाने के लिए राठौड़ों ने खुले रूप से शाही सेना का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया था। औरंगजेब को भय था कि कहीं रामसिंह भी अजीतसिंह का सहयोगी न बन जाए। उसने तुरन्त रामसिंह को पुनः अफगानिस्तान जाने के आदेश भेज दिये।[19] रामसिंह ने वहां जाकर खैबर दर्रे की रक्षा का कार्य बड़ी योग्यता से किया, परन्तु जब उसके इकलौते पुत्र किशनसिंह के दक्षिण में परेन्डा किले की लड़ाई में मारे जाने के समाचार मिले तो उसके हृदय को आघात लगा। वह स्वयं बीमार पड़ गया। औरंगजेब उसके पोते बिशनसिंह को दक्षिण में सेवा के लिए भेजने पर जोर दे रहा था। रामसिंह उसे वहां भेजने के पक्ष में नहीं था। इससे औरंगजेब रुष्ट हो गया और उसने रामसिंह को कोहाट में फौजदार नियुक्त किया। वहां अप्रेल 1688 ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

अब बिशनसिंह आमेर का राजा बना। बादशाह ने उसे खिलअत आदि भेजकर सम्मानित किया और उसे मथुरा का फौजदार नियुक्त कर दिया। यहां बिशनसिंह जाटों के विद्रोह को कुचलने में लगा रहा। उनके महत्वपूर्ण किले छीन लिये तथा उनके नेताओं को भी शक्तिहीन कर दिया। परन्तु जाट जाति, जो धर्मान्ध औरंगजेब के विरुद्ध थी, पूर्ण रूप से कुचली नहीं जा सकी। औरंगजेब ने उसे दक्षिण में जाने के लिए आदेश भेजे। वह इसे टालता रहा। बादशाह इससे अप्रसन्न हुआ और उसने बिशनसिंह को अफगानिस्तान की तरफ भेज दिया। वहां सेवा में रत 1699 ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

इसके बाद बिशनसिंह का ज्येष्ठ पुत्र जयसिंह 1700 ई० में आमेर की गद्दी पर आसीन हुआ। वह कुछ समय तक तो आमेर में रहा और यहां की राज्य-व्यवस्था को सुधारता रहा। बाद में वह दक्षिण में बादशाह की सेवा में उपस्थित हो गया। मराठों से खेलना का किला खाली करवाने के कार्य में जयसिंह का बड़ा योगदान रहा। इससे औरंगजेब ने प्रसन्न होकर उसकी मनसब में वृद्धि की। बाद में वह शाहजादे बेदारबख्त के अधीन मालवा में नायब पद पर काम करता रहा। यहां उसे प्रशासन का अच्छा ज्ञान व अनुभव हुआ। 1707 ई० में औरंगजेब की मृत्यु दक्षिण में ही हुई उस समय वह मालवा में ही था। इसलिये प्रारम्भ में उसने उत्तराधिकार युद्ध में आजम का ही साथ दिया था।[20] इस प्रकार कछवाहा परिवार के शासक लगभग डेढ़ शताब्दी तक मुगल साम्राज्य की सेवा में संलग्न रहे और अपने वीरत्व का निरन्तर प्रदर्शन करते रहे। उनके शाही परिवार से सम्बन्ध पूर्णतया सौहार्दपूर्ण रहे इसलिए आमेर राज्य में शान्ति और सुरक्षा बनी रही। इसकी सीमा का विस्तार हुआ और सर्वत्र समृद्धि का संचार हुआ।

जैसा ऊपर बताया जा चुका है कि 1570 ई० में अकबर नागौर पहुंचा वह कुछ समय तक वहां ठहरा। वहां अनेक राजपूत राजा पहुंचे और उन्होंने अकबर

की अधीनता स्वीकार कर ली । बीकानेर का राजा कल्याणमल भी अपने पुत्र रायसिंह के साथ मुगल बादशाह अकबर की सेवा में उपस्थित हुआ था । उसने अपनी पुत्री का विवाह अकबर के साथ कर दिया । तभी से बीकानेर के राजघराने और मुगल सम्राट् के मध्य मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो गये । मुगल दरबार में बीकानेर शासकों का महत्त्व बहुत बढ गया । ओझाजी का कथन है कि अकबर और जहांगीर के समय शाही दरबार में जयपुर के बाद बीकानेर का ही अधिक प्रभाव था ।[51]

नागौर में अकबर कुंवर रायसिंह के व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित हुआ था । उसने रायसिंह को जोधपुर की व्यवस्था करने के लिए वहा नियुक्त कर दिया । उस समय जोधपुर का बीकानेर से वैमनस्य चल रहा था, इसलिए रायसिंह को जोधपुर के शासक के रूप मे नियुक्त करना अकबर के लिए नीति-सगत था । अकबर द्वारा अपनाई गई भेद-नीति का ही यह एक पहलू था । उसकी यह नियुक्ति कुंवर की हैसियत से हुई थी । फिर जब वह बीकानेर का राजा बना, तब भी वह इस पद पर कुछ समय तक कार्य करता रहा ।[52]

रायसिंह ने मुगल सम्राट् की सेवा भांति-भांति से की थी । उसने मिर्जा बन्धुओं के विद्रोह को कुचलने में सहयोग दिया था । जोधपुर के शासक चन्द्रसेन और सिरोही के देवड़ा शासक सुरताण के विरुद्ध भेजी गई सेना को रायसिंह ने सहायता प्रदान की थी । इन सैनिक अभियानो मे उसने साहस और वीरता का परिचय दिया था जिससे उसने मुगल दरबार मे अच्छी ख्याति अर्जित कर ली थी । समय-समय पर काबुल के विद्रोहियों को कुचलने के लिए शाही सेनाएँ भेजी गई थीं । इन सेनाओ मे रायसिंह को भी सम्मिलित किया गया था । अकबर रायसिंह की सेनाओं से अत्यधिक प्रभावित हुआ था । उसने रायसिंह की पदोन्नति की तथा उसे बीकानेर के अतिरिक्त अनेक जागीरें प्रदान की थी ।

जहांगीर भी रायसिंह से बहुत प्रसन्न था । उसने उसे पंचहजारी मनसबदार बनाया था । कुछ समय तक बीकानेर राज्य षडयन्त्रों का केन्द्र रहा । सर्वत्र अराजकता छायी हुई थी । इस कारण से जहांगीर कुछ समय तक रायसिंह से नाराज भी रहा । बाद मे उसने रायसिंह को दक्षिण में शाही सेनार्थ जाने के आदेश दिये । दक्षिण में शाही सेना मे रहते हुए रायसिंह का 1612 ई. में देहान्त हुआ ।

वीरोचित गुणो से युक्त रायसिंह कलम का भी धनी था । उसमें साहित्यिक प्रतिभा थी । वह स्वयं कवि था और अनेक कवि, विद्वान, साहित्यकार आदि उसके प्रश्रय मे रह रहे थे । रायसिंह के काल मे स्थापत्य कला का भी विकास हुआ । बीकानेर मे अन्य महलों का निर्माण हुआ । उसी के आदेशानुसार बीकानेर में एक सुदृढ़ किले के निर्माण का कार्य आरम्भ हुआ । यह मध्ययुगीन शिल्पकला का एक विशिष्ट नमूना है ।[53]

रायसिंह के बाद मुगल बादशाह की अनुकम्पा से उसका पुत्र दलपत बीकानेर का राजा बना (1612–13 ई०), परन्तु उसका आचरण सम्राट् के प्रतिकूल रहा। अतः उसके स्थान पर रायसिंह के एक अन्य पुत्र सूरसिंह (1613—31 ई) को बीकानेर का राज्य दिया गया।[54] सर्वप्रथम उसने बीकानेर राज्य में शान्ति स्थापित की। तत्पश्चात् वह मुगल सेवा में निरन्तर व्यस्त रहा। काबुल मे विद्रोह दबाने के लिए उसे भेजा गया था। जुझारसिंह बुन्देला और खानजहां लोदी के विद्रोहों को दबाने मे सूरसिंह ने अपने साहस और वीरता का परिचय दिया था।[55]

सूरसिंह के मरणोपरान्त बीकानेर राज्य सिंहासन पर कर्णसिंह बैठा। उसका भी शाही दरबार में अच्छा सम्मान था। उसने मुगल दरबार के उच्च पदों पर कार्य किया था। वह एक दूरदर्शी व्यक्ति था। उसने शाहजहाँ के पुत्रों मे हुए उत्तराधिकार-युद्धो मे भाग नही लिया। एक मूक दर्शक की भाँति बीकानेर मे बैठा रहा। जब औरंगजेब अपने भाइयों पर विजय प्राप्त कर बादशाह बना, तब कर्णसिह उसकी सेवा में उपस्थित हो गया।[56] वह हिन्दू धर्म का कट्टर अनुयायी था। इसलिए राजपूत राजाओ ने अटक मे उसे 'जय जंगलधर बादशाह' की उपाधि से विभूषित किया था।[57] उसका पुत्र अनूपसिंह (1669—1698 ई०) भी अपने पिता की भाँति मुगल सेवा में सदैव तत्पर रहा। दक्षिण मे शिवाजी के विरुद्ध लडे गये युद्धों में उसने सक्रियता से भाग लिया था। इससे प्रसन्न होकर औरगजेब ने उसे औरंगाबाद, आदूणी आदि महत्त्वपूर्ण स्थानो पर शासक नियुक्त किया था। बीजापुर और गोलकुण्डा के विरुद्ध किये गये सैनिक अभियानो मे भी वह सशस्त्र विद्यमान था। इन युद्धो मे उसने साहस और सैनिक प्रतिभा का प्रदर्शन किया था। इससे प्रसन्न होकर बादशाह ने उसे 'माहीमरातिब' की उपाधि से अलकृत किया था।[58]

उसने बीकानेर राज्य में सामन्तो, भाटियो और जोहियो के विद्रोहों को शान्त किया और राज्य को व्यवस्थित तथा सगठित किया। अपने अनौरस भाई बनवालीदास को, जिसने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था तथा औरंगजेब द्वारा बीकानेर के आधे राज्य का फरमान भी प्राप्त कर लिया था, बडी चतुराई और नीतियुक्ति से मरवा दिया था। ऐसा करने से वह बीकानेर राज्य की रक्षा कर सका।[59] उसने एक पुस्तकालय की भी स्थापना की थी जो आज भी अनूप पुस्तकालय के नाम से विद्यमान है। यह अलभ्य हस्तलिखित पुस्तको का भण्डार है।[60]

अनूपसिंह की मृत्यु (1698 ई.) के साथ ही बीकानेर राज्य की स्थिति बिगड़ गई और उसका मुगल दरबार मे महत्त्व भी कम हो गया था। उसका लड़का स्वरूपसिंह नाबालिग था और राज्य का शासन राजमाता के हाथ मे था। राज्य मे सामन्तो की दलबन्दी के कारण सर्वत्र अशान्ति और अराजकता का वातावरण व्याप्त था। 1700 ई. मे स्वरूपसिंह अल्प आयु में ही शीतला की बीमारी से

दिवंगत हो गया। अब उसका अनुज सुजानसिंह (1700 ई.) बीकानेर राज्य का शासक बना। यद्यपि वह बादशाह औरंगजेब की सेना में दक्षिण मे रहा तथापि उसका कोई विशेष महत्त्व नही था। औरंगजेब के मरणोपरान्त उसके शाहजादों के मध्य हुए गृह-युद्ध में उसने भाग नही लिया। बाद में वह अपने राज्य की सीमा पर स्थित जोधपुर और नागौर राज्यो के शासको से युद्ध करने में व्यस्त रहा।[61]

सन् 1581 ई. में राव चन्द्रसेन की मृत्यु हो गई। अब अकबर के लिए मारवाड़ पर मुगल प्रभुसत्ता स्थापित करना सुलभ हो गया। मारवाड़ में सर्वत्र शान्ति दृष्टिगत होने लगी। मुगल सम्राट् अकबर ने चन्द्रसेन के भाई उदयसिंह को जोधपुर की गद्दी पर बैठा दिया (1589 ई.)। उदयसिंह ने अपनी पुत्री का विवाह शाहजादा सलीम के साथ किया जिससे उदयसिंह का शाही दरबार में महत्त्व और अधिक बढ़ गया। उदयसिंह ने मुगल बादशाह की महती सेवाएं की थी। 1577 ई. में मधुकर बुन्देला को परास्त करने में उसका प्रशंसनीय योगदान रहा। उदयसिंह ने गुजरात मे हुए विद्रोहों को दबाने में शाही सेना की मदद की। सिरोही के सुरताण के विरुद्ध 1588 और 1593 ई. में दो बार शाही सेना द्वारा आक्रमण किया गया। इनमें उदयसिंह का बड़ा सहयोग रहा। सम्राट् भी उदयसिंह की श्लाघनीय सेवाओं से अत्यधिक प्रभावित था। 1592 ई. में सम्राट् ने उसे कलीजखां के साथ लाहौर का प्रबन्धक नियुक्त किया। लाहौर में शाही सेवा करते हुए 1595 ई में उदयसिंह की जीवन-लीला समाप्त हो गई।[62]

उदयसिंह का पुत्र सूरसिंह (1595-1619 ई.) भी मुगल सम्राट् की सेवा मे सदैव व्यस्त रहा। उसकी सैनिक योग्यता से प्रभावित होकर सम्राट् जहांगीर ने उसकी मनसब बढ़ा कर पांच हजार कर दी। उस समय पंचहजारी पद बहुत ऊँचा माना जाता था। महाराजा सूरसिंह के काल में मारवाड़ मे मुगल-पद्धति के अनुसार शासन की स्थापना की गई।[63] यह शासन-व्यवस्था ब्रिटिश सम्पर्क होने तक सामान्य रूप से प्रचलित रही।

सूरसिंह दक्षिण मे मुगल-सेवा मे था। वहीं 1619 ई. मे उसकी मृत्यु हो गई। उसके स्थान पर उसके लड़के गजसिंह को जोधपुर के सिंहासन पर बैठा दिया गया। गजसिंह (1619–1638 ई.) ने भी मुगलों की विभिन्न प्रकार से सेवाएं कीं जिसके फलस्वरूप उसकी निरन्तर पदोन्नति होती रही।[64]

गजसिंह ने अपने जीवनकाल में ही अपने छोटे पुत्र जसवन्तसिंह को उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। इसकी अनुमति मुगल सम्राट् से प्राप्त कर ली थी। उसका ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंह हठी और उद्दण्ड प्रकृति का व्यक्ति था। सम्राट् ने उसको प्रसन्न करने के लिए नागौर का राज्य उसे सुपुर्द कर दिया।[65] गजसिंह का देहान्त 1638 ई. मे आगरा मे हुआ था। जसवन्तसिंह जोधपुर का राजा घोषित कर दिया गया। सम्राट् की तरफ से उसे खिलअत और चार हजार की मनसब दी गई।

महाराजा जसवन्तसिंह ने भी मुगल साम्राज्य को महत्त्वपूर्ण सेवाएं प्रदान कीं। शाहजादा दारा के साथ कन्धार अभियान में वह उपस्थित था। 1645 ई. में उसे आगरा का शासक नियुक्त किया गया। 1649 ई. मे औरंगजेब के साथ वह दूसरी बार कन्धार पहुंचा था। जसवन्तसिंह ने 1650 ई. में खरोड़ा के युद्ध मे रामचन्द्र को पराजित कर जैसलमेर का राज्य सबलसिंह को दिलवाया था। उत्तराधिकार के युद्ध में बादशाह शाहजहां ने उसे सप्तहजारी मनसब देकर औरंगजेब और मुराद के विरुद्ध सघर्ष करने को भेजा था।[66] धरमत के स्थान पर युद्ध हुआ उसमें कासिमखा की कुटिलता के कारण महाराजा की पराजय हुई। नीतिकुशल जसवन्तसिंह धरमत के रणक्षेत्र से बचकर मारवाड़ की ओर प्रस्थान कर गया। वह अवसर प्राप्त होने पर प्रतिकार लेने के लिए प्रयत्नशील रहा। औरगजेब के बादशाह बनने पर मिर्जाराजा जयसिंह के बीच-बचाव के फलस्वरूप जसवन्तसिंह भी सम्राट् की सेवा में उपस्थित हो गया। औरंगजेब ने उसका सम्मान किया तथा उसकी पदोन्नति की। धरमत के युद्ध की पराजय अभी भी जसवन्तसिंह के हृदय मे व्यथा के रूप में बनी रही। अतएव खजवे के युद्ध मे सूजा के साथ किये गये गुप्त समझौते के अनुसार आधी रात के बाद महाराजा ने औरंगजेब के शिविर पर आक्रमण कर दिया और लूट-खसोट करता हुआ वह मारवाड़ की ओर पलायन कर गया। औरंगजेब जसवन्तसिंह के विरुद्ध कार्यवाही करने की तैयारी कर रहा था, परन्तु जब उसने सुना कि दारा जसवन्तसिंह की सहायता से अजमेर की ओर अग्रसर हो रहा है तो उसने अपनी नीति में परिवर्तन कर मिर्जा राजा जयसिंह के माध्यम से जसवन्तसिंह को पुन: अपनी ओर कर लिया।[67]

जसवन्तसिंह का पुन. शाही दरबार मे महत्त्व बढ गया। 1659 ई. मे वह गुजरात का सूबेदार नियुक्त हुआ। 1662 ई. मे उसे शिवाजी के विरुद्ध सैनिक अभियान करने के लिए दक्षिण भेजा गया। 1665 ई. मे उसे उत्तर की ओर बुला लिया गया, परन्तु कुछ समय बाद शाहजादा मुअज्जम के सहयोगी के रूप मे उसे पुनः दक्षिण मे जाने के आदेश हुए। इस प्रकार महाराजा ने मुगल साम्राज्य की बराबर सेवाएं की। बाद मे उसे पश्चिमोत्तर भाग मे भेजा गया। उसने वहा पठानो के विद्रोहों को शान्त किया। अन्त मे उसे जमरूद मे रहने का आदेश दिया गया। 1678 ई. मे जमरूद मे ही उसकी मृत्यु हो गई। महाराजा जसवन्तसिह की मृत्यु के साथ ही सन् 1679 ई. से राजस्थान मे सघर्ष और अराजकता का युग आरम्भ हुआ जो किसी न किसी रूप मे पूरे 140 वर्षों तक निरन्तर चलता रहा। राजस्थान पर अंग्रेजो का आधिपत्य होने के बाद ही उसका अन्त हुआ।[68]

राजस्थान मे मुगल प्रभुत्व स्थापित होने व मुगलों द्वारा अपनाई गई नीति के फलस्वरूप प्रदेश की परिवर्तित राजनीतिक स्थिति की कतिपय विशेषताओं पर प्रकाश डालना समीचीन ही होगा। मेवाड़ के साथ 1615 ई. मे सन्धि होने के बाद राजस्थान मे मुगल साम्राज्य के प्रति विरोध का अन्त हो गया और प्रान्त में

सर्वत्र शान्ति व समृद्धि दृष्टिगत होने लगी थी। राजपूतों को अपनी परम्परागत सैनिक प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने का व्यापक क्षेत्र व अवसर प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त मुगल सम्राटों द्वारा दी जाने वाली जागीरों के प्रलोभन ने राजपूत राजाओं को मुगल-सेवा में निरन्तर रहने के लिए प्रोत्साहित किया। वस्तुतः अधिकांश राजस्थानी शासकों का दृष्टिकोण ही बदल गया था। वे सभी मुगल सम्राटों के कृपापात्र बनकर उनसे बड़ी-बड़ी मनसबें तथा विभिन्न प्रकार के सम्मान प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील थे और एक दूसरे से होड़-सी करने लगे थे। इसी समय से कछवाहा-राठौड़ प्रतिस्पर्द्धा का सूत्रपात होता है। भविष्य में राजस्थान के लिए इसके अनेक घातक परिणाम निकले।[69]

इस काल मे राजपूत राजा अधिक समय तक अपने राज्य से सुदूर मुगल साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों मे सेवा मे व्यस्त रहे, इसलिए राजस्थान मे उनकी अनुपस्थिति मे मुगल-विरोधी घटनाओं का होना सम्भव नही था।[70]

इस काल की एक अन्य विशेषता यह थी कि राजस्थान के राजाओं की राज भक्ति अब व्यक्तिगत न रहकर प्रधानतः साम्राज्य तथा सिंहासन के प्रति जागरूक होने लगी थी। जब शाहजादा खुर्रम (शाहजहां) ने नूरजहां की राजनीतिक चालों से शंकित व सन्त्रस्त होकर 1622 ई. मे विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया, उस समय राजा कर्ण (1620 से 1628 ई.) के अनुज भीम के अतिरिक्त किसी भी राजस्थानी नरेश ने इस विद्रोह मे शाहजहां का साथ नही दिया था। मारवाड़ के राजा गजसिंह (1619 ई. से 1638 ई.), आमेर के राजा जयसिंह, बून्दी के राव रतन, बीकानेर के शासक सूरसिंह आदि जहांगीर के आदेशानुसार शाहजहां के विरुद्ध लड़े थे। परन्तु जब शाहजहां सम्राट् बना और दक्षिण के सूबेदार खाजहां लोदी ने उसका समर्थन नही किया तो राजपूत राजा सूबेदार को छोडकर साम्राज्य की सुरक्षा-हेतु बादशाह शाहजहां की सहायता में ही जुटे रहे।[71] इसी तरह उत्तराधिकार के युद्धों में जब औरंगजेब विजयी हो गया और वह मुगल सिंहासन पर आरूढ हुआ तो सभी विपक्षी राजपूत राजा भी उसकी सेवा में उपस्थित हो गये थे। इसी कारण से मुगल साम्राज्य को शक्ति और स्थायित्व प्राप्त हो सका था।

राजस्थान के राजपरिवारों मे उत्तराधिकारी को मुगल सम्राट् की अनुमति प्राप्त करना वाछनीय हो गया था। शनैः शनैः उत्तराधिकार के मामलो में सम्राट् की इच्छा ही सर्वोपरि बन गई। जिस किसी उत्तराधिकारी को वह उसके पैतृक राज्य का टीका प्रदान कर देता था, वह उसके व्यक्तित्व एवं राज्य के लिए प्रतिष्ठा का प्रश्न बन जाता था। उसकी सुरक्षा का दायित्व सम्राट् का हो जाता था। इस नीति के फलस्वरूप एक तरफ सभी राज्यों मे सम्राट् के अनुकूल प्रवृत्ति वाले ही शासक बने, तो दूसरी तरफ मुगल सार्वभौमिकता के सिद्धान्त की भी पूर्ति हो सकी।[72]

राजस्थान मे मुगलों का प्रभुत्व स्थायीरूपेण स्थापित हो जाने के बाद मुगल सम्राट् राजस्थान मे अनेकानेक छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना करने लगे तथा उन्होने बड़े राज्यो के अधीन छोटे राज्यो को उनकी अधीनता से मुक्त करवाकर मुगल साम्राज्य के साथ उनका सीधा सम्बन्ध स्थापित करने की नीति का अनुसरण किया। किशनगढ़, कोटा, नागौर आदि नये राज्यो का गठन इसी नीति के परिणामस्वरूप हुआ था इसी प्रकार राजा भीम सिसोदिया की स्वामीभक्ति व सेवाओं से प्रसन्न होकर शाहजहा ने उसके पुत्र रायसिंह को टोंक तथा टोडा का एक स्वतन्त्र राज्य दिया था जो रायसिंह की मृत्यु के बाद स्थायी नहीं रह सका। इसके विपरीत राणा अमरसिंह के दूसरे पौत्र सुजानसिंह सिसोदिया को जब शाहजहा ने फूलिया परगना प्रदान किया, तब उसने शाहपुरा नगर के साथ स्थायी रूप से शाहपुरा राज्य की स्थापना की। देवलिया (प्रतापगढ), डूगरपुर और बासवाड़ा के शासकों ने अपना सम्बन्ध सीधे मुगल सम्राट् से स्थापित किया तथा शाही शक्ति व प्रोत्साहन के कारण वे महाराणा की अधीनता की उपेक्षा करने लगे।[73] मुगलों की इस नीति के परिणामस्वरूप एक तरफ मुगल साम्राज्य की नीव सुदृढ़ हो गई, दूसरी तरफ राजस्थान मे पारस्परिक विरोध एवं फूट का सूत्रपात भी हुआ।

अकबर द्वारा अपनाई गई 'सुलहकुल' की नीति के फलस्वरूप राजस्थान में राजपूत राजाओं का सम्बन्ध मुगल सम्राट् के साथ बन्धुत्व, सौहार्द और मैत्री का रहा। उन्होंने मुगल साम्राज्य के विस्तार और संगठन के लिए अपनी श्लाघनीय सेवाएं अर्पित कीं तथा स्वामीभक्ति का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया था। इस प्रकार की स्थिति लगभग एक शताब्दी तक चलती रही। परन्तु औरंगजेब के सिहासनारूढ होने के कुछ समय बाद उसकी एक पक्षीय धार्मिक तथा राजपूतों को शक्तिहीन बनाने की नीति के फलस्वरूप राजस्थान की राजनीति में शनैः शनैः परिवर्तन होने लगा। मुगल बादशाह के प्रति राजपूत राजाओं के विश्वास में कमी आने लगी। जिन राजपूतो ने रक्त बहाकर मुगल साम्राज्य के विस्तार और निर्माण मे अकबर को सक्रिय सहयोग दिया था, वे अब औरंगजेब के प्रबल शत्रु बन गये और कालान्तर मे मुगल साम्राज्य के पतन मे भी भागीदार बने।

22 नवम्बर 1678 ई. को जमरूद मे मारवाड़ के शासक जसवन्तसिंह का स्वर्गवास हो गया।[74] उस समय उसके कोई पुत्र नहीं था। जब उसकी सूचना औरगजेब को मिली तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ। तवारीख मोहम्मदशाही के अनुसार इस समय औरगजेब के मुख से स्वतः ही ये शब्द निकले—रेऊ ने ऐसा ही लिखा है, दरवाजा-ए-कुफ्र शिकस्त (आज धर्म-विरोध का दरवाजा टूट गया)[75] महाराजा जसवन्तसिंह की मृत्यु ने मानो राजपूत-मुगल युद्ध का बिगुल बजा दिया। औरंगजेब ने मारवाड़ को तुरन्त खालसा घोषित कर दिया और वहा के शासन-सचालन हेतु शाही मुसलमान प्रशासको की नियुक्ति कर दी।[76] शाही सेना ने मारवाड़ राज्य पर

9827

अधिकार कर लिया। जोधपुर राज्य के उच्च अधिकारी वर्ग व अधिकांश सैनिक महाराजा की सेवार्थ काबुल में थे, अतः जोधपुर में शाही सेना का विरोध नहीं हुआ।[77] इसके अतिरिक्त विरोध करने वालों को भयभीत करने के लिए औरंगजेब स्वयं दलबल के साथ 1 जनवरी, 1679 को दिल्ली से प्रस्थान कर चुका था। 2 फरवरी को वह अजमेर पहुचा और वहां से मारवाड की गतिविधियों का परिनिरीक्षण करने लगा।[78] जब मारवाड़ पर शाही अधिकार हो गया तो वह पुनः दिल्ली की ओर लौटा। मारवाड़ मे मन्दिरों को तोडने की प्रक्रिया आरम्भ हो गई।

उक्त घटना का राजस्थान के किसी भी छोर से विरोध नहीं हुआ। इससे प्रोत्साहित होकर औरंगजेब ने दिल्ली पहुंचने पर 2 अप्रेल, 1679 को हिन्दुओं पर जजिया कर लागू करने की घोषणा कर दी।[79] इसी बीच में स्वर्गीय महाराजा की दो रानियों के अजीतसिंह और दलथम्भन नामक क्रमशः दो पुत्र हुए। बादशाह ने रानियों और नवजात शिशुओं को दिल्ली आने के आदेश भेजे। औरंगजेब अजीतसिंह को जोधपुर का राज्य देने के पक्ष में नहीं था। वह जोधपुर को स्थायी रूप से मुगल साम्राज्य मे पूर्ण विलीन करना चाहता था। समकालीन इतिहासकार भीमसेन से ज्ञात होता है कि औरंगजेब ने अजीतसिंह को जोधपुर का पट्टा देने के लिए शर्त रखी थी कि वह इस्लाम धर्म में दीक्षा ले ले। बादशाह बालक अजीत को मुगल हरम में रखना चाहता था। राठौड़ सरदार बादशाह से शंकित हो गये। उन्होने राठौड़ दुर्गादास के नेतृत्व में बालक अजीत को युक्ति और बहादुरी के साथ दिल्ली से सुरक्षित मारवाड़ में पहुचा दिया।[80] औरंगजेब ने राठौडों में फूट डालने के उद्देश्य से जोधपुर का पट्टा अमरसिंह के पौत्र नागौर के शासक इन्द्रसिंह को दे दिया। उससे 36 लाख रुपये कर के रूप मे लिये थे। इन्द्रसिंह को मारवाड़ के सामन्तो व जनसमुदाय का सहयोग नही प्राप्त हो सका। औरंगजेब की यह भेद-नीति फलीभूत नही हो सकी।[81] मारवाड में बालक अजीतसिंह को जोधपुर की गद्दी दिलाने के लिए संघर्ष आरम्भ हो गया। औरंगजेब ने दमनकारी नीति का अनुसरण किया। मुगल सेना ने मन्दिरों को नष्ट किया, खेतों को हानि पहुंचाई तथा सर्वत्र लूट-खसोट कर बर्बरता का प्रदर्शन किया था। "जैसे मेघ पृथ्वी पर जल वर्षा करते हैं, उसी प्रकार औरंगजेब ने इस भूमि पर बर्बर सैनिकों की वर्षा कर दी।" इस विषम परिस्थिति का मारवाड़ ने डट कर साहसपूर्वक मुकाबला किया। मारवाड़ का प्रत्येक घर दुर्गम दुर्ग बन गया और हर एक राठौड़ राजपूत दुर्धर्ष सैनिक हो गया। उन दिनो स्वाभिमानी व स्वतन्त्रताप्रिय राजपूतों के मन में मुगल-विरोधी भावना बडी प्रबल हो उठी थी।[82]

दुर्गादास न केवल एक वीर योद्धा ही था, वरन् वह उच्च कोटि का राजनीतिज्ञ भी था। उसने मेवाड़ के राणा राजसिंह से सहयोग प्राप्त करना चाहा। यह सम्भव हो सका क्योंकि राणा राजसिंह स्वयं औरंगजेब की धर्मान्ध व असहिष्णु नीति से क्षुब्ध था। इसके अतिरिक्त नीति-विशारद राणा राजसिंह

इस बात को जानता था कि मारवाड़ के राठौड़ों से निवृत्त होने के पश्चात् औरंगजेब मेवाड़ के सिसोदियों की शक्ति को कुचल देगा।[83] धार्मिक व राजनीतिक कारणों के साथ-साथ व्यक्तिगत कारण भी था जिससे राजसिंह ने राठौड़ों के साथ गठबन्धन करना ही उचित समझा। अजीतसिंह की माता राणा राजसिंह की भतीजी थी।[84] अतः उसके शिशु पुत्र के पैतृक अधिकारों की रक्षा करना उसका कर्त्तव्य हो जाता था। इसके अतिरिक्त शरण में आये हुए की मदद न करना क्षात्र धर्म तथा मेवाड़ की गौरव-गरिमा के विरुद्ध था। इन सभी कारणों से मुगल-विरोधी राठौड़-सिसोदिया गुट सक्रिय हो गया।

औरंगजेब को जब इस राठौड़-सिसोदिया संयुक्त मोर्चे का आभास हुआ तो उसने साम्राज्य की सम्पूर्ण शक्ति मेवाड को नष्ट करने में जुटा दी। शाहजादा मुअज्जम को दक्षिण से अपनी सेना सहित उज्जैन आने के आदेश दिये। दूसरे शाहजादे आजम को बंगाल से मेवाड़ विरोधी सैनिक अभियान मे सम्मिलित होने के लिए आदेश भेजा। तीसरा राजकुमार अकबर पहले से ही मारवाड़ मे नियुक्त था। उसने अपने सेनानायकों को मेवाड़ के किलों पर अधिकार करने के लिए भेज दिया। बाद में वह स्वयं दिसम्बर 1679 ई० में उदयपुर पहुंच गया। राणा अपने सैनिकों के साथ पहाड़ी क्षेत्र में पलायन कर गया। उसने छापामार युद्ध-प्रणाली का प्रयोग किया। पहाड़ी क्षेत्र मे मुगल सेना को सफलता नही मिली। औरंगजेब अजमेर लौट आया और अपने पुत्र अकबर को चित्तौड़ मे एक विशाल सेना के साथ नियुक्त किया। राजसिंह ने मुगल चौकियों पर आक्रमण करके उनके यातायात का मार्ग बन्द कर दिया। एक रात्रि को मेवाड़ी छापामार सैनिकों ने चित्तौड़ के निकट मुगल-शिविर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। मारवाड़ मे भी राठौड़ सक्रियता से मुगलों का विरोध कर रहे थे।[85]

औरंगजेब ने मेवाड के अभेद्य व सुरक्षित पहाड़ी क्षेत्र पर अधिकार करने के लिए तीन रास्तों से मुगल सैनिक भेजे। शाहजादा आजम को देबारी के मार्ग से जाने के आदेश दिये। उत्तर मे राजसमुद्र की राह से शाहजादा मुअज्जम को पहाडी क्षेत्र मे आगे बढ़ने को कहा। पश्चिम मे देसूरी की घाटी के मार्ग से प्रविष्ट होकर कुम्भलगढ़ तक पहुंचने के लिए शाहजादा अकबर को आज्ञा दी गई। औरंगजेब का मेवाड़-विजय का यह प्रयास असफल रहा। प्रथम दो शाहजादे अपने मन्तव्य की पूर्ति नही कर सके। अकबर नाडोल पहुच गया। वहां दो महीनों तक ठहर कर वह देसूरी के दर्रे की ओर अग्रसर हुआ, परन्तु उसकी प्रगति नहीं हो सकी। अकबर अपने पिता से खिन्न था क्योंकि उसे अनेक बार औरंगजेब की झिड़कियों का शिकार होना पड़ा था। दुर्गादास राठौड़ और राणा राजसिंह ने अकबर को अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए प्रोत्साहित किया। अन्ततोगत्वा शाहजादा अकबर और उसके सेनापति तहव्वरखां ने आलमगीर के विरुद्ध विद्रोह करने की सम्मति प्रकट कर दी थी। राजपूतों और अकबर के मध्य समझौता हुआ जिसके

अनुसार यह निश्चय हुआ कि अकबर सम्राट् बनने पर महाराणा की प्रतिष्ठा का ध्यान रखेगा, मेवाड़ का मुगलों द्वारा विजित क्षेत्र पुनः राणा को लौटा दिया जायेगा तथा अजीतसिंह को मारवाड़ का राज्य दे दिया जायेगा। इन रियायतों के बदले राजपूत अकबर को सम्राट् के विरुद्ध विद्रोह करने पर 40,000 सैनिकों व धन आदि से मदद करेंगे। 1 जनवरी 1681 को अकबर ने अपने को बादशाह घोषित कर दिया। राजपूत उसकी सहायता हेतु एक हो गये।[86]

अकबर कुछ समय तक नाडोल में ठहरा रहा, फिर वह दल-बल सहित अजमेर की ओर प्रस्थान कर गया। औरंगजेब प्रारम्भ में तो चिन्तित रहा, परन्तु बाद में छल-कपट से तहव्वरखां व अन्य सेनानायकों को उसने अपनी तरफ कर लिया। तहव्वरखां औरंगजेब की सेवा में चला गया जहां उसके सेवकों ने उसे मौत के घाट उतार दिया। औरंगजेब ने अकबर को एक पत्र लिखा जिसमें उसकी प्रशंसा की कि उसने राजपूतों को मूर्ख बनाकर उसके पास ले आया है। यह पत्र राजपूतों के डेरे के समीप डलवा दिया गया। जब राजपूतों ने इस पत्र को पढ़ा तो वे अकबर के प्रति शंकित हो गये। राजपूत अकबर के शिविर पर पहुंचे परन्तु उसके सेवकों ने यह कहकर कि अकबर सो रहा है, उन्हें मिलने नहीं दिया। तहव्वरखां भी वहां अनुपस्थित था। राजपूतों के सन्देह की पुष्टि हो गई। वे अकबर के शिविर को छोड़ कर प्रस्थान कर गये।[87] अकबर जब सुबह जगा तो उसके पास मात्र 350 घुड़सवार थे। वह भयभीत होकर मेवाड़ की ओर लौट पड़ा। दुर्गादास को जब औरंगजेब द्वारा किये गये छल का भान हो गया तो उसने अकबर के पास पहुंच कर उसे अपने संरक्षण में ले लिया। कूटनीतिज्ञ दुर्गादास अकबर को लेकर दक्षिण में मराठा राजा शम्भाजी के दरबार में पहुंच गया। इसका प्रयास किया जाने लगा कि मराठा, राजपूत और अकबर के अनुयायियों की सम्मिलित सेना औरंगजेब के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा करे।[88]

अकबर का दक्षिण में मराठों के पास जाना औरंगजेब के लिए भारी चिन्ता का विषय था। उसने तुरन्त महाराणा जयसिंह को, जो अपने पिता राजसिंह की मृत्यु के बाद मेवाड़ की गद्दी पर आरूढ़ हुआ था, सन्धि करने के लिए राजी कर लिया। राणा युद्ध के जीवन से ऊब चुका था। वह अपने पिता की भाँति स्वाभिमानी और योग्य शासक नहीं था। अतः 24 जून, 1681 ई० को मेवाड़ और मुगल सम्राट् के मध्य सन्धि हो गई जिसके अनुसार तय रहा कि राणा जजिया के बदले में अपने तीन परगने माण्डल, पुर और बदनोर देगा। मुगल बादशाह अपनी सेना मेवाड़ क्षेत्र से हटा लेगा और राणा के पूर्वजों का प्रदेश उसे लौटा देगा। महाराणा राठौड़ों की सहायता नहीं करेगा। राणा को पंचहजारी मनसब प्रदान की गई और राणा की उपाधि को मान्यता दी गई।[89] इस सन्धि के सम्पन्न होने के तुरन्त बाद औरंगजेब अकबर के सम्राट् बनने के स्वप्न को चकनाचूर करने के लिए दक्षिण की ओर प्रस्थान कर गया। वह एक विशाल सेना के साथ 1 अप्रेल, 1682 ई० को

औरंगाबाद पहुंचा और वहा से मृत्युपर्यन्त वह उत्तर की ओर वापस नही लौट सका।

इस प्रकार लगभग डेढ़ वर्ष के बाद मेवाड़ मे शान्ति स्थापित हुई और वहां पुनः जनजीवन सुचारु रूप से संचालित हो गया। युद्ध के कारण जो मेवाड़ को क्षति पहुंची थी, उसकी पूर्ति शनैः-शनै होने लगी थी, परन्तु मेवाड़ अपने प्राचीन गौरव, राजनीतिक महत्त्व तथा सैनिक प्रतिभा को पुनः प्राप्त नही कर सका। सन्धि होने के बाद राणा जयसिंह की मृत्यु तक (1698 ई.) मुगलों के साथ मेवाड़ के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहे। राणा इस काल में रचनात्मक कार्यों में व्यस्त रहा। संसार की सम्भवतः सबसे बड़ी झील जयसमुद्र (जयसमन्द) का निर्माण 1691 ई. मे हुआ।[90] जयसिंह के उत्तराधिकारी अमरसिंह द्वितीय ने (1698-1707 ई) औरंगजेब का कभी विरोध नही किया। समय-समय पर मेवाड़ी सेना दक्षिण के युद्धों मे बादशाह को सहयोग देने के लिए भेजी जाती रही।[91]

उपर्युक्त सन्धि के फलस्वरूप मेवाड़ में तो शान्ति स्थापित हो गई थी, परन्तु मारवाड़ में राठौड निरन्तर मुगलों का विरोध करते रहे। दुर्गादास छः वर्ष तक अकबर के साथ दक्षिण मे रहा। अजीतसिंह अभी बच्चा था और अज्ञातवास व्यतीत कर रहा था। मुगल-विरोधी युद्ध का संचालन करने के लिए कोई नेता नही था। वस्तुतः यह संघर्ष अब जनता के युद्ध मे परिणत हो गया था। मारवाड़ में जन समुदाय अपने गुरिल्ला-दस्तों के माध्यम से मुगल शासकों को तंग कर रहे थे। सर्वत्र अराजकता का वातावरण व्याप्त था। मुगल अधिकारी इतने तंग हो गये थे कि वे राठौड़ो को चौथ या पेशकश भी देने लगे थे ताकि वे उन्हें न सतावें। 1687 ई. मे दुर्गादास दक्षिण से लौट आया था।[92] इस समय तक बालक अजीतसिंह को भी प्रकट कर दिया गया था। बून्दी पर बलपूर्वक अधिकार करने का प्रयत्न करने वाला विद्रोही हाड़ा दुर्जनशाल भी अपने सहयोगियो के साथ मारवाड़ के विद्रोही राठौड़ों से आ मिला था। अब मारवाड़ मे मुगल विरोधी संघर्ष को पर्याप्त बल मिला। नये उत्साह के साथ राठौड़ो ने मुगल इलाको पर आक्रमण करना प्रारम्भ किया। इसमें उन्हे कुछ सफलता भी प्राप्त हुई। उन्होने मालपुरा और पुर-माण्डल को लूटा, अजमेर के सूबेदार को हराया तथा मेवात तक धावे मारे।[93]

मुगल सम्राट् औरंगजेब मारवाड़ की स्थिति से बड़ा चिन्तित था। उसने गुजरात के सुयोग्य सूबेदार शुजातखां को आदेश दिया कि वह अपने सूबे के प्रबन्ध के साथ-साथ मारवाड के शासन का कार्य भी सम्भाले। शुजातखां ने जोधपुर के प्रबन्ध को इतना महत्त्व दिया कि वर्ष मे छः महीने वह जोधपुर में ही व्यतीत करता था।[94] मारवाड़ की स्थिति मे कुछ सुधार हुआ। परन्तु अब औरंगजेब एक अन्य चिन्ता से ग्रस्त था। उसका बागी पुत्र अकबर तो निराश होकर फारस चला गया था, लेकिन उसकी पुत्री सफियतुन्निसा और पुत्र बुलन्द अख्तर राठौड़ों के संरक्षण मे यौवन की ओर अग्रसर हो रहे थे। बादशाह उन्हे शाही दरबार में लाने को उत्सुक था।

शुजातखां ने जोधपुर के आमीन ईश्वरदास के माध्यम से राठौड़ दुर्गादास से उन शाही बच्चों को औरंगजेब को सुपुर्द करने की बातचीत शुरू की। एक समझौता हुआ जिसके अनुसार दोनों शाही बच्चों को मुग़ल दरबार में भेज दिया गया। इसके बदले में 1698 ई० में औरंगजेब ने अजीतसिंह को जालोर, सांचोर और सिवाना के परगने जागीर में देकर शाही मनसब प्रदान की। दुर्गादास को तीन हजारी मनसब देकर उसे अनहिलवाड़ा व पाटन का फौजदार नियुक्त किया।[95]

यह सन्धि स्थायी प्रमाणित नहीं हुई। 1701 ई. में आज़मशाह गुजरात का सूबेदार और मारवाड़ का प्रबन्धक नियुक्त हुआ। उसने राठौड़ों को नाराज कर दिया। दुर्गादास को भी मारने का षडयन्त्र किया गया। वह पाटण से भागकर मारवाड़ चला आया। मारवाड़ में पुनः मुगल-विरोधी संघर्ष आरम्भ हो गया जो एक-एक कर 1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु होने तक चलता रहा।[96] जैसे ही औरंगजेब की मृत्यु का समाचार मारवाड़ में पहुंचा, नायब-फौजदार जाफर कुलीखां को जोधपुर से भगा कर अजीतसिंह ने 12 मार्च, 1707 को अपनी वंशपरम्परागत राजधानी में प्रवेश किया। उसने अपने आप को मारवाड़ का महाराजा घोषित कर दिया। औरंगजेब साम्राज्य की सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग करके भी मारवाड़ के राठौड़ों को नतमस्तक नहीं कर सका। अन्ततोगत्वा अजीतसिंह ने जोधपुर के सिंहासन को प्राप्त कर ही लिया।[97]

राठौड़ और सिसोदिया राजपूतों के साथ दीर्घकालीन संघर्ष से मुग़ल राज्य को न केवल जान और माल की हानि उठानी पड़ी थी, वरन् साम्राज्य पर इसका अन्यान्य रूप से दुर्दम्य प्रभाव पड़े थे। राजपूतों का संघर्ष सामान्यतः हिन्दू-मुसलमानों का संघर्ष समझा जाने लगा था। इसी कारण से मराठों से साथ संघर्ष अधिक कठिन और दु.साध्य हो गया। यदि राजपूतों के साथ घनिष्ठता का व्यवहार व सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध रहते तो औरंगजेब सम्भवतः सुगमता से मराठों के साथ समझौता करने में सफल हो जाता और दक्षिण एक विपैला फोड़ा बनकर मुग़ल साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध नहीं होता। बीकानेर के शासक सुजानसिंह, कोटा और बून्दी के हाड़ा शासक रामसिंह और बुद्धसिंह और जयपुर के राजा सवाई जयसिंह औरंगजेब की मृत्यु होने तक (1707 ई.) दक्षिण में उसकी सेवा में उपस्थित थे, परन्तु उनका मुग़ल दरबार में कोई विशिष्ट स्थान नहीं था। मेवाड़ के राणा जयसिंह और अमरसिंह द्वितीय के मुग़लों के साथ अच्छे सम्बन्ध बने रहे और यदा-कदा मेवाड़ी सैनिक टुकड़ी शाही सेना की मदद में भी भेजी जाती रही, परन्तु इन राणाओं के हृदय में मुग़ल बादशाह के प्रति विश्वास व निष्ठा का नितान्त अभाव रहा। वे जजिया के बदले जब्त किये गये परगनों को वापिस लेने के लिए अवसर की प्रतीक्षा में थे। मारवाड़ के राठौड़ औरंगजेब की पक्षपातपूर्ण व दमनकारी नीति से क्षुब्ध थे और उनमें प्रतिशोध की भावना दिनो-दिन प्रबल होती जा रही थी। औरंगजेब की मृत्यु के समय व उसके पूर्व विगत पृष्ठों पर किये गये राजस्थान की राजनीति के

सर्वेक्षण की भूमिका में हम अगले अध्यायों में 1707 ई. से आरम्भ होने वाले राजस्थान के इतिहास का निरूपण करेंगे।

सन्दर्भिका

1. एस० आर० शर्मा, भारत मे मुस्लिम शासन का इतिहास, पृ. 229, सैयद अतहर अब्बास रिजवी, मुगल कालीन भारत, बाबर पृ. 156 पर 20 अप्रेल तिथि दी है।
2. मुगल कालीन भारत रिजवी कृत पृ. 224-27
3. बाबरनामा के अनुसार 13 जमादि उस्सानी 933 हि. सं., शनिवार के दिन यह युद्ध लड़ा गया था। ए० एल० श्रीवास्तव, एस० आर० शर्मा और वी०एस० भार्गव ने अपनी पुस्तकों में 16 मार्च 1527 तिथि निश्चित की है, जब कि जी०एन० शर्मा ने 17 मार्च 1527 तिथि दी है। रिजवी ने भी 17 मार्च 1527 तिथि का समर्थन किया है। हमने इसी तिथि को स्वीकार किया है।
4. बाबरनामा, पत्र 250(अ), बेवरिज, भा 2, पृ. 577; जी०एन० शर्मा, मेवाड़ मुगल सम्बन्ध, पृ. 22; रघुवीरसिंह, पूर्व-आधुनिक राजस्थान, पृ. 20
5. जी०एन० शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 322
6. वी०एस० भार्गव, राजस्थान के इतिहास का सर्वेक्षण, पृ. 185
7. वी०एन० रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 132
8. भार्गव, पृ. 186-188
9. एस०आर० शर्मा, भारत में मुगल साम्राज्य, पृ. 195; रघुवीरसिंह, पृ. 41
10. वही, पृ. 212–13; रघुवीरसिंह पृ. 41; पी. शरन, द प्रोविंशियल गवर्नमेंट ऑफ द मुगल्स, पृ. 117
11. वी०एस० भार्गव, पृ 188
12. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग 1; पृ. 164-166 चन्द्रसेन के विरुद्ध रायसिंह को भेजा गया था।
13. वही, पृ. 172–173 और 176–77
14. जी०एन० शर्मा, मेवाड़ मुगल सम्बन्ध, पृ. 62–63
15. डा० रघुवीरसिंह ने 18 जून इस युद्ध की तिथि दी है, पृ. 54;
डा. जी. एन. शर्मा ने इस युद्ध की तिथि 21 जून निर्धारित की है, राजस्थान का इतिहास, पृ. 285
16. प्रसिद्ध इतिहासकार बदायूंनी हल्दीघाटी के युद्ध में आसफखां के नेतृत्व में

लड़ा था। उसने अपने सेनापति आसफखां से कहा था कि "हम मित्र और शत्रु राजपूत को कैसे पहिचानें क्योंकि दोनों ही पक्ष से यह लोग लड़ रहे हैं।"

17. टॉड, अनल्स एण्ड एन्टिक्वेटीज ऑफ राजस्थान, भाग 1, पृ. 1–2; ओझा, राजपूताना का इतिहास, भाग 1, पृ. 1–2
18 आइने अकबरी, 2, द्वितीय संस्करण, पृ. 129; रघुवीरसिंह, पृ. 70
19. रघुवीरसिंह, पृ. 68–69
20. वही
21. पी. सरन, पृ. 120–24
22.. विलियम इर्विन, लैटर मुगल्स, भाग 1, पृ. 42
23. आइने अकबरी, भाग 1, पृ. 27; पी. शरन, पृ. 123
24. पी. शरन, पृ. 122
25. रघुवीरसिंह, पृ. 81–82
26. तुजुक-ए-जहांगीरी प्रथम भाग, पृ. 134;
बादशाहनामा (लाहौरी), प्रथम भाग, पृ. 172;
द्रष्टव्य, जी. एन. शर्मा, मेवाड़ मुगल सम्बन्ध, पृ. 89–97
27. आर. पी. व्यास, महाराणा राजसिंह, पृ.14–15
28. वही, पृ. 25–33
29. वही, पृ. 34–43
30. इलियट और डाउसन (हिन्दी संस्करण) भाषान्तरकार पी. आर. भाटिया, और एल. एन. शर्मा, पृ. 68–69
31 मआसिर-ए-आलमगीरी (फारसी मूल), पृ. 81
32. मआसिर-ए-आलमगीरी, पृ. 174; जजिया एक प्रकार का कर था जो मुसलमानों के राज्य में रहने वाले सभी विधर्मियो से लिया जाता था। सम्राट् अकबर ने इस कर को अपने साम्राज्य के लिए [illegible] कर बन्द कर दिया था (1564 ई०)। द्रष्टव्य जजिया पर [illegible] मेहीवन, इण्डियन हिस्ट्री, पृ. 113–144, पी. शरन।
33 जी. एन. शर्मा, मेवाड़ एण्ड द मुगल एम्परर्स, पृ. 165
34. द्रष्टव्यः आर. पी. व्यास, महाराणा राजसिंह, अध्याय 5, [illegible] का काल।
35. टॉड, भाग 2, पृ. 381–83; एम. एल. शर्मा, कोटा [illegible], भाग 1, पृ. 76–81
36. वही (टॉड), भाग 2, पृ. 389; शर्मा, पृ. 82
37. वही, (शर्मा) पृ. 83–87

सर्वेक्षण की भूमिका में हम अगले अध्यायों
स्थान के इतिहास का निरूपण करेंगे।

सन्दर्भिका

1. एस० आर० शर्मा, भारत मे मुस्लिम
अतहर अब्बास रिजवी, मुगल कालीन
तिथि दी है।
2. मुग़ल कालीन भारत रिजवी कृत पृ. 224
3. बाबरनामा के अनुसार 13 जमादि उस्सानी
यह युद्ध लड़ा गया था। ए० एल० श्रीव
वी०एस० भार्गव ने अपनी पुस्तकों मे 16
है, जब कि जी०एन० शर्मा ने 17 मार्च 152
भी 17 मार्च 1527 तिथि का समर्थन किय
स्वीकार किया है।
4. बाबरनामा, पत्र 250(अ), बैवरिज, भा. 2, पृ.
मेवाड़ मुग़ल सम्बन्ध, पृ. 22; रघुवीरसिंह, पूर्व-आ
5. जी०एन० शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ 322
6. वी०एस० भार्गव, राजस्थान के इतिहास का सर्वेक्षण
7. वी०एन० रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 13
8. भार्गव, पृ. 186-188
9. *एस०आर० शर्मा, भारत में मुगल साम्राज्य, पृ. 195;* रघु
10. वही, पृ. 212–13; रघुवीरसिंह पृ. 41; पी. शरन, द प्रो
मेट ऑफ द मुग़ल्स, पृ. 117
11. वी०एस० भार्गव, पृ 188
12. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास,
पृ. 164-166 चन्द्रसेन के विरुद्ध रायसिंह को भेजा गया था।
13. वही, पृ. 172–173 और 176–77
14. जी०एन० शर्मा, मेवाड़ मुगल सम्बन्ध, पृ. 62–63
15 डा० रघुवीरसिंह ने 18 जून इस युद्ध की तिथि दी है, पृ. 54;
डा. जी. एन. शर्मा ने इस युद्ध की तिथि 21 जून निर्धारित की है, राजस्थान
का इतिहास, पृ. 285
16. प्रसिद्ध इतिहासकार बदायूंनी हल्दीघाटी के युद्ध में आसफखां के नेतृत्व में

60. ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 280–287; जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 409
61. शर्मा, वही, पृ. 410–11
62. वही पृ. 430–31
63. वी. एन. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 182 पाद टिप्पणी
64. वी. एस. भार्गव, मारवाड़ एण्ड द मुग़ल एम्परर्स, पृ. 70–79
65. रेऊ, ग्लोरीज ऑफ मारवाड़ एण्ड द ग्लोरियस राठौड़्स, परिशिष्ट 4, पृ. 81–86
66. व्रजरत्नदास कृत मआसिरूल उमरा (हिन्दी) पृ. 171
67. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 222–230
68. रघुवीरसिंह, पृ. 140
69. वही, पृ 105
70. वी. एन. भार्गव, राजस्थान का इतिहास, पृ. 190
71. रघुवीरसिंह, पृ. 98–99
72. वी. एस. भार्गव, राजस्थान का इतिहास, पृ. 190
73. आर. पी. व्यास, महाराणा राजसिंह, पृ. 82, पाद टिप्पणी, 8
74. महासिर-ए-आलमगीरी; इलियट, भाग 7, पृ. 187;
राजरूपक मे लिखा है :—
सतरै समत पौष पैंतिसे, दशमी वार ब्रहस्पत दीसै ।
मुरधर छत्र जसो महराजा, सुरपुर गयो लियां ग्रद साजा ।।
75. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 242
76. मआसिर-ए-आलमगीरी (फारसी मूल) पृ. 172
77. अजीतोदय, सर्ग 5, श्लोक 55–56, सर्ग 6, श्लोक 27–29
78. देवी प्रसाद, औरंगजेब नामा, भाग 2, पृ. 80
79. मआसिर-ए-आलमगीरी (फारसी मूल) पृ. 174
80. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, पृ. 254
81. मआसिर-ए-आलमगीरी, पृ. 109; अजीतोदय सर्ग 9, श्लोक 1–7, इन्द्रसिंह महाराजा जसवन्तसिंह के बड़े भ्राता राव अमरसिंह (नागौर) का पौत्र और रायसिंह का पुत्र था ।
82. आर. पी. व्यास, महाराणा राजसिंह, पृ. 106
83. यदुनाथ सरकार, औरंगजेब (1618–1707) पृ. 167; जी. एन. शर्मा, मेवाड़ मुग़ल सम्बन्ध, पृ. 120
84. टॉड, भाग 1, पृ. 302
85. आर. पी. व्यास, महाराणा राजसिंह, पृ. 108–118
86. यदुनाथ सरकार, औरंगजेब, भाग 3, पृ. 404-05

38. राव रतन, राव माधोसिंह तथा राव मुकन्दसिंह के विस्तृत इतिहास हेतु द्रष्टव्य: कोटा राज्य का इतिहास, पृ. 89–167
39. टॉड, भाग 2, पृ. 389
40. जी एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 414
41. द्रष्टव्य: कोटा राज्य का इतिहास भाग 1, पृ. 172–220
42. जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 414
43. वही, पृ. 415 और 427
44. एम. एल. शर्मा, हिस्ट्री ऑफ द जयपुर स्टेट पृ. 40–41
45. द्रष्टव्य: ओझाजी का लेख—कछवाहों के इतिहास में एक उलझन; प्रकाशित माधुरी, वर्ष 4, खण्ड 2, पृ. 763–68; जी. एन. शर्मा ने भगवन्तसिंह, जबकि रघुवीरसिंह ने भगवानदास को भारमल का उत्तराधिकारी लिखा है।
46. टॉड, भाग 2, पृ. 382
47. जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 358–365
48. मिर्जाराजा जयसिंह का विस्तृत वर्णन एम. एल. शर्मा द्वारा लिखित हिस्ट्री ऑफ द जयपुर स्टेट अध्याय 10–11 मे पढ़ें।
49. वही, पृ. 127
50. बी. एस भटनागर, सवाई जयसिंह, पृ. 14–19
51. गौ. ही. ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 197
52. तबकात-ए-अकबरी, इलियट, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग 5, पृ. 340–41, अकबरनामा, बैवरिज कृत अनुवाद, भाग 2, पृ. 538–44 तथा भाग 3, पृ. 6–8
जोधपुर पर रायसिंह का नियन्त्रण कब तक रहा, फारसी ग्रन्थों से इसका स्पष्ट ज्ञान नही होता। दयालदास री ख्यात से ज्ञात होता है कि यहा उसका तीन वर्ष तक नियन्त्रण रहा और वहा रहते हुए उसने ब्राह्मणो, चारणों, भाटो आदि को बहुत से गाव दान मे दिये (भाग 2, पत्र 30)।
53. ओझा: बीकानेर राज्य का इतिहास, पृ. 204, रायसिंह के सम्बन्ध मे विस्तृत जानकारी उक्त पुस्तक से प्राप्त करें, पृ. 155–205
54. वही, पृ 205–211
55. वही, पृ. 215–219
56. ब्रजरत्नदास, मआसिरूल उमरा, पृ. 88
57. ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, पृ. 251
58. दयालदास री ख्यात, भाग 2, पृ 48,
मुंशी देवी प्रसाद कृत औरंगजेब नामा, भाग 3, पृ. 33–49
59 दयालदास री ख्यात, भाग 2, पृ. 51

60. ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 280–287; जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 409
61. शर्मा, वही, पृ. 410–11
62. वही पृ. 430–31
63. वी. एन. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 182 पाद टिप्पणी
64. वी. एस. भार्गव, मारवाड़ एण्ड द मुग़ल एम्परर्स, पृ. 70–79
65. रेऊ, ग्लोरीज ऑफ मारवाड़ एण्ड द ग्लोरियस राठौड़्स, परिशिष्ट 4, पृ. 81–86
66. व्रजरत्नदास कृत मआसिरुल उमरा (हिन्दी) पृ. 171
67. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 222–230
68. रघुवीरसिंह, पृ. 140
69. वही, पृ 105
70. वी. एन. भार्गव, राजस्थान का इतिहास, पृ. 190
71. रघुवीरसिंह, पृ. 98–99
72. वी. एस. भार्गव, राजस्थान का इतिहास, पृ. 190
73. आर. पी. व्यास, महाराणा राजसिंह, पृ. 82, पाद टिप्पणी, 8
74. महासिर-ए-आलमगीरी; इलियट, भाग 7, पृ. 187;
    राजरूपक मे लिखा है :—
    सतरै समत पौष पैंतिसे, दशमी वार ब्रहस्पत दीसै ।
    मुरधर छत्र जसो महराजा, सुरपुर गयो लिया व्रद साजा ।।
75. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ.-242
76. मआसिर-ए-आलमगीरी (फारसी मूल) पृ. 172
77. अजीतोदय, सर्ग 5, श्लोक 55–56, सर्ग 6, श्लोक 27–29
78. देवी प्रसाद, औरंगजेब नामा, भाग 2, पृ. 80
79. मआसिर-ए-आलमगीरी (फारसी मूल) पृ. 174
80. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, पृ. 254
81. मआसिर-ए-आलमगीरी, पृ. 109; अजीतोदय सर्ग 9, श्लोक 1–7, इन्द्रसिंह महाराजा जसवन्तसिंह के बड़े भ्राता राव अमरसिंह (नागौर) का पौत्र और रायसिंह का पुत्र था ।
82. आर. पी. व्यास, महाराणा राजसिंह, पृ. 106
83. यदुनाथ सरकार, औरंगजेब (1618–1707) पृ. 167; जी. एन. शर्मा, मेवाड़ मुग़ल सम्बन्ध, पृ. 120
84. टॉड, भाग 1, पृ. 302
85. आर. पी. व्यास, महाराणा राजसिंह, पृ. 108–118
86. यदुनाथ सरकार, औरंगजेब, भाग 3, पृ. 404-05

87. देवी प्रसाद, औरंगजेबनामा, भाग 2, पृ. 104
88. महासिर-ए-आलमगीरी (फारसी मूल), पृ. 202;
जी. एन. शर्मा, मेवाड़ एण्ड द मुगल एम्परर्स, पृ. *178–79*
89. मुन्तखब-उल-लुबाब (फारसी मूल) भाग 2, पृ. 606;
राजविलास (मानकृत), सर्ग 15–17; व्यास आर. पी. महाराणा राजसिंह, पृ. 125
90. जी. एन. शर्मा, मेवाड़ मुगल सम्बन्ध, पृ. 128
91. वही
92. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 278
93. रघुवीरसिंह, पृ. 145
94. वी. एस. भार्गव, मारवाड़ मुगलों के सम्बन्ध, पृ. 63
95. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 285–86
96. सरकार, *हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब, भाग 5,* पृ. *288–89;*
रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 289–291
97. अजीतोदय, सर्ग 17, श्लोक 11;
रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 291–92

अध्याय 2

संघर्ष-रत राजस्थान

3 मार्च 1707 ई. को अहमदनगर में औरंगजेब की मृत्यु हो गई। उसके पांच पुत्र थे।[1] सबसे बड़े पुत्र मुहम्मद सुल्तान की मृत्यु अपने पिता के जीवन काल में 1676 ई. में हो चुकी थी। उसके चौथे बेटे अकबर का भी देहान्त 1706 ई. में ईरान में हो गया था। इस प्रकार औरंगजेब के देहावसान के समय उसके तीन पुत्र जीवित थे—मुहम्मद मुअज्जम, मुहम्मद आज़म और कामबख्श।[2] मुहम्मद मुअज्जम 1699 ई. मे काबुल का सूबेदार नियुक्त हुआ था। अगले वर्ष पंजाब का सूबा भी उसके नियन्त्रण में कर दिया गया था।[3] मुहम्मद आजम अपने पिता की मृत्यु के समय गुजरात और मालवा का सूबेदार था। वह अहमदनगर से कुछ दूरी पर शिविर डाले हुए था। औरंगजेब ने अपनी मृत्यु के कुछ दिनों पहले अपने तीसरे जीवित पुत्र कामबख्श को बीजापुर का सूबेदार नियुक्त किया और उसे हैदराबाद की तरफ प्रस्थान करने के आदेश दे दिये।[4] औरंगजेब की मृत्यु के तुरन्त बाद मुगल सिंहासन के लिए परम्परागत संघर्ष आरम्भ हो गया। दक्षिण में मुहम्मद आजम ने अपने को बादशाह घोषित किया और अपने नाम के सिक्के ढलवाये। दूसरी तरफ, जैसे ही मुहम्मद मुअज्जम को अपने पिता की मृत्यु की सूचना मिली, वह एक विशाल सेना के साथ दिल्ली और आगरे की तरफ अग्रसर हुआ। दिल्ली और आगरे पर अधिकार करने के अभिप्राय से आजम भी उत्तर की ओर बढ़ रहा था। 18 जून 1707 ई. को दोनों शाहजादों के मध्य आगरा से 20 मील दूर दक्षिण में जाजव के मैदान पर मुगल सिंहासन के लिए निर्णायक युद्ध हुआ जिसमें आजम अपने दोनों पुत्रों—बेदारबख्त और वलाजाह—तथा अनेक अमीरों व योद्धाओं के साथ धराशाही हो गया।[6] मुहम्मद मुअज्जम विजयी रहा और उसने अपने-आपको शाही ठाट-बाट से बहादुरशाह के नाम से मुगल बादशाह घोषित किया।

जाजव के युद्ध से मुगल साम्राज्य के उत्तराधिकार का प्रश्न तो हल हो गया किन्तु इससे राजस्थान के इतिहास में कुछ ऐसी नई समस्याएं उत्पन्न हो गईं जिनके फलस्वरूप आगे चल कर राजस्थान की राजनीति विभिन्न प्रकार से प्रभावित रही

तथा उसके घातक परिणाम निकले। कोटा-बून्दी के हाड़ा राजपरिवारों मे पारस्परिक विरोध का इतिहास यहीं से प्रारम्भ होता है। आमेर का राज्य पहले सम्राट् द्वारा खालसा घोषित किया गया और पीछे सवाई जयसिंह को आमेर राज्य का पट्टा न देकर उसके अनुज विजयसिंह को आमेर का शासक बना दिया गया। इससे सवाई जयसिंह के मन मे मुगल-विरोधी भावना घर कर गई। उसने अपने पैतृक राज्य की प्राप्ति के लिए मुगल-विरोधी राजपूत राजाओं के संघ का निर्माण करने के प्रयत्न किये। मेवाड़ के राणा अमरसिंह द्वितीय को मुगल-विरोधी गुट मे सम्मिलित करने के लिए सवाई जयसिंह ने मेवाड़ी राजकुमारी से विवाह किया और एक समझौता किया जिसके अनुसार यह तय हुआ कि मेवाड़ी राजकुमारी से उत्पन्न लड़का आमेर के राजसिंहासन का अधिकारी माना जायेगा चाहे वह छोटा ही क्यो न हो। इस समझौते के फलस्वरूप कालान्तर मे उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर आमेर में गृह-युद्ध प्रारम्भ हुआ जिससे मराठो का राजस्थान मे प्रवेश सम्भव हो सका।[7] इन समस्याओं पर विस्तार से आगे के पृष्ठो पर विचार किया जायेगा।

औरंगजेब की मृत्यु के समय राजस्थान में छोटे-बड़े 15 राजपूत राज्य थे। इनमें से कुछ राज्य तो बड़े राज्यों मे से निकले हुए वंशजो द्वारा ही प्रतिष्ठित थे। राजस्थान के इन राज्यों में आमेर के कछवाहा, कोटा-बून्दी के हाड़ा, मेवाड़ के सिसोदिया और मारवाड़ के राठौड राज्यों का विशेष महत्त्व था।[8] कछवाहा राजा जयसिंह का अनुज विजयसिंह काबुल में शाहजादा मुअज्जम की सेवा मे नियुक्त था। उसने उत्तराधिकार के युद्ध में मुअज्जम का साथ दिया था। औरंगजेब की मृत्यु के समय मालवा सूबे में सवाई राजा जयसिंह नायब के पद पर कार्य कर रहा था। आजम ने उसे अपने पक्ष में करने के लिए उसको प्रलोभन दिये तथा उसे विभिन्न प्रकार से सम्मानित किया गया। उसे 'मिर्जा राजा सवाई' की उपाधि से विभूषित कर 7000 की मनसब प्रदान करने की घोषणा कर दी गई। परिणामतः जिस समय आजम अपने दल-बल के साथ मालवा पहुंचा, तो जयसिंह भी अपनी सेना सहित आजम की सेवा में उपस्थित हो गया। जाजव के युद्ध मे जिस समय आजम का पलड़ा दुर्बल दिखाई देने लगा तब जयसिंह सिर पर दुशाला लपेट कर मुअज्जम की सेना मे प्रविष्ट हो गया।[10]

औरंगजेब की मृत्यु के समय बून्दी का हाड़ा रावराजा बुद्धसिंह काबुल मे शाहजादा मुअज्जम की सेवा मे उपस्थित था। उत्तराधिकार-युद्ध में उसने मुअज्जम का साथ दिया था। उसने इस युद्ध में वीरता और साहस का परिचय दिया था। इससे प्रसन्न होकर मुअज्जम ने बादशाह बनने के पश्चात्, बुद्धसिंह को 'महाराव राणा' की उपाधि से सम्मानित किया तथा कोटा व इसके परगने उसे जागीर में प्रदान किये। कोटा के राव रामसिंह ने आजम का पक्ष लिया था तथा जाजव के हुआ वह वीर-गति को प्राप्त हुआ था। उसका पुत्र भीमसिंह कोटा

राज्य का उत्तराधिकारी था। मुगल बादशाह बहादुरशाह उससे नाराज था, क्योंकि उसके पिता ने आजम का साथ दिया था। इसलिए कोटा का पट्टा भीमसिंह को प्राप्त नहीं हो सका। फलस्वरूप उसने मुगल सत्ता की उपेक्षा कर अपने राज्य का विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया। भीमसिंह ने खीचियों से गागरोन हस्तगत कर लिया। बारां, मंगरोल, मनोहरथाना और शेरगढ़ के परगनों पर भी उसने अपना प्रभुत्व स्थापित किया। चन्द्रसेन को पराजित कर उसके राज्य पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। इसके अतिरिक्त उसने ओनारसी, पीडावा, डीग आदि स्थानों को भी अपने अधिकार में कर लिया। बुद्धसिंह ने कोटा पर अधिकार करने के लिए सैनिक अभियान किये किन्तु उसे विशेष सफलता नहीं मिली। वह बहादुरशाह की सेवा में निरन्तर उपस्थित रहा। बादशाह भी साम्राज्य की अन्य समस्याओं में उलझा रहा, इसलिए वह प्रत्यक्ष रूप से या सक्रियता से भीमसिंह के विरुद्ध कार्यवाही नहीं कर सका। इस प्रकार हाड़ा राज्यों में पारस्परिक वैमनस्य व कलह का सूत्रपात हुआ तथा उनमें आपसी मतभेद व संघर्ष की स्थिति दीर्घकाल तक बनी रही।[11]

मुगल उत्तराधिकार युद्ध में महाराणा अमरसिंह द्वितीय तटस्थ रहा। परन्तु जब मुअज्जम विजयी होकर बहादुरशाह के नाम से बादशाह बना, तब राणा ने अपने भाई बख्तसिंह को बधाई का पत्र, 100 मोहरें, 1000 रुपये, सुनहरी जीन वाले दो घोड़े, एक हाथी और नौ तलवारें देकर बादशाह की सेवा में उपस्थित होने आगरा भेजा। इस प्रकार राणा ने मुग़ल सम्राट् की अधीनता स्वीकार कर ली। बाद में भी जब बादशाह राजस्थान में जोधपुर के राजा अजीतसिंह को दण्ड देने के लिए आया, तब भी राणा ने भेंट-उपहार भेज कर उसे प्रसन्न रखा। बादशाह ने भी राणा के लिए एक हाथी और तसल्ली का फरमान भेजा।[12]

औरंगजेब की मृत्यु के समय अजीतसिंह जालौर परगने में निवास कर रहा था। जैसे ही उसे औरंगजेब की मृत्यु के समाचार प्राप्त हुए, उसने राठौड़ी सेना के साथ जोधपुर नगर पर आक्रमण कर दिया। वहां का नायब फौजदार जाफर कुली राठौड़ी सेना के समक्ष अधिक समय तक नहीं टिक सका। वह गढ़ छोड़कर भाग निकला। अजीतसिंह ने जोधपुर नगर पर अधिकार कर लिया। दीर्घकालीन संघर्ष के पश्चात् अजीतसिंह ने जोधपुर नगर में प्रथम बार प्रवेश किया था। उसका भव्य स्वागत हुआ। इस समय जोधपुर किले को गंगा जल तथा तुलसी जल से पवित्र किया गया, और तब अजीतसिंह ने हर्षोल्लास व धूम-धाम के साथ किले में पहुंच कर विधिवत् अपना राज्यारोहण का कार्य सम्पन्न किया। उसे जोधपुर का राजा घोषित किया गया। दुर्गादास व मारवाड़ के अन्य सरदार भी अजीतसिंह की सेवा में उपस्थित हुए।[13]

इस समय मुगल सैनिक उत्तराधिकार के युद्ध में व्यस्त थे। अजीतसिंह ने इसका पूर्ण रूप से लाभ उठाया। उसने सर्व प्रथम मेड़ता पर आक्रमण करने के

कहा जा सकता। इस निर्णय ने राजपूत राजाओ के हृदय मे मुगल-साम्राज्य और सम्राट् के प्रति घृणा और अविश्वास की भावना उत्पन्न कर दी, जिसके फलस्वरूप मुगल-साम्राज्य पतन की ओर अग्रसर होने लगा।

उत्तराधिकार के युद्ध में अजीतसिंह पूर्णतया उदासीन रहा। वह अपने पैतृक राज्य पर अधिकार करने तथा उसे सुदृढ़ बनाने मे व्यस्त रहा। बहादुरशाह के बादशाह बनने के पश्चात् भी अजीतसिंह ने उसके साथ किसी प्रकार का सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास नही किया। न तो वह स्वयं मुगल-दरबार में उपस्थित हुआ और न उसने कोई बधाई-पत्र या भेंट-उपहार ही बादशाह के पास भेजे। मारवाड़ के परगनों पर अजीतसिंह द्वारा अधिकार करना व मुगल सरकार की उपेक्षा उसके लिए एक चुनौती थी। 27 वर्ष से जोधपुर पर मुगल आधिपत्य इस प्रकार सम्राट् की बिना आज्ञा समाप्त हो जाये, यह मुगल सरकार के लिए असहनीय था। अतः अजीतसिंह के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करना नितान्त आवश्यक था। सैनिक तैयारी होने के बाद बहादुरशाह ने 10 नवम्बर, 1707 ई. को आगरा से राजपूताने की ओर प्रस्थान किया। मुसावर पहुंचने पर उसने मेहराबखा को जोधपुर का फौजदार नियुक्त कर उसे जोधपुर पर अधिकार करने के लिए विदा किया। जनवरी 20, 1708 को बादशाह आमेर पहुंचा। वह वहां तीन दिनों तक पड़ाव डाले रहा। आमेर का नाम बदलकर 'मोमिनाबाद' रखा। सैयद अहमदखां बारहा को आमेर का फौजदार नियुक्त कर दिया। आमेर में शान्ति व व्यवस्था स्थापित हो जाने के बाद आमेर की गद्दी जयसिंह के अनुज विजयसिंह को दे दी और 30 अप्रेल, 1708 को उसे मिर्जा राजा की उपाधि से अलंकृत किया। अभी भी आमेर नगर पर मुगलों का नियन्त्रण रखने हेतु वहां शाही थाना पूर्ववत् रखा।[27]

आमेर मे तीन दिन के पड़ाव के बाद बहादुरशाह अजमेर की ओर आगे बढ़ा। रास्ते मे मेवाड़ के राणा की तरफ से उसका भाई तख्तसिंह भेंट-उपहार के साथ बादशाह की सेवा में उपस्थित हुआ।[28]

इस समय तक महेराबखां, जिसे जोधपुर का फौजदार नियुक्त किया गया था मेड़ता के निकट पहुंच गया था। राठौड़ी सेना ने उसका मुकाबला किया परन्तु वह परास्त हुई। मेडता पर मेहराबखां का अधिकार हो गया। बादशाह ने मुगल सेना को जोधपुर की तरफ जाने के आदेश दिये। यह सेना लूट-खसोट करती हुई पीपाड तक पहुंच गई। अजीतसिंह मुगलों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए उत्सुक नही था। उसे बिना युद्ध किये जोधपुर मिलने की आशा थी।[29] उसने राठौड़ मुकन्दसिंह, सिंघवी तख्तमल और पंचोली उदयराज को बादशाह से सन्धि करने के लिए अजमेर भेजा। उन्होंने बादशाह से अजीतसिंह को क्षमा प्रदान करने के लिए निवेदन किया। इस पर सम्राट् ने अजीतसिंह को मुगल दरबार में उपस्थित होने का आदेश दिया।[30]

बादशाह जब अजमेर के पास शिविर डाले हुए था, उसे समाचार मिला कि उसके भाई कामबख्श ने दक्षिण मे एक स्वतन्त्र शासक के रूप में आचरण करना आरम्भ कर दिया है।[31] उसने अपने नाम के सिक्के ढलवाये हैं और खुतबा पढ़ाया है। बादशाह इससे चिन्तित था। वह अब जोधपुर की समस्या को शीघ्र सुलझा कर दक्षिण की ओर प्रस्थान करने का इच्छुक था। इस प्रकार दोनों पक्ष युद्ध के लिए उत्सुक नही थे।

बहादुरशाह 10 फरवरी को मेड़ता पहुंचा। उसने अजीतसिंह को आश्वासन देने के लिए वजीर मुनीमखां के पुत्र खाने जमान, राजा बुद्धसिंह आदि को जोधपुर भेजा। दुर्गादास राठौड़ को भी मुगल दरबार में उपस्थित होने के लिए फरमान भेजे गये। दो दिन बाद अजीतसिंह मेड़ता पहुंचा। बादशाह ने उसके सभी अपराध क्षमा कर दिये और उसे 3,500 जात तथा 3,000 सवार की मनसब प्रदान की तथा नक्कारा व निशान देकर सम्मानित किया गया। 29 फरवरी, 1708 ई. को दुर्गादास भी बादशाह के शिविर में उपस्थित हो गया। उसको भी शाही दरबार में सम्मानित किया गया। यहां यह उल्लेखनीय है कि जागीर मे अजीतसिंह को केवल सोजत, सिवाना और फलौदी के परगने दिये गये थे। जोधपुर नगर और मेड़ता पर शाही नियन्त्रण रखा गया।[32]

जयसिंह कछवाहा भी शाही शिविर में विद्यमान था। जयसिंह और अजीतसिंह को शाही सेवा में बादशाह के साथ दक्षिण चलने के आदेश हुए। जयसिंह को आमेर और अजीतसिंह को जोधपुर मिलने की आशा थी, अतः उन्होंने दक्षिण मे जाना हितकर समझा। बहादुरशाह इन सबको दक्षिण की ओर सम्भवतः इसलिए ले जा रहा था ताकि वे लोग उसकी अनुपस्थिति मे राजस्थान में विद्रोह का झंडा खड़ा न करें तथा कामबख्श के विरुद्ध कार्यवाही करने में उसे राजपूतो का सहयोग प्राप्त हो सके। फिर भी दोनो पक्षों मे पारस्परिक सद्भाव व विश्वास का प्रायः अभाव ही था।[33]

बहादुरशाह अजमेर, शाहपुरा, चित्तौड़ के रास्ते से सूबा मालवा में मण्डेश्वर (मण्डलेश्वर नर्मदा के तट पर) स्थान पर पहुंचा।[34] अजीतसिंह, जयसिंह, दुर्गादास आदि राजपूत भी उसके साथ रहे। यह आशा की जाती थी कि बादशाह उन्हें वतन-जागीर प्रदान कर देगा। लेकिन धीरे-धीरे यह स्पष्ट होता जा रहा था कि बादशाह उन्हें अपने राज्य लौटाने के पक्ष मे नही था। उन पर बादशाह की तरफ से पूरा नियन्त्रण रखा जा रहा था। ऐसी स्थिति मे उन्होने एक दूसरे से मन्त्रणा की और शाही शिविर को छोड़ने का निर्णय लिया। 20 अप्रेल, 1708 को जब बादशाह बड़ोद से अगली मंजिल के लिए आगे बढ़ा तो राजपूत राजा कुछ दूरी तक तो शाही सेना के साथ रहे, तत्पश्चात् वे चुपचाप बादशाह से अनुमति प्राप्त किये बिना शाही शिविर से निकल भागे और उत्तर में देवलिया की ओर द्रुतगति से

तथा उसके घातक परिणाम निकले। कोटा-बून्दी के हाड़ा राजपरिवारों में पारस्परिक विरोध का इतिहास यहीं से आरम्भ होता है। आमेर का राज्य पहले सम्राट् द्वारा खालसा घोषित किया गया और पीछे सवाई जयसिंह को आमेर राज्य का पट्टा न देकर उसके अनुज विजयसिंह को आमेर का शासक बना दिया गया। इससे सवाई जयसिंह के मन मे मुगल-विरोधी भावना घर कर गई। उसने अपने पैतृक राज्य की प्राप्ति के लिए मुगल-विरोधी राजपूत राजाओं के संघ का निर्माण करने के प्रयत्न किये। मेवाड़ के राणा अमरसिंह द्वितीय को मुगल-विरोधी गुट में सम्मिलित करने के लिए सवाई-जयसिंह ने मेवाडी राजकुमारी से विवाह किया और एक समझौता किया जिसके अनुसार यह तय हुआ कि मेवाडी राजकुमारी से उत्पन्न लड़का आमेर के राजसिंहासन का अधिकारी माना जायेगा चाहे वह छोटा ही क्यों न हो। इस समझौते के फलस्वरूप कालान्तर मे उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर आमेर में गृह-युद्ध आरम्भ हुआ जिससे मराठों का राजस्थान में प्रवेश सम्भव हो सका।[7] इन समस्याओं पर विस्तार से आगे के पृष्ठों पर विचार किया जायेगा।

औरंगजेब की मृत्यु के समय राजस्थान मे छोटे-बड़े 15 राजपूत राज्य थे। इनमें से कुछ राज्य तो बड़े राज्यों मे से निकले हुए वंशजों द्वारा ही प्रतिष्ठित थे। राजस्थान के इन राज्यों में आमेर के कछवाहा, कोटा-बून्दी के हाड़ा, मेवाड़ के सिसोदिया और मारवाड़ के राठौड़ राज्यो का विशेष महत्त्व था।[8] कछवाहा राजा जयसिंह का अनुज विजयसिंह काबुल में शाहजादा मुअज्जम की सेवा मे नियुक्त था। उसने उत्तराधिकार के युद्ध में मुअज्जम का साथ दिया था। औरंगजेब की मृत्यु के समय मालवा सूबे में सवाई राजा जयसिंह नायब के पद पर कार्य कर रहा था। आजम ने उसे अपने पक्ष मे करने के लिए उसको प्रलोभन दिये तथा उसे विभिन्न प्रकार से सम्मानित किया गया। उसे 'मिर्जा राजा सवाई' की उपाधि से विभूषित कर 7000 की मनसब प्रदान करने की घोषणा कर दी गई। परिणामतः जिस समय आजम अपने दल-बल के साथ मालवा पहुंचा, तो जयसिंह भी अपनी सेना सहित आजम की सेवा में उपस्थित हो गया। जाजव के युद्ध मे जिस समय आजम का पलड़ा दुर्बल दिखाई देने लगा तब जयसिंह सिर पर दुशाला लपेट कर मुअज्जम की सेना मे प्रविष्ट हो गया।[10]

औरगजेब की मृत्यु के समय बून्दी का हाडा रावराजा बुद्धसिंह काबुल मे शाहजादा मुअज्जम की सेवा मे उपस्थित था। उत्तराधिकार-युद्ध में उसने मुअज्जम का साथ दिया था। उसने इस युद्ध मे वीरता और साहस का परिचय दिया था। इससे प्रसन्न होकर मुअज्जम ने बादशाह बनने के पश्चात् बुद्धसिंह को 'महाराव राणा' की उपाधि से सम्मानित किया तथा कोटा व इसके परगने उसे जागीर में प्रदान किये। कोटा के राव रामसिंह ने आजम का पक्ष लिया था तथा जाजव के युद्ध मे वीर-गति को प्राप्त हुआ था। उसका पुत्र भीमसिंह कोटा

राज्य का उत्तराधिकारी था। मुगल बादशाह बहादुरशाह उससे नाराज था, क्योंकि उसके पिता ने आजम का साथ दिया था। इसलिए कोटा का पट्टा भीमसिंह को प्राप्त नही हो सका। फलस्वरूप उसने मुगल सत्ता की उपेक्षा कर अपने राज्य का विस्तार करना आरम्भ कर दिया। भीमसिंह ने खीचियों से गागरोन हस्तगत कर लिया। बारा, मंगरोल, मनोहरथाना और शेरगढ के परगनो पर भी उसने अपना प्रभुत्व स्थापित किया। चन्द्रसेन को पराजित कर उसके राज्य पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। इसके अतिरिक्त उसने ओनारसी, पीडावा, डीग आदि स्थानो को भी अपने अधिकार मे कर लिया। बुद्धसिंह ने कोटा पर अधिकार करने के लिए सैनिक अभियान किये किन्तु उसे विशेष सफलता नही मिली। वह बहादुरशाह की सेवा में निरन्तर उपस्थित रहा। बादशाह भी साम्राज्य की अन्य समस्याओं मे उलझा रहा, इसलिए वह प्रत्यक्ष रूप से या सक्रियता से भीमसिंह के विरुद्ध कार्यवाही नही कर सका। इस प्रकार हाड़ा राज्यों मे पारस्परिक वैमनस्य व कलह का सूत्रपात हुआ तथा उनमे आपसी मतभेद व संघर्ष की स्थिति दीर्घकाल तक बनी रही।[11]

मुगल उत्तराधिकार युद्ध में महाराणा अमरसिंह द्वितीय तटस्थ रहा। परन्तु जब मुअज्जम विजयी होकर बहादुरशाह के नाम से बादशाह बना, तब राणा ने अपने भाई बख्तसिंह को बधाई का पत्र, 100 मोहरें, 1000 रुपये, सुनहरी जीन वाले दो घोड़े, एक हाथी और नौ तलवारें देकर बादशाह की सेवा में उपस्थित होने आगरा भेजा। इस प्रकार राणा ने मुगल सम्राट् की अधीनता स्वीकार कर ली। बाद में भी जब बादशाह राजस्थान में जोधपुर के राजा अजीतसिंह को दण्ड देने के लिए आया, तब भी राणा ने भेंट-उपहार भेज कर उसे प्रसन्न रखा। बादशाह ने भी राणा के लिए एक हाथी और तसल्ली का फरमान भेजा।[12]

औरंगजेब की मृत्यु के समय अजीतसिंह जालौर परगने में निवास कर रहा था। जैसे ही उसे औरंगजेब की मृत्यु के समाचार प्राप्त हुए, उसने राठौड़ी सेना के साथ जोधपुर नगर पर आक्रमण कर दिया। वहां का नायब फौजदार जाफर कुली राठौड़ी सेना के समक्ष अधिक समय तक नहीं टिक सका। वह गढ़ छोड़कर भाग निकला। अजीतसिंह ने जोधपुर नगर पर अधिकार कर लिया। दीर्घकालीन संघर्ष के पश्चात् अजीतसिंह ने जोधपुर नगर में प्रथम बार प्रवेश किया था। उसका भव्य स्वागत हुआ। इस समय जोधपुर किले को गंगा जल तथा तुलसी जल से पवित्र किया गया, और तब अजीतसिंह ने हर्षोल्लास व धूम-धाम के साथ किले में पहुच कर विधिवत् अपना राज्यारोहण का कार्य सम्पन्न किया। उसे जोधपुर का राजा घोषित किया गया। दुर्गादास व मारवाड़ के अन्य सरदार भी अजीतसिंह की सेवा में उपस्थित हुए।[13]

इस समय मुगल सैनिक उत्तराधिकार के युद्ध में व्यस्त थे। अजीतसिंह ने इसका पूर्ण रूप से लाभ उठाया। उसने सर्व प्रथम मेड़ता पर आक्रमण करने के

लिए एक सेना भेजी। मेड़ता का शाही फौजदार मोहकमसिंह अपने पिता इन्द्रसिंह के पास नागौर पलायन कर गया। मेड़ता पर अजीतसिंह का अधिकार हो गया।[14]

बीकानेर का शासक सुजानसिंह दक्षिण मे मुगल-सेवा में था। बीकानेर का शासन-प्रबन्ध उसके अनुचर व सरदार लोगों के हाथों मे था। अजीतसिंह ने बीकानेर राज्य के कुछ असन्तुष्ट सरदारों से साठ-गाठ कर बीकानेर पर आक्रमण करने के लिए सैनिक भेज दिये। बीकानेर में अजीतसिंह की फौज का सामना करने के लिए पर्याप्त सैनिक नहीं थे। परिणामतः, बीकानेर नगर पर अजीतसिंह का अधिकार हो गया। परन्तु यह अधिकार स्थायी रूप से नही रह सका, क्योंकि बीकानेर के स्वामी धर्म-पालन करने वाले सभी सरदार भूकरका के जागीरदार (ठाकुर) पृथ्वीराज तथा मलसीसर के ठाकुर हिन्दूसिह के नेतृत्व मे संगठित होकर जोधपुर से आई सेना से लोहा लेने हेतु बीकानेर पहुच गये। जोधपुर की सेना को किला खाली कर मारवाड़ की ओर प्रस्थान करने के लिए बाध्य होना पड़ा।[15]

अजीतसिंह से कुछ असन्तुष्ट सरदारो ने सम्मिलित होकर मारवाड़ में नकली दलथम्भन के नाम पर बखेड़ा आरम्भ किया। उन्होने जोधपुर राज्य का आधा भाग दलथम्भन को दिलाने का आह्वान किया। वे सब मिलकर सोजत पहुचे। वहां से मुगल शासक को मार भगाया और उन्होने सोजत को अपनी गतिविधियो का केन्द्र बनाया। अजीतसिंह को जब इन असन्तुष्ट सरदारो की इन गतिविधियों का पता चला तो वह ससैन्य सोजत पहुंचा और उसने नगर का घेरा डाल दिया। उपद्रवी अधिक दिनो तक सामना नही कर सके। सोजत पर अजीतसिंह का अधिकार हो गया।[16] उसने सख्ती से विरोधी तत्वों को कुचल दिया और वह मारवाड़ में सर्वत्र शान्ति व सुव्यवस्था कायम करने मे जुट गया। उसने कुछ ही समय में जोधपुर, मेड़ता, पाली और सोजत परगनों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

अजीतसिंह हिन्दू धर्म का पोषक था। उसने हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों का परिपालन किया। उसने मस्जिदो में अजान देने की मनाही कर दी। इसके अतिरिक्त धर्मान्ध औरंगजेब के शासन काल में मारवाड़ मे जिन मन्दिरो को तोड़ कर मस्जिदें बना दी गई थी, उन्हें अजीतसिंह ने तुड़वाकर पुनः मन्दिरो में परिवर्तित कर दिया। उसने अपने राज्य मे गौ-वध-निषेध घोषित कर दिया। इस प्रकार उसने मारवाड़ मे मुगलो के राजनीतिक प्रभुत्व को ही समाप्त नही किया, बल्कि उनके सास्कृतिक प्रभाव को मिटाने के लिए भी वह गतिशील रहा।[17]

जिस समय अजीतसिंह मारवाड़ मे अपना प्रभुत्व स्थापित करने मे व्यस्त था, औरगजेब के पुत्र मुअज्जम और आजम मुगल सिहासन के लिए सघर्ष में जुटे हुए थे। उन्होंने अजीतसिंह को अपना सहयोगी बनाने के लिए प्रयत्न किये। मुअज्जम ने अजीतसिंह से सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से उसके पास अनेक फरमान भेजे। ...जुद्दीन ने अजीतसिंह के लिए एक विशेष प्रकार की खिलअत भेजी

तथा एक निशान भेजा जिसमें उसे ससैन्य मुअज्जम की सहायता के लिए दिल्ली पहुचने के लिए कहा गया था। इस निशान में उसे अनेक प्रलोभन भी दिये थे। अजीतसिंह ने इनकी तरफ तनिक भी ध्यान नहीं दिया। आजम भी अजीतसिंह और दुर्गादास को अपने पक्ष में करने के लिए प्रयत्नशील रहा। अपने भाई के विरुद्ध इन हिन्दू राजाओं से सहायता प्राप्त करने के लिए वह बड़ा उत्सुक था। उसने अजीतसिंह को 7000 की मनसब प्रदान की और उसे "महाराजा" की पदवी से अलंकृत किया। दुर्गादास को भी अलग से मनसब देकर सम्मानित किया। इस सम्बन्ध मे आजम ने महाराजा के पास फरमान भेजा जिसमे अनुरोध किया गया था कि वह उसकी सहायता के लिए सेना सहित तुरन्त उपस्थित हो। अजीतसिंह ने शाहजादों के युद्ध में तनिक भी दिलचस्पी नही ली। उसने युद्ध मे तटस्थ रहना ही हितकर समझा। वह अपने खोये हुए पैतृक राज्य पर पुन. प्रभुत्व स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील रहा।[18]

जाजव के युद्ध मे मुअज्जम विजयी रहा और वह धूम-धाम के साथ बादशाह वना। इस समय तक, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, अजीतसिंह ने जोधपुर, मेड़ता, पाली और सोजत परगनो पर अधिकार कर लिया था। उसने बीकानेर पर भी सैनिक अभियान किया था। इस्लाम-विरोधी कार्य भी यदा-कदा अजीतसिंह द्वारा किये गये थे। अजीतसिंह के इस प्रकार के आचरण से मुग़ल सम्राट् का खिन्न होना स्वाभाविक ही था। परन्तु अजीतसिंह के विरुद्ध कोई ठोस कदम उठाने के पहले ही उसने आमेर को खालसा घोषित कर दिया। वहां के कछवाहा शासक जयसिंह को लगरकोट के फौजदार पद पर नियुक्त किया। मुगल बादशाह ने ऐसा निर्णय क्यों लिया, इसके लिए समुचित उत्तर देना बहुत कठिन है। कछवाहा-मुग़ल सम्बन्ध अकबर के समय से ही मधुर और सौहार्दपूर्ण रहे थे। आमेर-शासको ने सदैव अप ी स्वामिभक्ति का परिचय दिया था। यद्यपि जयसिंह ने प्रारम्भ मे शाहजादा आजम का पक्ष लिया था तथापि युद्धस्थल में ही वह आजम का साथ छोड़कर मुअज्जम के शिविर मे पलायन कर गया था। समकालीन इतिहासकार खाफीखां के अनुसार मुअज्जम ने बादशाह बनने पर उन सभी लोगों के साथ, जिन्होंने उसके प्रतिद्वन्द्वी आजम का पक्ष लिया था, उदारता का व्यवहार करने का ऐलान किया था। उसने अपनी घोषणा के अनुरूप ही कार्य किया था।[19] फिर जयसिंह के साथ इस प्रकार का असगत व्यवहार क्यों किया ? यह बात सही है कि जयसिंह का अनुज विजयसिंह ने मुअज्जम का पक्ष लिया था; इसलिए यह कहा जाता है कि मुअज्जम बादशाह बनने के पश्चात् प्रसन्न होकर ईनाम के तौर पर आमेर का राज्य विजयसिंह को देना चाहता था। परन्तु उसे इस बात का भय था कि जयसिंह की उपेक्षा कर आमेर की गद्दी विजयसिंह को देने पर कही स्थानीय विद्रोह की आग न भड़क जाय। इसलिए बादशाह ने

पहले आमेर को खालसा घोषित किया और फिर कुछ समय के बाद आमेर का राज्य विजयसिंह को देना निश्चय किया।[20] इस प्रकार के तर्क में हमें विशेष बल नहीं दिखाई देता। पहले तो, इसके लिए कोई ठोस प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये जा सकते है कि विजयसिंह ने जाजव के युद्ध मे मुअज्जम की कोई विशेष उल्लेखनीय सेवाएं की हों जिससे प्रसन्न होकर बादशाह उसे आमेर का राज्य सुपुर्द करे। दूसरे, विजयसिंह का सम्बन्ध कछवाहा राजपरिवार से था, इसलिए यह कैसे स्वीकार कर लिया जाय कि आमेर के खालसा करने पर तो स्थानीय विद्रोह नही होता और विजयसिंह को आमेर का पट्टा देने पर वहा विद्रोह होने की सम्भावना थी। वस्तुतः आमेर का राज्य देने की अपेक्षा राज्य को खालसा घोषित करने से विद्रोह की अधिक आशंका थी। हमारे मत में वास्तविकता यह थी कि पिछले कुछ वर्षों से अजीतसिंह और जयसिंह के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध सुदृढ़ होते जा रहे थे। जयसिंह मालवा का नायब था और अजीतसिंह जालौर का शासक था। उसी समय से इनके बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हुए थे।[21] ऐसी सम्भावना हो सकती है कि जयसिंह ने अजीतसिंह को जोधपुर हस्तगत करने मे सहयोग दिया हो। इसकी पुष्टि मे कोई ठोस प्रमाण तो प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, परन्तु जयसिंह द्वारा लिखे एक प्राचीन पत्र में इस सम्बन्ध मे कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं कि उन दोनों राजाओ के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध थे। वे एक दूसरे के गाढे मित्र थे। इस पत्र मे जयसिंह ने अजीतसिंह को सूचित किया था कि 'मुगल सम्राट् ने नाराज होकर आमेर को खालसा घोषित करने के आदेश दिये हैं तथा उसे लंगरकोट मे फौजदार नियुक्त किया है।' ऐसा पत्र किसी विश्वसनीय मित्र को ही लिखा जा सकता है। बिना मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो के किसी व्यक्ति को इस प्रकार की सूचना देने का कोई प्रयोजन नही होता। निश्चय ही इन दोनो मे पहले से ही मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे और उनमे पत्र व्यवहार हुआ करता था। सम्भवतः बहादुरशाह को इन दोनो राजपूत राजाओं के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो का संकेत मिल गया हो। उसको इस बात का भय रहा हो कि ये दोनो राजपूत राजा परस्पर संगठित होकर उसके लिए कहीं संकट न उत्पन्न कर दें। इस प्रकार की आशंका से प्रभावित होकर ही सम्भवतः उसने आमेर को खालसा करने का क्रान्तिकारी कदम उठाया था। उसका विश्वास था कि इस निर्णय से दोनों राजा आतंकित हो जायेंगे और मुगल सम्राट् के विरुद्ध खड़े होने का साहस न कर सकेंगे।[22]

वैसे तो मुगल सत्ता की उपेक्षा करने के कारण पहले अजीतसिंह को दंडित किया जाना चाहिए था, परन्तु मुगल सम्राट् ने ऐसा नही किया; क्योंकि आगरा से जोधपुर पहुंचने का मार्ग आमेर राज्य मे से होकर जाता था। जयसिंह मार्ग मे बाधाएं खडी कर अपने मित्र की मदद कर सकता था। इस सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता था। इसलिए बहादुरशाह ने सर्वप्रथम जयसिंह को ही पदच्युत किया। उसकी विरोधी प्रवृत्तियो को कुचल देने व उसे शक्तिहीन करने के बाद आगे बढ़कर अजीतसिंह को दण्डित करने का बादशाह ने निर्णय लिया था।[23]

जयसिंह ने आमेर को खालसा न करने के लिए मुगल सम्राट् से सविनय व्यक्तिगत रूप से प्रार्थना की थी। इसके अतिरिक्त जयसिंह ने समकालीन प्रभावशाली व्यक्तियों के माध्यम से भी सम्राट् से यह आग्रह किया था कि वह आमेर को 'खालसा' करने के निर्णय में परिवर्तन करे। यह सभी प्रयास असफल रहे। जयसिंह इससे बहुत खिन्न था, परन्तु वह इस स्थिति में नहीं था कि मुगल सम्राट् के इस अविवेक पूर्ण निर्णय का प्रत्यक्ष रूप से विरोध करे। उसने अजीतसिंह, महाराणा अमरसिंह द्वितीय तथा बून्दी के राव बुद्धसिंह से पत्र-व्यवहार किया और उन्हें सम्राट् के उक्त निर्णय से अवगत कराया तथा उनसे अनुरोध भी किया कि वे उसे आमेर दिलाने में सहयोग दें। यहीं से मुगल सम्राट् बहादुरशाह के विरुद्ध भावी राजपूत संघ के निर्माण की भूमिका आरम्भ होती है।[24]

राजपूत राजाओं की यह सदैव मान्यता रही कि मुगल अधीनता स्वीकार करने तथा शाही सेवा में उपस्थित रहने पर भी उन्हें उत्तराधिकार का वंश-परम्परानुगत अधिकार है तथा वे अपने राज्य के आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्र हैं। यही कारण था कि इन अधिकारों के सम्बन्ध में कोई लिखित समझौता नहीं हुआ था, क्योंकि वे इन्हें अपना प्रतिष्ठित अधिकार समझते थे। इसलिए जब भी किसी सम्राट् ने उनकी वतन जागीर पर आघात किया, उसकी प्रतिक्रिया तुरन्त हुई और उन्होंने इस अधिकार की रक्षा के लिए संघर्ष किया तथा इसकी रक्षा के लिए सर्वस्व बलिदान करने के लिए तत्पर रहे। मारवाड़ में इसी उत्तराधिकार के अधिकार के लिए पिछले 27 वर्ष से राठौड़ शाही फौज के विरुद्ध जूझ रहे थे। औरंगजेब और उसके पुत्र बहादुरशाह की मान्यता थी कि सम्राट् की शक्ति सर्वोच्च है। वतन जागीर देना या न देना सम्राट् की इच्छा पर निर्भर है। यह एक सैद्धान्तिक प्रश्न था। इसी सिद्धान्त की आड़ में जयसिंह ने राजस्थान के राजाओं का आवाहन किया था कि वे इस अधिकार की रक्षा हेतु संगठित हों और उसे सहयोग दें। अन्ततोगत्वा एक ऐसा गुट तैयार हुआ जिसके द्वारा उन्होंने इस अधिकार की रक्षा हेतु मुगल सम्राट् के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष छेड़ा था।[25]

आमेर को खालसा करने का एक अन्य कारण भी प्रस्तुत किया जाता है। समकालीन लेखक भीमसेन के अनुसार साम्राज्य में पाईबाकी भूमि (जिसमें से मनसबदारों को तनख्वाह के बदले जागीर देने की व्यवस्था की जाती थी) का पूर्ण अभाव दृष्टिगत होने लगा था। इसलिए वजीर मुनीमखां ने सम्राट् को सलाह दी कि वह राजपूत राज्यों को खालसा में परिणत कर दे जिससे पाईबाकी भूमि का अभाव न रहे तथा जागीर-प्रथा सुचारु रूप से चलती रहे। सम्भवतः इसी कारण से प्रभावित होकर बहादुरशाह ने आमेर राज्य को खालसा घोषित किया था और उसने आमेर का सात सौ वर्ष पुराना नाम बदल कर 'मोमिनाबाद' रख दिया था।[26] कारण कुछ भी रहा हो, परन्तु आमेर को खालसा करने का आदेश न्यायोचित नहीं

कहा जा सकता। इस निर्णय ने राजपूत राजाओं के हृदय मे मुगल-साम्राज्य और सम्राट् के प्रति घृणा और अविश्वास की भावना उत्पन्न कर दी, जिसके फलस्वरूप मुगल-साम्राज्य पतन की ओर अग्रसर होने लगा।

उत्तराधिकार के युद्ध में अजीतसिंह पूर्णतया उदासीन रहा। वह अपने पैतृक राज्य पर अधिकार करने तथा उसे सुदृढ़ बनाने मे व्यस्त रहा। बहादुरशाह के बादशाह बनने के पश्चात् भी अजीतसिंह ने उसके साथ किसी प्रकार का सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास नही किया। न तो वह स्वयं मुगल-दरबार मे उपस्थित हुआ और न उसने कोई बधाई-पत्र या भेंट-उपहार ही बादशाह के पास भेजे। मारवाड़ के परगनों पर अजीतसिंह द्वारा अधिकार करना व मुगल सरकार की उपेक्षा उसके लिए एक चुनौती थी। 27 वर्ष से जोधपुर पर मुगल आधिपत्य इस प्रकार सम्राट् की बिना आज्ञा समाप्त हो जाये, यह मुगल सरकार के लिए असहनीय था। अतः अजीतसिंह के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करना नितान्त आवश्यक था। सैनिक तैयारी होने के बाद बहादुरशाह ने 10 नवम्बर, 1707 ई. को आगरा से राजपूताने की ओर प्रस्थान किया। मुसावर पहुंचने पर उसने महेराबखां को जोधपुर का फौजदार नियुक्त कर उसे जोधपुर पर अधिकार करने के लिए विदा किया। जनवरी 20, 1708 को बादशाह आमेर पहुंचा। वह वहां तीन दिनों तक पड़ाव डाले रहा। आमेर का नाम बदलकर 'मोमिनाबाद' रखा। सैयद अहमदखां बारहा को आमेर का फौजदार नियुक्त कर दिया। आमेर में शान्ति व व्यवस्था स्थापित हो जाने के बाद आमेर की गद्दी जयसिंह के अनुज विजयसिंह को दे दी और 30 अप्रेल, 1708 को उसे मिर्जा राजा की उपाधि से अलंकृत किया। अभी भी आमेर नगर पर मुगलों का नियन्त्रण रखने हेतु वहां शाही थाना पूर्ववत् रखा।[27]

आमेर मे तीन दिन के पडाव के बाद बहादुरशाह अजमेर की ओर आगे बढा। रास्ते मे मेवाड़ के राणा की तरफ से उसका भाई तख्तसिंह भेंट-उपहार के साथ बादशाह की सेवा में उपस्थित हुआ।[28]

इस समय तक महेराबखां, जिसे जोधपुर का फौजदार नियुक्त किया गया था मेडता के निकट पहुंच गया था। राठौडी सेना ने उसका मुकाबला किया परन्तु वह परास्त हुई। मेड़ता पर मेहराबखां का अधिकार हो गया। बादशाह ने मुगल सेना को जोधपुर की तरफ जाने के आदेश दिये। यह सेना लूट-खसोट करती हुई पीपाड़ तक पहुंच गई। अजीतसिंह मुगलों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए उत्सुक नही था। उसे बिना युद्ध किये जोधपुर मिलने की आशा थी।[29] उसने राठौड़ मुकन्दसिंह, सिंघवी तख्तमल और पचोली उदयराज को बादशाह से सन्धि करने के लिए अजमेर भेजा। उन्होने बादशाह से अजीतसिंह को क्षमा प्रदान करने के लिए निवेदन किया। इस पर सम्राट् ने अजीतसिंह को मुगल दरबार मे उपस्थित होने का आदेश दिया।[30]

प्राप्त—41
दिनांक—

बादशाह जब अजमेर के पास शिविर डाले हुए था, उसे समाचार मिला कि उसके भाई कामबख्श ने दक्षिण में एक स्वतन्त्र शासक के रूप में आचरण आरम्भ कर दिया है।[31] उसने अपने नाम के सिक्के ढलवाये हैं और खुतबा पढ़ाया है। बादशाह इससे चिन्तित था। वह अब जोधपुर की समस्या को शीघ्र सुलझा कर दक्षिण की ओर प्रस्थान करने का इच्छुक था। इस प्रकार दोनों पक्ष युद्ध के लिए उत्सुक नहीं थे।

बहादुरशाह 10 फरवरी को मेडता पहुंचा। उसने अजीतसिंह को आश्वासन देने के लिए वजीर मुनीमखां के पुत्र खाने जमान, राजा बुद्धसिंह आदि को जोधपुर भेजा। दुर्गादास राठौड़ को भी मुगल दरबार में उपस्थित होने के लिए फरमान भेजे गये। दो दिन बाद अजीतसिंह मेड़ता पहुंचा। बादशाह ने उसके सभी अपराध क्षमा कर दिये और उसे 3,500 जात तथा 3,000 सवार की मनसब प्रदान की तथा नक्कारा व निशान देकर सम्मानित किया गया। 29 फरवरी, 1708 ई. को दुर्गादास भी बादशाह के शिविर में उपस्थित हो गया। उसको भी शाही दरबार में सम्मानित किया गया। यहां यह उल्लेखनीय है कि जागीर में अजीतसिंह को केवल सोजत, सिवाना और फलोदी के परगने दिये गये थे। जोधपुर नगर और मेड़ता पर शाही नियन्त्रण रखा गया।[32]

जयसिंह कछवाहा भी शाही शिविर में विद्यमान था। जयसिंह और अजीतसिंह को शाही सेवा में बादशाह के साथ दक्षिण चलने के आदेश हुए। जयसिंह को आमेर और अजीतसिंह को जोधपुर मिलने की आशा थी, अतः उन्होंने दक्षिण में जाना हितकर समझा। बहादुरशाह इन सबको दक्षिण की ओर सम्भवतः इसलिए ले जा रहा था ताकि वे लोग उसकी अनुपस्थिति मे राजस्थान में विद्रोह का झंडा खड़ा न करें तथा कामबख्श के विरुद्ध कार्यवाही करने में उसे राजपूतों का सहयोग प्राप्त हो सके। फिर भी दोनो पक्षों में पारस्परिक सद्भाव व विश्वास का प्रायः अभाव ही था।[33]

बहादुरशाह अजमेर, शाहपुरा, चित्तौड़ के रास्ते से सूबा मालवा में मण्डेश्वर (मण्डलेश्वर नर्मदा के तट पर) स्थान पर पहुचा।[34] अजीतसिंह, जयसिंह, दुर्गादास आदि राजपूत भी उसके साथ रहे। यह आशा की जाती थी कि बादशाह उन्हें वतन-जागीर प्रदान कर देगा। लेकिन धीरे-धीरे यह स्पष्ट होता जा रहा था कि बादशाह उन्हें अपने राज्य लौटाने के पक्ष मे नहीं था। उन पर बादशाह की तरफ से पूरा नियन्त्रण रखा जा रहा था। ऐसी स्थिति में उन्होंने एक दूसरे से मन्त्रणा की और शाही शिविर को छोड़ने का निर्णय लिया। 20 अप्रेल, 1708 को जब बादशाह बड़ोद से अगली मंजिल के लिए आगे बढ़ा तो राजपूत राजा कुछ दूरी तक तो शाही सेना के साथ रहे, तत्पश्चात् वे चुपचाप बादशाह से अनुमति प्राप्त किये बिना शाही शिविर से निकल भागे और उत्तर में देवलिया की ओर द्रुतगति से

कूच कर गये। जब इसकी सूचना बहादुरशाह को मिली तो वह बहुत क्रुद्ध हुआ परन्तु कामबख्श के विरुद्ध किये जा रहे सैनिक अभियान को अधिक महत्वपूर्ण मानकर इन विद्रोही राजपूत राजाओं का पीछा करने के लिए शाही सेना नहीं भेजी गई।[35]

शाही शिविर से पृथक् होने के तुरन्त बाद जयसिंह ने महाराणा अमरसिंह को इसकी सूचना भेजी और लिखा कि वे शीघ्र महाराणा के पास पहुंच रहे है। देवलिया के महारावल प्रतापसिंह ने अजीतसिंह और जयसिंह का स्वागत किया। वे उदयपुर की तरफ अग्रसर हुए। महाराणा ने उदयपुर से बाहर गाडवा नामक ग्राम में इन राजपूत राजाओं का स्वागत किया और उन्हें सम्मानपूर्वक साथ लेकर वह 2 मई, 1708 ई. को उदयपुर पहुंचा। अजीतसिंह को कृष्ण विलास तथा जयसिंह को सर्वऋतु विलास नामक महलो में ठहराने की व्यवस्था की गई। दोनो राजा लगभग एक माह तक उदयपुर मे ठहरे। वहा उनका बडा मान-सत्कार किया गया।[36] शाहजादा जहांदारशाह ने महाराणा के नाम एक निशान भेजा जिसमे लिखा गया था कि राणा उन विद्रोही राजाओं को अपने यहां न रखे। राणा ने उन्हें समझा कर बादशाह के पास उनकी अर्जियां भिजवाई। उनके अपराधों को क्षमा करने का प्रयास किया जायेगा। राणा ने अर्जियाँ भिजवादी जिसमे अजीत सिंह को जोधपुर और जयसिंह को आमेर देने के लिए प्रार्थना की गई थी।

तीनो राजपूत राजाओं ने मन्त्रणा की और निर्णय लिया कि उनकी सम्मिलित सेना के बल पर अजीतसिंह को जोधपुर और जयसिंह को आमेर के राज्य दिलवाये जायें। 25 मई, 1708 ई. को महाराणा ने अपनी पुत्री चन्द्र कंवरी का विवाह राजा जयसिंह के साथ किया। इस विवाह के समय तीनो राजाओं के बीच एक समझौता किया गया। उसकी शर्तें निम्नलिखित थी :—

1—उदयपुर की राजपुत्री पटरानी समझी जाए, चाहे वह छोटी ही क्यों न हो।

2—उदयपुर की राजकुमारी से उत्पन्न पुत्र आमेर की गद्दी का अधिकारी होगा।

3—यदि इस विवाह से कन्या उत्पन्न हो तो उसका विवाह किसी मुसलमान के साथ नही किया जायेगा।[37]

यह समझौता महाराणा के लिए गौरव का विषय हो सकता था, परन्तु राजस्थान के लिए यह अत्यन्त हानिकारक प्रमाणित हुआ। राजपूतों की नीति और रीति के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र ही सिंहासन का अधिकारी होता था। इस समझौते के अनुसार यदि उदयपुरी रानी के कोई पुत्र होता है तो वह कनिष्ठ होने पर भी राज्य का अधिकारी माना जायेगा। इस विवाह से माधोसिंह नाम का पुत्र हुआ। उसके पहले दूसरी रानी से एक पुत्र हो चुका था जिसका नाम ईश्वरीसिंह था। अतः इस

विवाह के फलस्वरूप जयसिंह के मृत्युपरान्त जयपुर और उदयपुर राज्यो में संघर्ष छिड़ गया जिससे राजस्थान मे मराठो का प्रवेश सम्भव हुआ।[38]

दोनो अपदस्थ राजा बादशाह की तरफ से अपने प्रार्थना-पत्रों के उत्तर की प्रतीक्षा मे कुछ समय तक उदयपुर में ही ठहरे रहे। परन्तु बाद में बादशाह की उत्तरी भारत मे अनुपस्थिति का लाभ उठाकर सैन्य शक्ति द्वारा अपने राज्यों को प्राप्त करने का निश्चय किया। महाराणा ने श्यामलदास और महता साहनी चत्रभुजोत के नेतृत्व में 7000 घुड़सवार जयसिंह व अजीतसिंह की मदद के लिए नियुक्त कर दिये।[39]

राजपूतों की सम्मिलित सेना ने सर्वप्रथम मेड़ता के फौजदार मखसूसखा को पराजित कर वहा अजीतसिंह का प्रमुत्व स्थापित किया। इसके बाद जोधपुर नगर का घेरा डाला गया। जोधपुर के फौजदार मेहराबखां ने पांच दिनों तक सामना किया, किन्तु बाद में एक समझौते के अनुसार किला खाली कर वह चला गया। 4 जुलाई, 1708 ई. को अजीतसिंह का जोधपुर नगर मे प्रवेश हुआ। उसके राज्याभिषेक के समय जयसिंह ने उसके तिलक किया। जयसिंह का शिविर सूरसागर मे रखा गया। अजीतसिंह ने जयसिंह के साथ मित्रता को सुदृढ़ करने के आशय से अपनी पुत्री सूरजकुंवर की सगाई उसके साथ कर दी।[40]

कुछ समय पश्चात् 20,000 सवारो के साथ आमेर पर आक्रमण किया गया। पहले तो इन राजाओ को सफलता कुछ कम मिली, किन्तु बाद में राजपूत सैनिकों ने आमेर के फौजदार सैयद हुसैनखां बारहा को वहां से मार भगाया और आमेर पर राजपूतों का अधिकार हो गया। हुसैनखा को कालाडेरा के पास दुर्गादास ने भी पराजित किया। वह भाग कर नारनौल पहुंचा जहा उसका भाई फौजदार था। राजपूतों ने हिंडौन और बयाना के फौजदारों को भी पराजित किया। इस प्रकार अपदस्थ राजाओं ने मुगल शक्ति की उपेक्षा कर अपने सैन्य बल से पैतृक राज्यों को प्राप्त कर लिया।[41]

आमेर पर राजपूतों का अधिकार होने के समाचार जब बादशाह के पास पहुचे तो वह बड़ा चिन्तित हुआ। उसने वकील-ए-मुत्लक असदखां को, जो दिल्ली मे था, विद्रोही राजपूत राजाओं के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने के आदेश दिये। वर्षा ऋतु होने के कारण असदखा कुछ भी नही कर सका। वर्षा ऋतु समाप्त होने पर सैयद हुसैनखा ने एक बार पुनः आमेर लेने के लिए प्रयास किया किन्तु उसे सफलता नही मिली। इसी बीच महाराणा अमरसिंह के पास जहांदारशाह का खरीता पहुंचा जिसमें अजीतसिंह और जयसिंह के कार्यो की निन्दा की गई थी। उनकी मुगल-विरोधी गतिविधियों के कारण बादशाह द्वारा उन्हें क्षमा प्रदान नहीं करवाई जा सकी थी। जयसिंह को चाहिए कि वह अपने दीवान रामचन्द्र को पदच्युत कर दे। दोनों राजा अपने आपको संयम में रखें और जल्दी में कोई

आपत्तिजनक कार्य न करें। राणा को चाहिए कि वह उन्हे समझाकर फिर से उनके प्रार्थना-पत्र भिजवावें ताकि बादशाह से उनके जघन्य अपराधों को क्षमा कराने का प्रयत्न किया जा सके और उन्हें उनकी जागीरें प्राप्त करवाई जा सकें। राणा ने पत्र के उत्तर मे शाहजादा को स्पष्ट लिखा कि इन राजाओं को जब तक उनकी वतन-जागीरें नही दी जाती हैं, तब तक राजस्थान मे शान्ति-व्यवस्था स्थापित करना कठिन होगा। इसी आशय का एक पत्र राणा ने असदखां को भी लिखा था। असदखां सामान्यत. राजपूतों से मेल करने के पक्ष मे था।[42]

परिस्थिति का लाभ उठाते हुए राणा ने भी ठाकुर जसवन्तसिंह के नेतृत्व में पुर, मांडल आदि परगनों पर अधिकार करने को एक मेवाड़ी सेना भेज दी। मुगल फौजदार फिरोजखां के साथ जम कर लड़ाई हुई जिसमें मुगलों को भारी क्षति उठानी पड़ी। फिरोजखां लड़ाई के मैदान से भाग कर अजमेर चला गया। उक्त परगनो पर मेवाड़ी सेना का अधिकार हो गया। इस युद्ध मे जसवन्तसिंह वीर गति को प्राप्त हुआ था। इस प्रकार राजस्थान में सर्वत्र मुगल सत्ता को राजपूतों की चुनौती का सामना करना पड़ रहा था। अजमेर के सूबेदार सुजातखां की स्थिति बड़ी दयनीय थी।[43]

अजीतसिंह, जयसिंह और दुर्गादास ने एक विशाल सेना के साथ अजमेर की ओर प्रस्थान किया। उन्होंने पुष्कर मे अपना शिविर स्थापित किया। सुजातखां ने कूटनीति से काम लिया। उसने उन राजाओं को विश्वास दिलाया कि वह बादशाह से उन्हें वतन-जागीरें दिलवा देगा। इस सैनिक अभियान के खर्च के तीन लाख रुपये देने की भी व्यवस्था कर देगा। ऐसी स्थिति में राजपूतो ने अजमेर पर आक्रमण नही किया। इस बीच मे सुजातखां ने मुगल बादशाह को उसकी सहायता के लिए फौज भेजने को लिखा। कुछ समय के बाद आगरा, मथुरा, नारनौल आदि स्थानों से मुगल फौजें अजमेर पहुच गई। इसमे दोनो राजपूत राजा बड़े अप्रसन्न हुए। वे अजमेर की ओर बढे। बीच मे सांभर के फौजदार अजीअहमद ने उनसे युद्ध किया (30 सितम्बर 1708 ई.)। दोनों पक्षों को क्षति पहुची परन्तु विजयश्री राजपूतो के हाथ लगी।[44] आमेर के फौजदार सैयद अहमद, तथा सांभर और नारनौल के फौजदार सैयद हुसैन के नेतृत्व मे मुगल फौज राजपूतो से लोहा लेने को सांभर के पास आ डटी। 3 अक्टूबर, 1708 ई. को घमासान युद्ध हुआ जिसमे राजपूतों को पीछे हटना पडा; परन्तु थोडी देर मे नरूका सग्रामसिंह के सेनापतित्व में 2000 राजपूत सैनिक वहां अनायास ही आ पहुचे। शाही सेना विजयोल्लास मे व्यस्त थी। राजपूतों ने शत्रु-सेना को देख कर आक्रमण कर दिया जिसके फलस्वरूप सैयद हुसैनखां अपने अनेक साथियो सहित मारा गया। भागती हुई राजपूत सेना भी पुनः संगठित होकर रणक्षेत्र में पहुच गई। शाही सेना तितर-बितर हो गई। विजय राजपूतो के हाथ लगी। उन्होने सांभर नगर मे प्रवेश किया। सांभर नगर पर

दोनों राजाओं का सम्मिलित प्रमुख रहा। शाही सत्ता को इस पराजय से बड़ा आघात पहुंचा।[45]

सांभर के युद्ध की उल्लेखनीय बात यह हुई कि दुर्गादास राठौड़ अजीतसिंह से नाराज होकर मारवाड़ छोड़ कर महाराणा अमरसिंह की सेवा में मेवाड़ चला गया। अजीतसिंह और दुर्गादास के मनमुटाव के कारणों के विषय मे अनेक मत-मतान्तर हैं। प्रथम तो यह कहा जाता है कि दुर्गादास के शरीर मे अनेक घाव थे, इसलिए महाराजा अजीतसिंह को वह झुककर अभिवादन नहीं कर सकता था। उसके विरोधी सरदारों ने महाराजा के मन में यह बात बैठा दी कि दुर्गादास महाराजा को समुचित सम्मान नहीं देता। द्वितीय, यह भी कहा जाता है कि बहादुरशाह ने जब अजीतसिंह को जोधपुर का पट्टा दिया तो यह शर्त लगा दी कि दुर्गादास को मारवाड़ में नही रखा जायेगा। उपर्युक्त दोनो मतों मे कोई उपयुक्त तर्क प्रतीत नही होता। सांभर-युद्ध के समय तक अजीतसिंह को जोधपुर का पट्टा प्राप्त ही नही हुआ था। इसके अतिरिक्त, इस युद्ध के बाद भी दुर्गादास को बादशाह की तरफ से सम्मान मिलता रहा था।

ख्यातों से ज्ञात होता है कि सांभर के युद्ध के समय दुर्गादास ने अपना डेरा एक स्वतन्त्र शासक की भाँति अलग स्थान पर लगाया था। उसने अपने को मारवाड के सरदारों में सम्मिलित नही किया। अजीतसिंह के एतराज करने पर उसने कहा— "मैं अब वृद्ध हो गया हूँ, मुझे सेवा से मुक्त कर दें। मेरे वंशज आपकी सेवा मे उपस्थित रहेंगे।" अजीतसिंह दुर्गादास के इस उत्तर से अप्रसन्न हुआ। दुर्गादास महाराजा की नाराजगी का अर्थ समझता था। उसने बहाना करके मेवाड़ जाने के लिए अजीतसिंह से आदेश प्राप्त कर लिया; लेकिन मेवाड़ से वह वापिस नही लौटा। ऐसा भी कहा जाता है कि सांभर के युद्ध के बाद दुर्गादास ने भी अलग हिस्सा मागा था। जयसिंह इससे नाराज हुआ और उसने अजीतसिंह के कान दुर्गादास के विरुद्ध भरे। परिणामतः अजीतसिंह ने दुर्गादास को मारवाड़ से निष्कासित कर दिया। सम्भवतः ये तत्कालीन कारण रहे हो परन्तु ये मूल कारण नही स्वीकार किये जा सकते।

'वीर विनोद' के लेखक श्यामलदास का कथन है कि दुर्गादास को यह गर्व हो गया था कि उसने अजीतसिंह को राज्य दिलवाया है। अजीतसिंह ने इस कारण से नाराज होकर उसे मारवाड से बाहर जाने के आदेश दे दिये थे। वस्तुतः अजीतसिंह और दुर्गादास के सम्बन्ध बहुत पहले से ही बहुत अच्छे नही थे। 1687 ई. मे अजीतसिंह का उसकी अनुमति के बिना प्रकट किया जाना अच्छा नहीं लगा था। 1692 ई. में दुर्गादास की राय के विरुद्ध अजीतसिंह ने अजमेर पर आक्रमण कर दिया था। मुग़ल बादशाह औरंगजेब द्वारा जब उन्हे मनसब प्रदान की गई थी, उस समय भी इन दोनों के मन मे खटास उत्पन्न हो गई थी। 4 जुलाई, 1708 ई. को अजीतसिंह ने चांपावत मुकन्दसिंह को प्रधान के पद पर नियुक्त कर दिया था।

इससे दुर्गादास क्षुब्ध था। वह मारवाड़ में महत्त्वहीन व्यक्ति की भाँति रहना पसन्द नहीं करता था। उसने मारवाड़ छोड़ना ही हितकर समझा।[46]

सांभर की यथोचित शासन-व्यवस्था करने के बाद अजीतसिंह ने डीडवाना को भी शाही अधिकार से छीन लिया। तत्पश्चात् अजीतसिंह जयसिंह के साथ आमेर गया। वहां जयसिंह का विधिवत् राज्याभिषेक हुआ। उस समय अजीतसिंह ने जयसिंह के तिलक किया। कुछ दिनों बाद अजीतसिंह साभर होता हुआ जोधपुर की तरफ प्रस्थान कर गया। रास्ते मे उसने नागौर के शासक इन्द्रसिंह और उसके लड़के मोकमसिंह को दंड देना चाहा। मोकमसिंह तो लाडनू की तरफ भाग गया। इन्द्रसिंह ने नागौर गढ़ में आश्रय लिया। जब महाराजा मुंडवे में शिविर डाले हुए था, तब इन्द्रसिंह की माता अजीतसिंह से मिलने आई। बाद मे इन्द्रसिंह भी उससे आकर मिला और 1 लाख रुपये भेंट मे दिये। इससे खुश होकर वह नागौर छोड़ जोधपुर चला गया।[47]

कुछ समय के बाद अजीतसिंह ने फिर अजमेर पर चढ़ाई की। उस समय अजीतसिंह ने जयसिंह को भी पत्र लिखा था और उसे अजमेर अभियान में सम्मिलित होने के लिए कहा था। परन्तु किन्हीं कारणों से जयसिंह इस अवसर पर अजीतसिंह का साथ नही दे सका। अजमेर का युद्ध कई दिनों तक चलता रहा। अजमेर के घेरे के कारण वहा के निवासियों को खाद्यान्न की कमी अनुभव होने लगी थी। अजमेर के सूबेदार सुजातखां व उसके साथियों को भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। विवश होकर सुजातखां ने अजीतसिंह को 45 हजार रुपये दिये जिससे अजमेर का घेरा हटा लिया गया। इस घटना से मुगल-प्रतिष्ठा को अत्यधिक ठेस पहुंची। इससे यह स्पष्ट है कि अजमेर सूबे मे मुगलों का प्रभुत्व नाममात्र का रह गया था।[48]

साभर युद्ध के पश्चात् जयसिंह आमेर राज्य के शासन को सुदृढ करने में व्यस्त रहा। इसके साथ-साथ उसने मुगल विरोधी संघर्ष-क्षेत्र में विस्तार करने के भी प्रयत्न किये। उसने दक्षिण में मराठा राजा शाहू को मुगलों का विरोध करने के लिए प्रस्तावित किया था। उसने छत्रसाल बुन्देला को भी मुगलो के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए उत्तेजित किया था। उसने पूर्व की तरफ के बड़े-बड़े हिन्दू जमींदारों के नाम की सूची छत्रसाल से मांगी थी जिससे वह तथा महाराणा उन्हें मुगल-विरोधी कार्यवाही करने के लिए प्रेरित कर सकें। जयसिंह ने छत्रसाल को पत्र लिखा जिसमे उसने वतन-जागीर की महत्ता का उल्लेख किया था। जयसिंह ने उक्त पत्र में स्पष्ट किया कि बिना वतन-जागीर लौटाये राजपूत मुगल सम्बन्धों का आधार ही बदल जायेगा। उनके लिए वतन-जागीर के बिना तनख्वाह-जागीर का कोई महत्त्व नही था।

जयसिंह ने करौली के राव रतनपाल को भी इस आशय का एक पत्र भेजा

था। इस पत्र में रतनपाल को हिण्डौन लेने तथा रणथम्भौर के फौजदार हिदायतुल्ला को वहाँ से निकाल देने के लिए प्रस्ताव प्रस्तुत किया था।[49]

एक तरफ अजीतसिंह और जयसिंह राजस्थान में विरोधी अभियान में व्यस्त थे, दूसरी तरफ वे अपने वकीलों के माध्यम से मुगल सम्राट् के साथ समझौता करने के लिए भी प्रयत्नशील थे। उनकी मुख्य मांग वतन-जागीर प्राप्त करने की थी। बहादुरशाह उन्हें मनसब, तनख्वाह जागीरें आदि देने के लिए सहमत था, परन्तु उसका वजीर मुनीमखां तथा वह स्वयं अजीतसिंह को जोधपुर तथा जयसिंह को आमेर देने के पक्ष में नहीं थे, इसलिए समझौता सम्भव नहीं हो सका था। बाद में बादशाह ने मुनीमखां के प्रभाव से हठ कर वकीले-मुतलक असदखां को आदेश दिया कि वह उक्त राजाओं को शान्त करने के प्रयास करें। ऐसा उसने अपने पुत्र अजीमुश्शान के परामर्श से किया था। असदखां ने दो शर्तों के साथ राजपूत राजाओं को उनकी वतन-जागीर लौटाने के प्रस्ताव रखे थे। प्रथम शर्त तो यह थी कि वे शाही थाने डीडवाना और सांभर मुगल फौजदारों को सुपुर्द कर दें। दूसरी शर्त के अनुसार इन राजाओं को मुगल बादशाह की सेवार्थ उपस्थित रहना होगा। अजीतसिंह को काबुल और जयसिंह को अहमदाबाद में नियुक्त किये जाने के प्रस्ताव भी थे। असदखां के इन प्रस्तावों में राजनीतिक चाल थी। वह अजीतसिंह और जयसिंह को एक-दूसरे से दूर रखने के पक्ष में था जिससे वे दोनों संगठित शक्ति से मुगलों का विरोध करने की स्थिति में नहीं रह सकें। राजपूत राजा इस चाल से परिचित थे। अतः उन्होंने असदखां के प्रस्तावों को स्वीकार नहीं किया। प्रथम तो वे अभी अपने राज्यों से बाहर जाना ही नहीं चाहते थे। द्वितीय, काबुल और अहमदाबाद की सूबेदारी की नियुक्तियां उन्हें कतई पसन्द नहीं थी।[50]

असदखां की असफलता का उसके विरोधी दलों ने लाभ उठाया। उन्होंने बादशाह को विद्रोही राजपूत राजाओं को शक्ति से कुचलने के लिए प्रेरित किया। इस अभिप्राय को ध्यान में रखते हुए सम्राट् ने अजमेर की सूबेदारी सुजातखां के स्थान पर गाजिउद्दीनखां फिरोज जंग को दे दी। गुजरात की मनसबदारी पहले से ही उसके पास थी। वह बड़ा योग्य मुगल मनसबदार था। उसे राजपूतों के विरुद्ध तुरन्त कार्यवाही करने के आदेश दिये गये। गाजिउद्दीन ने सम्राट् की आज्ञा का पालन नहीं किया। इसके विपरीत उसने राजपूतों के साथ गुप्त रूप से मैत्री स्थापित करने का प्रयास किया। अजीतसिंह का विश्वस्त व्यक्ति भण्डारी रघुनाथ उसके पास मिलने गया था। गाजिउद्दीन ने उसका स्वागत किया और उसे आश्वासन दिया कि अजीतसिंह को जोधपुर और जयसिंह को आमेर दिलवाने का वह प्रयत्न करेगा। उसने यह भी संदेश भेजा कि वह दिखाने मात्र को ससैन्य अजमेर की तरफ प्रस्थान कर रहा है। उससे राजपूत राजाओं को भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है।[51]

राजपूतों को मुगलों पर विश्वास नहीं था। अतः उन्होंने नये सूबेदार से ससैन्य लोहा लेने की तैयारी प्रारम्भ कर दी। जगह-जगह सैनिक चौकियां स्थापित की।

अजीतसिंह और जयसिंह ने इस सम्बन्ध में विचार-विमर्श करने तथा भावी योजना बनाने के लिए सांभर मे मिलने का निश्चय किया। अजीतसिंह जोधपुर से सांभर की तरफ चला। रास्ते में उसने नागौर के शासक इन्द्रसिंह को नतमस्तक किया और उससे नजराने की रकम वसूल की। उसने अपने आपको मुगल बादशाह का मनसबदार होने का दावा किया था इसके अतिरिक्त अजीतसिंह ने मारोठ, देवगांव आदि शाही चौकियों पर अधिकार कर लिया। एक सैनिक टुकडी रामपुरा पर आक्रमण करने के लिए भी भेजी। इस प्रकार मुगल चौकियों को नष्ट करता हुआ अजीतसिंह सांभर पहुचा। वहां उसने जयसिंह के साथ विचार-विमर्श किया। उन्होने यह निर्णय लिया कि वे दोनों मिलकर शाही सेना से लोहा लेंगे तथा सन्धि हो जाने पर वे एक साथ बादशाह के सम्मुख उपस्थित होगे।[52]

जनवरी 1709 ई. में बहादुरशाह ने हैदराबाद के निकट अपने विद्रोही भाई कामबख्श को पराजित कर दिया था। वह रणक्षेत्र मे वीर-गति को प्राप्त हो गया था। अपने भाई से निपटकर वह राजपूतों से निपटने के लिए पुनः राजस्थान की तरफ चल पडा। नर्मदा पार कर माण्डू के रास्ते से दीपालपुर, मुकुन्ददर्रा, कालीसिन्ध होता हुआ वह 5 मई, 1710 ई. को टोंक पहुंच गया। वहा से आगे बढ़कर अजमेर के निकट तीस कोस की दूरी पर दन्दवासराय पर उसने अपने डेरे डाले। इस समय तक पंजाब मे सिक्खो के विद्रोह के कारण स्थिति भयंकर हो गई थी। मई 1710 ई. मे सिक्खो ने सरहिन्द पर विजय प्राप्त कर ली और वहां युद्ध मे मुगल फौजदार वजीरखा मारा गया। मुगल राजधानी दिल्ली के लिए भी खतरा उत्पन्न हो गया था। इसलिए बहादुरशाह ने राजपूतों के साथ समझौता कर लेना ही उचित समझा। राजपूतों में शान्ति स्थापित कर वह तुरन्त पंजाब की तरफ प्रस्थान करने का इच्छुक था। उधर राजपूत राजा भी दीर्घकाल तक मुगलों से युद्ध कर अपनी शक्ति को क्षीण करने के पक्ष मे नही थे। वे भी मुगल सम्राट् के साथ सम्मानपूर्वक समझौता करने के लिए तैयार थे।[53]

अतः राजपूत राजाओ के साथ सन्धि हो गई और अजीतसिंह को जोधपुर और जयसिंह को आमेर प्राप्त हो गये। उन्हें मुगल सम्राट् के समक्ष उपस्थित होने के बाद अपने देश मे लौटने की अनुमति दे दी गई। शर्त जैसी कोई व्यवस्था नही थी वे छः महीनों तक अपने राज्यों की शासन-व्यवस्था को सुधारें, तत्पश्चात् वे मुगल-सेवा मे उपस्थित हो जायें। 11 जून, 1710 ई. (24 रबी उस्मानी 1122 हि.) को वे बहादुरशाह से अजमेर के निकट देवराई गांव मे मिले। सम्राट् ने खिलअत, तलवार, जमधर, हाथी, घोड़ा आदि उपहार मे देकर उन्हे सम्मानित किया। मनसब उन्हे पहले ही प्रदान की जा चुकी थी। उन्हें अपने राज्यों मे जाने की अनुमति दे दी गई। अजीतसिंह और जयसिंह दोनो पहले पुष्कर पहुचे। वहा करने के पश्चात् वे अपने-अपने राज्यों मे लौट गये।[54]

क्रमांक——
दिनांक——

इस तरह जोधपुर के राठौड़ों और मुगल सम्राट् के बीच जसवंतसिंह की मृत्यु के बाद प्रारम्भ हुए 31 वर्षीय विद्रोह की समाप्ति 11 जून, 1710 ई. को हुई। बहादुरशाह ने भी पहले अपने पिता औरंगजेब की नीति का अनुसरण किया था। उसने राजपूत राजाओं पर शाही नियंत्रण स्थापित करने के आशय से जोधपुर और आमेर को खालसा बनाये रखा। उसने अपने पिता की विफलताओं तथा उसके कटु अनुभवो से लाभ उठाने का प्रयास नहीं किया। राजपूतों का विद्रोह चलता रहा। अन्त में परिस्थितियों द्वारा विवश होकर और दरबार में एक शक्तिशाली गुट के दवाव के कारण उसने राजपूतों के साथ मेल किया। साम्राज्य की कमजोरी अब स्पष्टतया दृष्टिगत होने लगी थी। सम्राट् के प्रति विश्वास और आदर की भावना राजपूत राजाओं के मन में पहले से ही लुप्त हो चुकी थी, अब साम्राज्य की शक्ति व सत्ता का भय भी उनके हृदय मे नहीं रहा। राजस्थान के प्रमुख रजवाड़ों मे स्वतन्त्रता की भावना प्रबल होने लगी थी। जब मुगल साम्राज्य की शक्ति का ह्रास होने लगा, तब वे अपनी स्वार्थ-प्राप्ति में जुट गये। उन्होने साम्राज्य के हितों की पूर्ण उपेक्षा की। मुगल-साम्राज्य के अब तक के आधार स्तम्भ ये राजपूत नरेश ही कालान्तर में उसके विध्वंसक बने।[55]

यद्यपि राजपूत राजाओं को अपनी राजधानियां मुगल सम्राट् से प्राप्त हो गई थीं, फिर भी वे सन्तुष्ट नही थे। उन्हे इच्छित ऊंचे मनसब व पद उपलब्ध नहीं हुए थे। अजीतसिंह गुजरात और जयसिंह मालवा की सूबेदारी चाहते थे। वजीर मुनीमखां इन राजपूत राजाओं को इतने ऊंचे पद देने के पक्ष में नहीं था। इसलिए बार-बार बुलाने पर भी सिक्खों के विरुद्ध चल रहे युद्ध में भाग लेने दोनों राजा पंजाब मे नही पहुचे। फरवरी 1711 ई. में मुनीमखां की मृत्यु हो गई। इसके बाद जयसिंह और अजीतसिंह के समर्थक अजीमुश्शान तथा जुल्फिकारखां के आश्वासन देने के बाद वे मुगल-सहायता के लिए नारनौल पहुचे। उन्हें साधोरा में चौकी स्थापित करने तथा गुरुबन्दा और उसके साथियो द्वारा की जा रही लूट-खसोट को रोकने का कार्य सुपुर्द किया गया। इस आशा मे कि उन्हें इच्छित मालवा और गुजरात की सूबेदारी मिल जायेगी, उन्होने बड़ी खूबी के साथ शाही सेवा की थी; परन्तु डेढ़ महीने बाद जयसिंह को चित्रकूट का और अजीतसिंह को गुजरात में सोरठ का फौजदार नियुक्त किया। ये नियुक्तियां उनकी आकांक्षा के अनुरूप नहीं थीं। उन्होंने बादशाह से अपने वतन मे वापिस जाने के लिए अनुमति मांगी। इस शर्त पर कि उनके द्वारा स्थापित चौकियां पूर्ववत् रहेगी, बादशाह ने इन राजपूत राजाओं को अपने देश जाने की स्वीकृति दे दी। जनवरी 1712 ई. में अजीतसिंह और जयसिंह दोनो एक साथ राजस्थान की ओर प्रस्थान कर गये। उनके अपने वतन-जागीर में पहुंचने के पहले ही फरवरी में बहादुरशाह का देहान्त हो गया।[56]

बहादुरशाह के अन्तिम डेढ़ वर्ष के अलावा सम्पूर्ण राज्यकाल में राजस्थान मुगल-विरोधी संघर्ष मे उलझा रहा। पिछले डेढ़ वर्ष मे भी अजीतसिंह और जयसिंह क्रमशः गुजरात और मालवा की इच्छित सूबेदारी नही मिलने के कारण मुगल सम्राट् से क्षुब्ध रहे और उन्होने बादशाह की दत्तचित्त होकर सेवाएं नही कीं। अजीतसिंह ने अपने आस-पास के क्षेत्रो पर अधिकार करके कर वसूल किये और अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना ली। इस समय राजस्थान के प्रमुख राजा अजीतसिंह, जयसिंह, अमरसिंह द्वितीय तथा उसके पुत्र संग्रामसिंह के बीच अच्छा तालमेल बना रहा। उनके पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ व सौहार्दपूर्ण रहे। उन्होंने नियोजित व सगठित होकर मुगलो के विरुद्ध संघर्ष किया। शान्ति काल मे भी उन्होने एकमत होकर मुगल-सम्बन्धी नीति का अनुसरण किया जिसके फलस्वरूप इन राजपूत राजाओ के मन मे आन्तरिक स्वतन्त्रता और आत्मविश्वास की भावना को काफी प्रोत्साहन मिला।[57]

बहादुरशाह के मृत्युपरान्त लाहोर में परम्परागत शाहजादो के बीच मुगल सिंहासन के लिए संघर्ष आरम्भ हुआ। सर्वप्रथम जुल्फिकारखां द्वारा संगठित शाहजादे जहांदारशाह, रफीउश्शान और जहांशाह की सेना ने अजीमुश्शान पर पूर्ण विजय प्राप्त की। इस विजय के पश्चात् साम्राज्य-विभाजन के प्रश्न को लेकर तीनो भाइयो में एकमत न होने के कारण पुनः युद्ध आरम्भ हो गया। जुल्फिकारखा ने बहादुरशाह के ज्येष्ठ पुत्र जहादारशाह का पक्ष लिया था। उसके समर्थन के कारण जहादारशाह अपने दोनों भाइयों पर विजय प्राप्त करने में सफल रहा। वह मार्च 1712 ई. मे बादशाह बना। जुल्फिकारखा उसका वज़ीर नियुक्त हुआ। इस उत्तराधिकार-युद्ध में किसी भी प्रमुख राजपूत राजा ने भाग नही लिया था। वे सभी अवकाश प्राप्त कर अपने-अपने राज्यों मे ही रहे। जहांदारशाह जब सिंहासनारूढ़ हुआ तब सभी ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली और उसे नजराना पेश किया।[58]

जहादारशाह व उसका वजीर जुल्फिकारखां राजपूत राजाओ तथा हिन्दुओ का समर्थन प्राप्त करने के इच्छुक थे। बादशाह ने अपने पिता और पितामह की हिन्दू-विरोधी नीति का परित्याग कर उनके साथ सौहार्दपूर्ण नीति का अनुसरण किया। सर्वप्रथम उसने घृणित जजिया कर को हटाने के आदेश प्रसारित किये। राजपूत राजाओं को मुगल-साम्राज्य का पुनः विश्वसनीय मित्र बनाने का प्रयास किया गया। जयसिंह और अजीतसिंह को 7-7 हजार की मनसब दी गई तथा उन्हे क्रमशः मिर्जा राजा और महाराजा की उपाधियो से अलंकृत किया गया। इसके साथ-साथ अजीतसिंह को गुजरात और जयसिंह को मालवा के सूबेदार जैसे महत्त्वपूर्ण पदो पर नियुक्त किया गया था।[59] परन्तु इन आदेशो का पूर्णरूप से पालन किये जाने के पहले ही मुगल सिंहासन पुनः संकट-ग्रस्त हो गया। अजीमुश्शान के पुत्र

फर्रुखसियर ने अब्दुल्ला और हुसैनअली सैयद बन्धुओं के सहयोग से आगरा और दिल्ली पर अधिकार कर लिया। जहांदारशाह और उसके वजीर जुल्फिकारखा का वध कर दिया गया। फरवरी 1713 ई. में फर्रुखसियर दिल्ली का बादशाह बना। उसने अब्दुल्लाखां को वजीर तथा हुसैन अलीखां को मीरबख्शी का पद दिया। उन्हें ऊंचे मनसब प्रदान किये गये तथा महत्त्वपूर्ण सूबों के सूबेदार-पदों पर भी नियुक्त किया गया। मुगल-दरबार में सैयद बन्धुओ की शक्ति बहुत बढ़ गई। वस्तुतः 1713 ई. से 1721 ई. तक का काल मुगल-इतिहास मे सैयद-बन्धुओं का युग कहा जा सकता है।[60]

ऐसा कहा जाता है कि महाराणा संग्रामसिंह ने अपने वकील बिहारीदास के माध्यम से अब्दुल्लाखा को हिन्दू-विरोधी जजिया कर हटाने की सलाह दी थी। अब्दुल्ला ने बादशाह को इसके लिए राजी कर लिया। अतः अप्रेल 1713 ई. को जजिया कर हटाने के विधिवत् आदेश प्रसारित कर दिये गये।[61] इसी प्रकार कई स्थानों पर से यात्रा-कर भी हटा लिये थे। बादशाह की तरफ से राजपूत राजाओं को दरबार में उपस्थित होने के लिए पत्र भेजे गये। महाराणा संग्रामसिंह का पुत्र प्रतापसिंह मार्च 1713 ई. में दरबार में उपस्थित हुआ। उसका सम्मान किया गया और महाराणा को 7-7 हजार की मनसब दी गई। जयसिंह और अजीतसिंह बादशाह के दरबार में उपस्थित नही हुए। परन्तु उन्होने यह कहलाया कि वे शाही आज्ञानुसार सेवा करने के लिए सदैव तैयार हैं। दोनों राजाओं ने क्रमशः मालवा और गुजरात अथवा मालवा और बुरहानपुर की सूबेदारी की मांग की थी। बादशाह इन दोनों राजाओं की मित्रता को मुगल साम्राज्य के लिए घातक समझता था। इसलिए वह इसके पक्ष मे नही था कि दोनों को पास-पास के सूबों में नियुक्त किया जाय। फर्रुखसियर ने जयसिंह और अजीतसिंह में फूट डालने की नीति का अनुसरण किया। इस उद्देश्य को ध्यान मे रखते हुए बादशाह ने जयसिंह को तो उसकी मांग के अनुसार मालवा की सूबेदारी दे दी गई, परन्तु अजीतसिंह को गुजरात का सूबेदार न बना कर उसे थट्टा का सूबेदार नियुक्त किया गया। जयसिंह ने मालवा की सूबेदारी स्वीकार कर तुरन्त मालवा पहुंच कार्यभार सम्भाल लिया। अजीतसिंह ने थट्टा जाने से इन्कार कर दिया। यहां दोनों राजपूत राजाओं मे मतभेद हो गया जिससे मुगल बादशाह को लाभ हुआ।[62]

अजीतसिंह का मुगल दरबार में बार-बार बुलाने पर भी उपस्थित न होना तथा थट्टा की सूबेदारी के आदेश का पालन न करना मुगल बादशाह के लिए एक चुनौती का प्रश्न बन गया था। इसके अतिरिक्त जहांदारशाह के अल्पकालीन शासन में अजीतसिंह ने जोधपुर राज्य के अनेक परगनो मे नियुक्त मुगल पदाधिकारियों को भगा कर उन पर अपना अधिकार कर लिया था। शाही थानों के स्थान पर अपने नये थाने स्थापित कर वह अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने का प्रयत्न करने लगा था।

इसकी सूचना फर्रूखसियर को निरन्तर मिल रही थी। बादशाह इन कारणों से अजीतसिंह से खिन्न था।[63]

उत्तराधिकार-युद्ध में किशनगढ के राजा राजसिंह ने जहांदारशाह के विरोधी दल को सहयोग दिया था, इसलिए जहांदारशाह का उससे नाराज होना स्वाभाविक ही था। राजसिंह लाहौर से लौट कर रूपनगर चला गया। उसने अजीतसिंह से समय पड़ने पर सहायता करने की प्रार्थना की थी। अजीतसिंह ने सहायता देने का आश्वासन भी दिया था। बाद में जब अजीतसिंह शाही थानों के स्थान पर निजी थाने स्थापित करने लगा, तब उसने राजसिंह को सेना-सहित उसकी मदद मे उपस्थित होने को लिखा था। वह अजीतसिंह की सहायता के लिए नही आया। महाराजा बांदरवाड़ा, भिणाय और विजयगढ़ पर अधिकार करता हुआ देवगढ़ पहुंचा। राजसिंह वहीं निवास कर रहा था। उसे बुलाने पर भी वह महाराजा अजीतसिंह के डेरे में नहीं पहुंचा। इससे नाराज होकर अजीतसिंह ने किशनगढ़ पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया और फिर रूपनगर का भी घेरा डाला गया। राजसिंह ने कुछ दिनों तक तो सामना किया, परन्तु फिर उसे नतमस्तक होना पड़ा। वह महाराजा के सम्मुख उपस्थित हुआ और उसने क्षमा याचना की। फर्रूखसियर के बादशाह बनने के बाद राजसिंह दिल्ली पहुचा और उससे अजीतसिंह की शिकायत की। वहां वह अजीतसिंह के विरुद्ध विष-वमन करने लगा। उसने बादशाह को अजीतसिंह के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने के लिए उत्तेजित किया।[64]

नागौर के शासक इन्द्रसिंह के पुत्र मोहकमसिंह ने भी दिल्ली पहुंच अजीतसिंह के विरुद्ध बादशाह फर्रूखसियर के कान भरे। अजीतसिंह को जब इसकी सूचना मिली तो उसने भाटी अमरसिंह व अन्य कुछ व्यक्तियों को दिल्ली भेज कर मोहकमसिंह की हत्या करवा दी। फर्रूखसियर ने इन्द्रसिंह और उस के पुत्र मोहनसिंह को दिल्ली बुलाया था। रास्ते में अजीतसिंह ने मोहनसिंह की भी हत्या करवा दी। इन घटनाओं के कारण बादशाह अजीतसिंह मे बहुत नाराज हुआ। इन्द्रसिंह ने दिल्ली मे अजीतसिंह के विरुद्ध प्रचार करना आरम्भ किया।[65]

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि अजीतसिंह स्वय बादशाह की सेवा मे उपस्थित नहीं हुआ। उसने थट्टा जाने के शाही आदेश का पालन भी नही किया था। बादशाह द्वारा मुगल दरबार मे बुलाये जाने पर युवराज अभयसिंह को भी उपस्थित नही किया। इन सब कारणों से बादशाह फर्रूखसियर ने अजीतसिंह के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने का निर्णय लिया। उसने जयसिंह को हर प्रकार से खुश रखने और अजीतसिंह को दण्ड देने की नीति का अनुसरण किया। वह स्वय सेना का नेतृत्व कर मारवाड़ की ओर प्रस्थान करने की तैयारी करने लगा।[66]

उस समय दिल्ली मुगल दरबार मे दो प्रमुख विरोधी गुट थे। एक गुट का सैयद भाई कर रहे थे और दूसरे गुट का नेता मीर जुमला था। वह बादशाह

का भी कृपापात्र था। उसने बादशाह को सलाह दी कि मीरबख्शी सैयद हुसैनअली के नेतृत्व में अजीतसिंह के विरुद्ध सेना भेजी जाय। इसमें दोहरी राजनीतिक चाल थी। वह दिल्ली में सैयद बन्धुओं की शक्ति को कम करना चाहता था। हुसैनअली खूंखार व्यक्ति था। उसका दिल्ली में रहना बादशाह के लिए निरन्तर सिरदर्द था। ऐसी आशा की जाती थी कि वह अजीतसिंह के विरुद्ध किये गये सैनिक अभियान में दीर्घ-काल तक दिल्ली से दूर मारवाड़ मे उलझा रहेगा। यह भी सम्भव था कि अभियान में हुसैनअली मारा भी जाय; और यदि वह पराजित हो जाता है तो उसे पदच्युत करने में बादशाह को कठिनाई नही आयेगी। उधर, यदि विजयी होकर वह अजीतसिंह पर कठोर सन्धि थोपने मे सफल हो जाता है तो राठौड़ों के सम्बन्ध उससे सदैव के लिए बिगड़ जायेंगे। इन सब राजनीतिक कारणो से अन्ततोगत्वा बादशाह ने सेना का नेतृत्व करने के लिए हुसैनअली को आदेश दिये। उसके सेनापतित्व मे एक विशाल मुगल सेना अजीतसिंह के विरुद्ध भेजी गई। उसने 6 जनवरी, 1714 ई. को मारवाड़ की ओर प्रस्थान किया।[37]

यहां यह जान लेना आवश्यक होगा कि राजपूतों के प्रति नीति के सम्बन्ध में बादशाह फर्रुखसियर और सैयद बन्धुओं मे मतभेद था। सैयद भाई राजपूतों के साथ उदार नीति का अनुसरण करना चाहते थे। उनसे वे सहयोग की अपेक्षा करते थे। फर्रुखसियर सैयद बन्धुओ और राजपूतों के बीच मतभेद उत्पन्न करवाना चाहता था। सम्भवतः इसी उद्देश्य से उसने हुसैनअली के नेतृत्व मे अजीतसिंह के विरुद्ध सेना भेजी थी। इसके अतिरिक्त बादशाह दोनों सैयद भाइयो को एक साथ दिल्ली मे रखने के पक्ष में नही था। वह इनके प्रभाव को समाप्त करने व इनकी शक्ति को कुचलने के लिए प्रयत्नशील था। कामवर द्वारा लिखित फारसी ग्रन्थ के आधार पर इर्विन महोदय लिखते हैं कि हुसैनअली के दिल्ली से प्रस्थान करने के तुरन्त बाद फर्रुखसियर ने अजीतसिंह को एक पत्र लिखा था जिसमे उसे हुसैनअली को पराजित कर मार देने को कहा गया था। पत्र में यह भी लिखा था कि ऐसा करने पर अजीतसिंह को सम्मान दिया जायेगा। किन्तु बादशाह की यह योजना सफल नही हुई। इसके विपरीत अजीतसिंह ने इस पत्र को हुसैनअली को दिखा दिया और उसके साथ सन्धि कर ली। उन दोनों के बीच मित्रता पहले से भी अधिक सुदृढ हो गई।[38] किन्तु, इस प्रकार का कोई पत्र लिखा गया हो इसकी प्रामाणिकता मे हमे सन्देह है। राजस्थानी स्रोतो मे इस पत्र का कही उल्लेख नहीं मिलता। अन्य समकालीन फारसी ग्रन्थों में भी इस सम्बन्ध मे कोई ठोस सकेत नहीं मिलता। अजीतसिंह की बादशाह फर्रुखसियर से पहले कभी मुलाकात नहीं हुई थी। बादशाह का एक अजनबी व्यक्ति को और वह भी जो उसका शत्रु था, इस प्रकार का पत्र लिखना व्यावहारिक नहीं जान पड़ता। यदि बादशाह का इस प्रकार का अजीतसिंह के साथ गुप्त अववोध था तो फिर अजीतसिंह ने इसका पालन क्यों नही किया? उसने हुसैनअली के साथ संघर्ष क्यों नही किया? सन्धि के लिए वह

तैयार क्यों हो गया ? उसे गुजरात की सूबेदारी प्राप्त करने के लिए हुसैनअली से गुप्त समझौता करने जैसे नाटक की क्या आवश्यकता थी ? इस प्रकार की माग तो उसके कृपालु बादशाह से स्वतः ही पूर्ण हो जानी चाहिए थी। इन कारणो से बादशाह द्वारा तथाकथित पत्र अजीतसिंह को लिखना युक्तियुक्त प्रतीत नही होता।[69]

हुसैनअली लगभग 1 लाख सैनिको के साथ मारवाड़ की ओर अग्रसर हुआ। उसकी फौज मे तोपें, घुड़सवार और हाथी पर्याप्त सख्या में थे। साम्राज्य के कुछ बड़े मनसबदारों को भी उसकी फौज मे सम्मिलित किया गया था। अहमदाबाद के सूबेदार दाउदखा को जालौर पहुचने के आदेश दिये गये थे। इस प्रकार अजीतसिंह के विरुद्ध युद्ध करने के लिए विशेष तैयारी की गई थी। अजीतसिंह के पास उस समय 18,000 से अधिक सैनिक नही थे। वह शाही फौज का सामना करने की स्थिति में नही था, इसलिए जैसे ही उसे हुसैनअली के मारवाड़ की तरफ जाने के समाचार प्राप्त हुए, उसने अपने मुशी रघुनाथ को एक हजार सैनिकों के साथ सन्धि के लिए बातचीत करने को भेज दिया। सम्भवतः उसने गुजरात की सूबेदारी की मांग की थी। हुसैनअली ने रघुनाथ की प्रार्थना पर ध्यान नही दिया। वह अजमेर होता हुआ मेडता पहुंचा। उसने वहां अपना थाना स्थापित किया। रास्ते में गर्मी, पानी के अभाव, अन्न की महगाई आदि हुसैनअली को काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। उधर हुसैनअली का दिल्ली से दूर जाने के बाद उसके भाई अब्दुल्लाखां की स्थिति कमजोर हो गई। मीर जुमला का गुट सक्रिय था। वह सैयदों की शक्ति को समाप्त करने मे प्रयत्नशील था। बादशाह का भी उस पर वरद हस्त था। ऐसी स्थिति में अब्दुल्ला ने अपने भाई हुसैनअली को पत्र भेजे जिनमें उसे शीघ्र दिल्ली लौटने के लिए आग्रह किया था। हुसैनअली भी बादशाह के कुटिल इरादों से अवगत था। वह राजपूतों से सहयोग की अपेक्षा रखता था। अतः उसने राजपूतों के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने का निर्णय लिया। वह अजीतसिंह से सुलह करने के पक्ष मे था।[70]

ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों पक्ष सन्धि करने के लिए लालायित थे। हुसैनअली के पास विशाल सेना थी। मेड़ता पर उसका अधिकार हो गया था। अहमदाबाद के सूबेदार की सेना ने जालौर पर भी अधिकार कर लिया था। राजपूताने के किसी अन्य राजा ने अजीतसिंह की सहायता नही की थी। यद्यपि इन्हीं दिनों जाट नेता चूड़ामन जोधपुर पहुंचा था और वहां उसका भव्य स्वागत किया गया था, फिर भी ऐसे कही प्रमाण नही मिलते कि उसने शाही फौज के विरुद्ध अजीतसिंह को मदद देने का आश्वासन दिया हो। ऐसी स्थिति में जब हुसैनअली की तरफ से [illegible] सुलह का प्रस्ताव लेकर पहुंचा तो अजीतसिंह ने भी चांपावत भगवान-[illegible] रघुनाथ, उदावत लालसिंह मेड़तिया, कल्याणसिंह आदि को शाही

सन्धि के प्रस्ताव पर विचार-विमर्श करने को भेजा। परिणामतः 19 मार्च, 1714 ई. को राठौड़-मुगल समझौता सम्पन्न हो गया। सन्धि की धाराएं इस प्रकार थी :—

1. अजीतसिंह ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली। वह सम्राट् को पेशकश देगा।
2. युवराज अभयसिंह दिल्ली दरबार में सेवा के लिए उपस्थित होगा।
3. बादशाह के बुलाने पर अजीतसिंह स्वयं भी मुगल सेवा में हाजिर होगा।
4. अजीतसिंह की पुत्री का विवाह फर्रुखसियर के साथ दिल्ली में सम्पन्न किये जाने का निर्णय लिया गया।

उपर्युक्त धाराओं के अतिरिक्त हुसैनअली और अजीतसिंह के मध्य एक गुप्त समझौता हुआ था जिसमें अजीतसिंह को हुसैनअली ने आश्वासन दिया था कि जैसे ही वह बादशाह के आदेशानुसार थट्टा की ओर अग्रसर होगा और अपनी स्वामिभक्ति का प्रदर्शन करेगा, उसे थट्टा पहुंचने के पूर्व ही गुजरात की सूबेदारी के आदेश मिल जायेंगे।

सन्धि होने के पश्चात् हुसैनअली युवराज अभयसिंह को साथ लेकर दिल्ली लौट गया। सम्राट् ने अभयसिंह का सम्मान किया और उसे 3000/2000 की मनसब प्रदान की। अगस्त 1714 ई. में बादशाह को सूचना मिली कि अजीतसिंह थट्टा की ओर प्रस्थान कर गया है। बादशाह प्रसन्न हो गया। गुप्त समझौते के अनुसार सैयद हुसैनअली ने बादशाह से अजीतसिंह के लिए गुजरात की सूबेदारी के आदेश दिलवा दिये। अब अजीतसिंह और फर्रुखसियर के सम्बन्धों में सुधार होता गया और अजीतसिंह का मुगल दरबार में महत्त्व बढ़ने लगा।

भावुकता की दृष्टि से उपर्युक्त सन्धि भले ही हीन व अपमानजनक कही जा सकती है, परन्तु इस सन्धि का मारवाड़ की राजनीति में बड़ा महत्त्व है। इस समझौते ने एक ओर जहां मारवाड़ को युद्ध की भयंकर लपटों तथा रक्तपात से बचा लिया, वहीं दूसरी ओर दीर्घकाल के संघर्ष के बाद पुनः शान्ति और समृद्धि का प्रादुर्भाव हुआ। अजीतसिंह ने गुजरात जाते समय भीनमाल और जालौर पर अधिकार स्थापित कर लिया। अजीतसिंह की उत्तरोत्तर पदोन्नति होती रही। अन्ततोगत्वा दिल्ली की राजनीति में उसने सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया। इसी समझौते के परिणामस्वरूप सैयद बन्धुओं और अजीतसिंह के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का आरम्भ होता है। हुसैनअली को दिल्ली से बाहर दूर रखने तथा अजीतसिंह और जयसिंह को अलग-अलग दूर सूबों में नियुक्त करने के फर्रुखसियर के दो प्रमुख उद्देश्यों की पूर्ति तो नहीं हो सकी, परन्तु इन दो राजपूत राजाओं (अजीतसिंह और जयसिंह) के पारस्परिक सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न करवाने में वह सफल रहा। अजीतसिंह के विरुद्ध शाही सैनिक अभियान के समय जयसिंह द्वारा उसकी सहायता

न करने तथा अजीतसिंह का चूड़ामन जाट को जयसिंह के विरुद्ध सहयोग देने का आश्वासन देने आदि से इस तथ्य की पुष्टि होती है। जयसिंह मालवा की सूबेदारी मिल जाने से सन्तुष्ट था। बादशाह फर्रुखसियर के साथ उसके सम्बन्ध प्रायः अच्छे रहे। इन सभी बिन्दुओं पर अगले अध्याय में प्रकाश डाला जायेगा।

संदर्भिका

1. विलियम इर्विन, द लैटर मुगल्स, पृ. 1, खाफीखां कृत मुन्तखब-उल-लुबाब (हिन्दी अनुवाद-इलियट और डाउसन), पृ. 166 पर औरंगजेब की मृत्यु की तिथि 21 फरवरी, 1707 ई. दी है। ओझाजी ने भी इस तिथि को स्वीकार किया है (पृ. 601, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 2) लैटर मुगलस् के आधार पर डा. सतीशचन्द्र ने अपनी पुस्तक उत्तर मुगलकालीन भारत पृ. 1 पर औरंगजेब की मृत्यु की तिथि 3 मार्च, 1707 निर्दिष्ट की है।
2. सतीशचन्द्र, उत्तर मध्यकालीन भारत का इतिहास, पृ. 32
3. वही, पृ. 33
4. खाफी खां, भाग II, पृ. 547;
   इर्विन, पृ. 4–5
5. इर्विन, पृ. 11—सिक्काहजद दरजहां बदौलत ओजाह बादशाह-ए-ममालिक आजमशाह,
6. एस. आर. शर्मा, भारत में मुगल साम्राज्य, पृ. 621–22
   शर्मा ने जाजव के युद्ध की तिथि 10 जून दी है। परन्तु हमने इर्विन द्वारा दी गई तिथि को स्वीकार किया है।
7. रघुबीरसिंह, पूर्व-आधुनिक राजस्थान, पृ. 147
8. इर्विन, पृ. 41
9. बी. एस. भटनागर; सवाई जयसिंह, पृ. 21
10. सतीशचन्द्र, पृ. 45
11. मथुरालाल शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, प्रथम भाग, द्रष्टव्यः पृ. 248–309
12. गौ. ही. ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, दूसरी जिल्द, पृ. 601–02, फारसी तवारीखों में महाराणा के भाई का नाम बख्तसिंह लिखा मिलता है जो ठीक नही है। इर्विन ने भी फारसी ग्रन्थों के आधार पर इसका नाम बख्तसिंह लिखा है, पृ. 46

13. मीरा मित्र, महाराजा अजीतसिंह एवं उनका युग, पृ. 137–[illegible]— राजस्थानी ग्रन्थों और ख्यातों में जाफरकुली को जाफर बेग या जा[illegible] लिखा है।
14. वि. ना. रेउ, मारवाड़ का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. 292
15. दयालदास की ख्यात, जिल्द 2, पृ. 60
16. अजीतोदय, सर्ग 17, श्लोक 14–18
17. खाफीखां, भाग 2, पृ 605;
    अजीतोदय, सर्ग 17, श्लोक 12, 17–18;
    मीरा मित्र, पृ. 141

9827
3.4.88

18. निशान संख्या 12, राजस्थान पुरालेखागार;
    मीरा मित्र, पृ. 141
19. खाफीखां, भाग 2, पृ. 600; इर्विन, पृ. 36–37
20. सतीशचन्द्र, पार्टीज एण्ड पालिटिक्स एट द मुग़ल कोर्ट, पृ. 30–31
21 मीरा मित्र, पृ. 143
22. वही
23. वही
24. भटनागर, पृ. 30–32, द्रष्टव्य: जयपुर रिकार्डस् हिन्दी, भाग 6, खण्ड 9, 87, 89–90 आदि-आदि।
25. वही, पृ. 29
26. वही, पृ. 31–34 नुस्खा-इ-दिलकुश के लेखक भीमसेन राव दलपत की सेवा में था। उसका राजपूत राजाओं से सम्पर्क था;
    द्रष्टव्य: अखबारात-ए-दरबार-ए-मुहल्ला दिसम्बर 1707 से मार्च, 1708।
27. इर्विन, पृ. 46–47, सतीशचन्द्र, पृ. 46–आमेर का नाम इस्लामाबाद रखा।
28. सतीशचन्द्र, पृ. 47
29. वी. एस. भार्गव ने अपनी पुस्तक मारवाड़ एण्ड द मुगल एम्परर्स, पृ. 147 पर लिखा है कि तीस वर्षीय युद्ध के परिणामस्वरूप अजीतसिंह की सैनिक शक्ति पूर्णतया क्षीण हो चुकी थी। अतः अजीतसिंह के सामने आत्मसमर्पण करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं था। दूसरी ओर, समकालीन राजस्थानी ग्रन्थ राजरूपक (पृ. 418–21) और अजीतोदय (सर्ग 17, श्लोक 27–29) से ज्ञात होता है कि अजीतसिंह की विजयों से प्रभावित होकर बहादुरशाह ने उससे सन्धि करना ही उचित समझा। हम इन दोनों मतों से सहमत नहीं हैं। अजीतसिंह की सैनिक शक्ति पूर्णतया क्षीण नहीं हुई थी। औरंगजेब के मरने के बाद तो उसने अपनी शक्ति में और भी वृद्धि कर ली थी। राजस्थानी ग्रन्थों में अजीतसिंह की प्रशंसा हेतु ही उक्त

विवरण दिया गया है। वस्तुतः अजीतसिंह इस बात से परिचित था कि बहादुरशाह अपने भाई कामबख्श को दंड देने दक्षिण मे जायेगा। उस समय मथुरा क्षेत्र मे जाटों के उपद्रव भी हो रहे थे। अतः बहादुरशाह अभी अजीतसिंह से युद्ध टालने के पक्ष मे था। इन सब परिस्थितियों को देखते हुए अजीतसिंह को यह विश्वास था कि जोधपुर उसे प्राप्त हो जायेगा अतः उसे युद्ध किये विना अपने मन्तव्य की पूर्ति की आशा थी।

30. मीरा मित्र, पृ 145
31. बहादुरशाहनामा, पृ. 186
32. वीर विनोद, भाग 2, पृ. 834
33 अजीतसिंह और जयसिंह एक तरफ बादशाह से अपनी वतन-जागीर प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील थे; दूसरी तरफ सैफुल्लाखां के माध्यम से वे कामबख्श को सम्राट् बनाने की भी योजना बना रहे थे।
द्रष्टव्यः खाफीखा, भाग 2, पृ. 619–20
34. इर्विन, पृ. 49, सम्भवतः मण्डेश्वर वर्तमान मन्दसोर नगर था।
35. अजीतोदय, सर्ग 17, श्लोक 32–33;
मुंदियाड की ख्यात, पृ. 234; राजरूपक, पृ 426;
ओझा, भाग 2, पृ 603
36 वीर विनोद, पृ 769–70
37. वही, 671, टॉड राजस्थान, भाग I, पृ. 317–18
38. ओझा, भाग 2, पृ. 605
39. वही
40. करणीदान कृत सूरज प्रकाश, पृ. 59;
राजरूपक, पृ. 423–29;
मीरा मित्र, पृ. 153–54
41. इर्विन, भाग 1, पृ. 68
42. वीर विनोद, पृ. 775–78
43. इर्विन, पृ. 70; इर्विन ने सेनानायक का नाम सावलदास लिखा है। सांवलदास बदनोर का ठाकुर था। उसके पुत्र जसवन्तसिंह ने सेनानायक का कार्य किया था और उसकी रणक्षेत्र मे मृत्यु हुई थी;
ओझा, भाग 2, पृ. 606
44. अजीतोदय (सर्ग 17, श्लोक 45) व अन्य राजस्थानी स्रोतों मे मुगल सूबेदार सुजातखां का परास्त होना तथा पेशकश देने का उल्लेख हुआ है। इसके विपरीत खाफीखा ने (पृ. 650) राजपूतों का परास्त होना लिखा है और अजमेर के सूबेदार का नाम सैयद हुसैन खां लिखा है। यह ठीक नही है। सतीशचन्द्र ने भी राजपूतों का पराजित होना लिखा है (पृ. 35) फारसी

ग्रन्थों में पक्षपातपूर्ण तथ्य दिये हैं। राजस्थानी स्रोत इस सम्बन्ध में एकमत हैं; अतः इस मत को स्वीकार करना ही समीचीन होगा;
मीरा मित्र, पृ. 156

45. सतीशचन्द्र, पृ. 49;
मीरा मित्र, पृ. 156

46. मीरा मित्र, पृ. 158–60

47. अजीतोदय, सर्ग 19, श्लोक 1–7;
ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 548

48. अजीतोदय, सर्ग 19, श्लोक 9–13;
सतीशचन्द्र ने अपनी पुस्तक 'उत्तर मुगलकालीन भारत का इतिहास' में अस्सी हजार रुपये देना लिखा है;
मीरा मित्र, पृ. 161–62

49. जयसिंह छत्रसाल, 16 अक्टूबर, 1708 (ड्राफ्ट खरीतां जयपुर आर्काइव्ज उद्धृत) वी. एस. भटनागर कृत सवाई जयसिंह, पाद टिप्पणी 3

50 भटनागर, पृ. 46;
मीरा मित्र, पृ. 163

51. भटनागर पृ. 46–47;
मीरा मित्र, पृ. 164–65

52. जयपुर अखबारात, बहादुरशाह, वर्ष 4, 96;
भटनागर, पृ. 47–49;
मीरा, पृ. 165–66

53. इर्विन, पृ. 71–72

54. मीरा मित्र, पृ. 167–171

55. रघुवीरसिंह, पूर्व आधुनिक राजस्थान, पृ. 148–149

56. सतीशचन्द्र, पृ. 51

57. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य: मीरा मित्र, पृ. 172–175; भटनागर, पृ. 54–57

58. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य: इर्विन पृ. 158–85;
एस. आर. शर्मा कृत भारत में मुगल साम्राज्य, पृ. 648–51

59. भटनागर, पृ. 58–61; फर्रुखसियर की प्रगति आगरा की तरफ हो रही थी। उस समय बादशाह जहांदारशाह ने जयसिंह को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया और उसे 7–7 हजार की मनसब दी गई। अजीतसिंह को गुजरात की सूबेदारी देकर उसे 9–9 हजार की मनसब प्रदान की गई। उनके पुत्रों को भी मनसबों से विभूषित किया गया। अजीतसिंह को जयसिंह

से ऊंची मनसब सम्भवतः उनमें फूट डालने के उद्देश्य से ही दी गई थी।
मीरा मित्र, पृ. 177–179

60. एस. ग्रार. शर्मा, पृ. 652–670; सतीशचन्द्र, पृ. 81–134

61. वीर विनोद, पृ. 935;
ग्रोझा, भाग 2, पृ. 614; महाराणा ग्रमरसिंह द्वितीय के मरणोपरान्त उसका पुत्र संग्रामसिंह मेवाड़ की गद्दी पर बैठा (26 ग्रप्रेल, 1711 ई.)। उसके काल में पुर, मांडल ग्रादि परगनो के प्रश्न को लेकर युद्ध हुग्रा जिसमें मुगल सेनानायक रणबाजखां मारा गया था।

62. सतीशचन्द्र, पृ. 92

63. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 303

64. ग्रजीतोदय, सर्ग 20, श्लोक 36–39;
रेऊ, पृ. 304-05

65. ग्रजीतोदय, सर्ग 20, श्लोक 24–29; राजरूपक पृ. 456–58;
इर्विन ने ग्रपनी पुस्तक 'द लेटर मुगल्स' पृ. 285 पर मोहकमसिंह के स्थान पर मुकुन्द ग्रथवा मुल्कान नाम लिखा है, यह ठीक नहीं है।

66. रेऊ, पृ. 306; मीरा मित्र, पृ. 182–84
ग्रजीतसिंह पर फर्रूखसियर ने क्यों ग्राक्रमण किया इसके कई कारण दिये जा सकते हैं। फारसी ग्रन्थ जैसे इबरतनामा, मीरात-उल-वारिदात, तारीख-ए-हिन्द, तारीख-ए-मुजफ्फरी ग्रादि में बताया गया है कि ग्रजीतसिंह ने ग्रपने राज्य में गौ-वध, ग्रजान व नमाज बन्द करवा दिया था, मस्जिदो को तोड़ा था ग्रौर मुसलमानों के प्रति ग्रत्याचार किये थे। शाही क्षेत्र में वह लूट-खसोट भी कर रहा था। ग्रजीतसिंह की इन मुग़ल-विरोधी गतिविधियो से नाराज होकर फर्रूखसियर ने मारवाड़ में सैनिक ग्रभियान किया था। इर्विन महोदय भी इसी मत के हैं। परन्तु मत मत तर्कसंगत नहीं है क्योंकि ग्रजीतसिंह की उक्त गतिविधियां तो ग्रौरंगजेब की मृत्यु के तुरन्त बाद की हैं। 1709 ई. के बाद इस प्रकार का कार्य ग्रजीतसिंह ने किया हो, इसका प्रमाण स्थानीय स्रोतों में कही नही मिलता।
खाफीखां ने लिखा है कि ग्रजीतसिंह ने फर्रूखसियर के बादशाह बनने पर बधाई-पत्र व भेंट ग्रादि नहीं भेजे थे, इसलिए बादशाह ग्रप्रसन्न था। समकालीन ग्रखबारात में स्पष्ट तौर पर लिखा मिलता है कि महाराजा ने भेंट व बधाई भेजी थी। बादशाह के नाराज होने के कुछ ग्रन्य कारण रहे होंगे। जब ग्रजीतसिंह ने थट्टा जाने के लिए ग्रसहमति प्रकट कर दी ग्रौर परोक्ष रूप से शाही ग्रादेशों का पालन नहीं किया तो उसके विरुद्ध कार्यवाही करना ग्रावश्यक हो गया था। वस्तुतः इसके पीछे राजनैतिक कारण रहे होंगे।
द्रष्टव्यः मीरा मित्र, पृ. 183; पाद टिप्पणी 24

67. इर्विन, पृ. 286;
सतीशचन्द्र, पृ. 93
68. बी. एस. भार्गव ने इसी मत का प्रतिपादन किया है।
द्रष्टव्य: मारवाड़ एण्ड द मुग़ल एम्परर्स, पृ. 156–57
69. इर्विन, पृ. 287–288;
सतीशचन्द्र, पृ. 93;
मीरा मित्र, पृ. 183-186
70. सतीशचन्द्र, पृ. 93
बी. एस. भार्गव, पृ. 155–56
71. वही।

अध्याय 3

मुगलों के पराभव-काल में राजस्थान

(क) अजीतसिंह (1707–1724 ई.)

औरंगजेब की मृत्यु के साथ ही मुगलों का गौरवमय इतिहास धूमिल होने लगा था। उसका उत्तराधिकारी बहादुरशाह अपने पूर्वजो से मिलता-जुलता था। उसने अपने पिता की नीति का ही अनुसरण किया था। उसने अपने शासनकाल में तथाकथित विद्रोही तत्त्वों को कुचलने में कुछ अंशों तक सफलता भी प्राप्त की थी, परन्तु उसके शासनकाल की अवधि स्वल्प रही जिससे वह साम्राज्य मे फैली उच्छृंखलता को स्थायी रूप से समाप्त करने मे असमर्थ रहा। उसकी मृत्यु के पश्चात् मुगल-पराभव का शंखनाद ध्वनित होने लगा। मुगल-साम्राज्य के वैभव, शौर्य और समृद्धि मे कमी आने लगी तथा उसकी नींव हिलने लगी। कालान्तर में रात्रि के बढते हुए अन्धकार में निर्बल मुगल बादशाह जुगनू की भाँति भारत के क्षितिज पर यद्यपि टिमटिमाते रहे तथापि उनकी न्याय और औचित्य के प्रति उपेक्षा तथा उमरावो की पारस्परिक फूट, प्रतिस्पर्द्धा और महत्त्वाकांक्षा के फलस्वरूप साम्राज्य के कर्मचारी उनके प्रति आज्ञापालन और स्वामिभक्ति के पथ से विचलित होने लगे थे। इस तरह साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया आरम्भ हो गई और देश मे सर्वत्र अराजकता का वातावरण दृष्टिगत होने लगा।[1] राजस्थान के राजा भी सामान्यतः मुगल सम्राटो के साथ असहयोग की नीति का अनुसरण करते हुए यदा-कदा विघटनकारी तत्त्वों का समर्थन कर या पृथक् रूप से मुगल साम्राज्य के क्रमिक विनाश में भागीदार बने।

मुगलकालीन 30 वर्षीय पराभव के इतिहास मे राजस्थान के दो प्रमुख शासक अजीतसिंह और सवाई राजा जयसिंह का विशिष्ट स्थान रहा है। इन दोनो राजाओं ने न केवल राजस्थान की राजनीति को ही प्रभावित किया बल्कि उन्होंने अपने वर्चस्व व व्यक्तित्व की छाप मुगल-दरबार मे भी अंकित की थी। आगे के पृष्ठो पर हम इन दोनों शासकों के सन्दर्भ मे राजस्थान के इतिहास का निरूपण करेंगे।

पिछले अध्याय में यह उल्लेख किया जा चुका है कि मुगलों के साथ सन्धि किये जाने के पश्चात् बादशाह का सम्बन्धी हो जाने से अजीतसिंह का मुगल-दरबार में महत्त्व बढ़ने लगा था। इस सन्धि के कुछ समय बाद अजीतसिंह को गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया गया तथा 5000 सवार की मनसब प्रदान की गई।[2] अजीतसिंह ने तुरन्त अपने नायब भंडारी विजयराज को गुजरात सूबे का शासन-भार संभालने के लिए भेज दिया। 20 जुलाई सन् 1715 ई. को अहमदाबाद पहुंच कर उसने सूबे का प्रबन्ध करना शुरू किया।[3] तत्पश्चात् अजीतसिंह स्वयं जालोर, भीनमाल, बड़गांव होता हुआ आबू के निकट पहुंच बागी देवड़ा शक्तिसिंह को दण्डित कर पालनपुर की ओर अग्रसर हुआ। पालनपुर के मुस्लिम शासक फिरोजखां ने महाराजा अजीतसिंह की अधीनता स्वीकार कर ली। मार्ग में विद्रोही तत्त्वों को कुचलता हुआ 22 फरवरी, 1716 ई. को वह अहमदाबाद के निकट शाही बाग में पहुंच गया।[4] उसने सूबे का शासन अपने हाथ में ले वहां शान्ति व व्यवस्था स्थापित करने के लिए प्रयास किये।

अजीतसिंह ने मेड़ता के हाकिम भण्डारी पोमसी और जोधपुर के हाकिम भंडारी अनूपसिंह को नागौर हस्तगत करने के आदेश भेजे। उन्होंने आदेशानुसार नागौर पर चढ़ाई कर वहां घेरा डाल दिया। नागौर का शासक इन्द्रसिंह गढ़ छोड़ कर भाग गया जिससे 30 जून, 1716 ई. को अजीतसिंह का नागौर पर अधिकार हो गया।[5] फरवरी 1717 ई. में अजीतसिंह के नाम नागौर की जमींदारी का फरमान भी बादशाह की तरफ से प्रसारित कर दिया गया।[6] इसके पहले अजीतसिंह की मनसब 7000 सवार और 7000 जात कर दी गई थी।

सोरठ क्षेत्र की तरफ के राजाओं व जमींदारों में शाही कर की बहुत बड़ी राशि बकाया थी। इस रकम की वसूली के उद्देश्य से अजीतसिंह अहमदाबाद से रवाना हुआ। नवानगर (जामनगर) के स्वामी ने कुछ समय तक महाराजा का विरोध किया, परन्तु बाद में उसे चढ़ी हुई रकम का भुगतान करने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस प्रकार मार्ग में अन्य जमींदारों से चढ़ी रकम वसूल करता हुआ अजीतसिंह द्वारका जा पहुंचा और वहां जगतशिरोमणि के उसने दर्शन किये।[7]

महाराजा अजीतसिंह के नायब विजयराज भंडारी और उसके सहयोगियों ने गुजरात सूबे पर कठोरता से शासन शुरू किया। इसकी शिकायत बादशाह के पास पहुंची। इससे बादशाह ने गुजरात की सूबेदारी अजीतसिंह से छीन कर शम्सामुद्दौला खान-ए-दौरान् (नसरतजंग बहादुर) के नाम कर दी। इससे अजीतसिंह खिन्न होकर जोधपुर लौट आया।[8]

यहां मुगल-दरबार की राजनीति पर संक्षेप में चर्चा कर लेना समीचीन ही होगा। सैयद बन्धुओं (अब्दुल्लाखां और हुसैनअलीखां) के सहयोग से फर्रुखसियर 1713 ई. में बादशाह बना था। परन्तु सिंहासनारूढ़ होने के तुरन्त बाद बादशाह फर्रुखसियर और सैयदों के बीच मनमुटाव आरम्भ हो गया। अब्दुल्लाखां वजीर

ग्रोर हुसैनग्रलीखां मीर वख्शी के पदों पर कार्यरत थे। उन दोनों को 7000–7000 की मनसब प्रदान की गई थी और उन्हें क्रमशः मुल्तान ग्रौर बिहार की सूबेदारी देकर यह ग्रनुमति दी गई थी कि वे दिल्ली में रहते हुए ग्रपने नायबों के माध्यम से सूबों का प्रबन्ध कर सकें। सैयदों के सम्बन्धियों को भी ऊंची-ऊंची मनसबें व जागीरें दी गई थीं।[9] इस प्रकार दिल्ली की राजनीति में सैयदों का गुट बहुत प्रबल हो गया था। बादशाह फर्रूखसियर इस गुट की शक्ति से शकित था। दिल्ली में सैयदों के प्रभाव को कम करने के उद्देश्य से उसने हुसैनग्रली को ग्रजीतसिंह के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने के ग्रादेश दिये थे। जब हुसैनग्रली दिल्ली से दूर मारवाड़ में ग्रजीतसिंह के विरुद्ध सैनिक ग्रभियान में व्यस्त था, बादशाह फर्रूखसियर सैयदो के विरुद्ध मीरजुमला के नेतृत्व मे एक शक्तिशाली गुट तैयार करने में प्रयत्नशील था। मीर जुमला को 7000–7000 की मनसब प्रदान की गई ग्रौर उसे 5000 सवार रखने की ग्रनुमति दी गई। इन सवारों को वेतन राज्यकोप से देने की व्यवस्था की गई। मीर जुमला को बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया गया ग्रौर उसे यह ग्रधिकार दिया गया कि वह सूबे का प्रवन्ध ग्रपने नायब के माध्यम से कर सके। यहां तक कि बादशाह ने उसे ग्रपनी ग्रोर से ग्राज्ञापत्रों पर शाही मुहर लगाने का ग्रधिकार भी दे दिया था। वजीर ग्रब्दुल्ला की स्थिति कमजोर हो गई थी। ऐसी परिस्थिति में उसने ग्रपने भाई हुसैनग्रली को ग्रजीतसिंह से समझौता कर मारवाड़ से शीघ्र दिल्ली लौटने का ग्राग्रह किया था।[10]

हुसैनग्रली के दिल्ली लौटने पर सैयदों के गुट को पुनः बल मिला। ग्रब तत्कालीन परिस्थितियो के ग्रनुकूल ग्रपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए सैयदों ने ग्रनुभव किया कि उनके पास कोई एक समृद्ध सूबा रहना ग्रावश्यक है ताकि समयानुकूल उसके साधनों का उपयोग किया जा सके। मीरजुमला के गुट के साथ शक्ति-संतुलन बनाये रखने के उद्देश्य से हुसैनग्रली ने दक्षिण की सूबेदारी ग्रपने नाम पर प्राप्त कर ली। बादशाह फर्रूखसियर चाहता था कि हुसैनग्रली दक्षिण की ग्रोर प्रस्थान करे, परन्तु हुसैनग्रली ने वहां जाना स्वीकार नही किया। उसकी मांग थी कि दक्षिण के सूबे का प्रबन्ध उसे दिल्ली में रहते हुए ग्रपने नायब के माध्यम से करने की स्वीकृति प्रदान की जाय। इस प्रकार का ग्रधिकार पहले मीर जुमला को बगाल सूबे का प्रबन्ध करने के सम्बन्ध मे दिया जा चुका था। हुसैनग्रली के इस ग्रवज्ञापूर्ण व्यवहार से बादशाह क्षुब्ध था। दिल्ली में तनावपूर्ण वातावरण बन गया था। ग्रन्ततोगत्वा फर्रूखसियर ग्रौर सैयद बन्धुग्रों के बीच एक समझौता हुग्रा जिसके ग्रनुसार यह निर्णय लिया गया कि मीर जुमला बगाल जाये ग्रौर हुसैनग्रली भी दक्षिण की ग्रोर प्रस्थान करे तथा वे स्वयं वहां रह कर ग्रपने सूबों का प्रबन्ध करें। इस समझौते के फलस्वरूप दिल्ली-दरबार का संकट कुछ समय के लिए टल गया।[11]

फर्रूखसियर और सैयद-बन्धुओं के हृदय एक दूसरे के प्रति अभी भी साफ नहीं थे। वे दोनों अपने-अपने समर्थकों की संख्या-वृद्धि करने में लगे हुए थे। फर्रूखसियर पुराने ईरानी व तुरानी व अमीरों तथा जयसिंह और अजीतसिंह जैसे शक्तिशाली राजपूतों को अपने पक्ष में करने के लिए साधन जुटा रहा था, तो दूसरी तरफ सैयद बन्धु भी पुराने अमीरों, राजपूत राजाओं, मराठों और जाटों से सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थे। सैयदो और बादशाह फर्रूखसियर के मध्य राज-सत्ता हस्तगत करने हेतु इस संघर्ष के फलस्वरूप साम्राज्य के प्रशासन में सर्वत्र शिथिलता आने लगी थी। गुटबन्दी के कारण दिल्ली-दरबार में भ्रष्टाचार का बोलबाला था। लोगों में सामान्यतः यह धारणा बनने लगी थी कि दिल्ली में प्रत्येक वस्तु बिकाऊ है।[12]

मीर जुमला बंगाल के सूबेदार के पद के लिए अयोग्य सिद्ध हुआ। वह बिहार के बागी जमींदारों पर नियन्त्रण रखने में असफल रहा। निराश होकर वह दिल्ली लौट आया। उसके दिल्ली आने से वजीर अब्दुल्ला चिन्तित हुआ।[13] मीर जुमला की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। बादशाह फर्रूखसियर भी उससे अप्रसन्न था। अन्त में उसे लाहौर में काजी के पद पर नियुक्त कर दिल्ली से बाहर जाने के आदेश दे दिये गये।[14]

मीर जुमला की तरफ से निराश होकर फर्रूखसियर अब सैयदों के विरुद्ध एक अन्य गुट संगठित करने के प्रयत्न करने लगा। सर्वप्रथम उसने आमेर के शासक जयसिंह को अपने पक्ष मे करने का प्रयास किया। सवाई राजा जयसिंह मालवा का सूबेदार था। उसने 1715 ई. में मराठों को पराजित कर उन्हे नर्मदा के उस पार दक्षिण में खदेड़ दिया था।[14(अ)] इस कारण से जयसिंह की ख्याति बहुत बढ़ गई थी। जयसिंह सैयद बन्धुओं से नाराज भी था, क्योंकि उनके प्रभाव के कारण उसके बहनोई बुधसिंह को अपने पैतृक बून्दी राज्य से वंचित होना पड़ा था।[15] जयसिंह का सैयदों से नाराज होने का दूसरा कारण यह था कि वे जाट नेता चूड़ामन के प्रति सहानुभूति रखते थे। मथुरा से आमेर राज्य की सीमा तक जाटों का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा था। वे थून (वर्तमान भरतपुर) के आस-पास के क्षेत्र पर अपना अधिकार स्थापित कर राहदारी आदि करों की वसूली करने लगे थे। आमेर की सीमा पर जाटों का शक्तिशाली बनना जयसिंह के लिए चिन्ता का विषय था। बादशाह फर्रूखसियर ने जयसिंह को ससैन्य दिल्ली आने के लिए आग्रह किया। तत्पश्चात् उसे जाटों के विरुद्ध सैनिक अभियान करने के लिए आदेश दिया। जयसिंह के साथ हाड़ा बुद्धसिंह भी था। उन्होंने नवम्बर 1716 ई. को जाटों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ा। डेढ़ वर्ष के निरन्तर युद्ध के पश्चात् जब जयसिंह सफलता प्राप्त करने की स्थिति में था, उस समय वजीर अब्दुल्ला ने बादशाह पर दबाव डाल कर जाटों से समझौता कर लिया। यह समझौता जयसिंह के लिए व्यक्तिगत रूप से अपमानजनक था और

सैयदो की कूटनीतिक सफलता का द्योतक बना।[16] जयसिंह ससैन्य दिल्ली में उपस्थित हो गया।

फर्रूखसियर ने एक नये व्यक्ति मुहम्मद मुराद को, जो काश्मीर का निवासी था, अपना कृपापात्र बनाया। उसने सैयद बन्धुओं का अन्त करने का आश्वासन दिया था। बादशाह प्रसन्न हो गया और उसने उसे 7000–7000 की मनसब प्रदान कर जम्मू के फौजदार के पद पर नियुक्त किया तथा उसे मूल्यवान वस्तुएं उपहार मे दी। उसकी सलाह से बादशाह ने पुराने प्रभावशाली अमीर निजामुलमुल्क को मुरादाबाद से, सरबुलन्दखां को बिहार से तथा मारवाड़ के शासक अजीतसिंह को अपनी फौजों के साथ दिल्ली मे उपस्थित होने के लिए आदेश दिये थे।[17] मुहम्मद अमीनखां को मालवा में सूबेदार नियुक्त किया। इस नियुक्ति के पीछे मूल उद्देश्य यह था कि वह हुसैनअली खां को दक्षिण से उत्तर की तरफ आने मे रुकावट उत्पन्न कर सके।[18] इन सब कार्यवाहियो से शंकित होकर वजीर अब्दुल्ला ने अपने भाई हुसैनअलीखा को दक्षिण से पुनः दिल्ली आने का आग्रह किया।[19] मराठों से सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से फरवरी 1718 ई. मे हुसैनअलीखां ने उनसे सन्धि कर ली जिसके अनुसार शाह को मराठा स्वराज्य का शासक स्वीकार कर लिया गया तथा दक्षिण के छः सूबो से चौथ और सरदेशमुखी संग्रह करने की मराठों को अनुमति दे दी गई। इसके बदले मे 15 हजार मराठा सैनिको के मुगल साम्राज्य की रक्षा हेतु सेवा मे उपस्थित रहने की शर्त थी। उक्त सूबो मे डाकुओं और विद्रोहियो का दमन करने तथा वहां शान्ति-व्यवस्था बनाये रखने का दायित्व मराठो ने अपने ऊपर लिया। उन्होने कर के रूप मे 10 लाख रुपये प्रति वर्ष मुगल सम्राट् को देना स्वीकार किया।[20] इस सन्धि की पुष्टि मुग़ल बादशाह द्वारा की जानी थी। परन्तु फर्रूखसियर ने, जो सैयदो से नाराज था, इस सन्धि को अस्वीकार कर दिया। हुसैनअलीखा ने मराठो को अपने साथ दिल्ली चलने की सलाह दी। वहां सन्धि की शर्तों की पुष्टि के लिए सम्राट् को विवश करने की योजना थी। मराठे दिल्ली चलने के लिए राजी हो गये। अतः हुसैनअलीखां ने बालाजी विश्वनाथ के नेतृत्व में 15 हजार मराठा सैनिकों के साथ दिल्ली की ओर प्रस्थान किया।[21] हुसैनअलीखां और मराठा सैनिकों के दिल्ली-कूच से बादशाह फर्रूखसियर चिन्तित व भयभीत था। वह संकट ग्रस्त परिस्थितियों से मुक्ति प्राप्त करने तथा सैयदों की शक्ति को कुचलने के लिए प्रयत्नशील था। उसे आशा थी कि महाराजा अजीतसिंह, जो उसका श्वसुर भी था, सैयदों के विरुद्ध उसकी सहायता करेगा।

यह ऊपर लिखा जा चुका है कि फर्रूखसियर ने अजीतसिंह को ससैन्य दिल्ली आने का आग्रह किया था। महाराजा अजीतसिंह गुजरात की सूबेदारी छिन जाने से खिन्न था। वह दिल्ली जाने के लिए उत्सुक नहीं था। वह कुछ समय तक नम्रतापूर्वक बादशाह के आग्रह को टालता रहा।[22] अन्त मे बादशाह ने नाहरखा को अजीतसिंह को दिल्ली लाने के लिए जोधपुर भेजा। नाहरखां अजीतसिंह के साथ गुज-

रात में कार्य कर चुका था। वह महाराजा का विश्वसनीय मित्र था। नाहरखां से बातचीत होने के बाद अजीतसिंह ने अपनी सेना के साथ दिल्ली की ओर प्रस्थान किया।[24] उसने महाराजा अजीतसिंह को दिल्ली की विपाक्त राजनीति की जानकारी दी और साथ में फर्रुखसियर के चंचल स्वभाव, असंतुलित मस्तिष्क तथा अव्यवस्थित चित्त जैसी मानसिक प्रवृत्तियां तथा उसकी चारित्रिक दुर्बलताओं से भी महाराजा को अवगत कराया।[25] इस प्रकार फर्रुखसियर के विरुद्ध अजीतसिंह का मानस तैयार कर दिया गया था। इसके अतिरिक्त, अजीतसिंह के सैयदों के साथ पहले से ही सम्बन्ध अच्छे थे। इन्हीं की मदद से वह प्रथम बार गुजरात का सूबेदार बन सका था। 20 अगस्त 1718 ई. को अजीतसिंह दिल्ली के निकट पहुंच गया। बादशाह फर्रुखसियर ने उसकी अगवानी के लिए शम्सामुद्दौला को नियुक्त किया और उसे आदेश दिया कि वह महाराजा को जहां तक हो सके खुशामद, प्रलोभन आदि से अपनी ओर करने का प्रयत्न करे। इतकादखां के साथ बादशाह ने अजीतसिंह के लिए जड़ाऊ कटार व अन्य उपहार भेजे। उसने महाराजा को बिना किसी मन्त्री के साथ बादशाह से भेंट करने को कहा। बादशाह की अस्थिरता और शाही दरबार की परिस्थितियों से महाराजा पूर्णतया अवगत था। अतः उसने वजीर अब्दुल्ला कुतुबुलमुल्क के साथ ही बादशाह से भेंट करने का निर्णय लिया।[26] दूसरे दिन अजीतसिंह ने वजीर के साथ बादशाह फर्रुखसियर से भेंट की। महाराजा ने एक हजार एक सौ मुहरें उसे भेंट के रूप में प्रस्तुत कीं। बादशाह यद्यपि अजीतसिंह के व्यवहार से असन्तुष्ट था तथापि उसने महाराजा के प्रति सहानुभूति व उदारता का परिचय दिया तथा उसे खिलअत-उपहार आदि प्रदान कर उसका स्वागत किया।[27] उसे अपने पक्ष में करने के उद्देश्य से बादशाह ने महाराजा को सात हजार जात, सात हजार सवार, एक हजार दो अस्पा का मनसब और राजराजेश्वर की उपाधि से विभूषित किया। एक करोड़ 'दाम' ईनाम के तौर पर दिये गये। इनके अतिरिक्त, जड़ाऊ सिरपेच, जड़ाऊ खंजर, दो घोड़े, एक हाथी, माहीमरातिब तथा छः थान पुरस्कार में दिये। अजीतसिंह के साथियों व उसके सामन्तों को भी खिलअत आदि देकर प्रसन्न करने का प्रयास किया गया।[28] बादशाह की इस अनुपम उदारता का महाराजा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। महाराजा और वजीर के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया। वस्तुतः उनके सम्बन्धों में घनिष्ठता का संचार हुआ। बादशाह के सम्मुख उपस्थित होने के बाद अगले 20 दिनों तक महाराजा और वजीर दोनों ही बादशाह के पास नहीं गये। वे एक दूसरे से मिलते-जुलते और मन्त्रणा करते रहते थे। अजीतसिंह की वजीर के साथ बढ़ती हुई मित्रता को देखकर बादशाह चिन्तित था। फर्रुखसियर ने इन दोनों को खुश करने के लिए अपने उच्च अधिकारियों को उनके पास बातचीत करने को भेजा और दोनों को दरबार में उपस्थित होने के लिए आग्रह किया। दोनों ने विचार-विमर्श किया और

फिर वे 11 सितम्बर, 1718 ई. को एक ही हाथी पर सवार होकर दरबार में पहुंचे ।[29] फर्रूखसियर ने इस बार भी महाराजा का बड़ा सत्कार किया तथा उसके प्रति उदारता का व्यवहार प्रदर्शित किया। ईनाम-इकरार देकर महाराजा को खुश रखने का प्रयास किया गया। वजीर की सलाह से बादशाह ने बीकानेर की फौजदारी भी अजीतसिंह के नाम कर दी।[30] महाराजा को उक्त सभी रियायतें व पुरस्कार प्रदान करके भी बादशाह उसे वजीर अब्दुल्ला से पृथक् नहीं कर सका। उनकी मित्रता दिन-प्रति-दिन गाढ़ी होती जा रही थी। अजीतसिंह के व्यवहार से बादशाह खिन्न था। उसने अब अपने विश्वासपात्र मीरजुमला, इतकादखां व अन्य अमीरों के सहयोग से षड्यन्त्र द्वारा अजीतसिंह को मारने व कैद करने का निश्चय किया। इन षड्यन्त्रों का उल्लेख महाराजा अजीतसिंह ने स्वयं सिकदार दयालदास को लिखे एक पत्र में किया है। इस पत्र से यह भी स्पष्ट होता है कि आमेर नरेश जयसिंह भी इन षड्यन्त्रों मे साझीदार था।[31] इन षड्यन्त्रों के परिणामस्वरूप अजीतसिंह के मन में बादशाह के प्रति अविश्वास और घृणा की भावना प्रबल हो गई। वह अब्दुल्लाखां का अभिन्न मित्र बन गया। अगले वर्षों में दिल्ली की राजनीति में जो भी परिवर्तन हुए उनमे अजीतसिंह की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही।

अजीतसिंह को मारने व कैद करने के फर्रूखसियर के सभी प्रयत्न असफल रहे। अजीतसिंह और अब्दुल्ला के पारस्परिक सहयोग और मेल-मिलाप से उनकी शक्ति में आशातीत वृद्धि हुई। उन्होने बादशाह से शंकित होकर नये सैनिकों की भर्ती भी की। उनकी शक्ति से प्रभावित होकर अमीर लोग, जो फर्रूखसियर से असन्तुष्ट थे, सैयदों के पक्ष में आने लगे। फर्रूखसियर को इस बात की सूचना भी मिल चुकी थी कि सैयद हुसैनअली मराठा सैनिकों के साथ दिल्ली पहुंच रहा है। ऐसी परिस्थितियों में बादशाह फर्रूखसियर अजीतसिंह और अब्दुल्ला के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अधीर हो उठा। उनसे समझौता करने के उद्देश्य में 13 नवम्बर, 1718 ई. को वह अब्दुल्ला के घर मिलने गया। वहां मेल-मिलाप के लिए विचार-विमर्श हुआ तथा आपसी मतभेद व वैमनस्य को समाप्त करने के प्रयास किए गए। परिणामस्वरूप अब्दुल्ला और अजीतसिंह बादशाह के दरबार में पहुचे (18 नवम्बर) और एक दूसरे के बीच मेल-मिलाप के वायदे किये गये।[32] इसके कुछ दिनों बाद (9 दिसम्बर) दिल्ली में एक अप्रिय घटना हुई। महाराजा अजीतसिंह और शाही तोपखाना के नायक (बीका हजारी) के सैनिकों के बीच लड़ाई छिड़ गई जिसमे दोनों ओर के कुछ जवान मारे गये। जैसे ही बादशाह को इसकी सूचना मिली, उसने तुरन्त अपने विश्वासी पदाधिकारियों को भेज कर इस झगड़े को शान्त करवाया और जफरखां को अजीतसिंह के पास भेजकर इस घटना के लिए क्षमा चाही।[33] इसके बाद 13 दिसम्बर को बादशाह स्वयं अब्दुल्ला के साथ अजीतसिंह के डेरे पर आया और वहां एक घण्टे से भी अधिक समय तक

ठहरा। महाराजा से मेल-मिलाप की चर्चा हुई। इसके तुरन्त बाद बादशाह ने अजीतसिंह के नाम एक फरमान प्रसारित किया जिसमें महाराजा को दूसरी बार गुजरात की सूबेदारी प्रदान की गई थी। इसके साथ-साथ जड़ाऊ सिरपेच, घोड़े, हाथी आदि ईनाम में देकर उसे सम्मानित किया।[34]

इस प्रकार बादशाह के सद्प्रयत्नों से अजीतसिंह व अब्दुल्लाखां के साथ उसके सम्बन्धों में सुधार हुआ। वे दरबार में आने-जाने लगे। बादशाह के अजीतसिंह के साथ सम्बन्ध भी सौहार्दपूर्ण होने लगे थे। सम्भवतः उनके सम्बन्धों में और भी सुधार होता, परन्तु इस बीच हुसैनअलीखां दक्षिण से दिल्ली के निकट आ पहुंचा। हुसैनअली ने पहले से ही फर्रूखसियर को दिल्ली के तख्त से हटाने का मानस बना लिया था। उसने एक स्वतन्त्र शासक की भांति नक्कारा बजाते हुए दिल्ली में प्रवेश किया। उसका यह व्यवहार शाही प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं था।[35] महाराजा अजीतसिंह, कोटा के महाराव भीमसिंह, अब्दुल्ला और हुसैनअली के मध्य एक संयुक्त बैठक हुई। विचार-विमर्श के बाद उन्होने बादशाह के सम्मुख अपनी मांगें प्रस्तुत की। प्रथम तो उन्होंने बादशाह से मांग की कि आमेर-नरेश जयसिंह दिल्ली छोड़कर अपने देश आमेर को लौट जाय। अजीतसिंह और अब्दुल्ला को यह विश्वास था कि जयसिंह उनके विरुद्ध बादशाह को भड़काता है। उसके पास 20 हजार सैनिक थे और वह एकमात्र शक्तिशाली अमीर था जो बादशाह के पक्ष मे था। द्वितीय मांग यह थी कि जब हुसैनअली बादशाह से मिले, उस समय किले पर अजीतसिंह और सैयदों के सैनिकों का पहरा रहे। तीसरी मांग यह थी कि गढ़ के सभी महत्वपूर्ण पदो पर उनके द्वारा नियोजित व्यक्तियों की नियुक्ति की जाय। बादशाह कमजोर दिल का व्यक्ति था। उसने अपने को निसहाय स्थिति में देखकर सैयदों की सभी मांगों को कुछ शर्तों के साथ स्वीकार कर लिया। जयसिंह के दिल्ली से प्रस्थान कर लेने पर सैनिक दृष्टि से बादशाह की स्थिति कमजोर हो गई थी।[36]

सुनियोजित तरह से जब गढ़ पर अजीतसिंह और सैयदों के सैनिक तैनात कर दिये गये तब हुसैनअलीखां ने बादशाह से भेंट की। भेंट के समय केवल दोनो सैयद भाई और अजीतसिंह ही उपस्थित थे। बातचीत देर तक चलती रही, परन्तु मतभेद इतने गहरे थे कि कोई निर्णय नही हो सका। तीन दिनों के बाद फिर वार्ता हुई।[37] इस बीच में सैयद बन्धु, अजीतसिंह, भीमसिंह तथा किशनगढ़ के राजा राजसिंह की सम्मिलित सेना ने बादशाह के पक्षपाती बून्दी के शासक बुधसिंह के डेरे पर आक्रमण कर दिया। बुधसिंह स्वय तो बच कर निकल भागा, परन्तु उसके बहुत से सैनिक मारे गये।[38] दिल्ली का वातावरण तनावपूर्ण था। ऐसी स्थिति में जब मंगलवार 17 फरवरी (8 रबीउस्सानी) 1719 ई. को अब्दुल्ला बादशाह से मिला, तब एक दूसरे पर दोषारोपण किया गया। बादशाह ने अब्दुल्ला को गालियां

दीं और वह अपने हरम में चला गया। अजीतसिंह और सैयदों के सैनिकों ने गढ़ पर अधिकार कर लिया और किले के दरवाजे बन्द कर दिये। फिर अजीतसिंह और सैयद भाइयों ने मिलकर यह निर्णय लिया कि फर्रूखसियर को सिंहासनच्युत करें। जब बादशाह बुलाने पर हरम से बाहर नहीं आया तो सैनिक भेजे गये। वे फर्रूखसियर को जबरन घसीटकर हरम से बाहर ले आये और उसे कैद कर लिया। इस प्रकार फर्रूखसियर को सिंहासनच्युत करने में अजीतसिंह ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इसके बाद रफीउद्दरजात को जिसकी आयु बीस वर्ष की थी, एक ओर से अब्दुल्लाखाँ ने और दूसरी ओर से महाराजा अजीतसिंह ने पकड़ कर मुगल सिंहासन पर बैठाकर उसे बादशाह घोषित कर दिया।[39] (18 फरवरी 1719)।

रफीउद्दरजात के प्रथम दरबार में अजीतसिंह ने एक हजार मुहरें नजर की और बादशाह ने उसे खिलअत दी। इसके बाद महाराजा के आग्रह करने पर रफीउद्दरजात ने जजिया कर हटाने की घोषणा की और तीर्थों पर लगने वाला कर भी हटा देने के आदेश प्रसारित किये गये।[40] अजीतसिंह के नाम गुजरात का सूबा पूर्ववत् रखा गया और नाहरखां को अहमदाबाद का नायब नियुक्त किया गया।[41]

महाराजा अजीतसिंह अब अपने देश मारवाड़ व गुजरात सूबे का प्रबन्ध देखने हेतु वहां जाने के लिए उत्सुक था। वह जोधपुर प्रस्थान करने की तैयारी कर रहा था। इसी बीच आगरा में मुहम्मद अकबर के पुत्र निकोसियर के नेतृत्व में विद्रोह होने के समाचार मिले। निकोसियर आगरा किले में कैद था। वहां के किलेदार व एक अन्य पदाधिकारी मित्रसेन नाम के व्यक्ति ने उसे कैद से मुक्त कर तिमूर सानी के नाम से बादशाह घोषित कर दिया। इस विद्रोह में जयसिंह, छबीलाराम नागर तथा निजामुलमुल्क जैसे शक्तिशाली व्यक्तियों का सहयोग मिलने की सम्भावना थी।[42] अजीतसिंह को जोधपुर जाने का विचार स्थगित करना पड़ा। उसने अब्दुल्ला से विचार-विमर्श कर 15 मई को हुसैनअली को ससैन्य विद्रोह को दबाने के लिए आगरा की ओर रवाना किया।[43] इसके पहले बादशाह रफीउद्दरजात सख्त बीमार हो गया। उसने अपने भाई रफीउद्दौला को सिंहासन पर बैठाने की इच्छा प्रकट की। अजीतसिंह और सैयद भाइयों ने मन्त्रणा कर रफीउद्दौला को 27 मई 1719 के दिन बादशाह घोषित कर दिया।[44]

आगरा का विद्रोह गम्भीर रूप धारण करता जा रहा था। जयसिंह, बुद्धसिंह आदि राजपूत शासकों की सैनिक शक्ति के साथ, आगरा की ओर प्रस्थान कर गया था। अजीतसिंह और अब्दुल्ला ने उसे रास्ते में ही रोकने के लिए बादशाह रफीउद्दौला को साथ लेकर एक विशाल सेना सहित फतहपुर सीकरी की तरफ प्रयाण किया। हुसैनअली ने लगभग एक महीने के घेरे के बाद आगरा पर अधिकार कर लिया और विद्रोहियों को कुचल दिया।[45] अजीतसिंह ने इस बीच में मथुरा की

यात्रा की। तत्पश्चात् हुसैनअली; अब्दुल्ला जिसके साथ बादशाह रफीउद्दौला भी था, और महाराजा अजीतसिंह 16 अगस्त 1719 को मोल स्थान पर एकत्र हुए। यहां से वे दिल्ली के लिए प्रस्थान कर गये। रास्ते में बादशाह बीमार हो गया और विघापुर में (फतेहपुर-सीकरी से 4 मील उत्तर में) उसकी मृत्यु हो गई। मृत्यु के समाचार दिल्ली से शाहजादे रोशनअख्तर के यहां आ जाने तक गुप्त रखे गये। शाहजादे के आने पर रफाउद्दौला की मृत्यु की घोषणा की गई और उसे नासिरुद्दीन मोहम्मद शाह के नाम से मुगल सिंहासन पर बैठा दिया गया। महाराजा अजीतसिंह ने इस अवसर पर एक हजार मुहरें नजर की।[46]

इस समय तक जयसिंह ससैन्य आगरा से लगभग 80 मील दक्षिण पश्चिम में टोडा नामक स्थान पर आ पहुंचा था। सैयद भाइयों ने जयसिंह की इस विद्रोही प्रवृति को कुचलने का निर्णय लिया और उसके विरुद्ध एक सशस्त्र सेना भेजने की योजना बनाई। अजीतसिंह ने सैयदों को सलाह दी कि जयसिंह को अपने पक्ष में करना हितकर होगा। यदि सैयद बन्धु उससे सहमत हों तो वह स्वयं जाकर जयसिंह को समझा सकता है। सैयदों ने अजीतसिंह के सुझाव को स्वीकार कर लिया। सोमवार 5 अक्टूबर, 1719 ई. को खिलअत आदि प्रदान कर अजीतसिंह को मारवाड़ जाने के लिए विदा किया।[47] रास्ते में वह जयसिंह से मिला और उसे समझाकर आमेर लौट जाने के लिए राजी कर लिया। तत्पश्चात् अजीतसिंह जयसिंह को साथ लेकर मनोहरपुर होता हुआ जोधपुर चला आया। जयसिंह को 20 लाख रुपये दिलवाये गये तथा उसे सोरठ की फौजदारी भी दी गई। जोधपुर में जयसिंह का बड़ा आदर-सत्कार किया गया। इसी अवसर पर अजीतसिंहकी पुत्री सूरजकंवर का विवाह जयसिंह के साथ सम्पन्न हुआ।[48]

इस प्रकार जयसिंह की समस्या का समाधान हो गया। सैयद भाई उसकी तरफ से आश्वस्त हो गये। वे मुहम्मदशाह के साथ दिल्ली लौट गये। दिल्ली की ओर जाते समय रास्ते में 26 अक्टूबर को अजीतसिंह को अजमेर की सूबेदारी दे दी गई।[49]

सन् 1712 से 1719 ई. तक का समय अजीतसिंह के जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा। अजीतसिंह को अपने पैतृक राज्य के साथ-साथ गुजरात और अजमेर के महत्त्वपूर्ण सूबे प्राप्त थे। उसे बीकानेर का फौजदार भी नियुक्त किया गया था। सैयदों से मित्रता होने के पश्चात् उसका प्रभाव मुगल दरबार में निरन्तर बढ़ता गया और एक ऐसा समय आया जब कि उसकी गणना मुगल साम्राज्य के उच्चतम प्रभावशाली व्यक्तियों में होने लगी थी। सैयद बन्धु सदैव उसके सहयोग के लिए लालायित रहने लगे। सैयद बन्धुओं और अजीतसिंह ने मिलकर मुगल सिंहासन पर एक के बाद एक तीन बादशाहों को बैठाया। घृणित जजिया और तीर्थ-कर हटवाकर हिन्दू समुदाय की महती सेवाएं की। उसने अपनी पुत्री इन्द्रकंवर

को, जो बादशाह फर्रूखसियर को ब्याही थी, पुनः हिन्दू धर्म में परिवर्तित कर प्रतुल धन के साथ जोधपुर वापस भेज दिया। उस समय की यह एक आश्चर्यजनक घटना थी। इन्द्रकंवर को एक करोड़ रुपये से भी अधिक सम्पत्ति प्राप्त हुई और उसे 10800 रुपये मासिक पेन्शन देने का भी निर्णय लिया गया। पेन्शन का भुगतान गुजरात सूबे से किया जाना निश्चित हुआ था। मेवाड़ और आमेर के दो प्रमुख राज्य इस समय राजनीतिक क्षेत्र में जोधपुर के राठौड़ राज्य से बहुत पीछे रह गये थे। महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय ने अजीतसिंह को जज़िया कर हटाने तथा तीर्थ-स्थानो की रुकावट को दूर कराने के लिए धन्यवाद का पत्र भेजा था और इसमें अजीतसिंह के व्यक्तित्व और उसकी उपलब्धियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई थी।[50] जयसिंह ने भी अजीतसिंह के पास अपने आदमी भेज सैयदों द्वारा उसके विरुद्ध की जाने वाली सैनिक कार्यवाही को रुकवाने के लिए प्रार्थना की थी।[51] हाड़ौती प्रदेश मे शान्ति स्थापित करने का उत्तरदायित्व अजीतसिंह के सुपुर्द किया गया था।[52] निःसन्देह अजीतसिंह 1718–19 ई. मे राजस्थान के राजपूत राजाओं में सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति था। उसके जीवन का यह समय चरमोत्कर्ष का था।

अजीतसिंह ने अपनी पुत्री का विवाह जयसिंह से कर उसके साथ पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। उसने सैयद भाइयों के कोपभाजन से भी उसे बचाया था। उन्होंने अपने आपसी वैमनस्य व मतभेद की भी इतिश्री कर दी थी। ऐसी सम्भावना की जा सकती थी कि इन दो राजाओं के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थायी रूप से बने रहेंगे और अपने भावी कार्यक्रम मे वे एक-दूसरे को सहयोग देते रहेंगे, परन्तु ऐसा सम्भव नही हो सका। निकट भविष्य मे ही मुगल राजनीति मे इतने क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए कि अजीतसिंह का महत्त्व शनैः-शनैः घटने लगा और जयसिंह का प्रभाव व वर्चस्व मुगल-दरबार मे निरन्तर बढने लगा। निजी स्वार्थ और व्यक्तिगत आकांक्षाओं के फलस्वरूप वे संगठित रूप से कार्य नही कर सके। उनके परम्परागत आपसी मतभेद भी पूर्ववत् बने रहे।

बादशाह मुहम्मदशाह से अनुमति प्राप्त कर जैसे ही अजीतसिंह जोधपुर पहुचा, उसने भण्डारी अनूपसिंह को (अप्रेल 1720) नायब के रूप मे गुजरात सूबे के शासन प्रबन्ध की देख-भाल करने हेतु अहमदाबाद भेजा। भण्डारी अहमदाबाद पहुच कर गुजरात सूबे का प्रशासन-कार्य सुचारु रूप से करने लगा।[53]

अजीतसिंह और सैयद बन्धुओं की बढ़ती हुई शक्ति को देख कर मुगल दरबार के अन्य पदाधिकारियो के मन में ईर्ष्या उत्पन्न होना कोई अनहोनी बात नही थी। सैयदो का विरोध प्रबल रूप से होने लगा था। फर्रूखसियर को गद्दी से हटाने और उसे कैद कर मार दिये जाने से सैयद बहुत बदनाम हो गये थे। विरोधी गुट का अभी नेतृत्व निजामुल्मुल्क कर रहा था। उसने सैयदों के विरुद्ध तीन प्रमुख आरोप

लगाये थे। वे इस प्रकार थे :—(i) सैयदों ने शाही प्रतिष्ठा को ठेस पहुंचाई है, (ii) उन्होने तुरानी और ईरानी अमीरों को अपमानित कर उनकी शक्ति को नष्ट करने का आह्वान किया है और (iii) वे हिन्दुओं के पक्षपाती हो गये हैं तथा इस्लाम-विरोधी नीति का अनुसरण कर रहे हैं। इन आरोपों के आधार पर विरोधी गुट संगठित व सबल होने लगा था। निजामुल्मुल्क ने खुले रूप से सैयदों के आदेशों का उल्लंघन कर विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। उसने दक्षिण सूबे पर अधिकार करने के उद्देश्य से नर्मदा नदी पार की। सैयदों ने भी उसके दमन के लिए दिलावर अलीखां को उत्तर की ओर से तथा आलमअली को दक्षिण की तरफ से निजामुल्मुल्क पर आक्रमण करने के आदेश भेजे। परन्तु वे दोनों ही निजामुल्मुल्क से परास्त हो गये। अब हुसैनअली ने बादशाह को साथ लेकर निजाम के विरुद्ध अजमेर के मार्ग से दक्षिण जाने के लिए दिल्ली से प्रस्थान किया। उसने अजीतसिंह से आग्रह किया कि वह ससैन्य तत्काल जयसिंह के साथ अजमेर में उसकी सहायता के लिए पहुंचे। आगरा के कुछ मंजिल बाद ही अमीनखां, हैदरकुलीखां, सआदतखां आदि अमीरों के षड्यन्त्र के फलस्वरूप हैदरबेग द्वारा टोडाभीम नामक स्थान पर 29 सितम्बर को हुसैनअली की हत्या कर दी गई। बाद में 13 नवम्बर 1720 ई. को आगरा के पास हसनपुर नामक स्थान पर अब्दुल्लाखां भी परास्त हुआ और कैद कर लिया गया। इस प्रकार सैयद बन्धुओं की विजारत का अन्त हो गया।[51]

सैयदों के उक्त सैनिक अभियानों में महाराजा अजीतसिंह ने उनकी सहायता नहीं की। सम्भवतः महाराजा को इस बात का भान हो गया था कि सैयदो की स्थिति अब दिन-प्रति-दिन कमजोर होती जा रही है; अतः उनका खुले रूप से पक्ष लेना उसके हित में नही होगा। वह बादशाह को अप्रसन्न करना नही चाहता था। जयसिंह पहले तो तटस्थ रहा; परन्तु बाद में निजामुल्मुल्क का पलड़ा भारी देख कर उसकी सहायता में जा पहुंचा।

अजीतसिंह का नायब अनूपसिंह बहुत अभिमानी और अत्याचारी था। उसने गुजरात की प्रजा से अनुचित कर वसूल किये तथा वह झूठे अपराधो के लिए निर्दोष व्यक्तियों को भी दण्ड देने लगा था। इस प्रकार के व्यवहार से रुष्ट होकर कपूरचन्द भन्साली नामक एक प्रभावशाली नगर सेठ ने भण्डारी से निवेदन किया कि वह जनता पर अत्याचार न करे। भण्डारी ने उसकी नेक सलाह पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया, उल्टे भंसाली को अपने मार्ग में बाधक समझकर उसे समाप्त करने की चेष्टा की। अवसर पाकर कपूरचन्द की हत्या करवा दी गई। इन सब कार्यकलापों से गुजरात की जनता अनूपसिंह के शासन से तंग थी। बादशाह के पास भी इसकी शिकायत पहुची थी। सैयदों के पतन के बाद अजीतसिंह का प्रभाव मुगल-दरबार में नाम मात्र का ही रह गया था। अतः अप्रेल-मई 1721 ई. में मुहम्मदशाह ने अजीतसिंह को गुजरात की सूबेदारी के पद से हटा दिया। अजीतसिंह ने इसका विरोध नही किया और न उसने इसे पुनः प्राप्त करने के लिए प्रयत्न ही किये। इस

समय दिल्ली की विजारत निजामुल्मुल्क के पास थी। वह बड़ा अनुभवी और शक्तिशाली अमीर था। महाराजा उससे शत्रुता मोल लेने के पक्ष में नहीं था।[55]

ऊपर बताया जा चुका है कि अजमेर का सूबा भी 26 अक्टूबर 1719 ई. को अजीतसिंह के नाम कर दिया गया था। जोधपुर पहुच कर महाराजा ने अप्रेल 1720 ई. मे भण्डारी विजयराज को अपना नायब नियुक्त कर अजमेर भेजा। उसने वहां कठोरता से शासन का कार्य करना आरम्भ किया। हिन्दुत्व के सिद्धान्तों को फैलानें का प्रयास किया गया। महाराजा अजीतसिंह के आदेशानुसार गुजरात और अजमेर सूबों में गोवध वन्द कर दिया गया।[56] इन गतिविधियों की शिकायत बादशाह तक पहुँची। सैयद भाइयों के पतन के बाद मुगल-दरबार में अजीतसिंह-विरोधी गुट प्रभावशाली व सशक्त बन गया था। इस गुट के सदस्यो ने अजीतसिंह के विरुद्ध बादशाह के कान भरे। परिणामतः 4 अगस्त 1721 ई. को (21 शव्वाल, 1133 हि. सं.) महाराजा को अजमेर की सूबेदारी से पदच्युत कर दिया गया। उसके स्थान पर मुजफ्फरअली खां को अजमेर का सूबेदार नियुक्त किया गया।[57]

गुजरात की सूबेदारी अजीतसिह से पहले ही ली जा चुकी थी। अब अजमेर की सूबेदारी ले ली गई। यह महाराजा के लिए असहनीय था। वह उद्विग्न हो उठा। वह अजमेर में एक स्वतन्त्र शासक की भांति राज्य करने लगा। उसने अपने पुत्र अभयसिंह और भण्डारी रघुनाथ के नेतृत्व में एक फौज साभर पर आक्रमण करने के लिए भेजी। इस फौज ने सांभर के शाही फौजदार को भगा कर वहा पर अधिकार कर लिया। इसी प्रकार राठौडी सेनाओ ने डीडवाना, टोडा, झड़ोद और अमरसर पर भी अधिकार कर लिया। शाही सत्ता को यह खुली चुनौती थी।[58]

मुजफ्फरअलीखा को, जिसे अजमेर के सूबेदार के पद पर नियुक्त किया गया था, आदेश दिया गया कि वह अजमेर पर अधिकार करे। वह दिल्ली से अजमेर की तरफ चला। रास्ते में उसे अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ा। अन्त मे वह आमेर के निकट मनोहरपुर नामक स्थान पर पहुंचा। अर्थाभाव के कारण वह अपने सैनिको को वेतन देने मे असमर्थ रहा। उसके सैनिक उसे छोड़ कर जाने लगे। वह बड़े सकट में था। अजीतसिंह ने मुगल सेना-नायक की इस दयनीय स्थिति का लाभ उठाना चाहा। उसने अपने पुत्र अभयसिंह के साथ एक सेना मुजफ्फरअली के विरुद्ध भेजी। मुजफ्फरअली अस्त-व्यस्त स्थिति मे निराश होकर जयसिंह के पास आमेर पहुंचा और वहां से उसने शाही खिलअत और अजमेर की सूबेदारी की सनद बादशाह को लौटा दी।[59]

अभयसिंह के पास बारह हजार ऊंट थे जिन पर दो-दो बरकन्ददाज व तीरन्दाज बैठे हुए थे। वह अपने दल-बल के साथ नारनौल पहुच गया। नारनौल का शाही शासक भयभीत होकर भाग निकला। राठौड़ी सेना ने नारनौल को लूटा

और फिर अभयसिंह अलवर, तिजारा व शाहजहांपुर को लूटता हुआ दिल्ली के निकट सोलह मील दूरी पर स्थित सराय अलीवर्दीखां तक पहुंच गया।[60]

इन सब घटनाओं से दिल्ली दरबार में खलबली मच गई। बादशाह ने अमीरो से विचार-विमर्श कर निर्णय लिया कि अजीतसिंह के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की जाय। इस कार्य को करने के लिए खान-ए-दौरान, हैदरकुलीखां और कमरूद्दीन-खां को क्रमश: आदेश दिये गये, परन्तु वे अजीतसिंह के प्रताप व शौर्य से परिचित थे। उन्होंने कोई न कोई बहाना बनाकर इस कार्य को करने में असमर्थता प्रकट कर दी। अन्त में बादशाह ने नुसरतयारखां को इस कार्य के लिए तैयार किया। वह एक विशाल सेना के साथ अजमेर की ओर बढ़ा। परन्तु उसके अजमेर पहुचने के पूर्व ही महाराजा अजीतसिंह और बादशाह के बीच सुलह हो गई।[61]

अजीतसिंह ने एक अर्जी बादशाह को प्रेषित की थी जिसमें उसने बादशाह के लिए की गई सेवाओं का विवरण दिया था और यह भी उल्लेख किया था कि गुजरात की सूबेदारी उससे लेने के समय उसने शाही आदेश का पालन किया था। अब बिना कारण अजमेर की सूबेदारी से भी उसे अपदस्थ कर दिया गया है। यह न्यायोचित नही कहा जा सकता। बादशाह इन तथ्यों पर विचार करे और अजमेर की सूबेदारी उसी के पास रहने दे। बादशाह ने भी अजीतसिंह से सुलह करना ही अपने हित मे समझा। अत: उसने तुरन्त अजीतसिंह को एक फरमान भेजा जिसमें गुजरात और अजमेर की सूबेदारी उससे ले लेने के लिए खेद प्रकट किया और अजमेर की सूबेदारी उसे पुन: प्रदान कर दी गई।[62] अजीतसिंह द्वारा अकस्मात् इस प्रकार की प्रार्थना करने का एक कारण यह भी हो सकता था कि उस समय निजामुल्मुल्क दक्षिण से दिल्ली के निकट पहुंच गया था। महाराजा अजीतसिंह और खान-ए-दौरान के बीच पत्र-व्यवहार हो रहा था। खान-ए-दौरान अजीतसिंह की समस्या को सुलझाने का श्रेय स्वयं लेना चाहता था।[63] सम्भवत: उसी के सुझाव पर अजीतसिंह ने प्रार्थना-पत्र बादशाह को प्रेषित किया था।

अजमेर मुसलमानों के लिए ख्वाजा साहब की दरगाह होने के कारण धार्मिक स्थान था, इसलिए अजमेर सूबे का अधिक महत्त्व था। मुगल-दरबार के कुछ प्रमुख अमीर अजमेर सूबे को एक हिन्दू मनसवदार के अधीन रखना उचित नही समझते थे। इसी कारण कुछ समय बाद 28 नवम्बर 1722 ई. को बादशाह ने नाहरखां को अजमेर का दीवान और सांभर का फौजदार नियुक्त कर भेजा और उसे विशेष अधिकार भी दिये गये। उसके भाई रूहल्लाखा को गढ़ बीटली (आधुनिक तारागढ़) का किलेदार नियुक्त किया।[64] इन नियुक्तियों का उद्देश्य अजमेर के सूबेदार अजीतसिंह की शक्ति कर अंकुश लगाना था। नाहरखां अजीतसिंह के अधीन पहले भी कार्य कर चुका था। विशेष अधिकारों के मिलने से उसको कुछ मद आ गया था। उसने महाराजा से बातचीत करते समय कुछ अपशब्दों का प्रयोग कर दिया। अपने अधिकारों में कटौती के कारण पहले से ही खिन्न अजीतसिंह ने दीवान

के अभद्र व्यवहार से अप्रसन्न होकर 27 दिसम्बर, 1722 ई. को नाहरखां और उसके भाई रूहुल्लाखां को मरवा दिया। उनके शिविर को लूट लिया गया। इस घटना की सूचना जब बादशाह के पास पहुंची तो वह बड़ा क्रुद्ध हुआ और इरादतमन्दखां के नेतृत्व में एक विशाल मुगल-सेना अजीतसिंह को नतमस्तक करवाने को भेजी। राजा जयसिंह, मुहम्मदखां बंगश तथा राजा गिरधर बहादुर व अन्य बड़े-बड़े सरदारों को उसकी सहायता के लिए जाने के आदेश दिये।[65] 27 मार्च, 1723 ई. को अजमेर की सूबेदारी हैदरकुलीखां को दे दी गई। वह भी अजमेर की तरफ पलायन कर गया।[66] नागौर का परगना भी अजीतसिंह से लेकर इन्द्रसिंह के नाम कर दिया गया।[67] इस तत्परता के साथ शाही सेना के आगमन की सूचना मिलने पर अजीतसिंह गढ़ बीटली के किले की रक्षा का भार ऊदावन अमरसिंह को सुपुर्द कर तथा भण्डारी विजयराज को अजमेर के शासन-प्रबन्ध की देखभाल करने को छोड़ स्वयं सांभर के मार्ग से जोधपुर की तरफ पलायन कर गया।[68]

शाही सेना के अजमेर पहुंचने पर कुछ दिनों तक तो अमरसिंह ने मुकाबला किया और निरन्तर युद्ध होता रहा, परन्तु बाद में जयसिंह की मध्यस्थता के फल-स्वरूप दोनों पक्षों में सन्धि हो गई। इस सन्धि के अनुसार गढ़ बीटली और अजमेर नगर पर मुगल सेना का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। कुंवर अभयसिंह को दिल्ली दरबार में उपस्थित होने को भेज दिया गया। इसके अलावा भिणाय, तोडो, परबतसर, नागौर, डीडवाना आदि चौदह परगनों पर से अजीतसिंह अपना अधिकार हटाने के लिए राजी हो गया। सन्धि के पश्चात् अजीतसिंह, जो उस समय मेड़ता में ठहरा हुआ था, मण्डोर होता हुआ जोधपुर पहुंच गया (नवम्बर 1723)।[69]

अभयसिंह का दिल्ली में बड़ा सत्कार किया गया। उसे खिलअत और ईनाम आदि देकर प्रसन्न करने का प्रयास किया गया। यद्यपि अजीतसिंह की शक्ति को कम कर दिया गया था, फिर भी बादशाह उसकी तरफ से शंकित रहता था। जयसिंह का मुगल-दरबार में अब काफी दबदबा बढ़ गया था। राजकुमार अभयसिंह का उसकी तरफ आकर्षित होना स्वाभाविक था। अब बादशाह और अजीतसिंह के विरोधी अमीरों ने मिलकर अभयसिंह को अपने पिता के विरुद्ध भड़काना आरम्भ किया। जयसिंह भी इस कार्य में सम्मिलित हो गया। अभयसिंह को यह विश्वास दिलाया गया कि अजीतसिंह के मृत्युपरान्त वह मारवाड़ पर निःसंकोच राज्य कर सकेगा। उसे यह भी कहा गया कि बादशाह का इरादा अजीतसिंह का अन्त कर मारवाड़ को खालसा घोषित करने का है। यदि अभयसिंह अपने पूर्वजों के राज्य को भोगना चाहता है तो उसे अपने पिता का मोह त्यागना पड़ेगा। जयसिंह ने उसे सलाह दी कि अजीतसिंह की किसी प्रकार से हत्या करवा दी जाय। रघुनाथ भंडारी ने भी, जो अभयसिंह के साथ भेजा गया था, अभयसिंह को इसी प्रकार की सलाह दी थी। परिणामतः अभयसिंह ने अपने भाई बख्तसिंह को एक पत्र लिख

दिया जिसमें राज्य की रक्षा के लिए वृद्ध महाराजा को मार डालने का आग्रह किया गया था। बख्तसिंह ने 23 जून, 1724 ई. को अर्द्धरात्रि के समय सोये हुए अपने पिता की हत्या कर दी।[70]

अजीतसिंह की हत्या का समाचार सुन कर जोधपुर नगर मे खलबली मच गई। सरदारो ने बख्तसिंह के निवास स्थान पर घेरा डाल दिया। उसने अभयसिंह का पत्र उन्हें दिखा दिया और कहा कि उसने यह कुकर्म देश की रक्षा-हेतु किया था। इस पत्र के देखने पर सरदार शान्त हो गये, परन्तु बख्तसिंह अपने पिता की निर्मम हत्या करने के कारण राज्य मे बहुत बदनाम हो गया।[71]

यहां अजीतसिंह की हत्या के सम्बन्ध में विभिन्न मतों का विश्लेषण कर लेना समीचीन होगा। बख्तसिंह द्वारा अपने पिता अजीतसिंह की हत्या किया जाना लगभग सभी राजस्थानी और फारसी ग्रन्थों से प्रमाणित है। परन्तु बख्तसिंह ने पितृ-हत्या का निन्दनीय कार्य क्यो किया, इस विषय को लेकर इतिहासवेत्ताओ मे मतभेद है। इरविन ने कामवरखां के ग्रन्थ तज़कीरात-उस्सलातीन-ए-चगताई के आधार पर अजीतसिंह का बख्तसिंह की पत्नी के साथ अनुचित सम्बन्ध होने की बात कही है।[72] बख्तसिंह को इसका भान होने पर उसने आवेश मे आकर अपने पिता की हत्या कर दी। वी. एस. भार्गव ने अपने शोध-ग्रन्थ 'मारवाड़ एण्ड द मुगल एम्परर्स' में इरविन के मत की ही पुष्टि की है।[73] इस मत का मूल आधार ही संदिग्ध है, अत: इसे स्वीकार नही किया जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि कामवरखां ने, जो औरंगजेब का अनुगामी था, अजीतसिंह को बदनाम करने के उद्देश्य से ही ऐसा लिखा है, क्योंकि इसके अतिरिक्त अन्य समकालीन लेखक वारिद, खाफीखां, शाहनवाजखां आदि ने अपने ग्रन्थो मे इस प्रकार का कोई सकेत नही दिया है। इसके विपरीत वारिद ने अपनी पुस्तक 'मीरात-उल-वारिदात' मे स्पष्ट तौर पर लिखा है कि बादशाह मोहम्मदशाह ने जोधपुर राज्य और अहमदाबाद के सूबे का प्रलोभन दे कर अभयसिंह को इस निन्दनीय कार्य को करवाने के लिए प्रेरित किया था।[74] मआसिर-उल-उमरा का लेखक शाहनवाजखां का कथन है कि मोहम्मदशाह के दरबारियों ने अभयसिंह को यह घृणित कार्य करने के लिए उकसाया था।[75] अब प्रश्न यह उठता है कि बख्तसिंह ने किस प्रलोभन मे आकर यह कार्य किया? टॉड के अनुसार बख्तसिंह को इस कुकर्म के लिए 555 गांवों के साथ नागौर का परगना देने का वायदा किया गया था।[76] सम्भवत: बादशाह द्वारा दिये गये आश्वासन के आधार पर ही उभयसिंह ने अपने भाई बख्तसिंह को नागौर देने का प्रलोभन दिया होगा, क्योंकि अजीतसिंह की मृत्यु के समय नागौर मारवाड़ राज्य का भाग नही था। अभयसिंह के राजतिलक होने के बाद नागौर का परगना अभयसिंह को प्रदान किया गया। वायदे के अनुसार अभयसिंह ने इसे अपने भाई बख्तसिंह को दे दिया था। एक अन्य फारसी-ग्रन्थ तारीख-ए-मुज़फ्फरी से ज्ञात होता है कि वजीर

कमरुद्दीन ने बख्तसिंह को अपने पिता अजीतसिंह को मारने के बदले में जोधपुर राज्य देने का वायदा किया था।[77] पर, चूंकि ऐसा किया नहीं गया, इसलिए इस मत को स्वीकार नही किया जा सकता।

पं. रेऊ का मत है कि अभयसिंह के दिल्ली पहुंचने पर बादशाह मुहम्मदशाह और उसके दरबारियों ने जिनमें आमेर का शासक जयसिंह भी सम्मिलित था, साम, दाम, दंड और भेद नीति द्वारा अभयसिंह को अपने पिता की हत्या करवाने के लिए राजी कर लिया था। उसके द्वारा बख्तसिंह को पत्र लिखवाया गया जिसके फलस्वरूप महाराजा की हत्या की गई। भण्डारी रघुनाथ ने भी जयसिंह के प्रभाव में आकर अभयसिंह को अजीतसिंह को मरवाने की सलाह दी थी। रेऊ ने अपना यह मत राजस्थानी व फारसी स्रोतों, समसामयिक पत्रों और परिस्थितियों के आधार पर व्यक्त किया है।[78] अतः इस मत को स्वीकार किया जा सकता है। इस मत की पुष्टि मे कुछ अन्य तथ्य भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

मुहम्मदशाह सैयदों के प्रभाव से मुक्त होना चाहता था। उसने युक्ति से सैयदों का तो अन्त कर दिया था, परन्तु उनका प्रमुख सहयोगी अजीतसिंह अभी भी बचा हुआ था। यद्यपि गुजरात और अजमेर सूबों से वंचित कर उसे कमजोर तो कर दिया गया था, तथापि बादशाह उससे सदैव शंकित रहा करता था। अभयसिंह के दिल्ली पहुंचने पर बादशाह ने डरा-धमका व फुसला कर उसे अपने पिता अजीतसिंह से विमुख करने के प्रयास किये। जयसिंह, जो अजीतसिंह से द्वेष रखता था, इस कार्य में बादशाह का पूर्ण समर्थक बना। उसने अभयसिंह को, जिसके साथ जयसिंह के घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे, अपने पिता अजीतसिंह की हत्या करवाने के लिए प्रेरित किया। उसी के प्रभाव में आकर अभयसिंह ने अपने भाई बख्तसिंह को पितृ-हत्या के लिए लिखा था। उसकी घनिष्ठता का एक प्रमाण यह है कि अजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् मारवाड़ के सरदारों के कहने पर भी पहले जोधपुर नही जाकर अभयसिंह ने मथुरा पहुच जयसिंह की पुत्री से विवाह किया था।[79] बाद में भी जब अभयसिंह के भाई आनन्दसिंह और रायसिंह ने मारवाड़ मे विद्रोह का झंडा खडा किया, उस समय जयसिंह ने अभयसिंह की सशस्त्र सहायता की थी। अजीतसिंह की हत्या मे जयसिंह का हाथ होने के कारण वह मारवाड़ मे बहुत बदनाम हो गया था। इसका प्रमाण भूकरका (बीकानेर) के सरदार कुशालसिंह का बीकानेर के महाराजा सुजानसिंह के नाम लिखे एक पत्र से मिलता है। इस पत्र में कुशालसिंह ने सुजानसिंह को अजीतसिंह की मृत्यु की सूचना दी थी और पत्र में लिखा था कि मारवाड के लोग अजीतसिंह की हत्या के कारण जयसिंह को गालिया देते हैं। यह पत्र अजीतसिंह की हत्या के दो दिनो के बाद ही लिखा गया था।[80]

अभयसिंह के दो अन्य भाइयों—आनन्दसिंह और रायसिंह—ने अपने ज्येष्ठ भ्राता अभयसिंह के इस निन्दनीय कार्य से क्षुब्ध होकर उसके विरुद्ध मारवाड़

में विद्रोह किया था। भण्डारी रघुनाथ का भी इस षड्यन्त्र में हाथ था, इसलिए मारवाड़ के सरदारों ने दबाव डाल कर अभयसिंह को उसे कैद करने के लिए बाध्य कर दिया था।[81]

अजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् नागौर का परगना अभयसिंह को मिला जिसे अभयसिंह ने अपने भाई बख्तसिंह को हस्तान्तरित कर दिया। उसे राजाधिराज की उपाधि से भी विभूषित किया गया था। यह सब उसकी कौन-सी सेवा के उपलक्ष मे किया गया था ? यह सही है कि पितृ-हत्या जैसे निन्दनीय कार्य के लिए यह पुरस्कार नगण्य ही था, परन्तु बख्तसिंह एक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था। उसने इस आशा से कि नागौर पर उसका अधिकार जोधपुर राज्य प्राप्त करने में उपयोगी सिद्ध होगा, उपहार का स्वागत किया। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अवसर आने पर उसने अपने भतीजे रामसिंह को जोधपुर की गद्दी से हटाकर जोधपुर राज्य पर अपना अधिकार कर लिया था (1751 ई.)।[82]

अन्त में हम मीरा मित्र के शब्दों में कहेंगे कि अजीतसिंह की हत्या बादशाह मुहम्मदशाह की इच्छा, सवाई जयसिंह तथा भण्डारी रघुनाथ की प्रेरणा तथा महाराजकुमार अभयसिंह और बख्तसिंह के कुकृत्य का परिणाम थी।[83]

पिछले अध्याय में उल्लेख किया जा चुका है कि मेवाड़ के राणा अमरसिंह द्वितीय ने अजीतसिंह और जयसिंह को अपना राज्य प्राप्त करने मे सहायता की थी। महाराणा ने सशर्त अपनी पुत्री का विवाह जयसिंह के साथ कर दिया था। इस विवाह के कारण सिसोदिया और कच्छावा घरानों मे पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित हो गये थे। राठौड़–सिसोदिया–कच्छावा गठबन्धन से प्रोत्साहित होकर महाराणा अमरसिंह ने मेवाड़ी सेना भेजकर मुगल प्रशासकों को भगाकर, पुर, मांडल आदि परगनों पर, अधिकार कर लिया था। ये परगने महाराणा जयसिंह ने जून 24, 1681 ई. की सन्धि के अन्तर्गत जजिया के बदले औरंगजेब को दे दिये थे। महाराणा अमरसिंह के दिवंगत होने तक (10 दिसम्बर, 1710 ई.) तीनो राजपूत राजा पारस्परिक सहयोग और सद्भावना के साथ सक्रियता से कार्य करते रहे।

महाराणा संग्रामसिंह के राजतिलक के समय आमेर नरेश जयसिंह भी उदयपुर में उपस्थित था। महाराणा संग्रामसिंह, जयसिंह और अजीतसिंह के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण थे। तत्कालीन राजनीति के सम्बन्ध में वे एक दूसरे के साथ पत्र-व्यवहार करते रहते थे और महत्त्वपूर्ण विषयों पर एकमत होकर निर्णय लिया करते थे। पुर, मांडल आदि परगनों पर मेवाड़ी सेना के अधिकार कर लिया था। उसकी शाही स्वीकृती के लिए प्रयास किये जा रहे थे, परन्तु वजीर जुल्फिकारखा ने पुर और मांडल के परगने मेवाती रणबाजखा को और माडलगढ का परगना नागौर के शासक इन्द्रसिंह को जागीर के रूप मे दिलवा दिये। इन्द्रसिंह ने तो मांडलगढ़ की

जागीर को स्वीकार नहीं किया किन्तु रणबाजखां पुर और मांडल परगनों पर अधिकार करने का इच्छुक था। वह अपनी फौज के साथ वहां पहुँचा, परन्तु मेवाड़ी सेना ने उसे पराजित कर दिया। अन्ततः ये परगने मेवाड़ राज्य के अधीन ही रहे।[83(अ)]

बहादुरशाह के मरने के पश्चात् मुगल साम्राज्य की स्थिति अस्त-व्यस्त होने लगी थी। कुछ समय तक उसके लड़के जहांदारशाह ने राज्य किया। फिर सैयद बन्धुओं की मदद से फर्रुखसियर बादशाह बना। मुगल दरबार में अपनी स्थिति को सुदृढ करने हेतु सैयद बन्धु राजपूतों का सहयोग चाहते थे। उन्होंने राजपूतों के साथ मैत्रीपूर्ण नीति का अनुसरण किया था। सैयदों के प्रभाव के कारण सितम्बर 1713 ई. में बादशाह फर्रुखसियर ने महाराणा को 7000–7000 की मनसब प्रदान की तथा आठ करोड़ 'दाम' ईनाम के तौर पर दिये। ऐसा सम्मान पहले किसी अन्य राणा को प्राप्त नही हो सका था। फर्रुखसियर ने जयसिंह और अजीतसिंह को एक दूसरे से पृथक् करने के उद्देश्य से जयसिंह को मालवा की सूबेदारी दी और अजीतसिंह को थट्टा का सूबेदार नियुक्त किया था। जयसिंह ने तुरन्त मालवा की सूबेदारी का पद सम्भाल लिया, परन्तु अजीतसिंह ने थट्टा जाना स्वीकार नहीं किया। शाही आज्ञा का उल्लंघन करने के अपराध मे अजीतसिंह के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की गई। उस समय राणा और जयसिंह दोनों ने अजीतसिंह के विरुद्ध शाही सेना की मदद की थी। राठौड़-सिसोदिया-कच्छावा गुट विच्छिन्न होने लगा था। इस समय अजीतसिंह अकेला रह गया था। इसी घटना के साथ अजीतसिंह और जयसिंह के मध्य मतभेद आरम्भ हो गये थे। यद्यपि अजीतसिंह और राणा के बीच प्रत्यक्ष रूप से मतभेद उभर कर नही आये तथापि महाराणा भीतर से अजीतसिंह से प्रसन्न नहीं था। उसका झुकाव व लगाव सदैव जयसिंह के साथ ही रहा। मेवाड़ और मारवाड़ मे परम्परागत द्वेष और प्रतिस्पर्द्धा की भावना व्याप्त थी। विशेषकर गाड़वाड़ परगने के स्वामित्व के प्रश्न को लेकर इन दोनो राज्यो के खिंचाव की स्थिति बनी हुई थी। महाराजा जसवन्तसिंह प्रथम के शासन काल मे यह परगना मारवाड़ राज्य मे सम्मलित था, परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् इसे खालसा घोषित कर दिया गया। अजीतसिंह और राणा दोनों ही इसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील थे। इसके अतिरिक्त अजीतसिंह से रुष्ट होकर राठौड़ दुर्गादास महाराणा संग्रामसिंह की सेवा में रहने लगा था। इस कारण भी अजीतसिंह और राणा के सम्बन्धो में पुनः घनिष्ठता नही आ सकी।[84]

रामपुरा के राव गोपालसिंह की मदद महाराणा अमरसिंह द्वितीय ने उसके पुत्र रत्नसिंह के विरुद्ध, जिसने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था, की थी। रत्नसिंह की मृत्यु के पश्चात् गोपालसिंह ने महाराणा संग्रामसिंह की सहायता से रामपुरा पर अधिकार कर लिया। महाराणा ने कुछ हिस्सा गोपालसिंह को देकर बाकी क्षेत्र

मेवाड़ राज्य में मिला लिया। इसके प्रशासन का कार्य-भार राठौड़ दुर्गादास को सुपुर्द किया गया था। सैयद बन्धु महाराणा को प्रसन्न रखने की नीति का अनुसरण कर रहे थे। उनके प्रभाव के कारण मुग़ल बादशाह ने रामपुरा का परगना राणा के नाम कर दिया। इस प्रकार रामपुरा का क्षेत्र, जो अकबर के समय में मेवाड राज्य से पृथक् कर दिया गया था, पुनः मेवाड़ को मिल गया।[85]

सैयदों और राणा के सम्बन्ध बादशाह फर्रुखसियर के समय सामान्यतः सौहार्दपूर्ण रहे। परन्तु उसके मृत्यूपरान्त राणा का उनके प्रति व्यवहार बदल चुका था। इसका मूल कारण सम्भवतः यह था कि जयसिंह, जिसके महाराणा संग्रामसिंह के साथ बहुत निकट और घनिष्ठ के सम्बन्ध थे, सैयदो के विरोधी गुट मे था। वह बादशाह फर्रुखसियर का पक्षपाती था। ऐसी स्थिति में संग्रामसिंह का सैयदों का विरोधी होना स्वाभाविक था। जिस समय निकूसियर ने आगरा में विद्रोह किया। जयसिंह ने उसकी मदद करने के उद्देश्य से सैनिक तैयारी की थी। इस समय महाराणा ने भी सैयदों के विरुद्ध जयसिंह की सहायता की थी। बाद में राणा ने मुगल दरबार की राजनीति मे कोई विशेष रुचि नहीं ली। वह अपने राज्य-सीमा को सुदृढ़ करने मे व्यस्त रहा। जयसिंह के साथ उसके सम्बन्ध जीवन-पर्यन्त सुखद और मैत्रीपूर्ण रहे। परन्तु जब 1727 ई. में जयसिंह के राणा की पुत्री चन्द्रकवर से माधोसिंह नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ तो दोनो के बीच सम्बन्ध बिगड़ने की सम्भावना हो गई थी, क्योंकि राणा जयसिंह से यह आग्रह कर सकता था कि आमेर की गद्दी पर उसके दोहिते को बैठाया जाय। जयसिंह के अन्य रानियों से पहले दो पुत्र हो चुके थे। यदि माधोसिंह को 1708 ई. में राणा के साथ की गई सन्धि के अनुसार युवराज घोषित कर दिया जाता तो आमेर राज्य में गृह-युद्ध आरम्भ हो जाता। इस संकट को टालने के लिए जयसिंह ने महाराणा से प्रार्थना कर रामपुरा की जागीर माधोसिंह को दिलवा दी। राणा ने जयसिंह के ज्येष्ठ पुत्र ईश्वरसिंह को आमेर की गद्दी का हकदार स्वीकार कर लिया। इसका परिणाम यह निकला कि जयसिंह के काल मे उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर किसी भी प्रकार का बखेड़ा नही हुआ।[86]

जिस समय अजीतसिंह अपने पैतृक राज्य को प्राप्त करने के लिए मुगल बादशाह औरंगजेब के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष में संलग्न था, बीकानेर के शासक प्रायः उसके प्रति उदासीन ही रहे। उन्होंने उसकी किसी प्रकार से सहायता नहीं की थी। इससे अजीतसिंह के मन मे बीकानेर वालों के प्रति रोष था। औरंगजेब के मृत्यूपरान्त 1707 ई. में अजीतसिंह ने जोधपुर पर अधिकार कर लिया। उस समय बीकानेर का राजा सुजानसिंह मुगल बादशाह की सेवा मे दूर दक्षिण मे था। बीकानेर के बीदावत सरदार अपने स्वामी से रुष्ट थे। उनसे सांठ-गांठ कर अजीतसिंह ने अनुकूल परिस्थिति का लाभ उठाते हुए बीकानेर पर आक्रमण कर

दिया। पहले उसे कुछ सफलता मिली, परन्तु बाद में उसे अपनी सेना को बीकानेर से हटाने के लिए बाध्य होना पड़ा। 1716 ई. में एक बार फिर बीकानेर पर अधिकार करने का उसने इरादा किया था, लेकिन वह फलीभूत नहीं हो सका। सुजानसिंह के साथ अजीतसिंह के सम्बन्ध अच्छे नहीं रहे। बीकानेर राज्य में सुजानसिंह के शासन-काल में जैसलमेर के भाटियों तथा नोहर की तरफ जोहियों और भट्टियों के साथ छुट-पुट की घटनाओं के अतिरिक्त कोई विशेष उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। सुजानसिंह मुगल राजनीति के प्रति सदैव उदासीन ही रहा।[87]

मारवाड़ की सीमा पर अजमेर के निकट किशनगढ़ का छोटा-सा राज्य था। जनवरी 1711 ई. के लगभग अजीतसिंह ने सम्भवतः किशनगढ पर अधिकार करने के लिए आक्रमण किया था। किशनगढ़ के शासक राजसिंह ने चार दिनो तक अजीतसिंह की सेना का सामना किया, परन्तु बाद में उसने सन्धि करने के लिए प्रार्थना की। वह अजीतसिंह की सेवा मे उपस्थित हो गया। कुछ दिनों के बाद वह दिल्ली चला गया और मुगल दरबार मे अजीतसिंह के विरुद्ध विष-वमन करने लगा था। फर्रुखसियर के अन्तिम काल में वह सैयदों के गुट मे चला गया। फलतः अजीतसिंह के साथ भी उसके सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हो गये।[88]

कोटा के महाराव भीमसिंह की भी अजीतसिंह के साथ मित्रता थी। अजीतसिंह कोटा के महाराव भीमसिंह और उसका श्वसुर किशनगढ़ का राजा राजसिंह संगठित रूप से बादशाह फर्रुखसियर के विरुद्ध सैयदो के सहयोगी थे जबकि जयसिंह और बून्दी के राव बुद्धसिंह उनके विरोधी गुट में फर्रुखसियर के पक्षपाती के रूप मे सक्रिय थे। कोटा-बून्दी के हाड़ा राजपरिवारों मे तो जाजव के युद्ध के समय से ही द्वेष और कलह की स्थिति बनी हुई थी।[89] बुद्धसिंह और भीमसिंह से सम्बन्धित इतिहास का विशेष विवरण जयसिंह के इतिहास के परिवेश में आगे किया जायेगा।

अजीतसिंह का सम्पूर्ण जीवन संघर्षरत रहा उसके जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव आये। जन्म के पूर्व ही उसके पिता का देहान्त हो चुका था और उसका पैतृक जोधपुर-राज्य खालसा घोषित कर दिया गया था। कुछ ही महीनों के बाद उसकी माता का भी स्वर्गवास हो गया। उसका प्रारम्भिक पालन-पोषण सिरोही राज्य मे स्थित कालन्द्री ग्राम मे पुष्करणा ब्राह्मण जयदेव के घर पर अज्ञात रूप से हुआ। आठ वर्ष की आयु में उसे अज्ञातवास से प्रकट किया गया। तब से तेईस वर्षों तक (1687 ई. से 1710 ई.) वह निरन्तर अपने पैतृक राज्य की प्राप्ति के लिए मुगल बादशाह की शाही फौजो से लोहा लेता रहा।

सन् 1710 ई. मे मुगल बादशाह बहादुरशाह के साथ समझौता होने पर जब उसे जोधपुर राज्य का वैधानिक रूप से स्वामी स्वीकार कर लिया गया, तब कुछ

समय तक उसने शान्ति का अनुभव किया। इस समय वह अपने राज्य को सुदृढ़ता व स्थायित्व प्रदान करने में लगा रहा। फर्रूखसियर के राज्यारोहण के बाद फिर उसे शाही कोप का शिकार होना पड़ा था। हुसैनअली के साथ सन्धि होने के बाद उसका शनैः शनैः मुगल दरबार में प्रभाव बढ़ने लगा। उसे दिल्ली आमन्त्रित किया गया जहां उसने सैयद बन्धुओं से मेल-जोल कर मुग़ल राजनीति मे सक्रियता से भाग लेना आरम्भ किया। 1719 ई. में उसका प्रभाव चरम सीमा पर पहुंच गया था। वह गुजरात और अजमेर जैसे महत्त्वपूर्ण सूबों का सूबेदार नियुक्त किया गया था। साथ में उसे बीकानेर की फौजदारी भी दी गई थी। उसने सैयद भाइयों के सहयोग मे रहकर फर्रूखसियर को मुगल सिंहासन से हटा कर उस पर एक के बाद एक तीन बादशाहों को बिठाया। जोधपुर के शासकों में वह प्रथम व्यक्ति था जिसे मुग़ल सम्राट् ने राजराजेश्वर की पदवी एवं माहीमरातिब के सम्मान से सम्मानित किया था।

अजीतसिंह की यह चरमोत्कर्ष की स्थिति स्थायी नही रह सकी। बहुत जल्दी ही उसे गुजरात और अजमेर की सूबेदारी के पदों से हटा दिया गया। उसने एक बार फिर मुग़लों के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। उसके विरुद्ध शाही सेना भेजी गई। 1723 ई. में सन्धि हो जाने पर वह जोधपुर में निवास करने लगा था। उसका युवराज अभयसिंह मुग़ल दरबार मे शाही सेवा में उपस्थित रहा। मुग़ल दरबार के नियोजित षड्यन्त्र के फलस्वरूप अपने ही पुत्र द्वारा 23 जून, 1724 ई. को उसकी हत्या कर दी गई।

(ख) जयसिंह (1707–1743 ई.)

अजीतसिंह की मृत्यु के साथ राजस्थान के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय समाप्त हो गया और नये युग का सूत्रपात हुआ जिसमे सवाई जयसिंह की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। इस युग मे राजस्थान के राजाओं में जयसिंह ही एक ऐसा व्यक्ति था जिसका मुगल दरबार मे विशिष्ट स्थान था। वह राजस्थान के क्षितिज पर मृत्यु-पर्यन्त छाया रहा। उसके राज्यकाल में जयपुर नगर की स्थापना हुई और उसने अपने पूर्वजों से प्राप्त राज्य की सीमा में आशातीत वृद्धि की। राजस्थान के सभी छोटे-मोटे राज्य उसके वर्चस्व व प्रभावशाली व्यक्तित्व से प्रभावित रहे। हम आगे के पृष्ठों पर जयसिंह के इतिहास के परिवेश में राजस्थान के इतिहास का निरूपण करेंगे।

जयसिंह के प्रारम्भिक इतिहास का विवरण पिछले अध्याय में किया जा चुका है। जैसा की ऊपर कहा जा चुका है कि बादशाह फर्रूखसियर ने अपने शासन के प्रारम्भिक काल में जयसिंह को प्रसन्न करने के लिए उसे मालवा के सूबेदार के पद पर, जिसके लिए वह बहुत लालायित था, नियुक्त कर दिया था। उसने तुरन्त अक्टूबर 26, 1713 ई. को मालवा की सूबेदारी का कार्य सम्भाल

लिया। उस समय मालवा प्रदेश की स्थिति बड़ी अस्त-व्यस्त थी। प्रदेश मराठों और अन्य उपद्रवियो के आतंक से ग्रस्त था। सर्वप्रथम जयसिंह ने उज्जैन पहुंच कर मराठों के आक्रमणों को रोकने के लिए कारगर कदम उठाये। तत्पश्चात् छत्रसाल बुन्देला, बुद्धसिंह हाड़ा और अपनी स्वय की सेनाओं के बल पर सूबे में उपद्रव मचाने वालों को कुचल दिया। इनमे दिलावरखां अफगान, बाबूराम जाट और इनायतुल्ला प्रमुख थे। वे 15000 से 20000 सवारों के साथ सूबे मे लूट-खसोट करते रहते थे। इनके अतिरिक्त जयसिंह ने अहीरों को भी दबाया। उनकी लूट-खसोट की प्रवृति के कारण व्यापारी-वर्ग आतंकित था। बाद में बरवानी के विद्रोही मोहनसिंह को भी नतमस्तक होना पड़ा। इस प्रकार सूबे में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने में सवाई जयसिंह सफल रहा।[90]

1715 ई. के मई महीने में खंडेराव दामाडे और कान्होजी भोंसले के नेतृत्व में मराठों की एक विशाल सेना नर्मदा पार कर मालवा प्रदेश में प्रविष्ट हुई। महेश्वर से 19 मील पूर्व पिलसुद के स्थान पर 10 मई को जयसिंह ने मराठों को परास्त कर उन्हें नर्मदा के दक्षिण मे खदेड़ दिया। उनके माल-असबाब को भी लूट लिया गया। इस विजय से जयसिंह की ऐसी धाक जमी कि जब तक वह मालवा प्रदेश मे ठहरा, तब तक मराठे नर्मदा से उत्तर में आने का साहस नही कर सके।[91]

किन्हीं कारणों से जयसिंह सैयद बन्धुओं से शुरू से ही अप्रसन्न था। फर्रुखसियर के राज्यारोहण के तुरन्त बाद सैयदो के साथ उसके सम्बन्ध कटु होने लगे थे। जयसिंह फर्रुखसियर से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर चुका था। वह पुराने अमीरों की परम्परा का व्यक्ति था और बादशाह का कृपालु होने पर अन्य किसी उच्च पदाधिकारी का अनुगामी रहना पसन्द नहीं करता था। जयसिंह ने सैयदों की कृपा के लिए कभी याचना नहीं की। सैयद बन्धु जयसिंह के इस स्वतन्त्र आचरण से नाराज थे।[92]

सैयद बन्धुओं और जयसिंह के बीच मनमुटाव होने का एक अन्य कारण भी था। कोटा-बून्दी राज्यों के गृह-युद्ध में हुसैनअली के प्रभाव से ही जयसिंह के बहनोई बून्दी के राव बुद्धसिंह को अपने पैतृक राज्य से वंचित होना पड़ा था। जयसिंह के सम्बन्ध हुसैनअली से इतने कटु हो चुके थे कि जिस समय हुसैनअली दक्षिण का सूबेदार होकर मालवा के मार्ग से गुजर रहा था, जयसिंह ने उसकी अगवानी तक नही की। हुसैनअली ने इसकी शिकायत बादशाह फर्रुखसियर से भी की थी।[93]

जयसिंह ने पत्र द्वारा बादशाह को निवेदन किया कि बून्दी की जागीर बुद्धसिंह को लौटा दी जाय। इस पर 1715 ई. मे बादशाह ने जयसिंह से दिल्ली आने का आग्रह किया, क्योंकि वह उसे जाटों से विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने का

कार्य सुपुर्द करना चाहता था। उसने बुद्धसिंह को बून्दी की जागीर दे देने का वचन भी दिया। जयसिंह पहले दिल्ली जाने के पक्ष में नहीं था, परन्तु बाद में यह सोच कर कि आमेर राज्य की सीमा के निकट जाटों का शक्तिशाली होना उसके हित में नहीं रहेगा, वह बादशाह द्वारा बार-बार आग्रह करने पर आमेर के मार्ग से 1716 ई. के मध्य दिल्ली पहुंचा। बादशाह ने उसका खिलअत आदि देकर स्वागत किया और उसे जाटों के विरुद्ध सैनिक अभियान करने के आदेश दिये। बुद्धसिंह को उसकी पैतृक जागीर दे दी गई और उसे जयसिंह की सेवा में रहने को कहा गया। यहां यह बता देना उचित होगा कि उक्त सभी निर्णयों में वजीर अब्दुल्लाखां से कोई परामर्श नहीं किया गया था।[91]

जयसिंह ने जाटों पर आक्रमण करने की पूरी तैयारी की। अभियान के खर्चे के लिए उसे शाही खजाने से 40 लाख रुपये दिये गये। सितम्बर 1716 ई. में जयसिंह ने जाटों के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए दिल्ली से मथुरा की ओर प्रस्थान किया। उसकी सेना में कोटा के महाराव भीमसिंह, बून्दी के महाराव बुद्धसिंह, नरवर के गजसिंह, राव इन्द्रसिंह, बायाजिदखां मेवाती आदि भी अपनी-अपनी सेनाओं के साथ सम्मिलित हुए। सर्वप्रथम उसने जाट नेता चूड़ामन के पुत्र मोहनसिंह से बाहर का किला खाली करवाया। तत्पश्चात् चूड़ामन के भतीजे बदनसिंह को परास्त किया और कामा के किले को हस्तगत कर लिया। अब जयसिंह ने नवम्बर 1716 ई. में जाटों के केन्द्र थून पर आक्रमण किया। चूड़ामन के एक अन्य भतीजे रूपा ने 2000 सैनिकों के साथ शाही फौज से लोहा लिया, परन्तु पराजित हुआ। थून किले का घेरा डाल दिया गया। यह घेरा 20 महीनो तक चलता रहा। घने जंगल, टूटे-फूटे विकट मार्ग, रसद की कमी तथा स्थानीय जमींदारों के असहयोग के कारण जयसिंह को सफलता शीघ्र नहीं मिल सकी। खजाने के लगभग 2 करोड़ रुपये इस अभियान में खर्च हो चुके थे। सफलता नहीं मिलने का एक कारण यह भी था कि सैयद अब्दुल्लाखां का चाचा खानेजहां यद्यपि बाहरी रूप से जयसिंह का सहयोगी था, लेकिन वास्तविक रूप से वह उसके कार्यों में अड़चनें पैदा कर रहा था। अब मुग़ल दरबार में जयसिंह का विरोध होने लगा। वजीर अब्दुल्लाखां जयसिंह को नीचा दिखाना चाहता था। उसने बादशाह फर्रुखसियर को जाटों के साथ सन्धि कर लेने की सलाह दी। जिस समय जयसिंह को सफलता मिलने ही वाली थी, खानेजहां के माध्यम से वजीर ने जाटों के नेता चूड़ामन से समझौता कर लेने की बादशाह से स्वीकृति प्राप्त कर ली। इस समझौते के अनुसार चूड़ामन ने बादशाह को पचास लाख रुपये नकद और अन्य उपहार देना और वजीर को अलग से 20 लाख रुपये भेंट स्वरूप देना स्वीकार कर लिया। यहां यह भी तय हुआ कि थून, डीग आदि की किलेबन्दी तोड़ दी जायेगी और भविष्य में उनकी मरम्मत नहीं कराई जायेगी। चूड़ामन ने अपने सम्बन्धियों के साथ शाही सेवा में उपस्थित रहने

का वचन दिया। बादशाह ने जयसिंह को एक फरमान भेजा जिसमें जयसिंह की प्रशंसा की गई और युद्ध रोकने के आदेश दिये गये। इसके पहले नवम्बर 1717 ई. में मालवा में उसके स्थान पर मुहम्मद अमीनखां को सूबेदार नियुक्त कर दिया गया था। जयसिंह 16 मई 1718 ई. को दिल्ली लौट आया। बादशाह ने उसे 'माही मरातिब' का खिताब देकर सम्मान किया। जाटों के साथ इस प्रकार से समझौता कर लेना जयसिंह के लिए अपमान था और सैयदों की कूटनीति की सफलता। जयसिंह को जाटों पर विजय प्राप्त करने का श्रेय नहीं मिल सका। इस अभियान के कारण सैयदो और जयसिंह के मध्य मतभेद और तीव्र हो गए।[95]

बादशाह फर्रुखसियर की स्थिति दिन-प्रति-दिन दयनीय होती जा रही थी। पुराने ईरानी और तुरानी अमीरों को अपने पक्ष मे करने की उसकी नीति भी असफल रही। सरबुलन्दखां और निजामुलमुल्क इसके व्यवहार से खिन्न होकर वज़ीर अब्दुल्ला के पक्ष मे चले गये। बादशाह ने एक बार फिर अब्दुल्ला को प्रसन्न करने का प्रयास किया। दिसम्बर 1718 ई. में वह स्वयं वजीर से मिलने गया और उसे नियुक्तियों के सम्बन्ध मे विशेष अधिकार देने की घोषणा की। उसका विश्वसनीय अमीर जयसिंह भी वजीर से मिला। ऊपरी तौर पर उनके सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण दृष्टिगत होने लगे थे, परन्तु वस्तुतः उनके हृदय एक दूसरे के प्रति साफ नहीं थे। लगभग इसी समय फरवरी 1719 ई. में सैयद हुसैन अली मराठो के दल-बल सहित दिल्ली के निकट आ पहुंचा। उसने मार्ग में आमेर राज्य के गांवों को लूटा और खेतों को नष्ट किया था। इसकी शिकायत जयसिंह ने बादशाह से की, परन्तु वह सैयदों के विरुद्ध कार्यवाही करने की स्थिति में नही था। सैयदों और उनके गुट के सदस्यों का विश्वास था कि जयसिंह बादशाह फर्रुखसियर को उनके विरुद्ध भड़काने का कार्य कर रहा है, इसलिए सैयदो ने बादशाह से माग की कि वह जयसिंह को दिल्ली छोड़ने के आदेश देवे। विवश होकर बादशाह ने जयसिंह को दिल्ली छोड़ने के हुक्म भेज दिये। जयसिंह ने बादशाह से इस हुक्म को वापस लेने के लिए अनुरोध किया और उसे विश्वास दिलाने का प्रयास किया कि सैयदों के साथ संघर्ष में वह अपनी 20,000 सेना के साथ उसकी मदद मे रहेगा। उसकी ऐसी धारणा थी कि संघर्ष की स्थिति में सैयदों के बहुत से समर्थक भी बादशाह के पक्ष में आ जायेंगे। कमजोर दिल फर्रुखसियर पर इसका कोई असर नही हुआ। अन्ततः जयसिंह ने बादशाह की आज्ञा का पालन किया। वह दिल्ली छोड़ अपने राज्य को प्रस्थान कर गया।[96]

जयसिंह के दिल्ली से चले जाने के बाद बादशाह फर्रुखसियर किंकर्तव्य विमूढ़ता की स्थिति में आ गया। उसके पक्ष मे एक भी सशक्त अमीर नहीं रह गया था। ऐसी स्थिति में दोनों सैयद भाई और अजीतसिंह ने मिलकर किले पर अपना अधिकार कर लिया और फर्रुखसियर को सिंहासनच्युत कर रफीउश्शान के पुत्र रफीउद्दरजात को मुगल बादशाह घोषित कर दिया।[97]

कुछ समय तक जयसिंह की स्थिति भी संकट-ग्रस्त बनी रही। उसे सैयदों से मेल मिलाप की कोई आशा नहीं थी। उसके सामने एक ही रास्ता दृष्टिगत हो रहा था कि वह मेवाड़ के राणा और बुन्देलों से मिल कर सैयद विरोधी तत्त्वों को संगठित करे तथा उनसे सशस्त्र लोहा लेवे। उसने इस दिशा में तुरन्त कार्य करना शुरू कर दिया। इलाहाबाद के सूबेदार छबीलाराम, छत्रसाल बुन्देला, निजामुल्मुल्क, महाराव बुद्धसिंह, महाराणा संग्रामसिंह आदि को पत्र भेजे गये जिनमें उनसे सैयदों के विरुद्ध एक शक्तिशाली मोर्चा तैयार करने के लिए आह्वान किया गया था। इसी बीच कहा जाता है कि नागर ब्राह्मण मित्रसेन, जो आगरा में कैद शाहज़ादा निकुसियर (अकबर का पुत्र) की सेवा में नियुक्त था, जयसिंह से गुप्त रूप से मिला और उसने निकुसियर को बादशाह घोषित करने की योजना पर जयसिंह से विचार-विमर्श किया। जयसिंह ने इस सम्बन्ध में अपनी सहमति दी और उसने छबीलाराम को सहायता देने के लिए पत्र लिखा। निजामुल्मुल्क से भी मदद मिलने की आशा थी। निकुसियर के विद्रोह का समय आदि भी निश्चित कर लिया गया था। जयसिंह के साथ मन्त्रणा के समय लिये गये निर्णय के अनुसार मित्रसेन ने 18 मई, 1719 ई. को निकुसियर को आगरा में बादशाह घोषित कर दिया और उसके नाम के सिक्के ढलवा दिये।[98]

जैसे ही निकुसियर के विद्रोह के समाचार दिल्ली पहुंचे, सैयदों ने अजीतसिंह आदि अपने सहयोगियों से मन्त्रणा कर तुरन्त सैयद हुसैनअली के नेतृत्व से विद्रोह को दबाने के लिए एक सेना आगरा के लिए रवाना कर दी। उधर निकुसियर को सहायता देने के उद्देश्य से जयसिंह ने विशाल सेना के साथ आगरा की ओर कूच किया और टोडा स्थान पर उसने अपना शिविर डाला। वह वहां छबीलाराम और निज़ाम द्वारा आगरा की ओर प्रस्थान करने के समाचार की प्रतीक्षा में रुका रहा। जयसिंह का दल-बल के साथ आगरा पहुंचना सैयद गुट के लिए बहुत बड़ा खतरा था। अब्दुल्ला खां और अजीतसिंह बादशाह रफीउद्दौला को साथ लेकर जयसिंह को आगरा पहुंचने से रोकने के लिए आगे बढ़ रहे थे और वे फतहपुर सीकरी पहुंच गये। वहां से वे आगरा की तरफ आगे बढ़े। इसी बीच निकुसियर के पतन के समाचार प्राप्त हो गये। हुसैनअली ने आगरा नगर और किले पर अधिकार कर लिया और विद्रोहियों को पूर्णरूप से शान्त कर दिया।[99]

अब सैयदों का सशक्त विरोधी जयसिंह बचा हुआ था। उसे कुचलने के लिए तैयारी की जा रही थी, परन्तु बादशाह रफीउद्दौला की मृत्यु हो जाने और मुहम्मदशाह को बादशाह घोषित करने के कारण जयसिंह के विरुद्ध सेना भेजने में कुछ विलम्ब हो गया। अब सैनिक कार्यवाही करने की योजना बनाई गई। अब्दुल्ला द्वारा बादशाह को लेकर अजमेर जाते समय रास्ते में जयसिंह को दंड देने की व्यवस्था की गई। इस सम्बन्ध में अजीतसिंह की सलाह थी कि जयसिंह को

मित्र बनाने का प्रयास किया जाय। उसने जयसिंह को शान्त कर उसे सैयदों का मित्र बनाने का दायित्व अपने ऊपर लिया। सैयद बन्धुओं ने अजीतसिंह को इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए अपनी सहमति दे दी। जयसिंह भी सैयदो से उस समय युद्ध करने के पक्ष में नहीं था। निकुसियर के विद्रोह के असफल हो जाने पर जयसिंह का निरुत्साहित होना स्वाभाविक था। अजीतसिंह मनोहरपुर के मार्ग मे कान्ताडेरा पहुंचा और उसने 5 नवम्बर 1719 ई. को वहां जयसिंह से बातचीत की जिसके परिणामस्वरूप जयसिंह के साथ एक समझौता हो गया। इस समझौते के अनुसार जयसिंह की मनसब और जागीर पूर्ववत् रखी गई और उसे सोरठ की फौजदारी प्रदान की गई। अजीतसिंह उसे अपने साथ जोधपुर ले गया जहां उसका बड़ा आदर सत्कार किया गया। अजीतसिंह ने अपनी लड़की का विवाह उसके साथ कर दिया और इस उपलक्ष में बादशाह की तरफ से उसे 20 लाख रुपये देने की व्यवस्था की गई। ऐसी आशा की जाती थी कि अजीतसिंह के प्रभाव के फलस्वरूप जयसिंह की सैयदों के प्रति शत्रुता मित्रता में परिणत हो जायेगी।[100]

महाराव भीमसिंह ने फर्रुखसियर के विरुद्ध सैयदों की मदद की थी। निकुसियर के विद्रोह के समय भी वह सैयदों के साथ रहा। तत्पश्चात् फरवरी 1720 ई. में सैयदो की सहायता से उसने बून्दी पर आक्रमण कर दिया और उस पर अधिकार कर लिया। बून्दी का महाराव बुद्धसिंह निराश होकर, सम्भवतः जयसिंह की सलाह से, गिरधरबहादुर के पास इलाहाबाद चला गया। वहां उसने सैयद विरोधी सघर्ष मे हिस्सा लिया, परन्तु जब सैयदों ने गिरधर बहादुर से समझौता कर लिया तो उसे वहां से पुनः लौटना पड़ा।[101]

सैयद विरोधी ईरानी और तुरानी अमीरों का गुट धीरे-धीरे संगठित हो रहा था। बादशाह मोहम्मदशाह भी गुप्त रूप से उन्हें प्रोत्साहित कर रहा था। निजामुल्मुल्क को जब मालवा की सूबेदारी के पद से हटाने का निर्णय लिया गया, तब उसने दक्षिण मे सैयदों के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। सैयद हुसैनअली बादशाह मुहम्मदशाह को साथ लेकर एक विशाल सेना के साथ अजमेर के रास्ते से निजाम को दण्ड देने के लिए दिल्ली से रवाना हुआ। उसके साथ असन्तुष्ट अमीर भी थे। उन्होंने सैयद हुसैनअली को मारने का षड्यन्त्र रचा। जब शाही सेना का पड़ाव जयपुर से 61 मील दूर स्थित टोडाभीम स्थान पर था, तब षड्यन्त्रकारियों ने हुसैनअली की हत्या कर दी।[102] अब अब्दुल्ला के विरुद्ध कार्यवाही की गई। 13 नवम्बर, 1720 ई. को आगरा के निकट हसनपुर मे अब्दुल्लाखां पराजित हुआ और वह कैद कर लिया गया। इस प्रकार सैयदो की विजारत समाप्त हुई।[103]

हुसैनअली के दिल्ली से प्रस्थान करने के समय अब्दुल्ला ने महाराजा अजीतसिंह और जयसिंह से, जो उस समय जोधपुर मे निवास कर रहा था, अपनी सेनाओं

के साथ सैयद हुसैनअली से अजमेर में आकर सम्मिलित होने का आग्रह किया था। जयसिंह को मालवा की सूबेदारी देने का भी प्रस्ताव किया गया था। अजीतसिंह और जयसिंह दोनों ही निजाम के विरुद्ध हुसैनअली के अभियान के प्रति उदासीन रहे। हुसैनअली की हत्या के बाद दिल्ली की राजनीति में जयसिंह पुनः सक्रियता से भाग लेने लगा। सैयद-विरोधी अमीरों और जयसिंह के बीच पत्रों का आदान-प्रदान हुआ। जयसिंह ने बीकानेर के महाराजा सुजानसिंह, हाडा बुद्धसिंह, कोटा के महाराव अर्जुनसिंह, राव इन्द्रसिंह आदि राजपूत राजाओं को मुग़ल बादशाह मोहम्मदशाह की मदद करने को पत्र भेजे। उन्होंने बादशाह की मदद तो नहीं की, परन्तु जयसिंह को सहानुभूति के प्रत्युत्तर भेजे। महाराणा संग्रामसिंह ने जयसिंह के आग्रह पर बादशाह की मदद के लिए एक सेना भेजी थी। जब यह सेना शाहपुरा में थी, जयसिंह ने बादशाह के विजयी होने की सूचना भेजी। इसलिए फिर यह सेना वापिस उदयपुर बुला ली गई। जयसिंह स्वयं ने राव जगराम के नेतृत्व में बादशाह की सहायता के लिए सेना भेजी थी। खाफीखां ने सेना की संख्या तीन या चार हजार बताई है जबकि शिवदास ने अपनी पुस्तक मुनव्वर-उल-कलाम में इसकी संख्या पचास हजार से भी अधिक होना लिखा है। दोनों कथन सत्यता से परे हैं। लगभग 10,000 सेना का होना निश्चित है। युद्ध समाप्त होने के बाद बादशाह ने स्वयं अपने हाथों से जयसिंह के सैनिकों को ईनाम दिये। युद्ध के पश्चात् जब जयसिंह दिल्ली पहुंचा तो बादशाह ने उसका बड़ा सत्कार किया। उसके कहने से बादशाह ने जजिया कर सदैव के लिए बन्द कर दिया। इसी समय से जयसिंह का उत्कर्ष आरम्भ होता है।[104]

यह बताया जा चुका है कि जाटों का आमेर राज्य की सीमा पर शक्तिशाली होना जयसिंह को रुचिकर नहीं था। इसके अतिरिक्त, आमेर-नरेश आगरा और मथुरा के निकटवर्ती क्षेत्रों पर अपना अधिकार स्थापित करने की आकांक्षा रखता था। 1717 ई. में जाटों के विरुद्ध किये गये सैनिक अभियान में सैयद अब्दुल्ला की कूटनीति से जयसिंह असफल रहा था। जाट नेता चूड़ामन सैयदों का पक्षपाती था। बादशाह और सैयदों के संघर्ष के समय उसने शाही शिविर में लूट-खसोट की थी। 1721 ई. में उसके पुत्र मुहकमसिंह ने आगरा के सूबेदार सआदतखां के नायब नीलकण्ठ नागर की हत्या कर दी थी। चूड़ामन को दबाने के लिए पहले सआदतखां को आदेश हुए थे, परन्तु वह जाट-नेता को कुचलने में असफल रहा था। अप्रेल 1722 ई. में बादशाह ने जयसिंह को जाटों के विरुद्ध कार्यवाही करने के आदेश दिये और उसे आगरा के सूबेदार के पद पर नियुक्त किया (सितम्बर 1722)। राजा गिरधर बहादुर, ओरछा नरेश, कोटा के महाराव अर्जुनसिंह, नरवर के गजसिंह व मुजफ्फरखां आदि को जयसिंह के साथ जाने के लिए कहा गया। जयसिंह को शाही खजाने से बहुत बड़ी धन राशि भी स्वीकृत की गई।[105] जयसिंह ने पूर्ण तैयारी के

बाद जाटों के सुदृढ़ किले थून पर आक्रमण किया और इसका घेरा डाला। पुराने अनुभवों से लाभ उठाते हुए जयसिंह ने किले के इर्द-गिर्द के जंगलों को साफ करवा दिया ताकि शाही तोपों का सहज ही में प्रयोग किया जा सके। परिस्थितियां भी जयसिंह के अनुकूल थी। पारिवारिक कलह से क्षुब्ध होकर जाट नेता चूड़ामन ने आत्महत्या कर ली। इससे जाटों की स्थिति कमजोर हो गई। जाटों में नेतृत्व के प्रश्न को लेकर गृह-कलह आरम्भ हो गया। चूड़ामन के पुत्र मुहकमसिंह और उसके चचेरे भाई बदनसिंह में तीव्र मतभेद थे। बदनसिंह रुष्ट होकर जयसिंह की सेवा में चला गया। वह थून के किले की कमजोरियों से परिचित था। उसी के संकेतों के आधार पर जयसिंह ने थून पर आक्रमण किया और उसे हस्तगत करने में सफल भी हुआ। मुहकमसिंह वहां से भाग निकला और वह अजीतसिंह की शरण में चला गया। 15 नवम्बर, 1722 ई. को जयसिंह विजयी होकर किले मे प्रविष्ट हुआ। उसने किले को पूर्ण रूप से ध्वस्त करने के आदेश दिये।[106] इस विजय से जयसिंह ने अपनी पुरानी अपकीर्ति को धो दिया और अब मुगल-दरबार में उसकी स्थिति बहुत सुदृढ़ हो गई। दिल्ली पहुचने पर बादशाह ने उसका भव्य स्वागत किया और उसे 'राजराजेश्वर' की उपाधि से विभूषित कर खिलअत आदि से सम्मानित किया गया। जाटो का क्षेत्र उसे जागीर में दे दिया ताकि वह इस पर नियन्त्रण रख सके। जयसिंह ने बदनसिंह को इस क्षेत्र का प्रशासक नियुक्त कर दिया। उसने जयसिंह को 83,000 रु. प्रति वर्ष पेशकश देना स्वीकार कर लिया था।[107] दशहरे जैसे आमेर-दरबार में वह उपस्थित होता था और अन्य सामन्तो की भाँति नजर-निछरावल प्रस्तुत किया करता था। यह वस्तुतः आमेर राज्य की बढ़ती प्रतिष्ठा का परिचायक था।

यह बताया जा चुका है कि 1722 ई. मे अजीतसिंह की प्रार्थना पर बादशाह ने अजमेर का सूबा उसी के पास रहने दिया था। परन्तु वह बादशाह की अवज्ञा करने पर तुला हुआ था। प्रथम तो उसने विद्रोही जाटों की मदद मे एक सेना जोधपुर से रवाना की जो जोबनेर से आगे किसी कारण से नहीं जा सकी। इसके बाद जब जाट नेता थून के किले से बचकर निकल भागा तो अजीतसिंह ने अपने यहां उसे आश्रय दिया था। यद्यपि यह उसकी मुगल–विरोधी हरकत थी, फिर भी बादशाह ने उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की। परन्तु जब अजीतसिंह ने नाहरखां और उसके भाई रहुल्लाखां की हत्या करवा दी तो बादशाह ने नाराज होकर इरादतमंदखां के सेनापतित्व में एक शाही सेना अजीतसिंह के विरुद्ध भेजी। जयसिंह को भी अजमेर जाने के आदेश हुए। यह पहले कहा जा चुका है कि मुगल फौज को आते देख अजीतसिंह तो जोधपुर की तरफ पलायन कर गया, परन्तु उसके नायब उदावत अमरसिंह ने शाही फौज का दृढता के साथ सामना किया। बाद में जयसिंह के प्रयत्नों से अजीतसिंह और मुगलों के बीच सन्धि हो गई। अजमेर

नगर और गढ़ बीटली पर मुगलों का अधिकार हो गया। युवराज अभयसिंह बादशाह की सेवा में दिल्ली भेज दिया गया। अजीतसिंह को क्षमा कर दिया गया, परन्तु उसे नागौर की जागीर इन्द्रसिंह को देनी पड़ी। जयसिंह ने स्वयं इन्द्रसिंह के साथ जाकर नागौर का कब्जा उसे दिलवाया।[108]

जयसिंह एक दूरदर्शी और महत्वाकांक्षी शासक था। उसे मालवा प्रान्त के प्रति विशेष रुचि थी क्योंकि मालवा के मार्ग से मराठा राजस्थान मे प्रवेश कर सकते थे जिसकी उस समय पूर्ण सम्भावना बनी हुई थी; इसलिए उसकी यह नीति रही कि मालवा पर उसका प्रभुत्व रहे। यदि यह सम्भव न हो तो कम से कम जो भी मालवा का स्वामी बने, उससे उसके सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण रहें। हाड़ौती राजस्थान और मालवा के बीच एक कड़ी थी। दक्षिण से राजस्थान में पहुंचने का यह मार्ग था। जयसिंह की यह आकांक्षा रही कि पूर्व में उसके राज्य की सीमा मथुरा और आगरा तक और दक्षिण में हाड़ौती क्षेत्र तथा सम्भव हो सके तो मालवा तक पहुंचे। आगे के पृष्ठों पर हम जयसिंह की इस नीति के परिवेश में बून्दी और कोटा राज्यों के साथ जयसिंह के सम्बन्धों का विश्लेषण करेंगे।[109]

जाजव युद्ध के पश्चात् बून्दी के रावराजा बुद्धसिंह का मुग़ल दरबार में मान बढ़ गया था, क्योंकि उसने इस युद्ध में मुअज्जम की मदद की थी। इसके विपरीत कोटा के महाराव रामसिंह शाहजादा आजम के पक्ष मे युद्ध कर वीरगति को प्राप्त हुआ था। उत्तराधिकार के युद्ध में विजयी होने के बाद मुअज्जम बहादुरशाह के नाम से बादशाह बना। वह रामसिंह के उत्तराधिकारी भीमसिंह से अप्रसन्न था। उसने अपने सहायक बुद्धसिंह को न केवल बून्दी का राज्य ही दिया, बल्कि उसे 54 परगनों के साथ कोटा पर अधिकार करने के आदेश भी दे दिए। यहीं से कोटा-बून्दी के हाड़ा भाइयों में संघर्ष आरम्भ होता है जो राजस्थान के लिए बहुत घातक प्रमाणित हुआ। इसी संघर्ष के कारण बाद में मराठों का राजस्थान में प्रवेश सम्भव हो सका था।[110]

बादशाह के आदेशानुसार बुद्धसिंह ने कोटा राज्य पर अधिकार करने के उद्देश्य से एक सेना भेज दी। भीमसिंह कोटा खाली करने के लिए तैयार नहीं था। अतः कचौदीखेड़े में युद्ध हुआ जिसमें बून्दी की फौज परास्त होकर भाग निकली। इसके बाद एक बार पुनः गंगाराम धाभाई के नायकत्व में बून्दी से एक सेना कोटा को हस्तगत करने के लिए भेजी गई, परन्तु इस सेना को भी अपना उद्देश्य-पूर्ति करने में सफलता नहीं मिली।[111] इस प्रकार कोटा राज्य पर बुद्धसिंह अधिकार नहीं कर सका। बादशाह बहादुरशाह अन्य कार्यों मे व्यस्त रहा, इसलिए वह इस सम्बन्ध में बुद्धसिंह की कुछ भी मदद नहीं कर सका। जहांदारशाह के काल तक हाड़ा भाइयों में तनाव की स्थिति बनी रही।

फर्रुखसियर के गद्दी पर बैठने पर दिल्ली की राजनीति में परिवर्तन आया। सैयद बन्धुओं का दिल्ली दरबार में महत्त्व बढ़ गया था। फर्रुखसियर के सिंहासना-

रूढ़ होने के समय राव बुद्धसिंह न तो उसकी सेवा में दिल्ली में उपस्थित हुआ और न उसने उसे शुभकामना या मुबारकबाद भेजने की व्यावहारिकता ही दिखाई। इसके विपरीत, कोटा का महाराव भीमसिंह दिल्ली-दरबार में उपस्थित हुआ और उसने सैयद बन्धुओं के माध्यम से बादशाह से कोटा और बून्दी दोनों राज्यों का फरमान प्राप्त कर लिया। इस कार्य में उसके श्वसुर किशनगढ़ के राजा राजसिंह ने भी उसकी सहायता की थी।[112]

सन् 1713 ई. मे जब बुद्धसिंह बून्दी से बाहर था, भीमसिंह ने बून्दी पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया। बुद्धसिंह अपने साले जयसिंह के पास मालवा पहुंचा। जयसिंह उस समय मालवा का सूबेदार था और बादशाह का कृपापात्र था। बुद्धसिंह जयसिंह के माध्यम से पुनः बून्दी प्राप्त करने के लिए प्रयास करने लगा। जयसिंह ने फरूंखसियर को आश्वासन दिलाया कि बुद्धसिंह भविष्य में शाही सेवा में उपस्थित रहेगा।[113] बादशाह जयसिंह को सैयदों के विरुद्ध अपने पक्ष में करने के उद्देश्य से उसे प्रसन्न रखना चाहता था। अतः उसकी सिफारिश पर बुद्धसिंह को बून्दी देने के आदेश दे दिये। 1715 ई. में मुगल सेनानायक दिलावरखां की सहायता से बुद्धसिंह का बून्दी राज्य पर तो अधिकार स्थापित हो गया, परन्तु बारां और माऊ के परगने वह नहीं ले सका। जयसिंह ने अपने प्रभाव से ये परगने भी बुद्धसिंह को दिलवाये और बुद्धसिंह तथा भीमसिंह के बीच मेल करवा दिया। भीमसिंह को ऐसा करने के लिए विवश होना पड़ा था, क्योंकि उसका पालक हुसैन-अली दिल्ली से दूर दक्षिण में था।[114]

फरूंखसियर के अन्तिम काल मे भीमसिंह भी सैयदों के गुट का एक प्रमुख सदस्य बन गया था। उसने फरूंखसियर को सिंहासनच्युत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, उसने अजीतसिंह और राजसिंह की सेना के साथ मिलकर दिल्ली मे स्थित बुद्धसिंह के डेरे पर आक्रमण कर दिया जिससे बुद्धसिंह के अनेक सैनिक मारे गये, परन्तु वह स्वयं बचकर निकल भागा और अपने संरक्षक बहनोई जयसिंह के पास चला गया। जयसिंह इस समय दिल्ली से कुछ दूरी पर सराय अल्लावर्दीखा में ठहरा हुआ था।[115]

भीमसिंह ने दिल्ली से लौटते समय मथुरा और वृन्दावन की यात्रा भी की थी। तत्काल वैराग्य हो जाने से वह कुछ समय तक वृन्दावन मे ही ठहरा रहा। उसके दीर्घकालीन अनुपस्थिति का लाभ उठा कर बून्दी के करवड़ ठिकाने का ठाकुर सालमसिंह एक फौज के साथ कोटा पर चढ़ आया। सालमसिंह बुद्धसिंह की तरफ से बून्दी का प्रशासक नियुक्त था। इस आक्रमण की जैसे ही सूचना भीमसिंह को मिली, वह तुरन्त तेजी से कोटा पहुंचा और उसने सालमसिंह के आक्रमण को विफल कर दिया। उसने बून्दी की सेना का पीछा किया और फाल्गुन शुक्ला 7, वि. सं. 1776 को बून्दी नगर पर भी अधिकार कर लिया। परन्तु वह

इसका स्थायी रूप से भोग नहीं कर सका, क्योंकि इस घटना के कुछ समय बाद ही 19 जून, 1720 ई. को निजामुल्मुल्क के विरुद्ध पुन्धार स्थान पर लड़े गये युद्ध में सैयदों के सेनानायक दिलावरअलीखां के साथ भीमसिंह भी धराशायी हो गया।[116]

भीमसिंह के चार पुत्र थे—अर्जुनसिंह, श्यामसिंह, दुर्जनसाल और किशनसिंह। भीमसिंह के देहान्त के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र अर्जुनसिंह गद्दी पर बैठा। इस समय बादशाह और सैयदों के बीच संघर्ष चरम-बिन्दु पर पहुंच चुका था। अन्ततः सैयदो का पतन हो गया। इससे मुग़ल-दरबार में जयसिंह और बुद्धसिंह का महत्त्व बढ़ गया था। जयसिंह के कहने से बादशाह ने बून्दी का राज्य पुनः बुद्धसिंह को दे दिया। सालमसिंह ने बून्दी के शासन का कार्य संभाल लिया। कोटा नरेश अर्जुनसिंह का बून्दी राज्य पर अधिकार समाप्त कर दिया गया। अर्जुनसिंह का राज्यकाल अत्यन्त स्वल्प रहा। कार्तिक शुक्ला सप्तमी संवत् 1780 को उसका देहान्त हो गया। सन्तान न होने के कारण उसने अपनी वसीयत में अपने भाई दुर्जनसाल को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था। दुर्जनसाल श्यामसिंह से छोटा था, इसलिए उसके सिंहासनारूढ होते ही दोनों भाइयों में गद्दी के लिए संघर्ष चालू हो गया। श्यामसिंह ने जयसिंह से सैनिक सहायता की याचना की। बून्दी के प्रश्न को लेकर कोटा और आमेर में महाराव भीमसिंह के समय से ही वैमनस्य चला आ रहा था। इसके अतिरिक्त जयसिंह हाड़ौती प्रदेश पर अपना प्रभाव जमाना चाहता था। अतः उसने श्यामसिंह की सैनिक सहायता की। परन्तु ऊदपुरिया (दीगोद के पास) के युद्ध में श्यामसिंह मारा गया और उसकी फ़ौज भाग खड़ी हुई।[117]

डा. वी. एस. भटनागर ने अपनी पुस्तक 'सवाई जयसिंह' (पृष्ठ 107) में उल्लेख किया है कि जयसिंह ने श्यामसिंह की मदद नहीं की थी। अपने इस मत की पुष्टि में उसने सालमसिंह द्वारा दिये गये एक पत्र का हवाला दिया है। इस पत्र में लगभग 1000 रुहेलों का उस समय हाडौती में उपस्थित होना लिखा है। सालमसिंह ने जयसिंह से इन रुहेलो को कोटा के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप करने से रोकने का आग्रह किया था। सम्भवतः जयसिंह के दबाव के कारण ये रुहेले मालवा की तरफ पलायन कर गये। इस पत्र से यह स्पष्ट नहीं होता कि जयसिंह ने श्यामसिंह की मदद नही की थी। इससे तो यह प्रमाणित होता है कि जयसिंह हाड़ौती के मामले में किसी अन्य शक्ति का हस्तक्षेप सहन नहीं करता था। सालमसिंह को, जो जयसिंह का कृपापात्र था, भय था कि रुहेले कोटा की तरफ से युद्ध करेंगे, इसीलिए उसने जयसिंह को इन्हे कोटा क्षेत्र से चले जाने के लिए दबाव डालने को लिखा था। हाड़ौती क्षेत्र से रुहेलों को बाहर निकालने में जयसिंह का निजी हित था। ऊपर दिये गये विवरण से यह स्पष्ट है कि जयसिंह की कोटा के राजाओं के

प्रति कभी सहानुभूति नहीं रही। अतः भटनागर के मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता। बून्दी राज्य पर तो जयसिंह का प्रभाव पहले से ही था। अब यदि श्यामसिंह जयसिंह की सहायता से कोटा राज्य प्राप्त कर लेता, तो वहाँ भी उसका प्रभाव कायम हो जाता। हाड़ौती क्षेत्र पर उसका प्रभाव स्थापित हो, यह उसकी नीति का मूल उद्देश्य था।[118]

पहले कहा जा चुका है कि सैयदों के पतन के बाद जयसिंह के प्रभाव से बून्दी का राज्य एक बार फिर बुद्धसिंह को प्राप्त हो गया था। परन्तु बुद्धसिंह, जिसने कौलधर्म को स्वीकार कर लिया था, शासन के कार्य में रुचि लेना छोड़ चुका था। जयसिंह ने नागराज नामक धाभाई को मन्त्री बनाकर बून्दी भेजा। उसने वहां पहुंच कर शासन का कार्य अपने हाथ मे ले लिया। बुद्धसिंह को इस प्रकार जयसिंह का हस्तक्षेप अरुचिकर लगा। उसकी पत्नी ने, जो जयसिंह की बहिन थी, अपने भाई पर दबाव डालकर नागराज को बून्दी के शासन कार्य से मुक्त करवाया और उसके स्थान पर सालमसिंह को प्रशासन का कार्य सुपुर्द किया गया।[119]

लगभग इसी समय कछवाही रानी के एक पुत्र हुआ जिसका नाम भवानीसिंह रखा गया। बुद्धसिंह कछवाही रानी के हठी स्वभाव के कारण नाराज था। उसका चूंडावत रानी से अधिक लगाव था। उसके द्वारा कछवाही रानी के साथ किये गये व्यवहार से लोगो में यह अपवाद फैल गया कि भवानीसिंह बुद्धसिंह का औरस पुत्र नही है। जयसिंह को भी अपनी बहन के चरित्र पर संदेह होने लगा। बुद्धसिंह द्वारा इसकी पुष्टि किये जाने पर जयसिंह ने भवानीसिंह को जयपुर बुलवाकर हत्या कर दी और बुद्धसिंह से लिखित समझौता कर लिया कि उसकी राठौड़ी और चूंडावती रानी से उत्पन्न पुत्रो को वह जयसिंह को सुपुर्द कर देगा तथा उसके द्वारा मनोनीत किये जाने पर ही उत्तराधिकारी घोषित किया जायेगा। कछवाही रानी को जब यह ज्ञात हुआ कि उसके पुत्र की हत्या कर दी गई है और इस षड्यन्त्र में उसके पति का हाथ है, तो उसने अन्न-जल लेना बंद कर दिया। बुद्धसिंह द्वारा यह लिखकर दिये जाने पर कि भवानीसिंह उसी का पुत्र था, रानी ने अन्न लेना स्वीकार किया। उसने अपने पति को क्षमा कर दिया। कुछ दिनों बाद बुद्धसिंह के चूंडावत रानी से उम्मेदसिंह नाम का एक पुत्र हुआ। उसने जयसिंह के साथ किये समझौते के अनुसार अपने पुत्र को उसके पास नही भेजा। इससे जयसिंह ने नाराज होकर बून्दी पर आक्रमण कर दिया और वहाँ से बुद्धसिंह को भगाकर बून्दी के सिंहासन पर सालमसिंह के पुत्र दलेलसिंह को बैठा दिया। जयसिंह की अधीनता में रह कर वह शासन का कार्य चलाने लगा। बाद मे जयसिंह ने दलेलसिंह बून्दी के शासक के रूप में बादशाही फरमान के लिए भी प्राप्त कर लिया और 19 मई, 1730 ई. को विधिवत् उसका राज्याभिषेक भी करवा दिया गया। दो वर्ष पश्चात् 1732 ई.

में जयसिंह ने अपनी पुत्री का विवाह दलेलसिंह के साथ कर यह भी घोषणा कर दी कि इस विवाह से उत्पन्न पुत्र बून्दी की गद्दी का हकदार होगा।[120]

बून्दी का नया शासक दलेलसिंह जयसिंह का सामन्त मात्र था। बून्दी का प्राचीन स्वतन्त्र राज्य अब आमेर राज्य का एक अंग माना जाने लगा। बून्दी पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की जयसिंह की आकांक्षा ने राजस्थान में एक नई उलझन पैदा कर दी। इस घटना के फलस्वरूप मराठों को राजस्थान की राजनीति में प्रथम बार प्रवेश होने का अवसर मिला।[121]

अपने भाई जयसिंह की कुटिल नीति से कुंठित होकर कछवाही रानी ने दलेलसिंह के विरुद्ध मराठों की सहायता प्राप्त करने के लिए उसी के ईर्ष्यालु बड़े भाई प्रतापसिंह को दक्षिण में भेजा। मल्हार राव होल्कर और राणोजी सिन्धिया से बातचीत कर उन्हें छः लाख रुपये देने का वायदा कर बून्दी पर चढ़ा लाया। अप्रेल 22, 1734 ई. को मराठा सेना ने दलेलसिंह को पराजित कर दिया और उसके पिता सालमसिंह को कैद कर लिया। बून्दी मे बुद्धसिंह को पुनः राजा घोषित कर दिया गया। इस विजय के समाचार सुन कर कछवाही रानी भी बून्दी पहुँची और उसने होल्कर को राखी बांध कर उसे भाई बनाया। कछवाही रानी बून्दी में निवास करने लगी और उसके मुख्य सलाहकार के रूप में प्रतापसिंह वहां का शासन-कार्य चलाने लगा। 18वीं शताब्दी मे कोई भी शासक किसी दूसरों की शक्ति के आधार पर शासन नहीं चला सकता था। बुद्धसिंह तो निरुत्साही होकर अफीम की पिनक और शराब की मस्ती में अपना जीवन व्यतीत कर रहा था। उसमें शासन करने की न तो क्षमता थी और न उमंग। ऐसी स्थिति में मराठों के पलायन करने के बाद जयसिंह का दल-बल के साथ बून्दी पर चढ़ आना स्वाभाविक ही था। उसने बून्दी पर पुनः अधिकार किया और दलेलसिंह को वहां का राजा घोषित कर दिया। प्रतापसिंह भाग कर मराठों के पास चला गया। परन्तु अब मराठे धन-राशि के प्रलोभन में जयसिंह को नाराज कर उससे शत्रुता मोल लेने के पक्ष में नहीं थे। 1735 ई. के बाद मराठों और जयसिंह के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गये थे, इसलिए जयसिंह के जीवन-काल में मराठों ने फिर बून्दी के मामले में हस्तक्षेप नहीं किया।[122]

नवम्बर 1737 ई. में दलेलसिंह के एक पुत्र हुआ। 1742 ई. में जयसिंह ने अपने धेवते को बून्दी का युवराज घोषित कर दिया और इसकी मान्यता मुग़ल दरबार से प्राप्त कर ली। 1739 ई. में बुद्धसिंह की मृत्यु हो गई। उसके दोनों पुत्र उम्मेदसिंह और दीपसिंह अभी नाबालिग थे। वे बून्दी की गद्दी के लिए संघर्ष करने की स्थिति में नहीं थे। इस प्रकार दलेलसिंह की स्थिति काफी सुरक्षित प्रतीत होती थी। यह स्थिति जयसिंह के मृत्यु-पर्यन्त बनी रही।[123]

मराठों का दबाव निरन्तर उत्तर की ओर बढ़ता जा रहा था। मुग़ल-दरबार की अव्यवस्था तथा वहां की गुटबन्दी के कारण मालवा के आन्तरिक प्रान्तीय

मामलों की जो उपेक्षा की गई, उसका मराठों ने लाभ उठाया। मराठा मुगल-क्षेत्र पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने को उद्यत थे। मराठा राजा शाहू राजपूतों से सम्पर्क स्थापित कर मुगलों के विरुद्ध उनके सहयोग का इच्छुक था। शिवाजी ने अपने पूर्वजों का सम्बन्ध उदयपुर महाराणा के परिवार से जोड़ा था। इसी परम्परा से प्रेरित होकर शाहू ने अपने निजी दूत प्रभु जादूराय को महाराणा के पास परामर्श हेतु उदयपुर भेजा था। उसने राणा को मालवा और गुजरात प्रान्तों से दस-दस लाख रुपये चौथ के रूप में मुगल-बादशाह से प्राप्त करने में सहयोग देने को कहा। राणा ने इसकी सूचना जयसिंह को भिजवा दी। जयसिंह ने मुग़ल-दरबार में इस सम्बन्ध में चर्चा की और मालवा की सूबेदारी के लिए प्रयास किये। अक्टूबर 1724 ई. से मालवा के सूबेदार के पद पर गिरधर बहादुर कार्य कर रहा था। वह बड़ा योग्य और सजग था। 1725 से 1727 ई. के बीच उसने मालवा पर मराठों के सभी आक्रमणों को विफल कर दिया था, परन्तु फरवरी 1728 ई. में पालखेड स्थान पर पेशवा बाजीराव द्वारा निजाम को परास्त किये जाने के बाद मराठा शक्ति का उत्थान होने लगा था। पेशवा की स्थिति अब बहुत सुदृढ़ हो गई थी। उसने मालवा और बुन्देलखण्ड को अपना कार्यक्षेत्र चुना और नई प्रेरणा तथा उत्साह के साथ मालवा पर आक्रमण करने आरम्भ किये। मालवा प्रदेश पर आक्रमण करने के सम्बन्ध मे जयसिंह से परामर्श लेने के उद्देश्य से बाजीराव ने दादो भीमसेन को जयपुर भेजा। यह ऊपर बताया जा चुका है कि जयसिंह मालवा की सूबेदारी के लिए लालायित था, परन्तु दो वर्ष के प्रयास के बाद भी जब उसे मालवा के सूबेदार के पद पर नियुक्त नहीं किया गया तब खिन्न होकर उसने भीमसेन के माध्यम से 17 अगस्त, 1728 ई. को पेशवा को सलाह दी कि वह शीघ्रातिशीघ्र मालवा पर आक्रमण करे। इस सलाह से प्रोत्साहित होकर बाजीराव और उसके भाई चिमनाजी अप्पा ने मालवे की ओर प्रयाण किया।[124]

चिमनाजी के नेतृत्व में एक मराठा सेना अमझेरा स्थान तक पहुंच गई जहां 29 नवम्बर, 1728 ई. को मुगल फौज से युद्ध हुआ जिसमें गिरधर बहादुर अपने भतीजे दयाबहादुर तथा अन्य प्रमुख सैनिकों के साथ वीरगति को प्राप्त हुआ। मुगल फौज पराजित होकर भाग निकली। इस पराजय से मुग़लों की बड़ी अपकीर्ति हुई। मालवा की स्थिति दिन-प्रतिदिन दयनीय होती जा रही थी। मुगल बादशाह मुहम्मदशाह ने अब अक्टूबर 1729 ई. मे जयसिंह को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया। वह तुरन्त उज्जैन पहुंचा। मराठो के साथ कुछ झड़पें हुईं, परन्तु बाद में मराठो के साथ समझौते की बात-चीत चालू हो गई।[125]

जयसिंह मराठों के साथ समझौता कर लेने के पक्ष मे था। वह चाहता था कि शाहू के दत्तक पुत्र को मालवा में 10 लाख रुपये की जागीर देने की व्यवस्था की

जाय जिसके बदले मे मराठा सेनानायक प्रदेश में लूट-खसोट बन्द कर दे तथा सूबे मे एक मराठी सेना सूबेदार की सेवा में प्रस्तुत रहे। ऐसा सम्भव होने पर मालवा मे शान्ति कायम हो सकेगी और साथ ही मराठों के विरुद्ध की जाने वाली सैनिक कार्यवाही के खर्चे से शाही खजाने को मुक्ति मिलेगी। इस प्रकार का समझौता हो जाने पर मराठों की शक्ति को आगे बढ़ने से रोका जा सकेगा। 1729 ई. मे जयसिंह द्वारा बादशाह को लिखे एक पत्र से इस प्रकार की नीति का आभास होता है। 26 फरवरी, 1730 ई. को शाहू ने जयसिंह के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया था। सद्भावना प्रदर्शित करने के उद्देश्य से शाहू ने माण्डू प्रदेश जयसिंह को लौटा दिया। यद्यपि 1728 ई. में मराठो के साथ समझौता करने की नीति के प्रति बादशाह ने अपनी सहमति प्रकट कर दी थी, फिर भी जयसिंह को मालवा के सूबेदार के पद से हटा कर सितम्बर 1730 ई. में उसके स्थान पर मुहम्मद बंगस की नियुक्ति के आदेश प्रसारित कर दिये। अब मराठों के साथ किया जाने वाला समझौता खटाई मे पड़ गया।[126] ऐसा सम्भवतः मुग़ल दरबार मे जयसिंह-विरोधी गुट के परामर्श से हुआ था।

वस्तुतः मुगल दरबार में इस समय दो प्रमुख दल थे। एक दल, जिसमें सवाई जयसिंह और मीर बख्शी खान-ए-दौरान थे, मराठों से समझौता करने के पक्ष में था। दूसरा गुट सआदतखां, मुहम्मदखां बंगस आदि का था जो शक्ति के जोर पर मराठों को मालवा से बाहर निकालने पर बल दे रहा था। सम्राट्, वजीर कमरूद्दीनखा और निजामुल्मुल्क किंकर्त्तव्यविमूढ़ थे। इस सम्बन्ध में उनकी कोई निश्चित राय नहीं थी। विपक्षी दल के प्रभाव के कारण सम्राट् ने जयसिंह का मराठों के साथ समझौते का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया और उसे तुरन्त पदच्युत कर दिया गया।[127]

मुहम्मद बंगस की मालवा के सूबेदार के पद पर नियुक्ति के साथ ही मराठों की आक्रमणकारी प्रवृतियां मालवा मे पुनः सक्रिय हो गई। अनुमानतः एक लाख मराठा सवार मालवा प्रान्त मे लूट-खसोट कर रहे थे। बंगस उन्हें प्रान्त के बाहर निकालने में पूर्णतया असफल रहा, इसलिए बादशाह ने 27 सितम्बर, 1732 ई. को तीसरी बार सवाई जयसिंह को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया। उस समय वह आगरा का सूबेदार भी था। वह एक विशाल सेना के साथ दिसम्बर में उज्जैन पहुच गया।[128]

मुहम्मद बंगस की सूबेदारी के समय मालवा की स्थिति बड़ी दयनीय हो चुकी थी। मालवा में सर्वत्र मराठों का आतंक व्याप्त था। जयसिंह ने महाराणा संग्रामसिंह के सहयोग से मराठो को मालवा से बाहर निकालने [illegible] बनाई इसके अन्तर्गत महाराणा ने अपनी चौबीस-पच्चीस हजार की कुल [illegible] से हजार सवार और नौ हजार पैदल जयसिंह [illegible] में [illegible]

किया। इसके बदले मे मालवा की आय का 1:2 के अनुपात में महाराणा और जयसिंह के बीच बटवारा किए जाने का निर्णय लिया गया। समझौते के प्रथम वर्ष मे मेवाड़ी सेना सारे वर्ष मालवा में रखी जानी थी। दूसरे वर्ष से छः महीने मेवाड़ी सेना और छः महीने जयपुर की सेना सूबे मे सेवा के लिए नियत रहती।[128] यह योजना पूर्ण रूप से कार्यान्वित होने ही नही पाई थी कि मराठो की एक विशाल सेना मालवा प्रदेश मे आ पहुंची। मन्दसौर नामक स्थान पर फरवरी 1733 ई. मे युद्ध हुआ जिसमें सवाई जयसिंह परास्त हुआ और उसे मराठों के साथ सन्धि करने के लिए विवश होना पड़ा। सन्धि के अनुसार जयसिंह को छ. लाख रुपये मराठों को नकद देना तय हुआ और चौथ के बदले मालवा के 28 परगने देना स्वीकार करना पड़ा। इस सन्धि के समापत के बाद जयसिंह जयपुर लौट आया। घटना के चार वर्ष बाद भी यद्यपि जयसिंह मालवा की सूबेदारी के पद पर काम करता रहा, तथापि राजस्थान की राजनीति मे वह इतना व्यस्त रहा कि मालवा मे पुनः नही जा सका।[129]

यह पहले उल्लेख किया जा चुका है कि बून्दी के मामले को लेकर मराठो ने प्रथम बार राजस्थान के आन्तरिक झगड़े मे सक्रियता से भाग लिया था। राजपूत शासकों मे इसकी भयंकर प्रतिक्रिया हुई। राजस्थान के सभी विचारशील नरेश मराठों की विस्तारवादी नीति के प्रति सतर्क और सजग होने लगे थे। उन्हें मराठों से भावी आपत्ति की सम्भावना दृष्टिगोचर होने लगी थी। वे मराठो की शक्ति को कम करने के उत्सुक थे। मन्दसौर की पराजय से जयसिंह क्षुब्ध था। मालवा मे मराठों के बढ़ते प्रभाव के कारण उसे अपनी मालवा को सूबेदारी खतरे मे पड़ती नजर आ रही थी। इसके अतिरिक्त जयसिंह मालवा को रामपुरा के साथ मिलाकर अपने छोटे पुत्र माधोसिंह के लिए एक नये राज्य की स्थापना करने की तीव्र अभिलाषा रखता था। ऐसा किये जाने पर उसके मृत्युपरान्त जयपुर राज्य मे उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर संभावित संघर्ष को टाला जा सकता था। मारवाड़ का महाराजा अभयसिंह भी मराठों के बढ़ते प्रभाव से चिन्तित था। गुजरात मे पीलाजी गायकवाड़ की हत्या के प्रश्न को लेकर मराठों के साथ महाराजा के सम्बन्ध बड़े कटु हो गये थे। वह गुजरात के अधिकाश भाग को मिलाकर मारवाड़ का बृहत्तर राज्य स्थापित करने की धुन मे था। यह तभी सम्भव हो सकता था जब गुजरात मे मराठो की शक्ति को कम किया जाता। मेवाड की सीमा पर मराठो के आतंक से महाराणा को अपने राज्य की सुरक्षा की चिन्ता बनी हुई थी। इसी प्रकार राजस्थान के अनेक छोटे-बड़े राजा अपनी राज्य सीमा मे वृद्धि करने या उसकी रक्षा हेतु मराठो के विरुद्ध कठोर कदम उठाने के पक्ष मे थे। ऐसे वातावरण मे जयसिंह ने मराठों को मालवा से हटाने के लिए सामूहिक रूप से योजना बनाने हेतु राजपूत राजाओं का एक सम्मेलन अजमेर के निकट मेवाड़ सीमा मे स्थित हुरड़ा गाव में

आयोजित किया । यह सम्मेलन 17 जुलाई मंगलवार 1734 ई. को सम्पन्न हुआ ।[130] इस सम्मेलन में मेवाड़ का महाराणा जगतसिंह (द्वितीय), जयपुर का सवाई जयसिंह, जोधपुर का महाराजा अभयसिंह, कोटा का महाराव दुर्जनसाल हाड़ा, बीकानेर का महाराजा सुजानसिंह, नागौर का राजा बख्तसिंह, बून्दी का राव दलेलसिंह, करौली का गोपालसिंह, किशनगढ़ का राजसिंह आदि अनेक नरेश भाग लेने को उपस्थित हुए थे । यद्यपि महाराणा जगतसिंह योग्य शासक व कुशल राजनीतिज्ञ नही था, तथापि परम्परागत मेवाड़ वंश की प्रतिष्ठा के अनुकूल उसे सम्मेलन का अध्यक्ष बनाया गया । एक लम्बे वाद-विवाद के बाद सर्वसम्मति से निम्नलिखित निर्णय लिये गये —

(1) सभी परिस्थितियों में एक दूसरे के सुख दुःख के साथी बने रहेंगे । एक का अपमान और मान सबका अपमान और मान समझा जायेगा ।

(2) कोई भी एक दूसरे शासक के शत्रु को अपने यहां शरण नहीं देगा ।

(3) वर्षा ऋतु के बाद सभी शासक अपनी सेनाओं के साथ रामपुरा में उपस्थित होंगे । यदि किसी कारण से वे स्वयं नही आ सके तो अपने युवराज के नेतृत्व में सेना भेजने की व्यवस्था करेंगे ।

(4) यदि किसी कारणवश युवराज द्वारा गलती हो जाये तो महाराणा को उसे ठीक करने का अधिकार होगा ।

(5) मराठों के विरुद्ध जो भी अभियान किया जाये, वह सभी की सहमति व संगठित रूप से किया जाये ।[131]

उपर्युक्त निर्णयों की सूचना मुगल-दरबार में भेज दी गई । वजीर ने राजस्थान के शासकों को विश्वास दिलाया कि उन्हें मुग़ल-सहायता दी जायेगी । हुरड़ा सम्मेलन का राजस्थान के इतिहास में विशिष्ट स्थान है । 1527 ई. में राजपूत राजाओं ने मिलकर राणा सांगा के नेतृत्व में खानवा के युद्ध में बाबर से लोहा लिया था । एक बार फिर राजस्थान के राजा मेवाड़ के राणा जगतसिंह के नेतृत्व में मराठों के विरुद्ध संयुक्त कार्यवाही करने के लिए हुरड़ा में एकत्र हुए किन्तु यह सम्मेलन सफल नही हो सका । इसका मूल कारण यह था कि राजस्थान के राजाओं का नैतिक पतन हो चुका था । महाराणा जगतसिंह मे नेतृत्व करने की योग्यता व क्षमता का अभाव था । उसने सम्मेलन के बाद राजपूत राजाओं को मराठों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने के लिए एकत्र करने का समुचित प्रयास नही किया । वस्तुत: सम्मेलन सवाई जयसिंह के प्रयत्नो से सम्भव हुआ था, परन्तु सम्मेलन में राणा को अध्यक्ष चुना गया जबकि योग्यता के आधार पर अध्यक्षता का पद जयसिंह को दिया जाना चाहिए था । ऐसा न करने से सम्मेलन में उपस्थित होने पर भी जयसिंह

उदासीन रहा। जयसिंह, जगतसिंह और अभयसिंह के बीच बुनियादी मतभेद थे। ऐसी स्थिति में राजपूतों द्वारा मराठों के विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही करना सम्भव नही था। सम्मेलन में लिये गये निर्णय के अनुसार राजपूत राजा अपनी सेनाओं के साथ वर्षा ऋतु के समाप्त होने पर रामपुरा मे एकत्र नहीं हुए। सम्भवत: उन्होने मुग़ल सरकार द्वारा आयोजित मराठा-विरोधी अभियान में सम्मिलित होना बेहतर समझा। हुरड़ा-सम्मेलन राजपूत नरेशों की स्वार्थपरता, हठधर्मी और चारित्रिक दुर्बलता का प्रतीक मात्र बन कर रह गया। इस सम्मेलन के फलस्वरूप मराठों के मन मे राजपूतों के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई। राजपूतों के साथ उनके सम्बन्ध पहले से भी अधिक कटु हो गये। इस सम्मेलन ने मराठा आतंक की ज्वाला को भड़काने मे घी का काम किया।

सन् 1734 ई. के आखरी महीनो में मुगल-बादशाह ने मराठों को मालवा से बाहर निकालने के उद्देश्य से दो सेनाएं भेजीं। एक सेना का नेतृत्व वजीर कमरूद्दीन कर रहा था और दूसरी फौज का नेतृत्व जो राजस्थान के मार्ग से मालवा में प्रवेश होने जा रही थी, खान-ए-दौरान ने किया। फरवरी 1735 ई मे सवाई जयसिंह, अभयसिंह, दुर्जनसाल व अन्य राजपूत शासक अपनी-अपनी सेनाओं के साथ शाही फौज में सम्मिलित हो गये जिससे मुगल सेना की सख्या 1 लाख से भी अधिक हो गई। शाही सेना मुकन्दरा के दर्रे को पार कर रामपुरा पहुंची। मराठा भी शाही फौज का सामना करने के लिए तैयार थे। कुछ समय तक छुट-पुट मुगल-मराठा झड़पें होती रही, परन्तु बाद में द्रुतगामी मराठा घुड़सवारो ने तेजी से विशाल मुगल सेना को एक तरफ छोड़ जयपुर राज्य की सीमा मे प्रवेश कर लूट-खसोट करना आरम्भ कर दिया। उन्होने साभर नगर को लूटा, जहा उन्हें पर्याप्त सामग्री प्राप्त हुई। जयसिंह मुगल सेना को छोड़ तुरन्त अपने राज्य की रक्षा के लिए जयपुर पहुंचा। मुगल सेना के रसद के मार्ग अवरुद्ध कर दिये गये थे। मुगलो की स्थिति दयनीय होने लगी। ऐसी स्थिति में जयसिंह और खान-ए-दौरान ने विवश होकर मराठों से सन्धि कर ली। यह सन्धि 24 मार्च, 1735 ई. को कोटा मे सम्पन्न हुई। इस सन्धि के अनुसार मुग़लो द्वारा 22 लाख रुपये मराठो को देना तय हुआ।[132]

इस युद्ध से पता चल गया कि मराठों की हल्की तोपों और उनके तीव्रगामी घुड़सवारों के सामने मुगलो की लम्बी-चौड़ी अजगर की गति से चलने वाली सेना और भारी तोपें नही टिक सकती थी। सरदेसाई का कहना है कि 20 हजार मराठा सैनिक दो लाख मुग़ल सैनिको से अधिक योग्य प्रमाणित हुए। इसे मराठा रण-कौशल की अनूठी सफलता कही जा सकती है।[133]

मराठों के साथ युद्ध समाप्त कर जयसिंह और खान-ए-दौरान् दिल्ली लौट गये। इनका मराठो के विरुद्ध अभियान पूर्णतया असफल रहा। इनके विरोधी गुट

के लोगों ने, विशेषकर साम्रदतखां ने इनकी कटु आलोचना की। उसने बादशाह से कहा कि जयसिंह ने मराठों को सन्तुष्ट रखने की नीति से मालवा सूबे को बरबाद करवा दिया। यदि आगरा और मालवा के सूबे जो अभी जयसिंह के पास थे, उसे दे दिये जायें तो वह अपने मित्र निजाम से मिलकर मराठों को मालवा से निकाल सकता है। इसके विपरीत जयसिंह और खान-ए-दौरान ने बादशाह से निवेदन किया कि मराठों के साथ शक्ति-परीक्षण अनेक बार किया जा चुका है। मराठों से युद्ध कर जन और धन की क्षति करना निरर्थक सिद्ध हुआ है। वे पेशवा और उसके भाई चिमनाजी से मेल कर उनकी बादशाह से भेंट करवा देंगे जिससे उनके साथ स्थायी रूप से समझौता किया जा सके। उन दोनो का कहना था कि पेशवा समझौता करने के इच्छुक हैं लेकिन बादशाह निश्चित रूप से कोई निर्णय लेने में असमर्थ था। पहले मुहम्मदशाह ने साम्रदतखां के कहने से युद्ध-नीति का समर्थन किया, परन्तु जब यह नीति असफल होती दिखाई दी तो पुन: उसका झुकाव मराठों से समझौता करने की तरफ होने लगा। जयसिंह ने पेशवा बाजीराव को उत्तर में आने के लिए आमन्त्रित किया। उसने उसे प्रति दिन 5000 रुपये फौज खर्च के रूप में देने तथा मालवा की चौथ का प्रश्न भी हल करवा देने का वचन दिया। जयसिंह ने यह भी आश्वासन दिया कि वह पेशवा की बादशाह से बातचीत करवा देगा।[134]

बाजीराव के राजस्थान में आने के पहले उसकी माता राधाबाई तीर्थयात्रा हेतु उत्तरी भारत मे आई। पहले वह उदयपुर पहुंची जहां राणा ने उसका बड़ा सत्कार किया। जयपुर आने पर सवाई जयसिंह ने उसकी अगवानी की और उसके सम्मान में बहुत बड़ी धन-राशि खर्च की। मराठे राजस्थान मे राधाबाई के प्रति किये गये आदर-सत्कार से बहुत प्रसन्न हुए। राधाबाई की इस धर्म-यात्रा की राजनीतिक महत्ता भी थी। बाजीराव के आगमन के पहले राधाबाई की इस धर्म-यात्रा ने जयसिंह और बाजीराव के बीच बातचीत करने का उपयुक्त वातावरण तैयार कर दिया था।[135]

अक्टूबर 1735 ई में पेशवा पूना से चलकर जनवरी 1736 ई. में मेवाड़ पहुंचा। वहां राणा ने उसका स्वागत किया और डेढ़ लाख रुपये वार्षिक चौथ देना स्वीकार कर लिया। उदयपुर से नाथद्वारा होता हुआ बाजीराव जयपुर की ओर अग्रसर हुआ। अजमेर के निकट 4 मार्च, 1736 ई. को भमोला स्थान पर जयसिंह और पेशवा के बीच विचार-विमर्श हुआ। बाजीराव ने दक्षिण और मालवा से सम्बन्धित अनेक मांगें प्रस्तुत की। बादशाह स्वयं पेशवा से मिलने के पक्ष मे नही था। अतः जयसिंह के चाहने पर भी पेशवा और मुगल बादशाह के बीच कोई समझौता नही हो सका। इसका मूल कारण यह था कि जयसिंह का विरोधी गुट दिल्ली में सक्रिय था जो बादशाह को ऐसा करने से रोक रहा था। अन्ततः

पेशवा खिन्न होकर दक्षिण की ओर लौट गया। युद्ध की तैयारी पुनः की जाने लगी।[136]

जनवरी 1737 ई. मे मराठे दक्षिण से पुनः उत्तर की ओर अग्रसर हुए। मालवा पर उन्होने अधिकार कर लिया और लूट-खसोट करते हुए मराठे पेशवा बाजीराव के नेतृत्व मे दिल्ली के निकट पहुंच गये। बादशाह मुहम्मदशाह भयभीत हो गया। उसने निजामुल्मुक से मराठो के विरुद्ध सहायता मागी। उससे तुरन्त दिल्ली आने का आग्रह किया। निजाम भी मराठो की शक्ति को कुचलने के पक्ष में था। वह 12 जुलाई, 1737 ई. को दिल्ली पहुंचा। बादशाह ने उसका भव्य स्वागत किया और आसफजहा (सर्वोच्च उपाधि) की उपाधि से उसे विभूषित किया गया। आगरा और मालवा की सूबेदारी जयसिंह से लेकर निजाम के पुत्र गाजीउद्दीनखां को दे दी गई। निजाम को सेना तैयार करने के लिए शाही खजाने से 60 लाख रुपये स्वीकृत हुए। अनेक प्रमुख शाही पदाधिकारियों को उसके साथ जाने के आदेश दिये गये। इस प्रकार पूरी तैयारी के साथ एक विशाल सेना लेकर निजाम ने पेशवा के विरुद्ध अभियान आरम्भ किया, परन्तु पेशवा ने निजाम को भोपाल के युद्ध में परास्त कर दिया और उसे 7 जनवरी, 1738 ई. को अपमानजनक सन्धि करने के लिए विवश होना पड़ा। इस सन्धि के अनुसार पेशवा को मालवा की सूबेदारी और नर्मदा और चम्बल के बीच के सम्पूर्ण क्षेत्र पर मराठों की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली गई। इसके अतिरिक्त निजाम ने युद्ध के खर्चे के रूप में 50 लाख रुपये शाही खजाने से दिलवाने का वायदा किया।[137] ऐसी सम्भावना थी कि बादशाह निजाम-मराठा समझौते के अनुसार मालवा और बुन्देलखण्ड मराठों को देने लिए तैयार हो जायेगा। जयसिंह व खान-ए-दौरान पहले से ही समझौता कर लेने के पक्ष मे थे। परन्तु तुरन्त ऐसा नही हो सका, क्योंकि दिल्ली पर नादिरशाह का आक्रमण हो गया जिससें दिल्ली दरबार के लिए एक नया संकट उत्पन्न हो गया था। नादिरशाह के आक्रमण से मुगल शक्ति बुरी तरह क्षीण हो गई।[138]

सन् 1740 ई. में पेशवा बाजीराव की मृत्यु हो गई। उसके उत्तराधिकारी बालाजी बाजीराव ने भी जयसिंह के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयास किया और उसी के माध्यम से बादशाह के साथ समझौता करना चाहा। मार्च 1741 ई. मे वह उत्तर की ओर आया। वह जयसिंह से, जो उस समय आगरे का सूबेदार था, धौलपुर मे मिला और विचार-विमर्श के पश्चात् जयसिंह और मराठों के बीच एक समझौता हुआ. जिसे जयसिंह की सलाह से बादशाह ने स्वीकार कर लिया और इस सम्बन्ध मे बादशाह की तरफ से 4 जुलाई, 1741 को एक फरमान प्रसारित कर दिया गया। इस समझौते के अनुसार मालवा पर पेशवा का अधिकार

स्वीकार कर लिया गया परन्तु बादशाह की प्रतिष्ठा को बनाये रखने की दृष्टि से पेशवा को मालवा का नायब सूबेदार नियुक्त किया गया और सूबेदार पद के लिए किसी एक शाहजादा का नाम मनोनीत किया गया। अंततोगत्वा जयसिंह की सलाह से ही मराठों के साथ मुगल समझौता सम्भव हो सका था। सवाई जयसिंह शुरू से ही मराठो के साथ समझौता करने के पक्ष मे था।[139]

यह पहले बताया जा चुका है कि अजीतसिंह की हत्या के लिए मुगल दरबार दिल्ली मे षड्यन्त्र किया गया था जिसमें जयसिंह का भी प्रमुख हाथ था। जयसिंह के प्रभाव में आकर ही अभयसिंह ने अपने भाई बख्तसिंह को एक पत्र लिखा था जिसमें उसे अपने पिता की हत्या करने के लिए कहा गया था। अजीतसिंह की हत्या हो जाने के बाद जयसिंह का अभयसिंह का सहयोगी और समर्थक होना स्वाभाविक ही था। अभयसिंह का राज्याभिषेक दिल्ली में ही किया गया जिसमें बादशाह स्वयं उपस्थित हुआ था। जयसिंह ने अपनी पुत्री का विवाह भी उसके साथ कर दिया। मारवाड़ मे अजीतसिंह की हत्या की भयंकर प्रतिक्रिया हुई। अभयसिंह के विरोध मे मारवाड़ में सिंहासन के लिए गृह युद्ध आरम्भ हो गया। उसके अनुज आनन्दसिंह और रायसिंह ने कतिपय चांपावत, कूंपावत, ऊदावत आदि सरदारों के सहयोग से मारवाड़ में विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। उन्होंने सोजत, जैतारण और गोडवाड़ परगनो पर अधिकार कर लिया और मेड़ता के आस-पास के क्षेत्र में लूट-खसोट करनी आरम्भ कर दी। विद्रोहियों को दबाने के लिए अभयसिंह दिल्ली से कूच कर मारवाड़ पहुंचा। उसने विद्रोहियों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की, परन्तु सफलता नहीं मिली। अन्त में जयसिंह और उसकी सलाह पर राणा संग्रामसिंह द्वारा भेजी गई सेनाओं की सहायता से अभयसिंह अपने भाइयों के विद्रोह को कुचलने में सफल हुआ। आनन्दसिंह और रायसिंह मारवाड़ छोड़ गुजरात की ओर पलायन कर गये। बख्तसिंह ने अभयसिंह के आदेशानुसार पिता की हत्या की थी; अतः नागौर का परगना, जिसे बादशाह ने अभयसिंह को दिया था, महाराजा ने अपने भाई बख्तसिंह को हस्तान्तरित कर दिया। वह वहां स्वतन्त्र शासक के रूप में कार्य करने लगा।[140]

इस समय गुजरात में मराठों का प्रसार होने लगा था तथा उनका आतंक सूबे में सर्वत्र व्याप्त था। उन्होंने वहां चौथ और सरदेशमुखी एकत्र करनी आरम्भ कर दी। अभयसिंह के विद्रोही भाई आनन्दसिंह और रायसिंह ने अभयसिंह के विरुद्ध मराठो से सहायता मांगी। उनकी मदद से पहले उन्होंने ईडर पर अधिकार करना चाहा। ईडर अभयसिंह को जागीर मे दिया गया। ईडर पर महाराणा संग्रामसिंह की भी आंख लगी हुई थी। उसने सवाई जयसिंह पर ईडर प्राप्त करवाने के लिए दबाव डाला और फिर उसकी सहमति से उसने ईडर पर अधिकार कर लिया। इस कारण से अभयसिंह राणा से रुष्ट था। जब मराठा सरदार पताजी

कदम और पीलाजी गायकवाड़ ने विद्रोही भाइयों के कहने पर जालौर परगने को लूटना आरम्भ कर दिया, तब उसने उन्हें एक बड़ी धनराशि देकर शान्त किया, और मराठों की मदद से आनन्दसिंह को जब ईडर प्राप्त हो गया, तब उसने इसकी स्वीकृति प्रदान कर गृह-कलह को भी समाप्त किया। जयसिंह की भी इसमें सहमति थी।[141]

मराठो के आगमन के कारण गुजरात सूबे की स्थिति दिन-प्रतिदिन खराब होती जा रही थी। वहां का सूबेदार सरबुलन्दखां मराठों के उत्पात को शान्त करने में असफल रहा। उसने मराठों के साथ समझौता कर पेशवा को वहां चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने के अधिकार दे दिये। मुगल दरबार में सरबुलन्दखां द्वारा किये गये उक्त समझौते की कटु आलोचना की जाने लगी। बादशाह ने नाराज होकर सरबुलन्दखां को सूबेदार के पद से हटा कर उसके स्थान पर अभयसिंह को नियुक्त कर दिया और उसे शाही खजाने से बहुत बड़ी धनराशि, तोपें आदि देकर गुजरात की तरफ जाने के आदेश दिये। अभयसिंह ने मारवाड़ के रास्ते से दल-बल के साथ गुजरात की तरफ प्रस्थान किया। 10 अक्टूबर, 1730 ई. को अहमदाबाद के निकट सरबुलन्दखां के साथ अभयसिंह का युद्ध हुआ जिसमे खान पराजित हुआ और अभयसिंह ने गुजरात सूबे का कार्यभार संभाल लिया। उसकी गुजरात में मराठा-सम्बन्धी गतिविधियों का विस्तृत विवरण मराठो का राजस्थान मे प्रवेश नामक अध्याय में आगे दिया जायेगा। यहां इतना लिखना पर्याप्त होगा कि धीरे-धीरे मराठो ने गुजरात सूबे पर अपना प्रभुत्व जमा लिया और मारवाड़ क्षेत्र पर भी उनके छुट-पुट आक्रमण यदा-कदा होने लगे थे। यद्यपि महाराजा अभयसिंह गुजरात का सूबेदार 1737 ई. तक बना रहा तथापि वह मराठो के बढ़ते हुए दबाव को देखते हुए 1733 ई. के मध्य में मारवाड़ लौट आया। उसकी अनुपस्थिति मे उसका नायब रत्नसिंह भंडारी सूबे के प्रशासन का कार्य चलाता रहा।[142]

सन् 1733 ई. मे नागौर के स्वामी बख्तसिंह और बीकानेर के राजा सुजानसिंह के बीच सीमा के प्रश्न को लेकर विवाद खड़ा हो गया। अभयसिंह ने अपने भाई की मदद मे एक सेना बीकानेर पर आक्रमण करने के लिए भेज दी। कुछ समय के बाद बीकानेर वालों के साथ समझौता हो गया और सीमा का विवाद अस्थायी रूप से सुलझ गया।[143]

यह पहले उल्लेख किया जा चुका है कि जयसिंह के निमन्त्रण पर अभयसिंह भी अपने भाई नागौर के स्वामी बख्तसिंह के साथ हुरड़ा-सम्मेलन मे उपस्थित हुआ था। बाद मे मराठों के विरुद्ध की गई सैनिक कार्यवाही के समय जयसिंह और खान-ए-दौरान द्वारा उनसे सन्धि कर लेने पर महाराजा बड़ा क्षुब्ध हुआ था। वह जयसिंह की मराठो के साथ समझौता करने की नीति से सहमत नहीं था। वह

उनके साथ कठोरता की नीति अपनाने के पक्ष मे था। वैसे तो 1728 ई. के बाद ही महाराजा अभयसिंह और जयसिंह के बीच मनमुटाव उत्पन्न हो गया था, परन्तु अब मराठो के साथ अपनाई जाने वाली नीति को लेकर उनके मतभेद और भी तीव्र हो गये थे। उसने मुगल दरबार मे जयसिंह-विरोधी गुट मे सम्मिलित हो कमरुद्दीनखां, साअदतखां, मुहम्मद बंगश आदि का साथ देना आरम्भ कर दिया। बाद मे वह जयसिंह का विरोधी ही बना रहा। बीकानेर के प्रश्न को लेकर तो इन दोनों राजपूत राजाओ मे सशस्त्र संघर्ष भी हुआ।

अपने पिता अजीतसिंह की भाँति अभयसिंह और बख्तसिंह ने भी 1733 और 1734 ई. मे बीकानेर पर अधिकार करने के लिए असफल प्रयास किये थे, परन्तु 1735 ई. के बाद मारवाड़ की राजनीति में एक नया मोड़ आया। 1736 ई मे अभयसिंह और बख्तसिंह के सम्बन्धो में तनाव उत्पन्न हो गया। अभयसिंह अपने भाई की महत्त्वाकाक्षा के प्रति शकित होने लगा था। बख्तसिंह ने बीकानेर के महाराजा जोरावरसिंह के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लिए थे। 1739 ई. मे जब अभयसिंह ने बीकानेर पर आक्रमण किया, तब बख्तसिंह ने जोरावरसिंह की मदद करने के अभिप्राय से मेड़ता पर अधिकार कर लिया और इसके बाद वह ससैन्य जोधपुर की तरफ बढ़ने लगा। ऐसी स्थिति में अभयसिंह को तुरन्त बीकानेर का घेरा उठा कर जोधपुर की तरफ प्रयाण करना पड़ा। उसे अपने भाई के साथ समझौता करना पड़ा जिसके अनुसार मेड़ता उसे पुनः प्राप्त हो गया परन्तु जालौर की मरम्मत करवाने के लिए उसे तीन लाख रुपये बख्तसिंह को देने पड़े।[141]

सन् 1740 ई. मे अभयसिंह ने बीकानेर के विद्रोही ठाकुर भादरा के लालसिंह, चूरू के संग्रामसिंह और महाजन के भीमसिंह के सहयोग से एक बार फिर बीकानेर पर आक्रमण कर इसका घेरा डाला। बख्तसिंह जोरावरसिंह की मदद करने के लिए उद्यत था, परन्तु उसकी सलाह थी कि जोधपुर महाराजा के आक्रमणो से सदैव के लिए मुक्त हो जाने के लिए जयसिंह की सहायता अपेक्षित है। वस्तुतः बख्तसिंह जोधपुर राज्य प्राप्त करने के स्वप्न देखने लगा था। जयसिंह की सहायता से उसका यह स्वप्न साकार किया जा सकता था। जयसिंह के पास जब बीकानेर का दूत पहुंचा तब वह बीकानेर वालो की मदद करने को तैयार तो हो गया परन्तु बख्तसिंह की वफादारी के प्रति उसे शंका थी। मदद देने के पहले वह चाहता था कि बख्तसिंह मेड़ता पर आक्रमण कर अपनी सच्चाई का प्रमाण प्रस्तुत करे। बख्तसिंह को जब इसका संकेत मिला तो उसने तुरन्त मेड़ता पर आक्रमण कर दिया। इस पर जयसिंह ने अपने मन्त्री अयामल के नेतृत्व में 20,000 सैनिक जोरावरसिंह के सहायतार्थ बीकानेर भेज दिये। वह स्वयं एक विशाल सेना के साथ जोधपुर की तरफ रवाना हो गया। उसके सन्देशानुसार मेवाड़ के राणा ने भी

जयसिंह की सहायता के लिए एक सेना अजमेर की ओर भेज दी। राणा की फौज मे कोटा के महारावल दुर्जनसाल और प्रतापगढ व डूंगरपुर के रावल भी उपस्थित थे। ऐसी स्थिति में अभयसिंह के समक्ष बीकानेर के घेरे को उठाकर जोधपुर की ओर पलायन करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नही रहा। अभयसिंह विषम परिस्थितियों में था। उसे जयसिंह के साथ अपमानजनक सन्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ा। सन्धि की शर्तें निम्न प्रकार से थी :—

1. अभयसिंह 1 लाख रुपये नकद और 25 हजार रुपयो के जवाहरात मुग़ल बादशाह को नजराने के देगा।
2. जयसिंह को 20 लाख रुपये युद्ध खर्चे के रूप मे देना तय हुआ।
3. बीकानेर के जीते हुए गाव वापस लौटाने पड़ेंगे और बख्तसिंह को मेड़ता दिया जायेगा।
4. जयसिंह के इजारा में प्राप्त गांवो मे अभयसिंह हस्तक्षेप नही करेगा।
5. जोधपुर का वकील मुगल-दरबार में नही रहेगा। उसे मराठों और मुगलो से पृथक् से बातचीत करने का अधिकार नही रहेगा। अजमेर पर जयसिंह का अधिकार रहेगा।

उपर्युक्त शर्तों का उल्लेख वी. एस. भटनागर ने अपने शोध-ग्रन्थ सवाई जयसिंह में किया है।[145] उसने इसके लिए कपट द्वारा के कागजात को आधार बनाया है। इन सभी शर्तों की पुष्टि अन्य किसी स्रोत से स्पष्ट रूप में नही होती, परन्तु यह तो निश्चित है कि अभयसिंह को विवश होकर सन्धि करनी पड़ी थी और ऐसा उसके भाई बख्तसिंह का शत्रुओं के साथ रहने से सम्भव हुआ था। इस कारण बख्तसिंह की मारवाड़ मे बहुत बदनामी हुई। इसके साथ-साथ जयसिंह की मदद से बख्तसिंह जोधपुर की गद्दी पर अधिकार करने की जो आशा रखता था, वह भी पूर्ण नही हुई। उसे बड़ी ग्लानि हुई और उसने अपने भाई से क्षमा माग उससे पुन मेल कर लिया। वे दोनो मिलकर जयपुर वालों से बदला लेने के लिए सैनिक तैयारी करने लगे। [बख्तसिंह ने अजमेर पर अधिकार कर लिया। इसकी सूचना जब जयसिंह को मिली तो वह 50,000 सेना के साथ आगरा से तीव्र गति से मारवाड़ की ओर बढा। जयसिंह इस समय आगरा का सूबेदार था। अभी अभयसिंह का शिविर तो रीया मे था कि बख्तसिंह अपने 5000 सैनिकों के साथ अकेला ही जयसिंह की विशाल सेना से गंगवाना (अजमेर के पास) मे जा भिड़ा। एक बार जयपुर वालों के पैर उखड़ गये थे, परन्तु बाद मे जब बख्तसिंह के लगभग सभी सैनिक मर चुके थे, वह रणक्षेत्र से पीछे हट गया और अभयसिंह के पास चला गया। अब दोनों भाई मिलकर फिर जयपुर वालों पर आक्रमण करने को तैयार थे। उस समय महाराणा के बीच-बचाव के कारण जयसिंह के साथ सन्धि हो गई।

इस सन्धि के अनुसार मारवाड़ के परबतसर आदि सात परगने जिन्हें जयसिंह ने ले लिये थे, वापस लौटाये और भविष्य में मारवाड़ के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करने का उसने वायदा किया। जयसिंह ने अभयसिंह के एक अन्य भाई रत्नसिंह का, जो कैद मे था, जोधपुर के शासक के रूप में मान्यता दी थी, अब उसका समर्थन न करने का आश्वासन भी दिया। इस प्रकार पुनः दोनों राजाओं के बीच सद्भावना स्थापित हो गई। अजमेर अभी भी जयसिंह के पास ही रहा। उसकी मृत्यु के बाद अभयसिंह ने राठौड़ी सेना भेज कर अजमेर पर फिर से अधिकार कर लिया।[146]

जयसिंह के काल में आमेर राज्य की सीमा में अत्यधिक विस्तार हुआ और उसकी शक्ति में आशातीत वृद्धि हुई। कच्छावा नरेश के पास पहले ,दो या तीन परगनो से अधिक अपने राज्य में (वतन-जागीर) कभी स्थायी रूप से नहीं रहे। जयसिंह ने अपने राज्यकाल में एक विशाल स्थायी राज्य की स्थापना की जो थोड़े से हेर-फेर के साथ स्थायी रूप से उसके उत्तराधिकारियो के अधीन रहा जो आजादी (1947) के बाद एकीकृत राजस्थान राज्य में विलीन हुआ। उसके राज्य की सीमा के विस्तार का मूल कारण 1707 ई. के बाद मुगल साम्राज्य का तेजी से पतनोन्मुख होना ही कहा जा सकता है। मुगलों के पराभव-काल मे सूबों मे स्थित खालसा भूमि या पायबाकी जमीन पर केन्द्र द्वारा नियन्त्रण रखना दिनोंदिन कठिन होता जा रहा था। मुगल मनसबदारो को सेवा के बदले इन सूबो में तनख्वाह-जागीरें प्राप्त थी। वहां से राजस्व वसूल करना उनके लिए एक विकट समस्या बनती जा रही थी। ऐसी स्थिति में मुगल बादशाह ने खालसा भूमि और मनसबदारों ने, जिनमे अधिकांशतः मुसलमान थे, अपनी तनख्वाह-जागीरें सूबों में प्रमुख स्थानीय शक्तिशाली शासक को इजारा के रूप में देना आरम्भ कर दिया। सवाई राजा जयसिंह ने अपने राज्य की सीमा को बढ़ाने के उद्देश्य से बहुत से परगने व जागीरें बादशाह से इजारा इस्तमरार (स्थायी ठेके) पर ले लिये। धीरे-धीरे ये इजारे मे लिये गये क्षेत्र जयपुर राज्य के भाग बन गये। उसने अपने राज्य के इर्द-गिर्द स्थित मुसलमान मनसबदारो की तनख्वाह-जागीरें भी इजारे पर ले लीं। बाद में ये जागीरें भी स्थायी रूप से उसके राज्य का अंग बन गईं। उसने बादशाह से ईनाम व युद्ध के खर्चे के रूप में भी भूमि प्राप्त की थी। इस प्रकार प्राप्त किये गये क्षेत्रों में अमरसर, मौजाबाद, लालसोट, गाजी का थाना, जैतपुर, मानगढ, मलारना, उनियारा, बरवड़, नारायणा, हिण्डोन, टोडा, मालपुरा आदि प्रमुख थे। उसने आगरा-सरकार के कुछ गांव भी, जो जाट-नेता चूड़ामन और नरूकाओं के पास थे, हस्तगत कर लिये। इसके अतिरिक्त 25 लाख रुपये वार्षिक धनराशि पर शेखावाटी के 51 परगने बादशाह से इजारे पर प्राप्त कर लिये थे। इनमें से कुछ परगने तो कालान्तर में पटियाला, नाभा, अलवर आदि राज्यों मे सम्मिलित कर दिये गये परन्तु अधिकांश

परगने, जिनमें कोटपूतली, बैराठ, सिघाना, फतहपुर आदि प्रमुख थे, जयपुर राज्य के स्थायी अग बने रहे।[147]

जयसिंह के अन्तिम वर्ष 1743 ई. मे राजस्थान की स्थिति सन्तोषजनक थी। मारवाड़ के शासक अभयसिंह को एक बार तो सन्धि करने के लिए बाध्य कर उसे नियन्त्रित कर दिया था। कोटा और मेवाड़ के शासक उसके वर्चस्व से प्रभावित थे। वे उसकी सलाह व समर्थन के बिना कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं करते थे। बून्दी राज्य पर उसका पूर्ण प्रभाव था। वहां का शासक दलेलसिंह जयसिंह के सरक्षण मे अपने को पूर्ण सुरक्षित अनुभव कर रहा था। बीकानेर के महाराजा को जोधपुर के राजा अभयसिंह के विरुद्ध मदद कर अनुगृहीत किया था, इसलिए उसका जयसिंह के प्रति वफादार होना स्वाभाविक ही था। करौली और शाहपुरा के शासक उसकी कृपा की अपेक्षा रखते थे। जयपुर का राज्य उसके पहले कभी इतना समृद्ध और विस्तृत नही रहा था। जयसिंह का प्रभाव केवल राजस्थान तक ही सीमित नही था। मुगल-दरबार में भी वह कतिपय प्रमुख व्यक्तियो में से एक था। उसने बादशाह की भाँति-भाँति से सेवा की थी। कुछ ही समय पहले उसके परामर्श और सद्प्रयत्नो से बादशाह और मराठो के बीच समझौता सम्भव हो सका था। मराठों के साथ भी उसके सम्बन्ध प्रायः मैत्रीपूर्ण रहे। उन सभी को उसने अपने व्यक्तित्व व क्रियाशीलता से प्रभावित किया था। उसने चालीस वर्ष से भी अधिक समय तक राज्य किया जिसमे वह पाँच बादशाहो, तीन महाराणाओ और तीन पेशवाओं के सम्पर्क मे आया था। बाजीराव के साथ तो उसके सम्बन्ध बड़े घनिष्ठ रहे।[148]

जयसिंह की महत्ता केवल इसलिए ही नही थी कि वह एक उच्चकोटि का कूटनीतिज्ञ, योद्धा और प्रशासक था, बल्कि अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियो के कारण भी युग के एक महान् व प्रभावशाली व्यक्ति के रूप मे उसका मूल्यांकन किया जाता है। उसे धर्म, कला और साहित्य के प्रति अनुराग था। उसने जयपुर नगर का सुनियोजित रूप से निर्माण करवाया जो आज भी 'गुलाबी नगर' के नाम से देश में प्रसिद्ध है। उसके द्वारा निर्मित वेधशालाएं, मन्दिर और सरायें उसकी रचनात्मक प्रवृति के जीते-जागते उदाहरण है। जयसिंह के सांस्कृतिक कार्यकलापों पर आगे यथोचित स्थान पर विस्तृत जानकारी दी जायेगी। 21 सितम्बर, 1743 ई. को 55 वर्ष की आयु मे जयसिंह की मृत्यु हो गई। उसके असामयिक निधन से राजस्थान को बडी क्षति पहुंची। वह अपने काल का निर्माता व प्रतिभाशाली व्यक्ति था। वह उच्चकोटि का विद्वान्, प्रशासक, समाज-सुधारक, कूटनीतिज्ञ और सेनानायक था। डा. रघुवीरसिंह के शब्दों मे मुगलकालीन राजस्थान का यह (जयसिंह) अन्तिम महान् राजपूत महाराजा अपने समय मे मुगल साम्राज्य का एक प्रमुख सेनापति तथा सर्वोत्कृष्ट अधिकारी रहा था। अपने राज्य को बढा कर उसने उसे सुसगठित किया और यो ढूंढाड़ और शेखावाटी प्रदेशो को राजनैतिक एकता

प्रदान की। अपने सुविस्तृत राज्य के लिए नई राजधानी की आवश्यकता का अनुभव कर उसने एक सुन्दर एवं सर्वथा नये नगर की सृष्टि की और इस प्रकार उसने राजस्थान में स्थापत्य कला तथा नगर-रचना का एक अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया अपनी इस नई राजधानी को उसने भारतीय साहित्य एवं हिन्दू संस्कृति का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बनाया, तथा वहां वेद्यशाला के निर्माण द्वारा खगोल-विद्या के ज्ञान का महत्त्व सुस्पष्ट कर उसने राजस्थान में प्रथम बार वैज्ञानिक अध्ययन एवं खोज की प्रवृति प्रारम्भ की। उसका चरित्र उस युग की सारी भली-बुरी प्रवृत्तियों तथा समकालीन गुण-दोषों का एक विचित्र मिश्रण था।[149]

जयसिंह के जीवन का एक दूसरा पहलू भी हमारे सामने प्रस्तुत है। वह जरूरत से ज्यादा महत्त्वाकांक्षी था। अपनी आकांक्षा की पूर्ति हेतु वह निम्नतर कार्य भी करने के लिए उद्यत रहता था। अवसरवादिता उसके रग-रग में भरी हुई थी। उसने अपने जीवन मे भयंकर त्रुटिया की थीं जिसके फलस्वरूप उसके मरणोपरान्त न केवल जयपुर राज्य को ही, वरन् समूचे राजस्थान को संकट-ग्रस्त होना पड़ा था। उदयपुर-राजकुमारी से विवाह करते समय (1708 ई.) महाराणा की इस शर्त को स्वीकार करना कि इस विवाह से उत्पन्न पुत्र, चाहे वह छोटा ही क्यों न हो, जयपुर राज्य का अधिकारी होगा, उसकी एक महती भूल थी। इससे राजस्थान के लिए बड़े दुष्परिणाम निकले। बून्दी के परम्परागत स्वतन्त्र राज्य के आन्तरिक मामलो में हस्तक्षेप कर अपने दामाद दलेलसिंह को बून्दी के सिंहासन पर आसीन करना भी नीति-संगत नही कहा जा सकता। राजस्थान के इतिहास में इसके भी भयंकर परिणाम निकले। उसने अपनी इस नासमझी के कारण मराठो को राजस्थान मे प्रविष्ट होने का सुअवसर प्रदान किया था। मुगल-सम्राट् पर अपना प्रभाव स्थापित करने के उद्देश्य से उसने पेशवा के साथ सुलह करवाने का दायित्व अपने ऊपर ले बाजीराव को राजस्थान में आमन्त्रित किया था। इस प्रकार मराठो को राजस्थान मे आने का आह्वान किया गया।[150] जयसिंह से मुलाकात करने हेतु पेशवा बाजीराव द्वारा की गई राजस्थान-यात्रा के समय (1736 ई.) से ही मराठों द्वारा राजपूत राजाओं से चौथ की रकम वसूल करने का श्री गणेश किया गया था जो बाद मे मराठा-राजपूत संघर्ष का मूल कारण बना। एक प्रकार से जयसिंह की मुगल-मराठा नीति मुगल-साम्राज्य और राजस्थान के लिए घातक प्रमाणित हुई। जयसिंह अपने जीवन के आखिरी वर्षों में विलासी और शराबी हो गया था। अपनी पाशविक लोलुप्ता की संतुष्टी के लिए वह पौष्टिक व उत्तेजक औषधियों का सेवन करने लगा था। इससे वह रक्त-विकार जैसे रोगों से ग्रस्त हो गया और 54 वर्ष की अल्प आयु में ही वह इस लोक से परलोक सिधार गया। उसने अपने पुत्र शिवसिंह, भानजा भवानीसिंह और भाई विजयसिंह की हत्याए करवा दी। माधोसिंह को भी मारने का प्रयास किया गया था।[151] यद्यपि इस

प्रकार की निर्मम हत्याए उस समय की सामाजिक मान्यताओं के रूप में अपवाद न भी मानी जाय,[152] तथापि जयसिंह की पाशविक, निष्ठुर व क्रूर प्रवृति के जीवन्त उदाहरण निश्चित रूप से प्रस्तुत करती हैं। परन्तु यह दोष उसके गुणो की तुलना में नगण्य ही माने जायेंगे। उसकी महानता इसमें है कि वह एक विलक्षण बुद्धि व सर्वतोमुखी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति था। जयसिंह का मूल्यांकन राजनीति-विशारद, समाज-सुधारक, विज्ञान-संवर्द्धक और भारतीय संस्कृति के पोषक के रूप में किया जाना चाहिए।[153]

क्र.।

1. तारीख-ए-हिन्दी, रुस्तमअली कृत इलियट और डाउसन, भाग 8, पृ. 43 पर उद्धृत
2. फरमान नं. 7, राजस्थान पुरालेखागार, बीकानेर, पृ. 47; रेऊ वि. नाथ, मारवाड का इतिहास, भाग 1, पृ. 308, पाद टिप्पणी 3
3. मीरा मित्र, महाराजा अजीतसिंह एवं उनका युग, पृ. 194
4. अजीतोदय, सर्ग 22, श्लोक 7–35; राजरूपक पृ. 477; टॉड भाग 2, पृ. 66–67
5. *जोधपुर राज्य की ख्यात, भाग 2, पृ. 105*
6. फरमान नं. 10, राजस्थान पुरालेखागार, बीकानेर, पृ 47; मीरा मित्र, पृ. 196–97
7. मिर्जा मुहम्मद हसन, मिरात-ए-अहमदी, भाग 2, पृ. 11; केम्प बेल, गेजेटियर आफ द बाम्बे प्रेसिडेंसी, भाग 1, खंड 1, पृ. 370
   जोधपुर राज्य ख्यात से ज्ञात होता है कि महाराजा अजीतसिंह ने जामनगर के जाड़ेचा स्वामी से पांच लाख रुपये वसूल किये थे।
   भाग 2, पृ. 106
   द्वारिका-यात्रा का राजरूपक, पृ. 485–93 पर रोचक वर्णन मिलता है।
8. राजरूपक में श्रावण वदी, सवत् 1774 में जोधपुर पहुंचना लिखा है; पृ. 494; कैम्प बेल, गेजेटियर आफ द बाम्बे प्रेसिडेन्सी, भाग 1, खड 1, पृ. 299–300; वीर विनोद भाग 2, पृ. 841
9. सतीशचन्द्र, उत्तर मुगलकालीन भारत का इतिहास, पृ. 90
10. वही, पृ. 94–95
11. *खाफीखां पृ. 739 : खाफीखां लिखता है कि हुसैनअली के दक्षिण मे जाने* के पहले (मीरजुमला) आजिमाबाद (पटना) रवाना हुआ; सतीशचन्द्र, पार्टीज एण्ड पोलिटिक्स पृ. 112

12 सतीशचन्द्र, उत्तर मुगलकालीन भारत का इतिहास, पृ. 101
13. वही, पृ 103–04
14. वही, पृ. 104
14. (अ) अरव वारात, 6, 17 जून 1715 सरदेसाई कामेमोरेशन वोल्यूम, पृ. 68–69
15. सतीशचन्द्र, उत्तर मुगलकालीन भारत, पृ. 105
16 वही, पृ 107
17. मथुरालाल शर्मा, मुगल साम्राज्य का पतन, पृ. 204–05
18. सतीशचन्द्र, उत्तर मुगलकालीन भारत, पृ. 112
19. वही, पृ. 114
20 जी. एस. सरदेसाई, न्यू हिस्ट्री ऑफ द मराठाज, भाग 2, पृ. 41–42
21 वही, पृ. 43-44
22 मीरा मिश्र, महाराजा अजीतसिंह एवं उनका युग, पृ. 199
23 अखबारात, फर्रुखसियर, वर्ष 6, खण्ड 1, पृ. 43
जोधपुर राज्य की ख्यात, भाग 2, पृ. 170; मीरा मिश्र, पृ 200
24. इर्विन, लैटर मुगल्स, पृ. 348
25. बी. एन. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 311; मुतखब-उल-लुबाब मे फर्रुखसियर की अव्यवस्थित चित्तता के सम्बन्ध मे ये शब्द लिखे हैं:— "इज्मोराय बादशाह बरयक हाल करारनःमे गिरिफ्त" उद्धृत रेऊ, पृ. 311, पाद टिप्पणी, 4
26 राजरूपक, पृ. 498 पर यह स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है कि जब अजीतसिंह सराय अलाहवर्दी में ठहरा हुआ था, उस समय सैयद अब्दुल्ला उससे मिलने गया था। उस समय इन दोनों के बीच मुगल बादशाह और जयसिंह के विरुद्ध मित्रता हो गई। अजीतसिंह ने बादशाह से अकेले मे न मिलने का जो निर्णय लिया, वह अब्दुल्ला से सराय में मुलाकात का ही परिणाम था।
27. अजीतोदय, सर्ग 26, श्लोक 39-47
28. वि. सं. 1775 की भादों सुदी 8 के दिल्ली से महाराजा के लिखे दयालदास के नाम पत्र से इसकी पुष्टि होती है कि बादशाह फर्रुखसियर ने अजीतसिंह को बड़ा सम्मान दिया; राजरूपक, पृ. 502-03, पद संख्या 37-39
29. कामवर पृ. 430; ख्यात भाग 2, पृ. 170-71; महाराजा को अकेले अब्दुल्लाखां के हाथी पर सवार होते देख नीबाज का उदावत सरदार अमरसिंह उसके पीछे चढ बैठा। उसी समय से मारवाड़ में महाराजा के पीछे सरदारो के बैठने की प्रथा चल पड़ी।

30. लैटर मुगल्स पृ. 348–51; मीरा मिश्र ने अजीतसिंह को बीकानेर देने के तथ्य को स्वीकार नही किया है (पृ. 203, पाद टिप्पणी 10)। ऐसा ठीक नही है। अजीतसिंह बीकानेर हस्तगत करने के लिए बहुत उत्सुक था। उसके द्वारा पहले भी बीकानेर पर अधिकार करने का प्रयास किया गया था। यह स्वाभाविक है कि अजीतसिंह ने अपने मित्र अब्दुल्ला से दबाव डलवा कर बादशाह से बीकानेर की फौजदारी प्राप्त की हो। परिस्थितियो के कारण आदेश का सम्भवत. पालन नही हो सका था।

31. वि. सं. 1775 रा जेष्ठ वदी 11, मुकाम जहांनाबाद (दिल्ली) से अजीतसिंह का सिकदार दयालदास को पत्र, प्रकाशित ग्लोरीज ऑफ मारवाड पृ. 113–115; अजीतोदय (सर्ग 27, श्लोक 1–5, 12, 13) से भी इन षड्यन्त्रों की पुष्टि होती है।

32. अजीतोदय, सर्ग 27, श्लोक 7–11

33. *कामवर पृ 434; लैटर मुगल्स, पृ. 363;*

34. फरमान सख्या 11, राजस्थान पुरालेखागार बीकानेर, पृ 47;
राजरूपक, पृ 507; रेऊ ने पृ. 212 पर लिखा है यह ठीक नही है।
अजीतोदय, सर्ग 27, श्लोक 7–11; इर्विन, लैटर मुगल्स, पृ 364;

35. सतीशचन्द्र, उत्तर मुगलकालीन भारत, पृ. 114

36. अजीतोदय, सर्ग 27, श्लोक 34–38; लैटर मुगल्स पृ. 374; सतीशचन्द्र, उत्तर मुगल कालीन भारत, पृ. 114–15

37. अजीतोदय, सर्ग 27, श्लोक 39; लैटर मुगल्स, पृ. 376;

38. वंश भास्कर, भाग 4, पृ. 3066–67

39 लैटर मुगल्स, पृ. 388–89

40. (i) वि. सं. 1775 (चैत्रादि 1776) ज्येष्ठ बदी 11 के महाराजा के *सिकदार दयालदास के नाम पत्र मे लिखा है :—*
बादशाह फर्रूखसियर ने हमे अपनी सहायता के लिए यहा बुलवाया था। परन्तु हमारे यहां पहुंचने पर जयसिंह के कहने-सुनने से वह हमसे नाराज हो गया। इस पर हमने और *नवाब - अब्दुल्लाखां ने हुसैनअली* को दक्षिण से बुलवा लिया। उसके 1775 की फागुन बदी 14 को दिल्ली पहुंचने पर फागुन सुदी 2 को किला घेर लिया गया। फागुन सुदी 10 बुधवार को फर्रूखसियर को कैद कर लिया और रफीउद्दारजात को गद्दी पर विठा दिया। साथ ही हमने उनसे कहकर जजिया माफ करवा दिया, और तीर्थों पर लिये जाने वाले कर भी हटवा दिये। यह पत्र ग्लोरीज ऑफ मारवाड़ पृ. 114–15 पर प्रकाशित है। (भाषा राजस्थानी है) इसकी पुष्टि महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय के वि. सं. 1775 की वैशाख बदी 11

के अजीतसिंह के नाम पत्र से भी होती है। द्रष्टव्य, ग्लोरीज ऑफ मारवाड़, पृ. 109–111; मुन्तखब-उल-लुबाब भाग 2, पृ. 816; इलियट, पृ. 479

41. वीर विनोद, पृ. 842
42 मुंतखब-उल-लुबाब, भाग 2, पृ. 832; सतीशचन्द्र, उत्तर मुगलकालीन भारत, पृ. 119–20; मीरा मित्र, पृ. 210
43. मीरा मित्र, पृ. 210
44. अजीतोदय, सर्ग 27, श्लोक 52–53; लैटर मुगल्स, भाग 1, पृ. 420
45. लैटर मुगल्स, पृ. 426
46. वही, पृ. 429–31; राजस्थानी स्रोतों में शाहजादे को दिल्ली से लाने के लिए राजा रत्नसिंह और भण्डारी खींवसी को भेजा था—
मूंदयाड़ की ख्यात, पृ. 256–57, जोधपुर राज्य की ख्यात, भाग 2, पृ. 174
47. अजीतोदय, सर्ग 27, श्लोक 57; राजरूपक, पृ. 518; बांकीदास की ख्यात, पृ. 38
48. ब्याव की बही नं. 1, राजस्थान पुरालेखागार बीकानेर में इस विवाह का विस्तृत वर्णन है; अजीत विलास, पृ. 101; रेऊ पृ. 317–318; मीरा मित्र, पृ. 213–14
49 राजरूपक, पृ. 518; मीरा मित्र, पृ 213
50. महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय का पत्र वि. सं. 1775 वैशाख वदी 11, प्रकाशित ग्लोरीज ऑफ मारवाड़, पृ. 110–111
51. अजीत विलास, परम्परा अंक 29, पृ. 101; रेऊ, पृ. 317
52. बालमुकन्दनामा पत्र सं. 21 दिनांक 10 दिसम्बर, 1719
53. मून्दियाड़ री ख्यात, पृ. 259; बांकीदास की ख्यात पृ. 38
54. सूरज प्रकाश, पृ. 94; अजीत विलास परम्परा अंक 27, पृ 103–04; सतीशचन्द्र, उत्तर मुगलकालीन भारत, पृ. 129–30
55. मूंदियाड़ री ख्यात, पृ. 259; मीरा मित्र, पृ. 220
56. लैटर मुगल्स, भाग 2, पृ. 108; मीरा मित्र, पृ. 220
57. मन्तखब-उल-लुबाब, भाग 2, पृ. 936; अजीत विलास, परम्परा अंक 27, पृ. 104

राजरूपक (522–24); मूंदियाड़ री ख्यात (260); सूरज प्रकाश (94) आदि सभी राजस्थानी ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि सैयदों के पतन की सूचना मिलने पर अजीतसिंह ने अजमेर पर आक्रमण कर दिया और वहां अपना अधिकार स्थापित कर हिन्दू धर्म-प्रसार की नीति का अनुसरण

करने लगा; किन्तु आक्रमण करने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि अजमेर सूबा तो उसे बादशाह के आदेशानुसार ही प्राप्त था। इसका अर्थ यह लगाया जा सकता है कि सैयदों के पतन के पश्चात् तथा गुजरात सूबा उनसे ले लेने के बाद अजीतसिंह ने एक स्वच्छन्द शासक की भाँति सूबा अजमेर पर शासन करना आरम्भ कर दिया था।

58. अजीतोदय, सर्ग 30, श्लोक 2–5;

59. सूरज प्रकाश, पृ. 102; राजरूपक, पृ. 525–34; लैटर मुगल्स, भाग 2, पृ. 109–110

60. राजरूपक 535–39; अजीतोदय, सर्ग 30, श्लोक 12; फारसी ग्रन्थों से भी इसकी पुष्टि हो जाती है।

61. लैटर मुगल्स, भाग 2, पृ. 110–111

62 वही, पृ. 111–112 इर्विन ने अपनी पुस्तक लैटर मुगल्स मे भाग 2, पृ. 111 पर यह भी लिखा है कि अजीतसिंह ने बादशाह को लिखी अर्जी मे सूचित किया कि वह मुजफ्फर अली को अजमेर देने के लिए तैयार था। वह वहां पहुंचा ही नही। इसके अतिरिक्त नारनौल पर आक्रमण करने का कारण मेवातियों के साथ व्यक्तिगत मतभेद बताया गया था।

63. लैटर मुगल्स, भाग 2, पृ. 110–111; सतीशचन्द्र, उत्तर मुगलकालीन भारत का इतिहास, पृ. 155

64. लैटर मुगल्स, भाग 2, पृ. 112

65. सूरजप्रकाश, पृ. 112; अजीतोदय, सर्ग 30, श्लोक 31–33; राजरूपक, पृ. 521

66. अजीतोदय, सर्ग 30, श्लोक 45 के अनुसार हैदरकुली रेवाड़ी मे ही इरादतमंद से आ मिला था; राजरूपक, पृ. 553

67. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 325, द्रष्टव्य पाद टिप्पणी संख्या नं. 1

68 वही, पृ. 325

69 मूंदियाड़ री ख्यात, पृ. 264–65;
सतीशचन्द्र, उत्तर मुगलकालीन भारत, पृ. 156–57

70. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 327; मीरा मित्र, पृ. 229

71. बख्तसिंह द्वारा अपने पिता की की गई हत्या के सम्बन्ध में अनेक दोहे और छप्पय हैं। एक बहुत प्रसिद्ध छप्पय इस प्रकार है :—

बखता वखत बाहिरा, क्यो मारियो अजमाल।
हिन्द वाणी रो सेवरो, तुरकाणी को साल॥

प्रथम तात मारियो, मात्र जीवती जलाई।
असी च्यार ग्रादमी, हत्यां त्यारी पण ग्राई ॥
कर गाढ़ी इकलास, बेगि जयसिंह बुलायो।
मेटी धरम मरजाद, भरम गंठ को गमाग्रो ॥
कवि ग्रणां हूंत केवा करे, धरा उदक लेवण धरी।
बख्ता सी जनम पाया पछे कसा बात ग्राही करी ॥

72. लैटर मुग़ल्स, भाग 2, पृ. 116–17
73. द्रष्टव्य पृ. 165, पाद टिप्पणी
74. मीरात-उल-वारिदात, पृ. 178 (ब), 179 (ग्र)
75. माग्रासिर-उल-उमरा, पृ. 175
76. टॉड, एनाल्स, भाग 1, पृ. 584
77 तारीख-ए-मुज़फ्फरी, पृ. 333
78. द्रष्टव्य: रेऊ, ग्लोरीज ग्रॉफ मारवाड़, परिशिष्ट 10 ग्रौर 11; पृ. 119–133
79. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 332, पाद टिप्पणी 2 व 3
80. मीरा मिश्र, पृ. 308, पत्र की प्रतिलिपि राजस्थान पुरालेखागार बीकानेर में सुरक्षित है।
81. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 332–333
82. वही, पृ. 331; मारवाड़ में प्राप्त ख्यातों में लिखा है कि दिल्ली में ग्रभयसिंह के राज्याभिषेक के समय बादशाह ने उसे नागौर प्रान्त देने के साथ-साथ 14 परगने जो ग्रजीतसिंह के काल में जब्त कर लिए गए थे, वापिस लौटा दिये थे।
83. मीरा मिश्र, पृ. 309
83.(ग्र) ग्रोझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 610–13
84. सतीशचन्द्र, पृ. 146
85. वही, पृ. 147
86. वीर विनोद, पृ. 771; ग्रोझा, पृ. 618–19; सतीशचन्द्र, पृ. 148
87. ग्रोझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 294–95, 299
88. रेऊ, पृ. 304-05, 306
89. वंशभास्कर, भाग 4, पृ. 3066–67
90. भटनागर, पृ. 71–72
91. सरदेसाई, भाग 2, पृ. 37
92. लैटर मुग़ल्स, पृ. 325–27
93. सतीशचन्द्र, पृ. 105

94. भटनागर, पृ. 74–75
95 लैंटर मुगल्स, पृ. 326–27; सतीशचन्द्र, पृ. 107; भटनागर, पृ 79–80,
96. मुन्तखब-उल-लुबाब, भाग 2, पृ. 804–05; उद्धृत इलियट भाग 7, पृ. 474–75
97. खाफीखां, भाग 2, पृ 816
98 खाफीखा, भाग 2, पृ 828 उद्धृत इलियट भाग 7, पृ 482, लैंटर मुगल्स, पृ. 411–12
99. खाफीखा, भाग 2, पृ. 832; लैंटर मुगल्स, पृ. 428–29
100. सतीशचन्द्र, पृ. 123; भटनागर, पृ. 95
101. खाफीखां, भाग 2, पृ. 846; इर्विन, भाग 2, पृ. 8–12; भटनागर, पृ 95
102. मोहम्मद कासिम कृत इबरतनामा, उद्धृत इलियट भाग 7, पृ. 572
103. सतीशचन्द्र, पृ 130
104. भटनागर, पृ. 97–100
105. फरमान कपट द्वारा कागजात नं 361 ए के अनुसार जयसिंह को मथुरा की फौजदारी भी दी गई थी।
सतीशचन्द्र, पृ 149
106. खाफीखा, भाग 2, पृ. 944–45: इलियट, भाग 7, पृ. 521–22
107. कपट द्वारा कागजात, नं 73; भटनागर, पृ. 103
108. सतीशचन्द्र, पृ. 156
109. वही, पृ. 151–52
110. वंशभास्कर, भाग 4, पृ. 2998–99
111. वही, पृ 3008, 09, 22 और 23
112. वही, पृ. 3040–43
113. एम. एल. शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 260
114 वंशभास्कर, भाग 4, पृ. 3052, 53, 59

बर जोर आयस साह को सुनि मीम मी जुत घी मई।
जयसिंह के घन रूप डेरन जाय बिन्नति मडई।।
कछवाह : कहि वारां मऊ अब छोरि इन लिख दीजिये।
बुंदीससो मिलि सामके इकथाल भोजन कीजिये।।
तब साह औ कछवाह द्वै मन मन्त्र इबकत जानि कै।
कोठेस वह तजि देस दीनो लेख कागर ठानि कै।।

115. खाफीखा पृ. 806; इर्विन पृ. 376
116 वंशभास्कर, भाग 4, पृ. 3079;

मुनि हय सतरू इक्क सक, (1777 वि. सं) जेठरू पूर्णम दीह।
परयो दिलावरखान रण, सहित भीम गर्जसिह ।।
मारि हजारन भीम जिमि, परयो भीम चौहान;
(ii) खाफीखां, भाग 2, पृ. 880

117. वंशभास्कर, भाग 4, पृ. 3094
118. शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 338
119. वंशभास्कर, भाग 4, पृ. 3094
120. भटनागर, पृ. 138–141
121. रघुवीरसिंह, पूर्व आधुनिक राजस्थान, पृ. 161
122. वंशभास्कर, भाग 4, पृ. 3216–20, जदुनाथ सरकार, मुग़ल साम्राज्य का पतन, भाग 1, पृ. 135–36
123. भटनागर, पृ. 143
124. सरदेसाई, न्यू हिस्ट्री ऑफ द मराठाज, भाग 2, पृ. 101–02
125. सरदेसाई, पृ. 104; भटनागर, पृ. 130–31
126. भटनागर, पृ. 132–33
127. वही
128. सरकार भाग 1, पृ. 132–33; के. एस. गुप्ता, पृ. 35; भटनागर, पृ. 135
129. सरकार भाग 1, पृ. 133–34; सरदेसाई, भाग 2, पृ. 145; रघुवीरसिंह, पृ. 162; भटनागर, पृ. 135–36
130. कपट द्वारा कागजात के आधार पर द्रष्टव्य : भटनागर पृ. 144 पाद टिप्पणी 3; सूर्यमल्ल मिश्रण के आधार पर डा. एम. एल. शर्मा ने सम्मेलन का स्थान आगूचा गांव माना है। यह ठीक नही है। इस सम्बन्ध मे जे. के. ओझा, मेवाड़ का इतिहास, पृ. 16 द्रष्टव्य
131. वंशभास्कर, भाग 4, पृ. 3227–28; वीर विनोद पृ. 1218–21; ओझा, उदयपुर का इतिहास, पृ. 628–29
132. रुस्तम अली, इलियट भाग 8, पृ. 51–52 यहा 20 लाख रुपया देना लिखा है; सरकार, भाग 1, पृ. 137–38; सरदेसाई, भाग 2, पृ. 146
133. सरदेसाई, भाग 2, पृ. 146–47
134. पेशवा दफ्तर जिल्द 14, पृ. 47 व 51; सरकार, भाग 1, पृ. 139–40; सतीशचन्द्र, पृ. 189
135. सरदेसाई, भाग 2, पृ. 148–49
136. सरदेसाई, भाग 2, पृ. 150–51
137. सतीशचन्द्र, पृ. 196–98
138. तारीख-ए-हिन्दी रुस्तम अली कृत, इलियट भाग 8; पृ. 60–65

139. सरकार, भाग 1, पृ. 150; सतीशचन्द्र, पृ. 201; भटनागर, पृ. 163-64
140. जी. आर. परिहार, मराठा-मारवाड़ सम्बन्ध, पृ. 21–22
141. वही, पृ. 23–24; रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 335
द्रष्टव्य : पाद टिप्पणी 5; यहां रेऊ ने आनन्दसिंह और रायसिंह द्वारा एक पत्र का हवाला देते हुए लिखा है कि पुष्करणा ब्राह्मण जगू (जगन्नाथ) के प्रभाव के कारण अभयसिंह ने उन्हें ईडर का प्रदेश देना स्वीकार किया था।
142. रेऊ, पृ. 336–46
143. वही, पृ. 347
144. दयालदास री ख्यात, जिल्द 2, पृ. 63–64
145. भटनागर, पृ. 169–70
146. कर्नल टॉड ने गंगवाना के युद्ध का बड़ा रोचक विवरण दिया है, भाग 2, पृ. 84–85; रेऊ, भाग 1, पृ. 352–55; सरकार, भाग 1, पृ. 151–153; परिहार, मारवाड़ मराठा सम्बन्ध, पृ. 38
147. विस्तृत जानकारी के लिए द्रष्टव्य : विल्स की रिपोर्ट-पुरालेखागार बीकानेर; एम. एल. शर्मा का लेख दिसम्बर 69 : उसके जर्नल में प्रकाशित अंक सं. 4; भटनागर, पृ. 177–82
148. भटनागर, पृ. 173–74
149. रघुवीरसिंह, पृ. 168–69
150. जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 395–96
151. ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ. 618
152. उस समय के समाज-सम्बन्धी विवरण देते हुए एक चारण कवि ने निम्नलिखित दोहा लिखा है:—

पत जयपुर जोधाणपत, दोनूं ही थाप उथाप।
कूरम मारयो डोकरो, कमधज मारयो बाप॥

153. सरकार, फाल ऑफ द मुगल एम्पायर भाग 1, पृ. 34 उद्धृत जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पाद टिप्पणी न 82

अध्याय 4

राजस्थान में मराठों का प्रवेश

(1710–1775 ई.)

मराठों का मालवा मे प्रवेश, मन्दसौर की लड़ाई (1733 ई.) में सवाई राजा जयसिंह का मराठों द्वारा पराजित होना, बून्दी के राजसिंहासन के मामले में मराठों के भावी आक्रमणों को रोकने हेतु राजस्थान के विचारशील नरेशो द्वारा हुरड़ा सम्मेलन का आयोजन (जुलाई 1734 ई.), सम्मेलन की असफलता और सांभर जैसे धनी क्षेत्र में मराठों द्वारा की गई लूट-खसोट, पेशवा बाजीराव का मेवाड़ के राणा से साक्षात्कार व भमोला स्थान पर सवाई जयसिंह के साथ भेंट और अन्ततोगत्वा सवाई जयसिंह की सलाह से मुगल-मराठा समझौते का सम्पन्न होना (1741 ई.) आदि सभी घटनाओं का मुगल–मराठा–संघर्ष मे सवाई जयसिंह की भूमिका के परिवेश में पिछले अध्याय में सविस्तार विवरण प्रस्तुत किया जा चुका है। इस अध्याय मे हम मराठों का राजस्थान मे क्रमबद्ध प्रवेश व यहां उनके द्वारा स्थापित आधिपत्य के इतिहास का निरूपण करने का प्रयास करेंगे। इस संदर्भ मे पहले 18वीं शताब्दी के प्रथम तीन दशको मे मालवा व गुजरात जैसे धनाढ्य प्रदेशों में मराठा-शक्ति का विकास व प्रसार हुआ, उसका यहां सक्षिप्त विवरण देना समीचीन ही होगा।

राजाराम के मृत्यूपरान्त उसकी विधवा ताराबाई ने अपने तीन वर्षीय पुत्र शिवाजी द्वितीय को 1700 ई. में गद्दी पर आसीन किया और वह स्वयं राजमाता के रूप मे उसकी संरक्षिका बनी। वह मराठा राज्य के शासन-संचालन का कार्य करने लगी। उसने मुगल-मराठा संघर्ष में अपने पति की अपेक्षा अधिक बल और उत्साह से काम किया। खाफीखां लिखता है कि ताराबाई बड़ी बुद्धिमती महिला थी।[1] वह सैनिक और प्रशासनिक कार्यों मे दक्ष थी। औरंगजेब मृत्युपर्यन्त मराठों को कुचलने के लिए प्रयत्नशील, परन्तु असफल रहा। इससे उसे घोर निराशा हुई। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसके लड़के आजम ने दक्षिण में अपने को बादशाह घोषित किया। अपने भाई मुअज्जम के विरुद्ध युद्ध करने के लिए उत्तर की ओर

प्रयाण करते समय अनुभवी मीरबख्शी जुल्फिकार खां की सलाह से उसने मुगल शिविर में बन्दी शाहू को मुक्त कर दिया।[2] आशा के अनुकूल शाहू ने ज्योंही महाराष्ट्र में प्रवेश किया, गृह-युद्ध आरम्भ हो गया। ताराबाई की दृष्टि अपने पुत्र को राजा बनाने पर केन्द्रित थी। उसने घोषणा की कि शाहू छली तथा कपटी है। शिवाजी का राज्य शम्भाजी के वध के साथ समाप्त हो गया था और वर्तमान राज्य का निर्माण तो उसके पति राजाराम के द्वारा किया गया है। अतः उसका पुत्र शिवाजी द्वितीय न्यायानुकूल मराठा राजा के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। दूसरी तरफ बहुत से मराठा सरदार शाहू को मराठा राज्य का अधिकारी मानते थे। उन्होंने उसका पक्ष लिया। इस प्रकार मराठा राज सत्ता के लिए दो दावेदार हो गये और उनमें संघर्ष चालू हो गया। सौभाग्य से शाहू को बालाजी-विश्वनाथ जैसा अनुभवी और योग्य व्यक्ति का सहयोग प्राप्त हो गया। उसने विरोधियों का दमन किया और महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों को शाहू के पक्ष में कर लिया। धीरे-धीरे शाहू की स्थिति सुदृढ़ होने लगी और वह शिवाजी के उत्तराधिकारी के रूप में मराठा स्वराज्य का राजा स्वीकार कर लिया गया। शाहू ने भी बालाजी विश्वनाथ की कार्यपटुता, राजभक्ति तथा वीरता से प्रभावित होकर 1713 ई. में उसे पेशवा के पद पर नियुक्त कर दिया। बालाजी विश्वनाथ ने पेशवा के पद पर रहकर मराठा राज की महती सेवाएं कीं। उसने शाहू की माता को मुगलों के चुंगल से मुक्त करवाया; साथ ही मुगल दरबार में हुए षड्यन्त्रों और कुचक्रों का लाभ उठा कर उसने मराठों की शक्ति और प्रभाव में वृद्धि की। उसने शाहू के लिए मराठा स्वराज्य तथा दक्षिण के छः सूबों से चौथ और सरदेशमुखी की वसूली के लिए शाही सनदें प्राप्त कर ली।[3]

बालाजी विश्वनाथ की दिल्ली-यात्रा से मराठों ने मुगल साम्राज्य के पराभव व खोखलेपन का व्यक्तिगत रूप से अनुभव किया था। इससे वे मुगल साम्राज्य के स्थान पर मराठा साम्राज्य की स्थापना करने के लिए प्रोत्साहित हुए। यद्यपि दिल्ली से लौटने के तुरन्त पश्चात् बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु हो जाने से वह मराठा राज्य की सीमा में वृद्धि करने की स्थिति में नहीं रहा, तथापि उसके पुत्र बाजीराव ने, जिसे अपने पिता के स्थान पर पेशवा नियुक्त कर दिया गया था, ध्वस्त मुगल साम्राज्य के स्थान पर मराठा राज्य की सीमा-विस्तार में अत्यधिक सहयोग प्रदान किया। बाजीराव ने अपनी नीति का स्पष्टीकरण करते हुए कहा, हमें मुगल साम्राज्य रूपी सूखे वृक्ष के तने पर प्रहार करना चाहिए, शाखाएं अपने आप गिर जावेंगी। हमारा झंडा कृष्णा से अटक तक फहराने लगेगा और हमें अक्षय कीर्ति प्राप्त होगी।"[4]

बाजीराव की विस्तारवादी नीति को मूर्त रूप देने में निजाम-उल्-मुल्क प्रबल बाधक था। सैयद बन्धुओं के पतन के पश्चात् निजाम की शक्ति में अत्यधिक

वृद्धि हुई और वह दक्षिण के छः मुगल सूबों का सूबेदार नियुक्त हुआ। सैयद बंधुओं के प्रभाव से शाहू को जो सनदें प्राप्त हुई थीं, उन्हें मानने के लिए निजाम तैयार नहीं था। इसके अतिरिक्त उसने शाहू के प्रतिद्वन्द्वी राजाराम के द्वितीय पुत्र शम्भाजी का पक्ष लेना आरम्भ कर दिया। उसने शाहू के छः सूबों से चौथ और सरदेशमुखी की वसूली के अधिकार को भी स्वीकार नहीं किया। ऐसी स्थिति में निजाम और मराठों के बीच युद्ध होना अवश्यम्भावी था। बाजीराव ने फरवरी 1728 ई. में पालखेड़ के स्थान पर निजाम को घेर लिया और उसे मुंगीशिवगांव की सन्धि (मार्च 6, 1728 ई.) करने के लिए बाध्य किया।[5] इस सन्धि के फलस्वरूप निजाम ने शाहू को मराठा स्वराज्य का एक मात्र छत्रपति स्वीकार कर लिया और उसके चौथ तथा सरदेशमुखी की वसूली के अधिकार को भी मान्यता दे दी। इस घटना से पेशवा बाजीराव की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई। वह महाराष्ट्र का निर्विवाद नेता माना जाने लगा। अब उसे निर्विरोध मालवा और गुजरात जैसे धनी और समृद्ध प्रदेशों पर मराठा-प्रभुत्व स्थापित करने का सुअवसर मिला। पालखेड़ के युद्ध के पश्चात् मालवा और गुजरात प्रान्तों में मराठों के निरन्तर हमले होने लगे। मराठों ने 29 नवम्बर 1728 ई. को मालवा में अजमेरा नामक स्थान पर वहा के सूबेदार गिरधर बहादुर और उसके भतीजे दयाबहादुर को परास्त कर मार डाला।[6] इस विजय से मालवा में सर्वत्र मराठों की धाक जम गई। लगभग इसी समय (1729 ई.) में बुन्देला राजा छत्रसाल ने बाजीराव की मदद से मुगल-दरबार मुहम्मद बंगस को पराजित कर दिया। बाजीराव की सामयिक सहायता से छत्रसाल अत्यधिक प्रसन्न हुआ। उसने अपने राज्य का एक बहुत बड़ा भूखण्ड बाजीराव को दे दिया। और इसके साथ-साथ उसने अपने दोनों लड़कों को भी उसके संरक्षण में सुपुर्द कर दिया। इस तरह बाजीराव का बुन्देलखण्ड में भी प्रभुत्व स्थापित हो गया।[7]

मालवा में आमेर के राजा सवाई जयसिंह ने मराठा-प्रसार को रोकने के प्रयास किये, परन्तु वह सफल नहीं हो सका। वह स्वयं फरवरी 1733 ई. में मन्दसौर में पराजित हो गया और उसे मराठों को युद्ध-खर्चे के रूप में एक बहुत बड़ी धनराशि (6 लाख रुपये) देनी पड़ी। मालवा में सर्वत्र मराठों का प्रभुत्व स्थापित होने लगा।[8] बाद में 1737 ई. में मुगलों का अनुभवी और योग्य सेनापति निजाम-उल्-मुल्क भी भोपाल के युद्ध में पराजित हुआ। उसने मालवा पर मराठों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया।[9] अन्त में जयसिंह के माध्यम से बाजीराव की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र बालाजी बाजीराव ने 1741 ई. में बादशाह मुहम्मदशाह से समझौता कर लिया जिसके अनुसार अब मराठों को मालवा प्रदेश विधिवत् प्राप्त हो गया।[10] पिछले अध्याय में सवाई जयसिंह के इतिहास का निरूपण करते समय उक्त घटनाओं का सविस्तार विवरण दिया जा चुका है। 1724 ई. के बाद में ही

मालवा की सीमा पर स्थित राजस्थान के गांवों पर यदा-कदा मराठों के आक्रमण आरम्भ हो गये थे।

अठारहवीं शताब्दी के तीसरे दशक के आरम्भ मे गुजरात पर भी मराठों का प्रभाव पूर्णरूपेण कायम हो गया था। शिवाजी के समय से ही मराठों के लिए गुजरात प्रदेश निरन्तर आय और धन प्राप्त करने का महत्वपूर्ण साधन था। राजा शाहू ने गुजरात को सेनापति दाभाडे का कार्य-क्षेत्र घोषित कर दिया था। सेनापति के नायब पिलाजी गायकवाड़ और कन्थाजी बन्दे इस प्रान्त में लूट-खसोट कर रहे थे। वे मुगल सूबेदार सरबुलन्दखा के लिए, जिसकी नियुक्ति 1725 ई. मे हुई थी, सरदर्द बन गये थे। 1726 ई. में पिलाजी ने माही नदी के दक्षिणी तट तक मराठों का आधिपत्य स्थापित कर दिया था। लेकिन सेनापति की गुजरात मे विस्तार की नीति योजनाबद्ध नही थी। पेशवा बाजीराव 'उत्तर की ओर विस्तार की नीति' को एक विशिष्ट योजना के अनुसार कार्यान्वित करने के पक्ष मे था। सेनापति और पेशवा के इस सम्बन्ध में तीव्र मतभेद थे। पेशवा के आदेशो का गुजरात में पालन नही किया जा रहा था। इससे खिन्न होकर पेशवा के भाई चिमनाजी ने गुजरात मे प्रवेश कर एक बहुत बड़े भूभाग पर अधिकार कर लिया और 1730 ई. मे गुजरात के सूबेदार सरबुलन्दखां से चौथ और सरदेशमुखी की वसूली के अधिकार पेशवा के लिए प्राप्त कर लिए। इस प्रकार पेशवा द्वारा अपने क्षेत्र में किये गये हस्तक्षेप मे सेनापति बहुत नाराज था। सरबुलन्दखां ने पेशवा और सेनापति को लड़ाने के लिए ही ऐसा किया था। सेनापति ने निजाम से पेशवा के विरुद्ध सहायता मागी। निजाम तो ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में था ही। उसने तुरन्त सहायता देने के लिए सहमति भेज दी और मालवा मे नियुक्त नये सूबेदार मुहम्मद बगस को भी दाभाड़े की मदद करने की सलाह दी। पेशवा इन राजनैतिक परिस्थितियो से अवगत था। उसका भाई चिमनाजी खानदेश मे ठहर कर निजाम की गतिविधियो पर दृष्टि लगाए हुए था। बाजीराव ससैन्य गुजरात मे पहुच गया। उनका उद्देश्य निजाम की सेना को सेनापति की सेना के साथ मिलने से रोकना था।[11]

इस बीच गुजरात सूबे मे भी राजनीतिक परिवर्तन हुए। गुजरात प्रान्त मुग़ल बादशाह के लिए बहुत महत्त्व रखता था। उत्तर भारत और दक्षिण भारत के मध्य गुजरात एक कड़ी का काम करता था। राजनीतिक और आर्थिक दोनो दृष्टिकोणो से इस सूबे पर केन्द्रीय सत्ता का अधिकार रहना नितान्त आवश्यक था। सरबुलन्दखां की मराठा नीति को लेकर कटु आलोचना हुई। 1730 ई. में बादशाह ने उसके स्थान पर जोधपुर के महाराजा अभयसिंह को गुजरात का सूबेदार नियुक्त कर दिया। अभयसिंह गुजरात की सूबेदारी के लिए बहुत उत्सुक था। गुजरात जोधपुर राज्य के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण था जितना कि मराठों के लिए। मारवाड़ के दक्षिण में जालोर, भीनमाल, साचौर आदि के क्षेत्र गुजरात

प्रदेश की सीमा पर स्थित थे। मारवाड़ का व्यापार गुजरात सूबे पर निर्भर था क्योंकि समुद्र-तटों एव दक्षिण के लिए व्यापार-मार्ग गुजरात से होकर ही जाते थे। गुजरात मे मराठों द्वारा की जा रही लूट-खसोट का प्रभाव मारवाड़ के आन्तरिक मामलों पर पड़ता था। जैसा कि पिछले अध्याय में उल्लेख किया जा चुका है, अभयसिंह के विद्रोही भाई आनन्दसिंह और रायसिंह मराठों को लेकर जालौर-भीनमाल क्षेत्र पर चढ़ आये थे। मराठों का इस प्रकार से मारवाड़-प्रदेश मे प्रवेश प्रथम ही था। मारवाड़ के सभी विचारशील महाराजा गुजरात प्रान्त पर अपना प्रभाव रखने के लिए प्रयत्नशील रहे। अजीतसिंह ने मारवाड़ की सीमा का गुजरात में प्रसार करने का असफल प्रयास किया था। अभयसिंह को जब गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया तो वह तुरन्त दल-बल सहित वहां पहुचा और उसने सरबुलन्दखां को पराजित कर उसे सूबे से बाहर जाने के लिए बाध्य कर दिया। अक्टूबर 1730 ई. मे उसने सूबे का कार्यभार संभाल लिया।[12]

गुजरात मे अभयसिंह को विकट परिस्थितियों में कार्य करना पड़ रहा था। सूबे मे मराठो के उत्पात को दबाने के लिए अभयसिंह को धन और विशाल शाही फौज की आवश्यकता थी। इन दोनों के लिए उसने बादशाह से निवेदन किया था, परन्तु बादशाह इसके प्रति उदासीन ही रहा। इसके विपरीत उसने अभयसिंह को आदेश भेजे कि वह पेशवा के विरुद्ध दामाड़े-निजाम गठबन्धन का साथ दे। निजाम सदैव मारवाड़ के हितो का विरोधी रहा था। निजाम का गुजरात में शक्तिशाली होना मारवाड़ के लिए खतरा था। अतः अभयसिंह ने मारवाड़ के हित को ध्यान में रखते हुए पेशवा का समर्थन करना ही उचित समझा। बाजीराव भी निजाम के भय से अभयसिंह के साथ मित्रता करने के पक्ष मे था। जैसे ही उसे अभयसिंह की तरफ से अहमदाबाद पहुंचने का निमन्त्रण मिला, वह तुरन्त 23 जनवरी, 1731 ई. को वहां पहुंचा। लगभग एक महीने तक दोनो मे विचार-विमर्श होता रहा। अन्त में फरवरी 1731 ई. मे बाजीराव और अभयसिंह के बीच एक समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार निम्नलिखित निर्णय लिए गए—

1. पिलाजी गायकवाड़ और कन्थाजी बन्दे को गुजरात से निकालने मे पेशवा महाराजा की सहायता करेगा।
2. अभयसिंह 13 लाख रुपये गुजरात की चौथ के रूप मे पेशवा को देगा। इसमे 6 लाख रुपये तो तुरन्त देगा और बाकी की रकम पिलाजी और कन्थाजी को गुजरात के बाहर निष्कासित करने पर चुकाई जायेगी।
3. बाजीराव के अतिरिक्त गुजरात में कोई अन्य मराठा सरदार हस्तक्षेप नहीं करेगा।
4. बड़ौदा पर अधिकार हो जाने पर इसे महाराजा को सुपुर्द कर दिया जायेगा।

5. पेशवा की सहायता के लिए महाराजा मुगल-सेना व ढ़ाई हजार राठौड़ी सेना प्रस्तुत करेगा।

यह समझौता लगभग वैसा ही था जैसा कि सरबुलन्दखां ने पेशवा के भाई चिमनाजी के साथ किया था।[13] समझौते के अनुसार पेशवा ने दाभाड़े की सेना पर आक्रमण कर दिया। अप्रेल 1, 1731 ई. को दभोई के निकट सेनापति की सेना परास्त हुई और सेनापति अम्बकराव दाभाड़े स्वयं युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ और उसकी सेना भाग खड़ी हुई। परन्तु बड़ौदा पर अभी भी मालाजी का ही अधिकार रहा। उधर मुगल-दरबार मे अभयसिंह द्वारा पेशवा के साथ किये गये समझौते की विपरीत प्रतिक्रिया हुई। बादशाह ने समझौते को स्वीकृति प्रदान नही की। उसने मुहम्मद बंगस और अभयसिंह के पास गुप्त सन्देश भेजे जिसमें बाजीराव को परास्त कर मार डालने को कहा था। इसकी सूचना बाजीराव को प्राप्त हो गई। इससे वह खिन्न होकर बड़ौदा का घेरा उठाकर सतारा की ओर प्रयाण कर गया। अभयसिंह के साथ जो समझौता हुआ था, वह भग हो गया।[14]

अभयसिंह बहुत ही असमंजस की परिस्थितियों मे था। मराठा राजा शाहू ने गुजरात की चौथ-वसूली के अधिकार सेनापति के पास ही रखे। सेनापति के पद पर अब त्र्यम्बकराव के पुत्र यशवतराव को नियुक्त कर दिया गया था। यशवतराव अल्पायु था, इसलिए गुजरात क्षेत्र मे उसका नायब पिलाजी गायकवाड़ ही सर्वेसर्वा था। महाराजा ने 23 मार्च, 1732 ई. को डाकोर स्थान पर पिलाजी की धोखे से हत्या करवा दी। इसके बाद अप्रेल 1732 ई. में बडौदा पर भी महाराजा का अधिकार हो गया।[15] परन्तु दभोई अभी भी मराठो के अधिकार में ही रहा। मराठा-शिविर मे पिलाजी की हत्या के कारण महाराजा के विरुद्ध-तीव्र प्रतिक्रिया हुई। मराठो मे प्रतिशोध की भावना जागृत हुई। जब महाराजा को बादशाह की तरफ से किसी भी प्रकार की सहायता की आशा नही रही तो फिर दभोई का घेरा उठाकर तथा शेरखा बाबी को बड़ौदा का फौजदार नियुक्त कर वह अहमदाबाद लौट आया।[16]

मराठो ने तुरन्त अपनी बिखरी हुई शक्ति को संगठित कर सूबे में लूट-खसोट करना आरम्भ कर दिया। पिलाजी के पुत्र दामाजी के नेतृत्व मे मराठा सेना ने गुजरात के पूर्वी भाग पर अधिकार कर लिया और मेवाड़ की सीमा पर स्थित गांवो को लूटना आरम्भ किया। 1733 ई. के आरम्भ मे मल्हारराव होल्कर और रानोजी सिंधिया ने चम्पानेर और पावगढ़ पर अधिकार कर लिया। त्र्यम्बकराव की विधवा उमाबाई 70,000 सेना के साथ अहमदाबाद के निकट आ पहुंची। महाराजा के पास मराठों से सन्धि कर लेने अतिरिक्त दूसरा कोई विकल्प ही नहीं था। उसने उमाबाई को चौथ और सरदेशमुखी की वसूली के अधिकार दे दिये; इसके अतिरिक्त 80,000 रुपये नकद दिये। कुछ समय के बाद बड़ौदा पर भी मराठों ने अधिकार

कर लिया। अभयसिंह की गुजरात पर अधिकार रखने की आकांक्षा पूर्ण न हो सकी। वह अपने नायब रत्नसिंह भण्डारी को गुजरात के शासन का भार सुपुर्द कर 1733 ई के मध्य मे गुजरात छोड़ जोधपुर लौट आया।[17] वैसे 1737 ई. तक अभयसिंह गुजरात का सूबेदार बना रहा।

मुगल सम्राट् की दुर्बलता, अधिकारियों मे फूट, ईर्ष्या, द्वेष एवं संघर्ष और प्रान्तपतियों की महत्त्वाकांक्षा, संकीर्णता व स्वार्थपरता के कारण मराठो का उत्तरी भारत मे प्रसार सम्भव हो सका था। दूसरी तरफ पेशवा बाजीराव की राजनीतिक सूझ-बूझ, दूरदर्शिता और कार्यपटुता तथा उसके भाई चिमनाजी की रणनीति, साहस और सजगता के फलस्वरूप मालवा और गुजरात पर मराठों का प्रभाव स्थापित हो गया। अब उनके लिए राजस्थान में प्रवेश करना सहज हो गया था। वैसे तो 1730 ई. तक मराठों और राजस्थान के राजपूत राजाओं के मध्य सामान्यतः मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध ही रहे, फिर भी मालवा और गुजरात की सीमा पर स्थित राजस्थानी क्षेत्र से यदा-कदा धन एकत्र करने के उद्देश्य से मराठा आक्रमणकारी लूट-खसोट कर लिया करते थे।

मई 1711 ई. में प्रथम बार मराठो नें मंदसौर के निकट मेवाड़ी क्षेत्र से धन एकत्र किया था। इस घटना से महाराणा संग्रामसिंह बहुत चिन्तित हुआ। उसने इस सम्बन्ध मे आमेर के राजा जयसिंह से सम्पर्क स्थापित किया और उसे इस बात से अवगत कराया कि मराठा आक्रमण की समस्या सम्पूर्ण राजस्थान की समस्या है; अतः राजस्थान के सभी राजाओं को मिलकर संयुक्त रूप से मराठों के विरुद्ध कारगर कदम उठाना चाहिए।[18]

सन् 1724 ई. से मराठा-आक्रमणो में काफी तेजी आ गई थी। मालवा और गुजरात की सीमा पर स्थित मेवाडी गांवों को मराठों ने लूटना आरम्भ कर दिया था। इस बार फिर महाराणा संग्रामसिंह ने मराठा आक्रमणकारियों के प्रति जयसिंह का ध्यान आकर्षित किया और उसे स्पष्ट शब्दो में लिखा कि यदि साल छः महीनों में मराठो के विरुद्ध कार्यवाही नहीं की गई तो फिर उनकी आक्रमणकारी प्रवृतियों को नियन्त्रित रखना कठिन हो जायेगा। जयसिंह और महाराणा ने मुगल बादशाह मुहम्मदशाह को भी मराठा आक्रमणकारियों की गतिविधियो से अवगत करवाया था और उसे उनके विरुद्ध कठोर कदम उठाने के लिए अभ्यर्थना की थी; परन्तु बादशाह ने स्थिति की गम्भीरता को समझने का प्रयास ही नही किया। उसने आश्चर्य प्रकट किया कि महाराणा जैसा साहसी और शक्तिशाली राजा मराठों की भीड से भयभीत हो गया है। महाराणा ने मराठों की आक्रमण-सम्बन्धी सूचना निजाम के पास भी भिजवाई थी।[19]

सन् 1726 ई. मे पुनः मराठो के आक्रमण मेवाड़ी सीमा पर हुए। महाराणा ने इस बार भी आमेर के राजा जयसिंह को एक पत्र द्वारा सुझाव दिया कि

वह राजपूत राजाओं को संगठित कर सयुक्त रूप से मराठो के विरुद्ध कार्यवाही करने की योजना बनायें। जयसिंह ने कोटा के महाराव दुर्जनसाल को इस आशय का पत्र लिखा था। महाराव ने मराठो के विरुद्ध महाराणा की मदद करने का आश्वासन भी दिया था।[20] इस प्रकार राजस्थानी शासक मराठा समस्या की गम्भीरता को समझते थे। वे मराठों की बढ़ती हुई शक्ति और उनकी लूट-खसोट की नीति के प्रति चिन्तित थे, परन्तु समस्या-समाधान के लिए कोई सक्रिय कदम नही उठा पाये। केवल पत्रो के आदान-प्रदान से समस्या का निवारण सम्भव नहीं था। सैनिक शक्ति के बिना कूटनीति सफल नहीं हो सकती थी। राणा का प्रयास केवल पत्र लिखने तक ही सीमित रहा। उसने सैनिक शक्ति जुटाने के लिए कोई निश्चित योजना नही बनाई।

सन् 1728 ई में जनकोजी व अन्य मराठा अधिकारियो ने मेवाड़ मे शाहपुरा तक छापे मारे, परन्तु शाहपुरा के सैनिकों ने उन्हें पराजित कर राज्य की सीमा के बाहर खदेड दिया। इसी वर्ष मराठो ने मेवाड़ के अर्द्धस्वतन्त्र राज्य डूंगरपुर और बांसवाड़ा से चौथ के रुपये वसूल किये।[21]

मेवाडी क्षेत्र पर किये गये आक्रमणो की शिकायत मराठा राजा शाहू से भी की गई थी। वह मेवाड के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने का इच्छुक था। राणा के प्रति उसकी बड़ी आस्था थी। उसने अपने अधिकारियों को आदेश भेजे कि वे मेवाड़ की सीमा मे लूट-खसोट न करें।[22]

1730 ई. मे जयसिंह ने दीपसिंह के नेतृत्व मे एक शिष्ट-मण्डल मराठा राजा शाहू के पास सतारा भेजा था। इस शिष्टमण्डल में महाराणा का प्रतिनिधि पिपलिया का ठाकुर रावत वाघसिंह भी सम्मिलित किया गया था। शाहू ने उसका स्वागत किया, परन्तु इससे राजनैतिक क्षेत्र मे कोई विशेष सफलता नही मिली। मराठों के छुट-पुट आक्रमण राजस्थान की सीमा पर होते रहते थे।[23]

कोटा राज्य की सीमा भी मालवा से जुड़ी हुई थी, अतः वहा भी मराठो के छुट-पुट आक्रमण होते रहे। 1726 ई. मे किशनजी पन्त और अम्बाजी पन्त के सेनापतित्व मे कुछ मराठा छापामार सैनिक कोटा और बून्दी की सीमा मे प्रविष्ट हुए थे। इसके बाद 1733 ई. मे फिर पिलाजी यादव के नेतृत्व मे मराठा कोटा राज्य मे प्रविष्ट हुए। उन्होंने कोटा राज्य के कुछ गांवों को लूटा, लेकिन बाद में कोटा के महाराव दुर्जनसाल ने युक्ति से उनका ध्यान नाहरगढ पर आक्रमण करने की ओर लगा दिया। महाराव ने अपने दूत के माध्यम से पिलाजी यादव को नाहरगढ के स्वामी नाहरखां पर, जो उसका विद्रोही सामन्त था, आक्रमण करने के लिए राजी कर लिया। इस सेवा के बदले पिलाजी को डेढ़ लाख रुपये देना तय हुआ था। वस्तुतः नाहरगढ़ का स्वामी नाहरसिंह राठौड़ था। महाराव से उसकी अनबन हो गई थी। महाराव ने उसकी जागीर जब्त कर लेने की धमकी दी थी।

इससे भयभीत होकर नाहरसिंह ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया और उसने अपना नाम नाहरखां रख लिया। उसने मुगल बादशाह से अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित कर लिया। मुगल बादशाह के भय से महाराव अब नाहरसिंह (नाहरखा) के विरुद्ध कोई कार्यवाही करने में असमर्थ था। इसीलिए उसने मराठों के माध्यम से नाहरखां को कुचलने की नीति अपनाई। पिलाजी ने नाहरखां को मार भगाया और नाहरगढ़ का परगना महाराव के सुपुर्द कर दिया। यद्यपि महाराव के उद्देश्य की पूर्ति तो हो गई, तथापि भविष्य मे कोटा राज्य से धन प्राप्त करने के लिए मराठों का मार्ग प्रशस्त हो गया।[24] आगे के पृष्ठों पर हम देखेंगे कि कोटा के शासकों ने देश को लूट-खसोट से बचाने के लिए मराठा-सरदारो को रिश्वत के रूप मे धन की बड़ी राशि देने की नीति का अनुसरण किया था।

दीपसिंह-शिष्टमण्डल के विफल हो जाने पर और मराठों के मेवाड़ी सीमा पर निरन्तर आक्रमणों को होते देख महाराणा ने सवाई जयसिंह के साथ एक सैनिक समझौता किया था जिसका उल्लेख पिछले अध्याय मे किया जा चुका है। यह समझौता उस समय किया गया जब जयसिंह को तीसरी बार मालवा का सूबेदार नियुक्त किया गया था (सितम्बर 1732); परन्तु समझौता पूर्णरूपेण कार्यान्वित होने ही नही पाया था कि उसके पहले ही फरवरी 1733 ई. में सवाई जयसिंह को मराठों ने मदसौर के स्थान पर पराजित कर दिया और उसे 6 लाख रुपये युद्ध के खर्चे के रूप में मराठों को देने के लिए बाध्य होना पड़ा था। इसके साथ-साथ चौथ के बदले मालवा के 28 परगने भी मराठों को देना तय हुआ।[25] कुछ समय बाद संकट-ग्रस्त व तनावपूर्ण परिस्थिति मे जनवरी 1734 ई. मे महाराणा संग्रामसिंह का देहान्त हो गया। उसका उत्तराधिकारी जगतसिंह अल्पायु, अनुभवहीन और आरामपसन्द व्यक्ति था। इस प्रकार की बदलती हुई विकट परिस्थिति में उससे कुशल नेतृत्व की आशा करना व्यर्थ था।

मन्दसौर की विजय के बाद मालवा मे मराठो की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। प्रान्त मे सभी जगह उनका बोल-बाला था। मराठो की बढती हुई शक्ति से प्रभावित होकर बुद्धसिंह की कछवाही रानी ने अपने पति के खोये हुए बून्दी राज्य को पुनः प्राप्त करने के लिए जयसिंह द्वारा मनोनीत बून्दी के शासक दलेलसिंह के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से दलेलसिंह के बड़े भाई प्रतापसिंह को मराठों के पास दक्षिण मे भेजा। प्रतापसिंह मल्हारराव होल्कर और राणोजी सिन्धिया को छः लाख रुपये देकर बून्दी पर चढा लाया। अप्रेल 22, 1734 ई. को उन्होंने बून्दी पर अधिकार कर लिया और दलेलसिंह के स्थान पर बुद्धसिंह को गद्दी पर बैठा दिया। परन्तु बुद्धसिंह स्थायी रूप से बून्दी में नही रह सका। मराठों के दक्षिण लौटने के कुछ दिनो बाद जयसिंह ने एक सेना बून्दी पर आक्रमण करने भेज दी। इस सेना ने बून्दी पर अधिकार कर फिर दलेलसिंह को वहा का शासक घोषित कर दिया।[26]

मन्दसौर और बून्दी की घटनाओं ने राजस्थान के सभी विचारशील राजपूत राजाओ को मराठो के प्रति सजग कर दिया। मराठो का बून्दी के मामले मे हस्तक्षेप करना राजस्थान के राजाओ के लिए भावी विपत्ति व सकट का स्पष्ट सकेत था। मराठों का भय राजस्थान के सभी शासकों के लिए समान था। महाराणा संग्रामसिंह ने इस दिशा मे बहुत पहले से सोचना आरम्भ कर दिया था और उसने कई बार राजस्थान के शासकों को संगठित करने का आह्वान भी किया था। यद्यपि राजस्थान के राजाओ को संगठित कर मराठो के विरुद्ध सामूहिक रूप से सैनिक कार्यवाही करने में तो वह सफल नही हुआ, फिर भी यह तो स्वीकार करना होगा कि उसने भावी राजपूत संगठन के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। अब जयसिंह के प्रयत्नो से 17 जुलाई, 1734 ई. को राजस्थान के नरेशो का एक सम्मेलन हुरड़ा गांव में आयोजित किया गया। यहां सभी राजपूत राजाओं ने एक होकर वर्षा ऋतु के बाद मराठो के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने का निर्णय लिया। यह केवल प्रयास मात्र ही रहा। निर्णय के अनुसार एक भी राजपूत राजा अपनी सेना के साथ वर्षा ऋतु के बाद मराठों से युद्ध करने के लिए रामपुरा में एकत्र नहीं हुआ। बाद मे खान-ए-दौरां के नेतृत्व में मराठों के विरुद्ध भेजी गई मुगल सेना में जयसिंह, अभयसिंह, दुर्जनसाल आदि राजपूताने के शासक अपनी सैनिक शक्ति के साथ सम्मिलित तो हुए, परन्तु वे अपने उद्देश्य-पूर्ति में असफल रहे। जयसिंह और खान-ए-दौरा ने हार कर मराठों से सन्धि कर ली। उन्होने मालवा सूबे की चौथ के बदले 22 लाख रुपये मराठों को देने का वायदा किया। तब वे दक्षिण की ओर लौटे (अप्रैल 1735 ई.)।[27]

तत्पश्चात् जयसिंह के आश्वासन और निमन्त्रण पर बाजीराव पेशवा राजस्थान में उससे मिलने के लिए आया। उसके पहले उसकी माता राधाबाई नाथद्वारा में श्रीनाथजी और आमेर में गलता के दर्शनार्थ तीर्थयात्रा पर आई थी। राजपूत राजाओ ने उसका भव्य स्वागत किया था जिससे राजपूत-मराठा मैत्री का वातावरण बन गया था। जनवरी 1736 ई. में बाजीराव उदयपुर पहुचा। राणा ने डेढ लाख रुपये चौथ के रूप मे मराठों को देना स्वीकार कर लिया। इसके बाद बाजीराव ने अजमेर के निकट भमोला स्थान पर जयसिंह से भेंट की, लेकिन बादशाह से पेशवा की मुलाकात करवाने की योजना असफल रही। मुगलो के साथ मराठों का समझौता भी सम्पन्न नही हो सका। बाजीराव खिन्न होकर दक्षिण की ओर लौट गया और पुनः युद्ध की तैयारी की जाने लगी। उपर्युक्त सभी घटनाओं का सविस्तार विवरण पिछले अध्याय में जयसिंह के इतिहास के संदर्भ मे दिया जा चुका है।[28]

जयसिंह की मराठो को सन्तुष्ट रखने की नीति से जोधपुर का महाराजा अभयसिंह सहमत नही था। रामपुरा की पराजय के बाद मराठों के साथ की गई सन्धि का अभयसिंह ने विरोध किया था। इस सन्धि के बाद इन दो राजपूत

राजाओं के सम्बन्धों में काफी कटुता आ गई थी। अभयसिंह का झुकाव मुगल दरबार में जयसिंह-विरोधी गुट की तरफ होने लगा था। वह मराठों के प्रति कठोर नीति अपनाने के पक्ष में था। राजस्थान-यात्रा के समय बाजीराव ने सम्भवतः जयसिंह की राय से मारवाड़ पर आक्रमण करने के लिए मल्हारराव होल्कर, रानोजी सिन्धिया, आनन्दराव पंवार और कन्थाजी को आदेश दिये। वे शाहपुरा क्षेत्र को लूटते हुए मेड़ता पहुंचे। बून्दी के शासक दलेलसिंह का बड़ा भाई प्रतापसिंह भी उनके साथ था। उसके माध्यम से मारवाड़ के सेनाध्यक्ष विजयराज भंडारी से धन प्राप्त करने के प्रयास किये गये। परन्तु जब भंडारी ने अभयसिंह के आदेशानुसार मराठों को धन देने से इन्कार कर दिया तो मराठों ने मेड़ता पर आक्रमण कर नगर पर अधिकार कर लिया और गढ़ का घेरा डाला गया। उस समय शाहपुरा का शासक उम्मेदसिंह सिसोदिया भी विजयराज भंडारी की सहायता के लिए मेड़ता में उपस्थित था। लगभग दो महीनों तक युद्ध चलता रहा। अन्त में भंडारी ने मराठों से समझौता कर उन्हें एक बड़ी धनराशि देकर रवाना किया। मेड़ता से यह मराठा सेना नागौर पहुंची। वहां के शासक बख्तसिंह से भी चौथ के रूप में धन प्राप्त किया और फिर अजमेर होती हुई यह सेना पेशवा बाजीराव के पास पहुंच गई।[29]

यद्यपि राजस्थान यात्रा से बाजीराव को मुगल बादशाह से भेंट और मालवा प्रान्त से सम्बन्धित शाही समझौते जैसे मूल उद्देश्यों की प्राप्ति तो नहीं हो सकी थी तथापि अन्य कारणों से उसकी यह यात्रा फलीभूत हुई। उसने राजपूत राजाओं के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित कर उन्हें अपने नेतृत्व में संगठित करने का प्रयास किया। पेशवा को राजस्थान के राजाओं की दुर्बलता और राजस्थान की विक्षुब्ध राजनीति का पता चल गया। इस यात्रा के समय पेशवा ने राजपूत राजाओं के साथ चौथ व अन्य करों के सम्बन्ध में समझौते किये। यह पहला अवसर था जबकि मराठों ने व्यापक रूप से राजस्थान के राज्यों से चौथ के रूप में एक बड़ी धन राशि एकत्र की। ऊपर बताया जा चुका है कि राणा ने एक बहुत बड़ी धनराशि पेशवा को दी थी और भविष्य में डेढ़ लाख रुपये प्रति वर्ष चौथ के रूप में देना स्वीकार कर लिया था। जयसिंह की तरफ से भी पांच लाख रुपये प्रति वर्ष चौथ के देने का प्रस्ताव था।[30] महाराणा बाजीराव से अत्यधिक प्रभावित हुआ था। मार्च 1737 ई. में जब बाजीराव ने दिल्ली पर आक्रमण किया था, उस समय मेवाड़ के राणा ने देवीचन्द पंचोली के साथ पेशवा की सहायतार्थ एक सेना भेजी थी।[31]

बाजीराव पेशवा का 1737 ई. का वर्ष उत्तरी भारत में युद्धों के लिए सर्वाधिक प्रसिद्ध है। वह लूट-खसोट करता हुआ दिल्ली तक पहुंच गया। बाद में उसने निजाम जैसे अनुभवी और योग्य मुगल सेनानायक को भोपाल के युद्ध में

पराजित किया था । पेशवा के इन सैनिक अभियानों का राजस्थान के राजाओं पर कोई विशेष प्रभाव नही पड़ा । जयसिंह और कोटा के महाराव दुर्जनसाल के सिवाय किसी भी अन्य राजपूत राजा ने सुनियोजित तरीके से पेशवा के विरुद्ध शाही फौज की मदद नहीं की थी । जयसिंह ने अपने पुत्र ईश्वरीसिंह और दीवान अयामल के नेतृत्व मे एक कच्छावी सेना निजाम की मदद मे भेजी थी ।[32] दिसम्बर 1737 ई. में कोटा के महाराव दुर्जनसाल सफदरजग के साथ अपनी सेना लेकर निजाम की सहायतार्थ रवाना हुआ, परन्तु रास्ते मे मल्हारराव होल्कर और जसवन्तराव पंवार ने उसे परास्त कर दिया । पेशवा के प्रति इस अमैत्रीपूर्ण व्यवहार के फलस्वरूप कोटा महाराव को मराठा-प्रहार वहन करना पडा था । निजाम से निपट कर बाजीराव ने कोटा पर चढाई की । उसने कोटा नगर पर अधिकार कर लिया और किले पर गोलाबारी आरम्भ की । वंशभास्कर के अनुसार यह गोलाबारी चालीस दिनों तक चलती रही । महाराव कोटा से भाग कर गागरौन चला गया । अन्त मे उसे दण्ड के 10 लाख रुपये पेशवा को देने पड़े । आठ लाख रुपये तो तुरन्त दिये गये और शेष दो लाख रुपयों के लिये ऋण-पत्र लि॰ दिया गया । राजस्थान के दक्षिण-पूर्वी भाग में चौथ की वसूली करने तथा मराठो के अन्य कार्यों की देखभाल के लिए राणोजी सिन्धिया ने बालाजी यशवन्त गुलगुले को कोटा मे कमाविसदार नियुक्त किया ।[33] बालाजी यशवन्त की योग्य सेवा के कारण महाराव दुर्जनसाल ने उसको परगना उरमाल मे बरखेड़ी नामक गांव जागीर में दिया और पेशवा ने उसे कोटा राज्य में अपना वकील तथा प्रतिनिधि नियुक्त कर दिया । इस प्रकार हाड़ौती क्षेत्र पर मुगलो का प्रमुत्व समाप्त हो गया और यहां मराठो का स्वामित्व स्वीकार कर लिया गया । बालाजी यशवन्त के प्रयत्नो से 1738 ई. से कोटा राज्य मराठो को एक लाख रुपये प्रति वर्ष खण्डणी के रूप मे देने लगा । कोटा मे नियुक्त वकील कोटा और बून्दी परगनों से वार्षिक कर वसूल करता था और एक निश्चित अनुपात में विभाजित कर मराठा सरदारो को रकम पहुचा देता था । उसकी सहायता के लिए कुछ मराठा पदाधिकारी नियुक्त थे और एक सैनिक टुकडी भी कोटा मे रखी गई थी । यह वकील कोटा और बून्दी राज्यों तथा पेशवा के बीच राजनीतिक सम्बन्धो को बनाये रखने के लिए महत्वपूर्ण पदाधिकारी था ।[33(अ)]

सन् 1739 ई. के आरम्भ मे मुगल बादशाह को नादिरशाह के हमले के रूप मे एक भारी संकट का सामना करना पड़ा । इस हमले के कारण मुगल साम्राज्य क्षत-विक्षत हो गया । मुग़ल सम्राट की रही-सही प्रतिष्ठा भी धूल मे मिल गई । मराठो को भी नादिरशाह के हमले की आशंका थी । पेशवा बाजीराव ने पत्र लिखकर मेवाड़, जयपुर आदि के सभी हिन्दू राजाओं को संगठित होकर तथा मराठों से मिलकर शत्रु का सामना करने का आह्वान किया था । उस समय कुछ लोग यह ोच रहे थे कि सभी हिन्दू शासक संगठित हो नादिरशाह को परास्त कर

महाराणा को हिन्दू सम्राट् के रूप मे दिल्ली सिंहासन पर आसीन करें किन्तु वैचारिक मतभेद और विभिन्न निजी स्वार्थों के कारण हिन्दू-शासकों का एक होना सम्भव ही नहीं था। राजपूत नरेश किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में थे। वे पूर्णतया निष्क्रिय व उदासीन बने रहे। उन्होंने बाजीराव का साथ देना भी स्वीकार नहीं किया।[34] यद्यपि मई 1739 ई. के प्रारम्भ में नादिरशाह दिल्ली से ईरान को प्रस्थान कर गया था और मुहम्मदशाह ने दिल्ली के सिंहासन पर बैठ पुनः मुगल-शासन का कार्यभार सम्भाल लिया था, तो भी उसमे इतनी योग्यता व शक्ति नहीं थी कि वह साम्राज्य को सुसगठित कर उसे नवजीवन प्रदान कर सके। नादिरशाह के आक्रमण से दिल्ली साम्राज्य पर ऐसा घातक प्रहार हुआ कि राजस्थान से प्रायः शाही सत्ता का लोप हो गया। इसके बाद भी बादशाह द्वारा फरमान, सनद, ईनाम आदि की घोषणाएं की जाती थीं परन्तु इनका अब कोई महत्त्व नही था। राजस्थान में कोई शक्तिशाली मुगल सूबेदार नहीं था जो यहां के राजपूत राजाओं को दबाकर मुगल सम्राट् के अधीन रख सके। केन्द्रीय सत्ता के विलुप्त होने से राजस्थान में सर्वत्र अराजकता तथा अशान्ति का वातावरण व्याप्त होने लगा। यहां के महत्वाकांक्षी शासकों ने अपनी राज्य-सीमा का विस्तार करने के उद्देश्य से पड़ौसी राज्यों पर आक्रमण करना शुरू किया। राजस्थान के राज्यो में सामन्तों के झगड़े, पारस्परिक जातीय संघर्ष, षड्यन्त्र, हत्याए आदि का सर्वत्र बोलवाला रहा। उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर लगभग सभी राज्यो मे गृह-युद्ध हुए और दोनों पक्ष विदेशियों से, विशेष कर मराठो से सहायता लेने मे अग्रसर रहे जिससे मराठों का राजस्थान मे पदार्पण हुआ और वे उनके भाग्यविधाता बन गये। राजस्थान मे मराठा शक्ति के बढ़ने का एक मूल कारण यह भी था कि दस ग्यारह वर्ष की अल्प अवधि में जयसिंह, अभयसिंह, ईश्वरीसिंह, बख्तसिंह जैसे सशक्त और अनुभवी राजा इस ससार से विदा हो गये थे। उनके उत्तराधिकारी अल्पायु और अयोग्य थे। अतः वे नवोदित मराठा शक्ति का सामना करने में पूर्णतया असमर्थ रहे। ऐसी स्थिति मे राजस्थान में मराठा शक्ति व उनके प्रभाव की अभिवृद्धि और यहां के राजाओं का ह्रास और पतन होना स्वाभाविक ही था।[35]

मराठो का मालवा पर अधिकार हो जाने के बाद उनका राजस्थान में प्रवेश करना बहुत सहज हो गया था। 1741 ई० में बागड़ के रास्ते से मराठों ने मेवाड़ में प्रवेश किया और मेवाड़ी गांवों को लूटा। महाराणा जगतसिंह ने कानोड़ के रावत पृथ्वीसिंह के नेतृत्व में एक फौज भेजी। इस फौज ने मराठों को मेवाड़ी सीमा से बाहर जाने के लिए बाध्य कर दिया।[36] मारवाड़ के शासक अभयसिंह चौथ सम्बन्धी समझौता कर लेने के बाद भी नियमित रूप से मराठो को निश्चित धनराशि नहीं भेज रहा था। इससे रुष्ट होकर मार्च 1742 ई. में होल्कर और सिंधिया के नेतृत्व में मराठा फौज मारवाड़ में प्रवेश कर सोजत, रायपुर और जैतारण परगनों में लूट-खसोट कर चौथ वसूल करने लगी। मराठों को इसमे विशेष सफलता

नहीं मिली। गांवों के लोग मराठों के आगमन पर अपनी झोंपड़ियों में आग लगा देते थे और वे पहाड़ियों की ओर भाग जाते थे।[37]

मराठों के निरन्तर आक्रमणों के कारण राजस्थान के शासक चिन्तित थे। मराठों के विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही करने हेतु यत्र-तत्र असफल प्रयास भी किये गये। नवम्बर 1741 ई. मे कोटा महाराव दुर्जनसाल ने मेवाड़ के नाथद्वारा में एक धार्मिक महोत्सव का आयोजन किया। इस अवसर पर उसने सवाई जयसिंह, करौली के राजा गोपालसिंह, महाराणा जगतसिंह द्वितीय, भरतपुर के जाट राजा जवहारसिंह, मैंसरोड़ के ठाकुर सूरतसिंह, बेगूं के राणा देवीसिंह आदि को इस महोत्सव मे सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया था।[38] इस अवसर पर एकत्र राजस्थान के शासको द्वारा समसामयिक ज्वलन्त राजनीतिक समस्याओं पर विचार-विमर्श करना स्वाभाविक ही था। महाराणा जगतसिंह और महाराव दुर्जनसाल ने माधोसिंह को जयपुर का और उम्मेदसिंह को बून्दी का राज्य दिलवाने के लिए मन्त्रणा की। माधोसिंह जयसिंह का द्वितीय पुत्र था जो मेवाड़ी राजकुमारी से उत्पन्न हुआ था। 1708 ई. की सन्धि के अन्तर्गत माधोसिंह को जयपुर की गद्दी प्राप्त होनी थी, परन्तु उसका ज्येष्ठ भ्राता ईश्वरीसिंह भी जयपुर की गद्दी के लिए परम्परागत अधिकारी था। जयसिंह इस भावी संकट से अवगत था। इसलिए उसने महाराणा संग्रामसिंह से 1729 ई. में माधोसिंह के लिए रामपुरा की जागीर प्राप्त कर ली थी और महाराणा से आश्वासन भी ले लिया था कि वह माधोसिंह को जयपुर की गद्दी दिलवाने हेतु प्रयास नहीं करेगा। महाराणा जगतसिंह माधोसिंह को जयपुर की गद्दी दिलवाने का इच्छुक था। उम्मेदसिंह बुद्धसिंह का पुत्र था। बून्दी के पदच्युत शासक बुद्धसिंह की 1739 ई. में मृत्यु हो गई थी। उम्मेदसिंह अब युवा हो चुका था। वह जयसिंह द्वारा बून्दी के सिंहासन पर बिठाये गये दलेलसिंह को हटाकर अपने पैतृक बून्दी राज्य को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील था। उसे कोटा के महाराव दुर्जनसाल का समर्थन भी प्राप्त था। अतः नाथद्वारा मे महाराणा जगतसिंह और महाराव दुर्जनसाल ने माधोसिंह को जयपुर की गद्दी और उम्मेदसिंह को बून्दी की गद्दी दिलवाने का निर्णय लिया और यह तय किया कि जयसिंह के जीवनकाल मे इस सम्बन्ध मे कार्यवाही स्थगित रखी जाय क्योंकि वृद्ध और गिरते स्वास्थ्य को देखते हुए जयसिंह के ज्यादा दिनों तक जीवित रहने की आशा नहीं थी।[39]

इस महोत्सव के अवसर पर एकत्र राजस्थान के शासको ने मराठों के विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही करने के सम्बन्ध में भी अपने विचारों का आदान-प्रदान किया था, परन्तु पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा और निजी स्वार्थों के कारण इस सम्बन्ध मे कोई कारगर कदम नहीं उठाये गये।[40]

फरवरी 1742 ई. मे सलूम्बर के रावत कुबेरसिंह ने मेवाड़-जयपुर के बीच मतभेदों को दूर करने का प्रयास किया। उसने एक पत्र महाराणा को लिखा

जिसमें मराठों को मालवा प्रान्त से निकालने के सम्बन्ध में एक योजना प्रस्तुत की। इस योजना के अन्तर्गत महाराणा जगतसिंह, सवाई जयसिंह, महाराजा अभयसिंह तथा महाराव दुर्जनसाल को अपनी-अपनी सेना के साथ हुरड़ा मे एकत्र होने का आह्वान किया गया था। योजना थी कि वहां से प्रस्थान कर वे मन्दसौर में अपना शिविर कायम करें और वहां से फिर मराठों को मालवा से निकालने के लिए सम्मिलित सैनिक कार्यवाही करें। इस योजना मे मराठों को मालवा से बाहर निकालने के बाद प्रान्त को इन राजपूत राजाओं में विभाजित करने का भी सुझाव था। सभी राजपूत राजाओं को इस सम्बन्ध में पत्र लिखे गये। बुन्देलों से सहायता प्राप्त करने का प्रयास भी किया गया।[41] पर यह योजना केवल पत्रों तक ही सीमित रही। इसे कार्यान्वित नही किया जा सका। सभी राजाओं ने इसके प्रति उदासीनता प्रकट की। राणा भी अपने आन्तरिक मामलों में उलझा हुआ था। उसे राजस्थान के राजाओं का नेतृत्व करने का समय ही नहीं था, और न उसमें इसकी क्षमता ही थी।

मेवाड़ के सामन्त पारस्परिक ईर्ष्या व द्वेष के कारण एक दूसरे से झगड़ रहे थे। उनमें एक दूसरे के प्रति विश्वास की भावना प्रायः लुप्त हो चुकी थी। महाराणा इतना कमजोर और निष्क्रिय था कि वह उन्हें नियन्त्रण में रखने की स्थिति में ही नही था। महाराणा अमरसिंह प्रथम के काल से ही चूंडावतो और शक्तावतो के बीच प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष का सूत्रपात हो चुका था। अब महाराणा के व्यवहार और आचरण के कारण उनके आपसी मतभेद और भी तीव्र हो गये थे। अब तो चूंडावतों के प्रमुख ठिकाने बेगूं, देवगढ़, सलूम्बर, आमेट, भींडर आदि भी एक दूसरे से लड़ने-झगड़ने लगे थे। चूंडावतों के चौहानों तथा झालाओं के साथ भी सम्बन्ध कटु होने लगे थे। मेवाड़ के दरबारियों में गुट बन गये थे जो एक दूसरे को नीचा दिखाने के प्रयास करते रहते थे। यहां तक कि महाराणा और उसके युवराज प्रतापसिंह के बीच भी मनोमालिन्य की स्थिति बनी हुई थी। महाराणा ने उसे पकड़वाकर नजरबन्द कर रखा था। शाहपुरा के शासक और महाराणा के मध्य जहाजपुर और फूलिया के परगनो के प्रश्न को लेकर कशमकश चल रही थी। इन सब कारणों से मेवाड़ मे सर्वत्र अव्यवस्था, अराजकता व संघर्ष का वातावरण व्याप्त था।[42] महाराणा अपने आन्तरिक झगडो में इतना व्यस्त था कि उसे मेवाड़ की सीमा को मराठा-आक्रमणों से सुरक्षित रखना बहुत भारी पड़ रहा था। आन्तरिक संघर्ष और बाहरी आक्रमणों के अतिरिक्त महाराणा अब एक तीसरे संघर्ष की ओर अग्रसर हो रहा था। अभी तक सामान्यतः जयपुर–मेवाड़ सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण थे, परन्तु 21 सितम्बर 1743 ई० को सवाई जयसिंह की मृत्यु हो जाने के पश्चात् दोनों राज्यो के बीच उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर संघर्ष आरम्भ हो गया जो अगले आठ वर्षों तक चलता रहा। महाराणा की सम्पूर्ण शक्ति इस संघर्ष पर

> आक्रमण कर दिया । उन पर गोलाबारी की और प्रातः होते-होते राणा की सेना भाग खड़ी हुई । माधोसिंह और उसका संरक्षक जगत सिंह जान बचा कर उदयपुर की ओर पलायन कर गये । ईश्वरीसिंह ने जामोली समझौते को भी भंग कर टोंक का परगना माधोसिंह को नही दिया ।[46]

उपर्युक्त पराजयो से महाराणा निरुत्साहित नही हुआ । वह अब भी माधोसिंह को जयपुर की गद्दी दिलाने के लिए प्रयत्नशील था । अक्टूबर 1746 ई. मे कोटा का महाराव दुर्जनसाल श्रीनाथजी के दर्शनार्थ नाथद्वारा गया । उस समय महाराणा जगतसिंह और माधोसिंह भी उससे मिलने के लिए नाथद्वारा पहुचे । तीनों ने एक लम्बी वार्ता के बाद निर्णय लिया कि जयपुर पर आक्रमण किया जाये । महाराणा ने मल्हारराव होल्कर को सहायतार्थ बुलाने के लिए अपने निजी दूत खुमानसिंह को कालपी भेजा । मराठो द्वारा सैनिक सहायता देने के बदले मे मल्हारराव को 2 लाख रुपये देने की बात हुई । रानोजी सिन्धिया और रामचन्द्र बाबा शेनवी ने मल्हार को सलाह दी कि वह राणा की मदद न करे, परन्तु उसने उनकी सलाह के विपरीत अपने पुत्र खाडेराव के नेतृत्व मे एक हजार सवार महाराणा की मदद मे भेजने का निर्णय लिया । सिन्धिया और रामचन्द्र ईश्वरीसिंह की सहायता करने के पक्ष में थे । इस प्रकार जयपुर और बून्दी के उत्तराधिकार के संघर्ष मे दो प्रमुख मराठा-सरदारों के विरोधी मत थे जो बाद मे मराठा राज्य और राजस्थान के लिए घातक सिद्ध हुए ।[47]

खांडेराव ने अपनी सेना के साथ राजस्थान की ओर प्रयाण किया । मार्ग में कोटा और मेवाड़ की सेनाएं भी उससे आ मिली । अब यह सम्मिलित सेना जयपुर की सीमा पर स्थित राजमहल (देवली से दस मील उत्तर बनास मोड़ के दक्षिण मे) पहुंची । ईश्वरीसिंह की सेना भी दो मील की दूरी पर शिविर डाले हुई थी । सन्धि के लिए प्रयास किये गये । ईश्वरीसिंह को कहा गया कि वह टोक, टोडा, मालपुरा और निवाई नामक चारो नगर माधोसिंह को दे तथा उम्मेदसिंह को बून्दी लौटाई जाय । इसके बदले मे उम्मेदसिंह ईश्वरीसिंह मे मित्रता रखेगा और मराठो को युद्ध का सारा खर्चा देगा । नैनवा, समाधि और कारवाड के तीन परगने कोटा के महाराव दुर्जनसाल और प्रतापसिंह हाडा के अधिकार में ही रहने दिये जाय ।[48]

ईश्वरीसिंह ने उक्त शर्तों को स्वीकार करने से स्पष्ट शब्दों में इन्कार कर दिया । इस पर रविवार मार्च 1, 1747 ई. को मध्यान्ह के समय युद्ध आरम्भ हो गया । ईश्वरीसिंह की सेना का नेतृत्व हरगोविन्द नाटाणी कर रहा था । उसकी कुशल रणनीति के कारण मित्र सघ के सभी आक्रमण असफल हो गये । जयपुर की सेना विजयी हुई । खांडेराव युद्ध के समय रणस्थल से दूर खड़ा लूट का अवसर

देख रहा था। उसने बाद में हाडा सरदार भूपतराम के साथ मिलकर जयपुर की फौज के शिविर पर आक्रमण किया, परन्तु उसे भी सफलता नहीं मिली। दुर्जनसाल कोटा, राणा उदयपुर और सांडेराव बुन्देलखण्ड की ओर चले गये। ईश्वरीसिंह की यह एक बड़ी भारी विजय थी। जयपुर की सेना ने मेवाड़ की सीमा में प्रवेश कर वहां के गांवों को लूटा और फिर वह व्यापारिक नगर भीलवाड़ा पहुंच गई। वहां लूट से एक बहुत बड़ी धनराशि एकत्र की गई। महाराणा ने सन्धि के लिए ईश्वरीसिंह से निवेदन किया। ईश्वरीसिंह ने टोंक का परगना माधोसिंह के पास रखने की अनुमति दे दी। उसने वायदा किया कि यदि माधोसिंह जयपुर राज्य की सेवा में उपस्थित होता है तो उसे 5 लाख वार्षिक आय की जागीर प्रदान कर दी जायेगी। जयपुर की सेना विजयी होकर लौट गई।[49]

महाराणा और माधोसिंह ईश्वरीसिंह से किये गये समझौते से सन्तुष्ट नहीं हुए। महाराणा ने अब मराठों को भारी रकम देकर अपनी ओर लाने का प्रयास किया। मराठों में दो दल थे। रानोजी सिन्धिया और रामचन्द्र बाबा ईश्वरीसिंह को सहायता देने के पक्ष में थे जबकि मल्हारराव होल्कर आरम्भ से ही माधोसिंह और महाराणा का सहयोगी बना हुआ था। पेशवा अपने दोनों सरदारों के मतभेद के कारण असमंजस में था। जब राणा ने पेशवा को बहुत बड़ी रकम देने को कहा तो उसने रामचन्द्र बाबा से मेवाड़ जयपुर समस्या सुलझाने को कहा। उसने अब भी महाराणा को मदद देना मराठा प्रतिष्ठा के प्रतिकूल बताया। मल्हारराव निरन्तर पेशवा पर दबाव डाल रहा था और उसे माधोसिंह का पक्ष लेने की सलाह दे रहा था। महाराणा ने एक बार फिर अपने वकील किशोर पंचोली, पीपलिया के जयसिंह शक्तावत और कनीराम को मल्हारराव के माध्यम से पेशवा के पास भेजे। एक बहुत बड़ी धनराशि प्राप्त होने की आशा में पेशवा का भी अब झुकाव महाराणा की तरफ होने लगा था। वह जयपुर-मेवाड़ झगड़े को निपटाने के लिए उत्सुक था। उसने अपने मराठा सरदारों को आदेश भेजे कि माधोसिंह को 24 लाख की आय के परगने ईश्वरीसिंह से दिलवा कर झगड़े को शान्त करा दिया जाय। इस आशय का एक पत्र ईश्वरीसिंह को भी भेजा गया। पहले जामोली-समझौते के अनुसार माधोसिंह को पांच लाख आय की जागीर देने का प्रस्ताव था। अब उसे बढ़ा कर 24 लाख की आय के परगने देने की मांग जब ईश्वरीसिंह के सामने रखी गई, तो वह आवेश में आ गया और उसने कहा, मुझमें और पेशवा में वंश परम्परागत विशेष मित्रता चली आ रही है। बालाजीराव इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते कि 'मेरे पिता की उनके पिता से कितनी घनिष्ठता थी और बाजीराव की उन्होंने कितनी सेवाएं की थीं। मुझे अब भी पेशवा की प्रार्थना मानने में संकोच नहीं है, किन्तु यह वंशानुगत सम्पत्ति के उत्तराधिकार का प्रश्न है। हम राजा हैं और हमको उत्तराधिकार के नियम का पालन करना चाहिए। यह राज्य का प्रश्न

आक्रमण कर दिया। उन पर गोलाबारी की और प्रातः होते-होते राणा की सेना भाग खड़ी हुई। माधोसिंह और उसका संरक्षक जगत सिंह जान बचा कर उदयपुर की ओर पलायन कर गये। ईश्वरीसिंह ने जामोली समझौते को भी भंग कर टोंक का परगना माधोसिंह को नही दिया।[46]

उपर्युक्त पराजयो से महाराणा निरुत्साहित नही हुआ। वह अब भी माधोसिंह को जयपुर की गद्दी दिलाने के लिए प्रयत्नशील था। अक्टूबर 1746 ई. मे कोटा का महाराव दुर्जनसाल श्रीनाथजी के दर्शनार्थ नाथद्वारा गया। उस समय महाराणा जगतसिंह और माधोसिंह भी उससे मिलने के लिए नाथद्वारा पहुचे। तीनो ने एक लम्बी वार्ता के बाद निर्णय लिया कि जयपुर पर आक्रमण किया जाय। महाराणा ने मल्हारराव होल्कर को सहायतार्थ बुलाने के लिए अपने निजी दूत खुमानसिंह को कालपी भेजा। मराठो द्वारा सैनिक सहायता देने के बदले मे मल्हारराव को 2 लाख रुपये देने की बात हुई। रानोजी सिन्धिया और रामचन्द्र बाबा शेनवी ने मल्हार को सलाह दी कि वह राणा की मदद न करे, परन्तु उसने उनकी सलाह के विपरीत अपने पुत्र खाडेराव के नेतृत्व में एक हजार सवार महाराणा की मदद में भेजने का निर्णय लिया। सिन्धिया और रामचन्द्र ईश्वरीसिंह की सहायता करने के पक्ष मे थे। इस प्रकार जयपुर और बून्दी के उत्तराधिकार के संघर्ष में दो प्रमुख मराठा-सरदारो के विरोधी मत थे जो बाद मे मराठा राज्य और राजस्थान के लिए घातक सिद्ध हुए।[47]

खाडेराव ने अपनी सेना के साथ राजस्थान की ओर प्रयाण किया। मार्ग में कोटा और मेवाड़ की सेनाएं भी उससे आ मिली। अब यह सम्मिलित सेना जयपुर की सीमा पर स्थित राजमहल (देवली से दस मील उत्तर बनास मोड़ के दक्षिण में) पहुची। ईश्वरीसिंह की सेना भी दो मील की दूरी पर शिविर डाले हुई थी। सन्धि के लिए प्रयास किये गये। ईश्वरीसिंह को कहा गया कि वह टोंक, टोडा, मालपुरा और निवाई नामक चारो नगर माधोसिंह को दे तथा उम्मेदसिंह को बून्दी लौटाई जाय। इसके बदले में उम्मेदसिंह ईश्वरीसिंह से मित्रता रखेगा और मराठो को युद्ध का सारा खर्चा देगा। नैनवा, समाधि और कारवाड़ के तीन परगने कोटा के महाराव दुर्जनसाल और प्रतापसिंह हाडा के अधिकार में ही रहने दिये जायं।[48]

ईश्वरीसिंह ने उक्त शर्तों को स्वीकार करने से स्पष्ट शब्दों मे इन्कार कर दिया। इस पर रविवार मार्च 1, 1747 ई. को मध्याह्न के समय युद्ध आरम्भ हो गया। ईश्वरीसिंह की सेना का नेतृत्व हरगोविन्द नाटाणी कर रहा था। उसकी कुशल रणनीति के कारण मित्र संघ के सभी आक्रमण असफल हो गये। जयपुर की सेना विजयी हुई। खाडेराव युद्ध के समय रणस्थल से दूर खड़ा लूट का अवसर

देख रहा था। उसने बाद मे हाड़ा सरदार भूपतराम के साथ मिलकर जयपुर की फौज के शिविर पर आक्रमण किया, परन्तु उसे भी सफलता नहीं मिली। दुर्जनसाल कोटा, राणा उदयपुर और खांडेराव बुन्देलखण्ड की ओर चले गये। ईश्वरीसिंह की यह एक बड़ी भारी विजय थी। जयपुर की सेना ने मेवाड़ की सीमा में प्रवेश कर वहां के गांवों को लूटा और फिर वह व्यापारिक नगर भीलवाड़ा पहुंच गई। यहां लूट से एक बहुत बड़ी धनराशि एकत्र की गई। महाराणा ने सन्धि के लिए ईश्वरीसिंह से निवेदन किया। ईश्वरीसिंह ने टोंक का परगना माधोसिंह के पास रखने की अनुमति दे दी। उसने वायदा किया कि यदि माधोसिंह जयपुर राज्य की सेवा में उपस्थित होता है तो उसे 5 लाख वार्षिक आय की जागीर प्रदान कर दी जायेगी। जयपुर की सेना विजयी होकर लौट गई।[49]

महाराणा और माधोसिंह ईश्वरीसिंह से किये गये समझौते से सन्तुष्ट नही हुए। महाराणा ने अब मराठों को भारी रकम देकर अपनी ओर लाने का प्रयास किया। मराठो में दो दल थे। रानोजी सिन्धिया और रामचन्द्र बाबा ईश्वरीसिंह को सहायता देने के पक्ष मे थे जबकि मल्हारराव होलकर प्रारम्भ से ही माधोसिंह और महाराणा का सहयोगी बना हुआ था। पेशवा अपने दोनों सरदारों के मतभेद के कारण असमंजस मे था। जब राणा ने पेशवा को बहुत बड़ी रकम देने को कहा तो उसने रामचन्द्र बाबा से मेवाड़ जयपुर समस्या सुलझाने को कहा। उसने अब भी महाराणा को मदद देना मराठा प्रतिष्ठा के प्रतिकूल बताया। मल्हारराव निरन्तर पेशवा पर दबाव डाल रहा था और उसे माधोसिंह का पक्ष लेने की सलाह दे रहा था। महाराणा ने एक बार फिर अपने वकील किशोर पंचोली, पीपलिया के जयसिंह शक्तावत और कनीराम को मल्हारराव के माध्यम से पेशवा के पास भेजे। एक बहुत बड़ी धनराशि प्राप्त होने की आशा में पेशवा का भी अब झुकाव महाराणा की तरफ होने लगा था। वह जयपुर-मेवाड़ झगड़े को निपटाने के लिए उत्सुक था। उसने अपने मराठा सरदारो को आदेश भेजे कि माधोसिंह को 24 लाख की आय के परगने ईश्वरीसिंह से दिलवा कर झगड़े को शान्त करा दिया जाय। इस आशय का एक पत्र ईश्वरीसिंह को भी भेजा गया। पहले जामोली-समझौते के अनुसार माधोसिंह को पांच लाख आय की जागीर देने का प्रस्ताव था। अब उसे बढ़ा कर 24 लाख की आय के परगने देने की मांग जब ईश्वरीसिंह के सामने रखी गई, तो वह आवेश मे आ गया और उसने कहा, मुझमें और पेशवा में वंश परम्परागत विशेष मित्रता चली आ रही है। बालाजीराव इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते कि मेरे पिता की उनके पिता से कितनी घनिष्ठता थी और बाजीराव की उन्होने कितनी सेवाएं की थी। मुझे अब भी पेशवा की प्रार्थना मानने मे संकोच नही है, किन्तु यह वंशानुगत सम्पत्ति के उत्तराधिकार का प्रश्न है। हम राजा हैं और हमको उत्तराधिकार के नियम का पालन करना चाहिए। यह राज्य का प्रश्न

है, मैं उनका कहना कैसे मान सकता हूं ? पहले जो मल्हारराव ने कहा था, वह मैंने माधोसिह को दे दिया था और यह शर्त थी कि वह राज्य की सेवा करे। अब वह अधिक मांग रहा है। यह मैं बिना युद्ध किये कैसे दे सकता हू ? और मैं अपने छोटे भाई के साथ सारे राज्य का बंटवारा करके कायर और अयोग्य क्यों कहलाऊ ? पेशवा और मल्हार दोनों मिलकर अधिक प्रदेश माधोसिह को दिलाना चाहते है, किन्तु ऐसा नही हो सकता। राज्य केवल परमात्मा से प्राप्त होता है। माधोसिह मल्हार का पगड़ीबन्द भाई है और इस मित्रता का परिणाम अब मैंने समझ लिया है।[50]

इस प्रकार जब समझौता करवाने के प्रयास चल रहे थे, उसी समय उत्तरी भारत पर अहमदशाह अब्दाली का आक्रमण हुआ। मराठा राजा शाहू के आदेशानुसार पेशवा बादशाह मुहम्मदशाह की सहायता करने दिल्ली पहुंचा। परन्तु उसके वहां पहुचने के पहले अब्दाली भारत छोड चुका था। दक्षिण को लौटते समय पेशवा ने ईश्वरीसिह और माधोसिह के झगड़े को सुलझाना चाहा। इसके अतिरिक्त महाराणा से चढ़ी रकम भी वसूल करनी थी। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वह राजस्थान में आया। निवाई के स्थान पर माधोसिह पेशवा से मिला, परन्तु ईश्वरीसिह स्वयं न आकर उसने अपने वकील (केशवदास) को पेशवा के पास भेजा। बातचीत करने के बाद एक समझौता हुआ कि फागी व बरवाड़ा गाव सहित टोंक, टोडा व मालपुरा के परगने ईश्वरीसिह माधोसिह को देगा। माधोसिह इसके बदले मे मराठो को 10 लाख रुपये नजराने के रूप में प्रस्तुत करेगा। यह रकम चार किश्तों में चुकाई जायेगी। होल्कर ने माधोसिह की तरफ से इस रकम के भुगतान के लिए व्यक्तिगत जिम्मेदारी ली। यहां यह भी तय हुआ कि ईश्वरीसिह 12 लाख रुपयों की कीमत के उपहार पेशवा को देगा। 25000 रुपये महादजी और अम्बाजी को अलग-अलग देने की बात भी कही गई थी।[51]

जब ईश्वरीसिह ने सन्धि की अवहेलना कर टोंक पर अधिकार कर लिया तो युद्ध आरम्भ हो गया। माधोसिह, मल्हारराव, गंगाधर तातिया, उम्मेदसिंह हाडा और कोटा की सम्मिलित सेना ने जयपुर पर आक्रमण करने हेतु प्रस्थान किया। उन्होने टोक, टोडा और मालपुरा पर अधिकार कर उन्हे माधोसिंह के सुपुर्द कर दिये। फागी के मार्ग से यह सेना बगरू (सांभर से 23 मील पूर्व मे) पहुंच गई। रास्ते में मारवाड़ के महाराजा अभयसिंह द्वारा भेजी गई एक सैनिक टुकड़ी भी सम्मिलित हो गई। 1 अगस्त 1748 ई. को जयपुर की सेना से युद्ध हुआ। यह युद्ध छः दिनों तक चलता रहा। इस युद्ध मे, ईश्वरीसिह की तरफ से सूरजमल जाट की सेना ने बड़े साहस का प्रदर्शन किया। परन्तु जब मराठो की फौज ने ईश्वरीसिह के पीछे की ओर जयपुर का मार्ग अवरुद्ध कर दिया और सांभर तक के प्रदेश को लूट लिया तो ईश्वरीसिह ने अपने मन्त्री केशवदास के माध्यम

से सन्धि कर ली जिसके अनुसार माधोसिंह को जयपुर के चार परगने और उम्मेदसिंह को बून्दी का राज्य प्राप्त हुआ। इसके बाद दोनों दलों की सेनाए अपनी-अपनी राजधानियो में लौट आई। इससे कुछ समय तक शान्ति रही, लेकिन अभी भी अविश्वास की भावना प्रबल थी।[52] जयपुर गद्दी प्राप्त करने की माधोसिंह की अभिलाषा अभी पूर्ण नहीं हुई थी। वह इसके लिए अभी भी प्रयत्नशील था। बालाजी बाजीराव के राजस्थान मे आने पर मराठों ने मेवाड़ के राणा से चौथ और मिजमानी की चढ़ी रकम की वसूली भी की (मई 2, 1748 ई.)।[53]

यहां बून्दी के सम्बन्ध में मराठो की भूमिका की चर्चा करना समीचीन ही होगा। सवाई जयसिंह की मृत्यु के बाद जब ईश्वरीसिंह जयपुर की गद्दी पर आसीन हो गया तो उम्मेदसिंह हाड़ा के समर्थक कोटा के महाराव दुर्जनसाल ने ईश्वरीसिंह को एक पत्र लिखा जिसमे उसे कहा गया कि वह पुराने कलह को मिटा कर अब बून्दी का राज्य उसके अधिकारी उम्मेदसिंह को दे दे। इस पत्र के उत्तर में ईश्वरीसिंह ने लिखा-"बून्दी हाथी के पेट मे है। वहां से नही निकल सकती।" इस दम्भ-भरे पत्र को पाकर महाराव दुर्जनसाल ने "हाथी के पेट को चीर कर" बून्दी को निकाल लेने का दृढ़ संकल्प कर लिया था।[54]

इसके बाद दुर्जनसाल महाराणा जयसिंह के साथ मिलकर ईश्वरीसिंह से युद्ध करने के लिए जामोली जा पहुचा था। इस अवसर पर ईश्वरीसिंह से भेद-नीति अपनाते हुए माधोसिंह को टोंक का इलाका देने का आश्वासन देकर महाराणा जगतसिंह से एक गुप्त सन्धि कर ली थी। इस सन्धि में बून्दी का कही जिक्र नहीं था। जगतसिंह के व्यवहार से अप्रसन्न होकर महाराव वापिस कोटा लौटा। उसने मार्ग में बून्दी राज्य के इलाको को लूटा।

महाराणा जगतसिंह की तरफ से निराश होकर दुर्जनसाल ने गोविन्दराम नागर ब्राह्मण को मारवाड़ के महाराजा अभयसिंह के पास भेजा। उससे उम्मेदसिंह को बून्दी दिलवाने के लिए सहायता देने की याचना की थी। अभयसिंह ने दूत का स्वागत तो किया लेकिन सहायता देने के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उत्तर नही दिया। गोविन्दराम मारवाड़ से निराश होकर लौट आया।[55] रास्ते मे अजमेर के निकट गुजरात के सूबेदार नवाब फखरूद्दौला से वह मिला, जो उस समय अजमेर ख्वाजा साहिब की यात्रा मे ससैन्य आया हुआ था, और उसे एक लाख रुपये देकर बून्दी पर आक्रमण करने के लिए राजी कर लिया। उसने शाहपुरा के उम्मेदसिंह को भी बून्दी की ओर कूच करने के लिए प्रेरित किया। गोविन्दराम ने दुर्जनसाल को दूसरी तरफ कोटा से ससैन्य बून्दी पहुंचने के लिए लिखा। इस प्रकार फखरूद्दौला, शाहपुरा के उम्मेदसिंह और दुर्जनसाल की संयुक्त सेना ने बून्दी नगर को जा घेरा। ईश्वरी-

सिंह ने दलेलसिंह की सहायतार्थ एक सेना शिवदास खत्री के नेतृत्व में भेजी। यह सेना कारगर प्रमाणित नहीं हुई। दलेलसिंह संयुक्त फौज के सामने ज्यादा दिनों तक नहीं टिक सका। उसने पहले तारागढ़ और फिर नैनवां में जाकर शरण ली। बून्दी पर दुर्जनसाल का अधिकार हो गया। यद्यपि गोविन्दराम युद्ध में मारा गया तथापि विजय कोटा-नरेश की हुई।[56]

दुर्जनसाल ने उम्मेदसिंह हाड़ा को लोहितपुर का एक छोटा-सा परगना देकर सम्पूर्ण बून्दी पर अपना शासन स्थापित कर लिया। उम्मेदसिंह हाड़ा को दुर्जनसाल का स्वार्थपूर्ण व्यवहार बहुत बुरा लगा। वह लोहितपुर जैसा छोटा-सा परगना लेकर सन्तुष्ट होने वाला नही था। वह तो अपने पैतृक राज्य को प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध था। वह मारवाड़ के महाराजा अभयसिंह से मिलने अजमेर पहुचा। उसने महाराजा से उसकी सहायता करने की प्रार्थना की। उधर दलेलसिंह अपने संरक्षक और समर्थक ईश्वरीसिंह के पास गया। उसने उसे सहायता देने का वचन दिया। ईश्वरीसिंह ने अपने मन्त्री राजमल खत्री को मराठों से मदद प्राप्त करने के लिए भेजा। उसने मराठा सरदार सिन्धिया, रामचन्द्र पण्डित व पेशवा से भेंट की और उन्हें जयपुर राज्य की मदद करने के लिए प्रेरित किया। उसने मराठों को इस सेवा के बदले 50 लाख 'दाम' देने का प्रस्ताव रखा था। इसी समय महाराणा का दूत भी मराठों के पास जयपुर के विरुद्ध मदद लेने के लिए पहुचा और उसने मराठो को जयपुर से प्राप्त होने वाली रकम से दुगनी रकम देने का प्रस्ताव रखा। मल्हारराव महाराणा की मदद करने के लिए तैयार हो गया था, परन्तु बाद में सवाई जयसिंह और बाजीराव की मित्रता को ध्यान में रखते हुए पेशवा ने जयपुर के महाराजा ईश्वरीसिंह को ही मदद देना निश्चय किया। जयप्पा सिन्धिया को ईश्वरीसिंह की मदद करने के लिए प्रस्थान करने के आदेश हुए।[57]

जयप्पा सिन्धिया ने रास्ते में कोटा प्रदेश को लूटा क्योंकि कोटा का महाराव उम्मेदसिंह का प्रधान सहायक था। उसके बाद मराठो ने जहाजपुर के निकट 1745 ई. के प्रारम्भ मे महाराणा के शिविर पर आक्रमण कर उसे लूट लिया। तत्पश्चात् मराठों ने बून्दी पर आक्रमण किया। ईश्वरीसिंह की फौज भी साथ थी। बून्दी पर उनका अधिकार हो गया। अब वे कोटा की ओर बढ़े। कोटा नगर के सामने चम्बल नदी की दूसरी तरफ सत्तपुर गांव के पास जयपुर-मराठा फौजो ने डेरा लगाया। दो महीनो तक गोलाबारी होती रही। इसके बाद एक दिन कोटा की तोप के गोले से जयप्पा सिन्धिया का हाथ उड़ गया और वह बुरी तरह से घायल हो गया। इस घटना से उत्तेजित मराठों ने कोटा पर एक जबरदस्त हमला किया। अन्त में महाराव को सन्धि करने के लिए विवश होना पड़ा। सन्धि की शर्तें बड़ी कठोर रखी गईं। महाराव द्वारा 16 लाख रुपये युद्ध के खर्चे के रूप में मराठों को

देना तय हुआ। कोटा राज्य पर एक लाख प्रति वर्ष के हिसाब से चार वर्ष की चढ़ी रकम महाराव को मराठों को देनी पड़ी। साथ ही, बून्दी क्षेत्र पर जयपुर राज्य का प्रभाव व नियन्त्रण स्वीकार कर लिया गया। दलेलसिंह को बून्दी का राज्य प्राप्त हो गया। ईश्वरीसिंह ने दलेलसिंह से पांच गांवों सहित कापरेण और 42 गांवों सहित केशोरायपाटन मराठों को दिलवाये। पाटन में मराठा कामाविशदार रहने लगा। वह वहां से कर वसूल करता था और पूरे प्रदेश पर नियन्त्रण रखता था। पाटन की आय सिन्धिया, होल्कर और पेशवा के बीच बांट दी गई।[58]

उम्मेदसिंह हाड़ा सैनिक सहायता के लिए इधर-उधर घूम रहा था। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि वह अजमेर में ठहरे हुए मारवाड़ के महाराजा अभयसिंह से इस सम्बन्ध में मिला था। उम्मेदसिंह उस समय केवल 19 वर्ष की आयु का था, परन्तु उसमें अदम्य साहस और कार्य करने की क्षमता थी। संकट झेलने और आपत्तियों का सामना करना तो उसके स्वभाव का एक अग बन गया था। उसने इधर-उधर से थोड़ी-सी सेना जुटाकर बून्दी की ओर प्रयाण किया। जब वह हिंडोल के पास पहुंचा तो जनता ने उसका भव्य स्वागत किया। बून्दी राज्य की जनता को बाहरी शक्ति के सहयोग से दलेलसिंह का बून्दी पर अधिकार खटकता था। बीचड़ी के मैदान में उम्मेदसिंह ने दलेलसिंह को करारी मात दी। वह भाग कर अपने संरक्षक ईश्वरीसिंह के पास चला गया। उम्मेदसिंह का बून्दी पर अधिकार हो गया। इस समय उम्मेदसिंह ने मंगवाल गांव बालाजी को दिया। ईश्वरीसिंह ने शीघ्र ही बून्दी पर आक्रमण करने के लिए जयपुर से एक सेना भेजी। अमरपुरा के पास उम्मेदसिंह की जयपुरी सेना के साथ भिड़न्त हुई। यद्यपि उम्मेदसिंह ने युद्ध में अपनी सेना का बड़ी दृढ़ता से संचालन किया तथापि शत्रु की सेना विशाल होने के कारण अन्त मे विजयश्री जयपुर के हाथ लगी। उम्मेदसिंह स्वयं घायल हुआ। उसे रणक्षेत्र से भागने के लिए बाध्य होना पड़ा। वह कुछ दिनों तक राणपुर मे ठहरा और, पुनः बून्दी पर आक्रमण करने की युक्ति ढूंढने लगा।[59] उसने एक बार फिर कोटा महाराव का सहयोग लेना चाहा।

उम्मेदसिंह और कोटा के महाराव ने अपने दूत मल्हारराव के पास भेजे और उससे बून्दी प्राप्त कराने के लिए प्रार्थना की। मल्हारराव ने उम्मेदसिंह हाड़ा को बून्दी दिलवाने का आश्वासन दिया। महाराणा जगतसिंह की तरफ से भी मराठों से मदद लेने के लिए उसके दूत प्रयास कर रहे थे। इसका विवरण पहले ऊपर दिया जा चुका है। मल्हारराव की फौज ने खांडेराव के नेतृत्व मे मुकन्दरा का रास्ता पार किया और वह कोटा प्रदेश मे प्रविष्ट हुई। कोटा के महाराव ने इसकी अगवानी की। कोटा की सेना भी भोपतराम चारण के सेनापतित्व में मराठों के साथ मिल गई। इसके बाद दुर्जनसाल और उम्मेदसिंह भी इसमे सम्मिलित हुए।

यह संयुक्त सेना जयपुर की ओर अग्रसर हुई। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, बगरू गांव के पास जयपुर की सेना के साथ युद्ध हुआ जिसमें ईश्वरीसिंह की हार हुई और उसे सन्धि करने के लिए विवश होना पड़ा था। इस सन्धि के अनुसार ईश्वरीसिंह ने अपनी सेना बून्दी से अक्टूबर 1748 तक हटा लेना और उम्मेदसिंह को बून्दी का राजा स्वीकार कर लिया। इस प्रकार एक दीर्घकालीन संघर्ष के बाद उम्मेदसिंह हाड़ा अपना पैतृक राज्य प्राप्त करने में सफल हुआ। जयपुर के महाराजा को बहुत निराशा का अनुभव करना पड़ा। बून्दी के प्रश्न को लेकर राजस्थान के राजाओं में दो दल बन गये थे और उनमें परस्पर निरन्तर युद्ध चलता रहा जिससे जन और धन की अपार हानि हुई तथा मराठों को हस्तक्षेप करने का अवसर मिला।[60] अब उम्मेदसिंह हाड़ा को बून्दी का राजा सर्वत्र स्वीकार कर लिया गया, परन्तु बून्दी का राज्य अब कोटा राज्य की भाँति मराठों का सामन्ती-राज्य के रूप में रह गया था। उम्मेदसिंह और मल्हारराव के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गये थे। उम्मेदसिंह मल्हारराव को मामा कहकर सम्बोधित करता था क्योंकि उसकी कच्छावी माता ने मल्हारराव के राखी बाधी थी। उम्मेदसिंह मल्हारराव की पुत्री के विवाह में सम्मिलित हुआ था और इस अवसर पर उसने बहुमूल्य भेंट दी थी। 15 दिसम्बर, 1749 ई. को शाहू की मृत्यु होने पर उम्मेदसिंह मल्हारराव के साथ सतारा पहुंचा। वहा वह रामराजा के राज्याभिषेक में सम्मिलित हुआ था।[61]

सन् 1750 ई. के अन्त में जयपुर पर मराठों का एक और भयकर आक्रमण हुआ जिससे जयपुर की राजनीति में आमूल परिवर्तन आया। दीर्घकाल तक निरन्तर युद्ध में व्यस्त रहने के कारण जयपुर राज्य का खजाना खाली हो गया था। ईश्वरीसिंह को मराठों से सहयोग प्राप्त करने में बहुत बड़ी धनराशि खर्च करनी पड़ी थी। उसे मल्हारराव के अतिरिक्त सभी मराठा सरदारों को धन देना पड़ा था। 1748 ई. में बगरू में पराजित होने पर मल्हारराव होल्कर से मुक्ति पाने के लिए बड़ी धनराशि युद्ध-दण्ड के रूप में देने का उसे वायदा करना पड़ा था। राज्य की बिगड़ती हुई वित्तीय स्थिति के कारण इतनी बड़ी राशि मराठों को चुकाना सम्भव नहीं था। मराठों की तरफ से बकाया रकम के भुगतान के लिए तकाजा किया जा रहा था। मराठा सरदारों ने पेशवा को शिकायत की कि ईश्वरीसिंह बकाया राशि चुकाने में जान बूझकर देरी कर रहा है और उसकी मंशा मराठों को धन देने की नहीं है।[62]

इस समय जयपुर राज्य की आन्तरिक स्थिति बहुत खराब थी। ईश्वरीसिंह में पहले वाला साहस और शौर्य नहीं रह गया था। मुगल-दरबार में भी अब उसका प्रभाव समाप्त हो चुका था। वह स्वभाव का शकी और चिड़चिड़ा हो गया था। उसके असंगत व्यवहार से बड़े-बड़े सामन्त और पदाधिकारी क्षुब्ध थे। उसके सभी

पुराने, अनुभवी और योग्य सलाहकार एक-एक करके मर चुके थे। राजमल खत्री, जो अत्यन्त योग्य प्रशासक और स्वामिभक्त था, 9 फरवरी 1747 ई० को मर गया था। उसके बाद उसका लड़का केशवदास दीवान बना, परन्तु उसके विरोधी हरगोविन्द नाटाणी ने उसके विरुद्ध ईश्वरीसिंह के कान भरे। उसके ऊपर देशद्रोही होने का झूठा दोषारोपण किया गया। नाटाणी ने महाराजा के मन में यह बात बैठा दी कि केशवदास के कारण ही उम्मेदसिंह को बून्दी का राज्य और माधोसिंह को चार परगने देने पड़े थे। मन्दबुद्धि ईश्वरीसिंह ने इस पर विश्वास कर स्वामिभक्त केशवदास को विषपान करवा दिया (अगस्त 1750)। एक अन्य वयोवृद्ध नीतिज्ञ विद्याधर था जो अपंग होकर बिस्तरों पर पड़ा हुआ था। तोपखाने का पदाधिकारी शिवनाथ भाया को महाराजा ने कैद मे डाल दिया था। अब शम्भू नाई और खानू महावत जैसे निम्न वर्ग के व्यक्ति ईश्वरीसिंह के मुख्य सलाहकर रह गये थे जिनमे प्रशासकीय योग्यता व सैनिक प्रतिभा का पूर्ण अभाव था। वस्तुत. जयपुर राज्य की स्थिति बड़ी विषम और दयनीय थी।[63]

बार-बार पत्र और सदेश भेजने पर भी जब मराठों को बकाया रकम जयपुर सरकार से नहीं मिली तब पेशवा ने अपने सरदारों को बल-प्रयोग कर बढ़ी रकम वसूल करने के आदेश दिये। ऐसा भी कहा जाता है कि केशवदास की विधवा ने अपने पति की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिए मराठों को जयपुर राज्य पर आक्रमण करने को प्रेरित किया था। केशवदास मल्हारराव का अच्छा मित्र था। मल्हारराव और गंगाधर तातिया के नेतृत्त्व में एक मराठा सेना मुकन्दरा के रास्ते से राजस्थान मे प्रविष्ट हुई जिसने 28 नवम्बर 1750 ई. को नैनवा पहुंच कर तीन दिन के घेरे के बाद नगर पर अधिकार कर लिया। यहां मराठा थाना स्थापित कर दिया गया। यहां से मराठा सेना जयपुर की ओर अग्रसर हुई। रास्ते मे ईश्वरीसिंह का एक दूत दो लाख रुपये लेकर मल्हारराव से मिला परन्तु मराठा सरदार ने इतनी कम राशि स्वीकार नही की और सेना का अभियान जारी रहा।[64]

ईश्वरीसिंह ने अपने सलाहकारों को बुलाकर मन्त्रणा की। शम्भू नाई और खानू महावत मे युद्ध करने की क्षमता नही थी। प्रधान हरगोविन्द नाटाणी की पुत्री से महाराजा के अनुचित सम्बन्ध थे, जिससे नाटाणी की बड़ी अपकीर्ति हो रही थी। वह महाराजा से आन्तरिक द्वेष रखता था। उसने यह कह कर कि सभी सैनिक तैयारी की जा चुकी है, महाराजा को भुलावे में रखा। वस्तुतः युद्ध की कुछ भी तैयारी नही की गई थी। 12 दिसम्बर 1750 ई. को महाराजा को समाचार मिला कि मल्हारराव जयपुर से केवल 20 मील दूरी पर है। उसे अब अपने प्रधान की कुटिलता का भी पता चल गया। महाराजा पूर्णतया हताश हो गया था। उसने उसी दिन अर्द्ध रात्रि को विषपान कर तथा अपने को काले सर्प से डसवा कर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर ली।[65] जैसे ही महाराजा की मृत्यु के समाचार जयपुर-

वासियों को मिले, नगर में सर्वत्र अशान्ति व घोर निराशा छा गई। हरगोविन्द और विद्याधर ने जैसे-तैसे नगरवासियों को शान्त रहने को कहा और वे जयपुर से बाहर जाकर मराठों से मिले। उन्होंने मल्हारराव से राज्य की रक्षा के लिए अनुनय विनय की और उसे एक बहुत बड़ी धनराशि देने का वायदा किया। मल्हारराव ने माधोसिंह को बुलाने के लिए सवार भेजे। 29 दिसम्बर 1750 ई. को माधोसिंह जयपुर पहुंचा। मल्हारराव ने उसका स्वागत किया और उसे अपने साथ हाथी पर बैठा कर राजमहल में ले गया। माधोसिंह जयपुर का राजा घोषित कर दिया गया।[66]

मल्हारराव ने माधोसिंह से बातचीत कर उसे जयपुर की गद्दी दिलाने के बदले में उससे 10 लाख रुपये लेना तय कर लिया था। इसके अतिरिक्त, माधोसिंह ने टोंक के चार परगने होल्कर को दिये और महाराणा के किये गये सभी उपकारों को भुलाकर उसने रामपुरा का परगना भी मल्हारराव को दे दिया। 6 जनवरी 1751 ई. को जयप्पा सिन्धिया भी जयपुर पहुंच गया था। उसने अतिरिक्त धन की मांग की। यहां तक कि जयपुर राज्य की आय का एक तिहाई अथवा कम से कम एक चौथाई भाग मराठों को देने का लिखित आश्वासन मांगा गया। इससे राजपूत नाराज हो गये। माधोसिंह की सहायतार्थ इस समय तक शेखावत व अन्य राजपूत जयपुर में एकत्र हो गये थे। माधोसिंह का मराठों की मदद से जयपुर की गद्दी पर बैठना सामान्यतः जयपुर नगरवासियों को अरुचिकर लगा था। अब मराठों की बढ़ती हुई मांगों से माधोसिंह भी खिन्न था। वह मराठों के हाथ की कठपुतली बनकर रहने का इरादा नहीं रखता था। माधोसिंह ने मराठा सरदारों को मारने के षड्यन्त्र भी रचे। एक बार तो उन्हें मिजवानी में बुलाकर भोजन में विष मिलाकर समाप्त करने का प्रयास तक किया। फिर सभी मराठा सरदारों को एक साथ आमन्त्रित कर महल में कैद करना चाहा। उसकी ये योजनाएं सफल नहीं हो सकी; परन्तु जयपुर नगर में मराठा-विरोधी भावना सर्वत्र प्रबल रूप से व्याप्त थी। मराठों के दम्भपूर्ण व उच्छृंखल व्यवहार तथा उनके कामुक नेता खाडेराव के आचरण से राजपूतों की आत्मा को गहरी ठेस पहुंची थी।[67]

10 जनवरी 1751 ई. को लगभग चार हजार मराठे नवनिर्मित जयपुर नगर के सौन्दर्य व वहां के मन्दिरों को देखने तथा बाजार से खरीददारी करने हेतु नगर में प्रविष्ट हुए। उनमें अधिकतर जयप्पा सिन्धिया के सैनिक थे। उनमें से कुछ घोड़ों पर सवार और पालकियों में बैठे हुये थे। सम्भवतः कुछ सैनिकों के अभद्र व्यवहार से दोपहर में अचानक झगड़ा भड़क उठा। जयपुर की जनता मराठों पर टूट पड़ी और उन्हें मारना आरम्भ कर दिया। आठ-नौ घंटों तक मराठों को मारने की प्रक्रिया चलती रही। मराठों में चौफेर भगदड़ मच गई। उनमें से बहुत से (?) भयातुर होकर नगर की दीवारों से कूदे जिससे उनकी रीढ़ व पैरों की हड्डियां

टूट गईं। लगभग 1500 मराठे मौत के घाट उतार दिये गये और एक हजार से भी अधिक लोग घायल हुये। इस घातक घटना की राज्य के अन्य स्थानों पर भी प्रतिक्रिया हुई। जहां-कही भी मराठे दिखाई दिये, मार दिये गये।[68] मराठा शिविर में खलबली मच गई और तनाव का वातावरण बन गया। नौ दिनो के बाद 19 जनवरी को माधोसिंह का वकील मराठा सरदारों से मिला और उन्हें विश्वास दिलाया कि इस दु:खद घटना में माधोसिंह का कोई हाथ नही था। यह तो एक आकस्मिक घटना थी। इस खेदजनक घटना के लिये सभी को चिन्ता है और वे इसके लिये क्षमा चाहते हैं। मराठों ने भी स्थिति को देखते हुये राजपूतों से समझौता कर लेना ही उचित समझा। उन्होंने निम्न शर्तों के साथ क्षमा प्रदान कर दी:—

(1) नगर में जो घोड़े पकड़ लिये गये हैं, उन्हें लौटा दिये जाएं;

(2) जो सम्पत्ति लूट ली गई है, उसके लिये जयपुर सरकार 2 लाख रुपये मुआवजा में दे और

(3) नगर सेठों को शहर का मुक्ति-धन चुकाने का आदेश दें।

समझौता होने पर भी मराठों और राजपूतों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध फिर से स्थापित नही हुये। माधोसिंह और मराठा सरदारो मे मिलाप नही हुआ। कुछ दिनो तक मराठा सरदार अपना शिविर लगाये जयपुर नगर से कुछ दूर धन-राशि की अदायगी की प्रतीक्षा में ठहरे रहे। उसी समय वजीर सफदरजंग का प्रतिनिधि राजाराम नारायण बंगस के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने के लिये मराठों की सहायता प्राप्त करने वहा आया हुआ था। उन्हें पांच लाख रुपये देने का प्रस्ताव था। माधोसिंह तीन सप्ताह तक मराठों को धनराशि देने का थपथपा देता रहा। मराठा शिविर में सैनिको के लिए अनाज और जानवरों के लिए घास की कमी होने लगी थी। मल्हारराव ने कुछ दिनों बाद माधोसिंह से बिना धन प्राप्त किये सफदरजंग के साथ शामिल होने आगरा की ओर प्रयाण किया।[69]

इस प्रकार जयपुर और बून्दी के सिंहासन के लिए चल रहे दीर्घकालीन संघर्ष का अन्त माधोसिंह को जयपुर का राज्य प्राप्त होने पर हुआ। इस संघर्ष के कारण अपार जन और धन की हानि हुई। उधर मराठों के पैर राजस्थान में दृढ़ता के साथ जम गए। उत्तर-पश्चिम भाग के जैसलमेर, बीकानेर और कुछ अंशों तक जोधपुर के राज्यो को छोड़कर राजस्थान के प्रायः सम्पूर्ण प्रदेश मे मराठों का प्रवेश हो चुका था। कोटा और बून्दी राज्यों पर मराठो की प्रभुसत्ता स्थापित हो गई थी। मराठो के कमाविशदार इन राज्यों में नियुक्त थे। वे वहां से कर वसूल करते थे और राज्यों पर नियन्त्रण रखते थे। मराठा सरदार मुगल सूबेदारों की भांति वहां परिनिरीक्षण हेतु पहुंचते थे। उस समय उनकी आवभगत में वहां के शासको द्वारा हजारों रुपये खर्च किये जाते थे। इन क्षेत्रों में होल्कर और सिंधिया को निजी जागीरें भी प्राप्त थी। चौथ, टांके या पुराने कर्जे के रूप मे प्रति वर्ष मराठे जयपुर

और मेवाड़ राज्यों से धनराशि वसूल करते थे। रामपुरा और टोंक के परगने मल्हारराव ने हथिया लिये थे। जोधपुर का राजपरिवार भी मराठो से मदद प्राप्त करने के लिए लालायित रहता था। मुगल बादशाह इतना कमजोर हो चुका था कि वह राजस्थान में मराठो की प्रभुसत्ता को चुनौती देने की स्थिति मे ही नही था। राजस्थान में अब मुग़लों का स्थान मराठो ने लेना प्रारम्भ कर दिया था।

महाराणा जगतसिंह ने माधोसिंह को जयपुर राज्य दिलवाने के लिए सेना जुटाने तथा मराठों से सहायता प्राप्त करने मे लगभग 1 करोड़ रुपये खर्च किये थे। राणा ने अपने सामन्तों को प्रसन्न रखने के लिए अतिरिक्त भूमि जागीर में दी जिससे राज्य की आय में कमी आई। रामपुरा का परगना होल्कर को दे दिया गया जिसका भी राज्यकोष पर विपरीत प्रभाव पड़ा। एक तरफ युद्धों पर भारी खर्चा हो रहा था, दूसरी तरफ उस समय मेवाड़ में भयंकर अकाल पड़ा। ऐसी स्थिति मे मेवाड़ की आर्थिक स्थिति बहुत बिगड़ने लगी थी। राणा को विषम स्थिति मे देखकर यदा-कदा उसके सामन्तो ने उच्छृंखलता अपना कर उसके विरुद्ध विद्रोह का झंडा भी खड़ा किया। इस प्रकार मेवाड़ की शासन-व्यवस्था क्षत-विक्षत होती जा रही थी। इस पर भी मराठों का धन-प्राप्ति के लिए दबावपूर्ण रवैया वस्तुतः मेवाड़ के राणा के लिए एक जटिल व विचारणीय प्रश्न था।[70]

जयपुर के माधोसिंह और बून्दी के उम्मेदसिंह भी, जिन्हे मराठों के सहयोग से अपने पैतृक राज्य प्राप्त हुए थे, मराठों की धन-लोलुपता व उनकी निरन्तर बढ़ती हुई मांग से विक्षुब्ध व संतप्त थे। उनके हृदय में मराठों के प्रति सहानुभूति जैसी कोई चीज नहीं रह गई थी। मराठों और राजपूतों के बीच धीरे-धीरे अविश्वास और असहयोग की भावना प्रबल होती जा रही थी। वैसे तो मराठा राजपूत संघर्षकाल कुछ वर्षों बाद प्रारम्भ होता है, परन्तु 10 जनवरी 1751 ई. को जयपुर मे हुई मराठा-संहार की घटना मे इसका बीजारोपण देखा जा सकता है।[71]

मराठो की दबावपूर्ण नीति के कारण राजस्थान के राजाओ मे असंतोष और आक्रोश था। वे एक बार फिर मराठा-विरोधी संघ निर्माण करने के प्रयास करने लगे। जयपुर के महाराजा माधोसिंह, कोटा के महारावल दुर्जनसाल और मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह के बीच पत्रो का आदान-प्रदान हुआ और उनके दूत एक-दूसरे से मिलने गए। 1751 ई. में 'फूलडोल' के अवसर पर महाराव दुर्जनसाल के नाथद्वारा जाने पर राणा से मुलाकात कर मराठा-विरोधी गुट के गठन करने की योजना थी। परन्तु इसके पहले कि वे मराठो के विरुद्ध कोई निर्णय लें, 5 जून, 1751 ई. को महाराणा जगतसिंह की मृत्यु हो गई।[72] परिणामस्वरूप मराठा-विरोधी योजना खटाई मे पड़ गई और इस प्रकार राजस्थान में मराठों के प्रवेश का प्रथम चरण पूरा हुआ। अब हम आगे के पृष्ठो पर मारवाड़ मे हुए

उत्तराधिकार के संघर्ष का विवरण देंगे। इस घटना के साथ राजस्थान में मराठों के प्रवेश का द्वितीय चरण प्रारम्भ होता है।

मारवाड़ के महाराजा अभयसिंह और उसके भाई नागौर के शासक बख्तसिंह के बीच मनोमालिन्य बढ़ता जा रहा था। बख्तसिंह अत्यधिक महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। मुगल शाहज़ादा अहमदशाह उसका परम मित्र था। जनवरी 1748 ई. में बख्तसिंह ने अहमदशाह अब्दाली के विरुद्ध मुगल बादशाह की मदद की थी। अप्रेल 1748 ई. में बादशाह मुहम्मदशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका लड़का अहमदशाह मुग़ल-सिंहासन पर बैठा। उस समय बख्तसिंह दिल्ली में उसकी सेवा में उपस्थित था। बख्तसिंह की शक्ति में वृद्धि की गई। नये बादशाह ने उसे गुजरात और अजमेर का सूबेदार नियुक्त किया और नारनोल, डीडवाना तथा सांभर के परगने उसे शाही फरमान द्वारा प्रदान किये गये। दिल्ली से लौट कर उसने सांभर क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। बख्तसिंह ने बीकानेर के महाराजा गजसिंह से मित्रता करने के लिए अपने पुत्र को बीकानेर भेजा। महाराजा अभयसिंह ने बीकानेर पर 1747 ई. में आक्रमण किया था। बख्तसिंह और गजसिंह की मित्रता जोधपुर राज्य के लिए खतरा बन सकती थी। अतः महाराजा अभयसिंह ने अपने भाई बख्तसिंह की बढ़ती हुई शक्ति को नियन्त्रित एवं संतुलित करने के उद्देश्य से बून्दी के शासक उम्मेदसिंह की मध्यस्थता से मराठा सरदार मल्हारराव होल्कर से मित्रता कर ली। होल्कर सांभर की तरफ बढ़ा, परन्तु अभी उसे ईश्वरीसिंह के विरुद्ध सैनिक अभियान करना था। उसने अभयसिंह और बख्तसिंह के बीच समझौता करवा दिया। तत्पश्चात् वह जयपुर की ओर अग्रसर हुआ। अगस्त 1748 ई. में उसने बगरू में ईश्वरीसिंह को परास्त कर दिया। उस समय अभयसिंह ने भी होल्कर की मदद में कुछ सैनिक भेजे थे। युद्ध के पश्चात् होल्कर पुष्कर पहुंचा जहां उसने अभयसिंह से मुलाकात की। उन्होंने परस्पर पगड़ियां बदल और एक साथ भोजन कर भाईचारे के सम्बन्ध स्थापित किये। बाद में भी जोधपुर राजपरिवार और होल्कर के वंशजों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध बने रहे।[73]

यद्यपि होल्कर ने दोनों भाइयों के बीच मेल व समझौता करवा दिया था, फिर भी अभयसिंह को अपने भाई की तरफ से सदैव खटका बना रहा। उसका लड़का रामसिंह इतना योग्य नहीं था कि वह राठौड़ों का कुशलतापूर्वक नेतृत्व कर सके। उसे भय था कि उसका महत्वाकांक्षी भाई बख्तसिंह रामसिंह से जोधपुर की गद्दी छीन लेगा। इसी चिन्ता में 19 जून, 1749 ई. को अभयसिंह का स्वर्गवास हो गया। उसका उत्तराधिकारी रामसिंह 19 वर्ष की आयु में जोधपुर का राजा बना। मल्हारराव होल्कर ने उसे मान्यता प्रदान कर दी। रामसिंह अस्थिर, उग्र और उच्छृंखल प्रवृत्ति का व्यक्ति था। आमिया नगारची, चन्दा चाकर, सरफुद्दीन चूड़ीगर और खुदाबख्श घसियारा जैसे निम्न वर्ग के लोग उसके प्रमुख सलाहकार

थे ।[74] उसके उद्दंड स्वभाव से अप्रसन्न होकर बहुत से सामन्त नागौर के शासक बख्तसिंह के पास चले गये थे । जालोर परगने के प्रश्न को लेकर बख्तसिंह और रामसिंह के बीच संघर्ष आरम्भ हो गया । बख्तसिंह सहायता के लिए मुग़ल दरबार में दिल्ली पहुंचा । उसने वहां बख्शी सलाबतखां को अजमेर पर अधिकार करने में मराठों के विरुद्ध सहायता देने का वायदा कर उससे जोधपुर पर अधिकार करने में सहायता मांगी । रामसिंह को जब इसकी सूचना मिली तो उसने जयपुर के महाराजा ईश्वरीसिंह से सहायता प्राप्त करने का प्रबन्ध किया । इस प्रकार मारवाड़ में गृह-युद्ध का सूत्रपात हुआ जो लम्बे अर्से तक चलता रहा और मारवाड़ तथा पूरे राजस्थान को इसके घातक परिणाम भुगतने पड़े ।[75]

अप्रेल 1750 ई. में पीपाड़ के पास दोनो दलों की सेनाओं का जमाव हुआ । बख्तसिंह और बख्शी सलाबतखां के पास तीस–पैंतीस हजार सेना और तोपखाना था । बीकानेर-नरेश गजसिंह और किशनगढ़ के स्वामी बहादुरसिंह भी अपनी-अपनी सेनाओं के साथ बख्तसिंह की सहायतार्थ वहां विद्यमान थे । दूसरी तरफ रामसिंह, ईश्वरीसिंह और मराठो की भी लगभग 30 हजार सेना थी और उनके पास भी तोपखाना था । कुछ दिनों तक दोनों सेनाएं एक-दूसरे के आमने-सामने खड़ी रहीं । अप्रेल के महीने की गर्मी और पानी के अभाव के कारण दोनों तरफ की फौजें परेशान थीं । सलाबतखां ने ईश्वरीसिंह को सन्धि के लिए सन्देश भेजा । सन्धि-सम्बन्धी चर्चा चली परन्तु कुछ निश्चित निर्णय नही हो पाया । 14 अप्रेल को दोनों दलो मे युद्ध हुआ और चार घंटो तक गोलाबारी हुई जिसमे दोनों तरफ के कई योद्धा मारे गये । 16 अप्रेल को सन्धि हो गई जिसके अनुसार रामसिंह ने मुगल सम्राट् को सात लाख रुपये देने का वचन दिया जिसमे 3 लाख रुपये तो नकद दे दिए गए और बाकी 4 लाख की रकम किश्तों मे देना तय हुआ । सलाबतखां दिल्ली की ओर प्रयाण कर गया । बख्तसिंह को कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ । वह क्रोधावस्था में डेरा उठाकर नागौर चला गया ।[76]

बख्तसिंह ने पुनः युद्ध की तैयारी करना आरम्भ किया । जैसे ही विदेशियों की सेनाएं मारवाड़ की सीमा से बाहर चली गई; उसने रामसिंह पर आक्रमण कर दिया और 27 नवम्बर, 1750 ई. को लूणियावास में रामसिंह को पराजित कर दिया । रामसिंह ने भाग कर जोधपुर किले मे जाकर शरण ली । अब धीरे-धीरे बख्तसिंह के लिए वातावरण उपयुक्त बनता जा रहा था । 12 दिसम्बर, 1750 ई. को जयपुर के महाराजा ईश्वरीसिंह ने आत्म-हत्या कर ली । होलकर की मदद से माधोसिंह जयपुर का शासक बन गया । रामसिंह और बख्तसिंह दोनों ही सहायता प्राप्त करने के लिए होलकर पर दबाव डाल रहे थे । इस बीच जयपुर नगर में मराठो के संहार की घटना घटित हो गई थी जिससे मराठों की स्थिति बड़ी गम्भीर हो चकी थी । इसी समय मुगल वजीर सफदरजंग की ओर से सहायता के लिए

संदेश आये और वह उन्हें 5 लाख रुपये देने को तैयार था। इस कारण फरवरी 1751 ई. के प्रथम सप्ताह में होल्कर अपनी फौज के साथ आगरा की ओर प्रस्थान कर गया। इसका लाभ उठाकर बख्तसिंह ने रामसिंह की सेना को मेड़ता में परास्त किया और फिर जोधपुर पर आक्रमण कर 21 जून, 1751 ई. को उस पर भी अधिकार कर लिया। रामसिंह को कहीं से मदद नहीं मिल सकी। वह भाग कर मारोठ चला गया।[77]

रामसिंह ने पुनः सैनिक तैयारी करना प्रारम्भ किया। उसने अपने प्रतिनिधि पुरोहित जगन्नाथ को जयपुर के महाराजा माधोसिंह के पास बख्तसिंह के विरुद्ध सैनिक सहायता प्राप्त करने के लिए भेजा। उधर बख्तसिंह ने भी अपने दूत करणीदान को माधोसिंह के पास भेज कर उसे रामसिंह की मदद न करने के लिए निवेदन करवाया। माधोसिंह बख्तसिंह की बढ़ती हुई शक्ति से शंकित था। बख्तसिंह की महत्वाकांक्षा से माधोसिंह परिचित था। वह जयपुर राज्य के लिए भी खतरा उत्पन्न कर सकता था। अतः उसने अपने प्रतिनिधि के साथ जगन्नाथ पुरोहित को सिन्धिया और होल्कर के पास रामसिंह के लिए सहायता प्राप्त करने के लिए भेजा।[78]

जगन्नाथ पुरोहित होल्कर से मिला परन्तु वह रामसिंह को सहायता देने के लिए उत्सुक नहीं था, क्योंकि बख्तसिंह ने अपने प्रतिनिधि राजसिंह चौहान को उसके पास भेज कर 2 लाख रुपये देकर अपनी ओर कर लिया था।[79] पुरोहित फिर जयप्पा सिन्धिया से मिला। सिन्धिया ने 10–12 हजार सैनिकों के लिए दो महीनों का खर्च पेशगी में मांगा जिसे जगन्नाथ ने तुरन्त दे दिया। इस पर सिन्धिया ने रामसिंह के वकील को आश्वासन दिया कि वह सफदरजंग के कार्य से मुक्त होते ही मारवाड़ में रामसिंह की सहायता में पहुंचेगा।[80]

अप्रेल 1752 ई. में सफदरजंग का अफगानों से संघर्ष समाप्त होने पर सिन्धिया और होल्कर दक्षिण की ओर प्रयाण कर गये। मार्ग में जयप्पा सिन्धिया 5000 सैनिको के साथ होल्कर से अलग होकर बख्तसिंह के विरुद्ध रामसिंह की मदद हेतु मारवाड़ पहुंचा। उसने अजमेर पर अधिकार कर लिया और अपने नायब साहिब पटेल को रामसिंह की सहायतार्थ वहां छोड वह स्वयं पूना की ओर प्रस्थान कर गया। जैसे ही अजमेर पर मराठों का अधिकार होने के समाचार जोधपुर पहुंचे, बख्तसिंह एक विशाल सेना के साथ जून 1752 ई. में अजमेर की ओर रवाना हुआ और अपने मित्र बीकानेर के महाराजा गजसिंह को भी अपनी सहायता के लिए अजमेर पहुंचने का संदेश भेजा। गजसिंह अजमेर के पास लाडपुरा गांव में अपनी सेना सहित बख्तसिंह से आ मिला। रामसिंह मारोठ से अजमेर पहुंच गया था। जुलाई के मध्य में बख्तसिंह ने अजमेर पर आक्रमण कर अधिकार कर लिया। साहिब पटेल और रामसिंह पराजित होकर दक्षिण की ओर भाग गये।[81]

मराठे दो बार रार्मासिह की मदद में मारवाड़ पहुचे थे परन्तु वे सफल नहीं रहे, इसलिए उनका वह अभी तक प्रवेश नही हो पाया था। ऐसी सम्भावना थी कि मराठे पुनः रार्मासिह की मदद करने आयेंगे। अतः बख्तसिंह ने मराठो के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए प्रयास किया। उसका उद्देश्य मराठों को मालवा से बाहर निकालने का था। इस सम्बन्ध में बख्तसिंह ने राजस्थान के राजाओं को पत्र भेजे और उनसे मराठा-विरोधी मोर्चे में सम्मिलित होने का आह्वान किया। शाहपुरा के शासक उम्मेदसिंह ने बख्तसिंह से इस विषय पर विचार-विमर्श करने के लिए अपना वकील अजमेर भेजा। बख्तसिंह जयपुर के महाराजा माधोसिंह से मिलने सोनेली गांव पहुंचा। 18 सितम्बर, 1752 ई. को दोनो राजाओं ने मराठो के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाने के सम्बन्ध मे विचार-विमर्श किया।[82] परन्तु इसके पहले कि वे कोई निश्चित निर्णय लें, बख्तसिंह का 21 सितम्बर, 1752 ई. को उसी ग्राम मे स्वर्गवास हो गया।[83] उसकी असामयिक मृत्यु से मारवाड़ के उत्तराधिकारी की समस्या पूर्ववत् बनी रही।

बख्तसिंह की मृत्यु के बाद उसका लड़का विजयसिंह मारवाड़ का राजा घोषित किया गया। अक्टूबर 1752 ई. मे मल्हारराव होल्कर ने महाराजा विजयसिंह के पास बधाई का एक पत्र भेजा और उसे सहयोग देने का भी वचन दिया। यह होल्कर और जोधपुर के राजपरिवार के बीच भाईचारे के सम्बन्ध का द्योतक था। कुछ समय तक विजयसिंह ने शान्ति से राज्य किया।[84]

बख्तसिंह की मृत्यु के समय रार्मासिह मन्दसौर में मराठों से सहायता प्राप्त करने के लिए साधन जुटा रहा था। वह अपने पैतृक सिंहासन को किसी भी कीमत पर लेने को लालायित था। जिस समय दिल्ली-दरबार में मुगल बादशाह और इमाद-उल्-मुल्क के बीच संघर्ष चल रहा था, पेशवा ने अपने भाई रघुनाथराव के नेतृत्व मे इमाद-उल्-मुल्क की सहायता के लिए एक मराठा सेना दिल्ली भेजी। राजस्थान के शासको से भी चढ़ी रकम का भुगतान करवाना था; इसलिए रघुनाथराव को राजस्थान के रास्ते से दिल्ली जाने के आदेश दिये थे। इस मराठा सेना ने मुकन्दरा की घाटी को पार कर 30 अक्टूबर, 1753 ई. को कोटा राज्य मे प्रवेश किया। रघुनाथराव ने कोटा, बून्दी और जयपुर के शासको से बकाया रकम की वसूली की। 17 दिसम्बर, 1753 ई. को जोधपुर का पदच्युत राजा रार्मासिह रघुनाथराव से मिला और अपने पैतृक सिंहासन को प्राप्त करने के लिए सहायता मांगी। रघुनाथराव ने उसे सहायता का वचन दिया। दिल्ली की स्थिति पर काबू पाने के बाद रघुनाथराव ने 23 जून, 1754 ई. को जयप्पा सिन्धिया को आदेश दिया कि वह मारवाड़ में जाकर जोधपुर की गद्दी पर रार्मासिह को बैठाये। जयप्पा बून्दी होता हुआ मारवाड़ की ओर अग्रसर हुआ। मार्ग मे उसका लड़का जनकोजी और भाई दत्ताजी भी अपनी-अपनी सेनाओं सहित उससे मिल गये। कोटा के शासक

ने भी एक सैनिक टुकड़ी उसकी सहायता के लिए भेजी। किशनगढ़ का दावेदार सामन्तसिंह व उसका पुत्र सरदारसिंह भी मराठो के साथ थे, क्योंकि जयप्पा ने सामन्तसिंह के भाई बहादुरसिंह से किशनगढ़ राज्य का अधिकार छीन कर वहां उसे गद्दी पर बैठाने का वादा किया था। रामसिंह भी जयप्पा के साथ था।[85]

रामसिंह और जयप्पा की सेनाएं किशनगढ़ क्षेत्र को लूटती हुई अजमेर पहुंची। अजमेर पर उनका अधिकार हो गया। तत्पश्चात् पुष्कर और आलणियावास होते हुए उन्होने गंगारड़े मे अपना डेरा लगाया। यहां विजयसिंह की सेना से युद्ध हुआ जिसमें जयप्पा की विजय हुई। अब विजयसिंह ने मेड़ता में अपनी सेना का जमाव किया। बीकानेर और किशनगढ़ के राजा भी अपनी सेनाओं के साथ यहां उपस्थित हो गये। 14 सितम्बर, 1754 ई. को मेड़ता के मैदान में राठौड़ों और मराठो के बीच घमासान युद्ध हुआ। गृह-कलह के आवेश से अन्धे होकर पिता ने पुत्र को, भाई ने भाई को मौत के घाट उतारना आरम्भ किया। यह युद्ध प्रातः नौ बजे से सायंकाल तक धुवांधार से चलता रहा। रात्रि होते-होते विजयसिंह की पूर्णतः पराजय हो गई। विजयसिंह, बीकानेर के महाराजा गजसिंह और किशनगढ़ के राजा बहादुरसिंह भाग खड़े हुए। 17 सितम्बर को जयप्पा ने मेड़ता पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार उत्तराधिकार-युद्ध के प्रथम चरण में रामसिंह की विजय हुए।[86]

विजयसिंह मेड़ता से भाग कर नागौर चला गया और उसने पुनः अपनी सेना का संगठन करना आरम्भ किया। विजयी जयप्पा और रामसिंह ने अपनी सेना के चार भाग किए। फौज का प्रमुख भाग तो जयप्पा के नेतृत्व मे नागौर पहुंचा। अन्य तीन सेनाओ ने पृथक् रूप से जोधपुर, जालौर और फलौदी पर आक्रमण किया। जोधपुर भेजी गई सेना का नेतृत्व जनकोजी सिंधिया, सन्ताजी बावेल और पुरोहित जगन्नाथ ने किया था। रामसिंह के सैनिकों के साथ मराठों की एक टुकड़ी जालौर पर अधिकार करने गई जहां जोधपुर का खजाना था। जोधपुर में जहां के दुर्ग-रक्षक चांपावत सूरजसिंह और नगर-रक्षक डेवढ़ीदार सोभावत गोयंदास आदि ने मराठो का डट कर मुकाबला किया। इसी प्रकार जालौर मे भी भंडारी पोमसिंह के सामने रामसिंह और मराठा सैनिकों को सफलता नही मिली।[87] 31 अक्टूबर, 1754 ई. को नागौर का घेरा डाला गया। जयप्पा ने नागौर में पहुंचने वाली रसद के रास्ते अवरुद्ध कर दिये। नागौर और जोधपुर के बीच ईडाना में सिंधिया-रामसिंह की संयुक्त फौज तैनात कर दी गयी जिससे जोधपुर से विजयसिंह को किसी प्रकार की सहायता न मिल सके। ख्यातो से ज्ञात होता है कि उस समय तक जोधपुर, जालौर, नागौर और डीडवाना को छोड़ कर मारवाड़ के सभी क्षेत्र पर रामसिंह का अधिकार हो गया था। नागौर मे दुर्ग-रक्षकों पर बड़ा दबाव पड़ रहा था। नगर मे खाने-पीने की वस्तुओं में कमी आ गई थी। ईंधन और घास

बिल्कुल समाप्त हो गये थे। ऐसी स्थिति में विजयसिंह ने गुमांई विजय भारती के जरिए जयप्पा से सन्धि- वार्ता शुरू की। दम्भी जयप्पा ने 50 लाख रुपये युद्ध-खर्च के मांगे जो महाराजा विजयसिंह के लिए देना सम्भव ही नहीं था। अतः सन्धि नहीं हो सकी। पानी की कमी मराठा सैनिकों को भी महसूस होने लगी थी। इसलिए जयप्पा ने अपनी सेना का शिविर नागौर से छः मील दूरी पर ताऊसर गांव मे लगा लिया जहां पानी का बाहुल्य था। घेरा पूर्ववत् चलता रहा।[88]

मारवाड़ में उत्तराधिकार-संघर्ष के आरम्भ में ही पेशवा ने जयप्पा सिंधियों को स्पष्ट निर्देश दिये थे। उसने जयप्पा को मारवाड़ की समस्या को युक्ति और समझौते से सुलझाने के लिए सलाह दी थी। उसका कहना था कि विजयसिंह को अपने पिता बख्तसिंह की जागीर दे दी जाय तथा रामसिंह को उसका पैतृक राज्य प्राप्त हो जाय; और यदि यह सम्भव न हो सके तो मारवाड़ राज्य को दो बराबर भागों में विभक्त कर विजयसिंह और रामसिंह को एक-एक भाग दे दिया जाय। पेशवा विजयसिंह को पूर्णतः नष्ट करने के पक्ष मे नही था। वह उसके अस्तित्व को बनाये रखना चाहता था जिससे मराठा सेना दीर्घ काल तक मारवाड़ में बनी रहे। पेशवा की इच्छा थी कि मारवाड के झगड़े को जल्दी से निपटाकर जयप्पा अपनी सेना के साथ रघुनाथराव की सहायता के लिए दिल्ली की ओर प्रस्थान करे जहां मराठों को अधिक धन मिलने की आशा थी। मारवाड़ के रेतीले प्रदेश मे मराठों को कोई विशेष लाभ नहीं था। जयप्पा ने पेशवा की नेक सलाह की अवहेलना की। वस्तुतः उसे आशा थी कि मारवाड़ में वह अपना कार्य जल्दी ही समाप्त कर लेगा। उसका यह पहला स्वतन्त्र अभियान था, अतः वह उसे अधूरा नही छोड़ना चाहता था। उसकी तो विजयसिंह के सुदृढ़ दुर्गों को जीतने और सम्पूर्ण मारवाड़ राज्य रामसिंह को सौंपने की तीव्र आकांक्षा थी। जुलाई 1752 ई. में बख्तसिंह ने उसकी फौज को पीछे धकेल दिया था। अब वह अपनी उस पराजय का बदला लेना चाहता था, परन्तु ऐसा सम्भव नही हो सका। नागौर का घेरा बहुत लम्बे अर्से तक चलता रहा, फिर भी राठौड़ झुके नही। जयप्पा विजय का श्रेय अकेला लेना चाहता था, इसलिए फरवरी 1753 ई. में जब मल्हारराव और सखाराम बापू ने उसकी सहायता के लिए नागौर आने को लिखा तो उसने उनको कहा कि वे नागौर न आवें, उसे कुछ दिनो में सफलता मिलने ही वाली है। इसी प्रकार रघुनाथराव ने 3 मार्च, 1755 ई. को नागौर पहुंच कर जब जयप्पा और विजयसिंह मे समझौता करवाने का सुझाव दिया, तब भी उसने इसे स्वीकार नहीं किया।[89]

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, विजयसिंह ने विजय भारती द्वारा जयप्पा से सन्धि करने के लिए प्रयास किया था। उसने महाराणा राजसिंह द्वितीय के दूत जैतसिंह (सलूम्बर का ठाकुर) के माध्यम से भी समझौता करने का प्रयास

किया, परन्तु असफल रहा। जयप्पा की अड़ियल नीति से खिन्न होकर विजयसिंह ने एक गुप्त योजना तैयार की जिसके अनुसार 24 जुलाई, 1755 ई. को ताऊसर मे महाराजा के प्रतिनिधियों द्वारा जयप्पा सिंधिया की हत्या कर दी गई।[90]

इस हत्या से विजयसिंह को कुछ भी लाभ नही हुआ। मराठों ने तुरन्त जयप्पा के पुत्र जनकोजी को अपना नेता चुन लिया और जयप्पा के भाई दत्ताजी ने नागौर के घेरे को और भी अधिक कठोर कर दिया। मराठा-सेना का मनोबल पूर्ववत् ऊंचा बना रहा।[91]

जयप्पा की हत्या के बाद विजयसिंह ने मराठा-विरोधी एक संयुक्त मोर्चा बनाने का प्रयास किया। उसने अपना प्रतिनिधि मुगल दरबार में भेजा जिसने वजीर से बात-चीत की और मुगल बादशाह को पांच लाख रुपये भेंट किये तथा उसे एक सेना लेकर मराठों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए राजपूत राजाओं के साथ सम्मिलित होने की प्रार्थना की। बादशाह ने इसे स्वीकार कर सैनिक तैयारी भी की, परन्तु अब्दाली के आक्रमण के भय के कारण मराठा-विरोधी मुग़ल सैनिक अभियान सम्भव नही हो सका। राजपूत शासकों को भी मराठा-विरोधी सघ में सम्मिलित होने के लिए विजयसिंह ने पत्र भेजे थे। अनेक राजपूत शासकों ने राठौड़ो को सहायता देना निश्चित किया। विजयसिंह ने अहमदशाह अब्दाली को भी मराठों के विरुद्ध सैनिक सहायता देने के लिए लिखा। वह तो ऐसे अवसरों की प्रतीक्षा में था ही। उसने अपने मुल्तान के शासक को राठौड़ों की मदद करने लिए आदेश भेजे थे।[92]

जयपुर के महाराजा ने अनिरुद्धसिंह खंगारोत को एक सेना देकर नागौर की ओर रवाना किया। रास्ते में शाहपुरा का शासक उम्मेदसिंह, रूपनगर का शासक बहादुरसिंह, करौली का राजा गोपालसिंह आदि अन्य राजपूत भी उसकी सेना में सम्मिलित हो गये। उधर बीकानेर से भी दीवान बख्तावरमल के नेतृत्व मे एक सेना नागौर की ओर बढी। जब मराठो को इसकी सूचना मिली तो इन दोनो सेनाओं के मिलने के पहले ही युद्ध करने के लिए राणोजी मोहिते के सेनापतित्व मे एक मराठा फौज ताऊसर से रवाना हुई। सम्मिलित सेना ने 10 अक्टूबर, 1755 ई. को अनिरुद्धसिंह को चाडोल के स्थान पर पराजित किया। पराजित हो जाने पर कच्छवाही सेना ने डीडवाने के किले मे जाकर शरण ली। उधर बीकानेर की फौज को भी मराठों ने दौलतपुर के निकट परास्त कर दिया। जालौर से जोधपुर की तरफ आती हुई राठौड़ी सेना को मराठो ने गोडावास के स्थान पर पराजित किया। नवम्बर 1755 ई. के प्रथम सप्ताह में अन्ताजी मनकेश्वर ने डीडवाना पहुंच इसका घेरा डाल दिया। माधोसिंह ने अपने सेनापति अनिरुद्धसिंह को मराठों से समझौता कर लेने के आदेश भेज दिये। इस प्रकार से विजयसिंह के राजपूत राजाओं से सहायता प्राप्त करने के सभी प्रयत्न असफल हो गये। जनवरी 1756 ई. मे मराठो ने जोधपुर का

घेरा भी कठोर कर दिया। चारों ओर से मराठों की सेना मारवाड़ में एकत्र होने लगी। मराठों की शक्ति में दिन-प्रति-दिन वृद्धि होती जा रही थी। ऐसी स्थिति में महाराजा विजयसिंह ने सन्धि करने का निश्चय किया।[93] उसने अपने दीवान सिंघवी फतेहचन्द और प्रधान देवीसिंह चांपावत को दत्ताजी सिंधिया के पास सन्धि-वार्ता के लिए भेजा। मराठे भी सन्धि करने के लिए उत्सुक थे। मारवाड़ में इस वर्ष भी भयंकर अकाल था। ऐसी स्थिति मे घेरे को अधिक दिनों तक चलाना उनके हित में नहीं था, चूंकि दोनों दल सन्धि के पक्ष मे थे, अतः फरवरी 1756 ई. मे समझौता हो गया। इस समझौते की निम्नलिखित शर्तें थी।[94]

(1) अजमेर जिले तथा गढ़ बीटली (तारागढ) पर मराठो का आधिपत्य रहेगा;

(2) विजयसिंह युद्ध-क्षति के रूप मे 50 लाख रुपये मराठों को देगा; इसमें 25 लाख प्रथम वर्ष में और शेष दो वर्ष मे अदा कर दिया जायेगा;

(3) जोधपुर नरेश डेढ लाख रुपये वार्षिक कर के रूप मे मराठो को देगा;

(4) जालौर-नगर के साथ आधा मारवाड़, जिसमें साभर, मारोठ, सोजत, परबतसर और केकड़ी क्षेत्र के 84 गांव सम्मिलित हैं, रामसिंह के पास रहेगा और जोधपुर, नागौर और मेड़ता पर विजयसिंह का प्रभुत्व रहेगा;

(5) अजमेर की सुरक्षा के लिए विजयसिंह अपने खर्च से एक सैनिक टुकड़ी मराठो की सेवा में रखेगा;

(6) यदि रामसिंह विजयसिंह के अधीनस्थ क्षेत्र मे हस्तक्षेप करता है, तो विजयसिंह को रामसिंह के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने की स्वतन्त्रता होगी; परन्तु इस क्षेत्र मे मराठो के हितो मे कोई परिवर्तन नही आयेगा।

जनकोजी सिन्धिया ने रामसिंह से एक पृथक् सन्धि की जिसके अनुसार मराठों का एक कमाविसदार उसके क्षेत्र में रहना तय हुआ। उसे चूंगी, कर आदि एकत्र करने का अधिकार मिला। रामसिंह और मराठे उस एकत्र धन को बराबर बांटेंगे। प्रथम कमाविसदार सदाशिव नियुक्त हुआ।[95]

सन्धि सम्पन्न होने के पश्चात् दत्ताजी कुछ दिन नागौर ठहर कर मेडता के रास्ते से रूपनगर पहुंचा। वहां उसने नगर का घेरा डाला। कुछ समय बाद 5 मई, 1756 ई. को शमसेर बहादुर के सेनापतित्व में एक अन्य मराठा सेना वहा आ पहुंची। रूपनगर के शासक बहादुरसिंह ने आक्रमणकारियों के समक्ष शस्त्र डाल दिये और उसने अपने बड़े भाई सामन्तसिंह को नगर सुपुर्द कर दिया। मराठों ने

उसे सहायता देने का वचन दिया था। इस प्रकार सामन्तसिंह ने मराठों की मदद से अपना राज्य प्राप्त कर लिया।[96] मराठों ने चार वर्ष पहले जो मारवाड़ मे सग्राम आरम्भ किया था, अब समाप्त हो गया। मारवाड़ दो राज्यो में विभाजित कर दिया गया और दोनों राज्यों ने मराठों के आधिपत्य को स्वीकार कर वार्षिक कर देने की शर्तें मान ली। उक्त सन्धि के अनुसार मारवाड अब मराठों के करद-राज्य के रूप मे परिवर्तित कर दिया गया। विजयसिंह को क्षतिपूर्ति के रूप में बहुत बड़ी धनराशि देनी पड़ी तथा शेष राशि देने के लिए वादा करना पड़ा। इस प्रकार मारवाड़ में भी मराठों का पूर्णरूपेण प्रवेश हो गया। किशनगढ पर भी मराठो का प्रभाव स्थापित हो गया क्योंकि यहां का शासक सामन्तसिंह उन्ही की सहायता से अपने अनुज बहादुरसिंह से सिंहासन प्राप्त कर सका था।

यद्यपि फरवरी 1756 ई. मे सन्धि हो जाने से मारवाड़ में शान्ति हो गई थी तथापि इस सन्धि से विजयसिंह और रामसिंह दोनों ही सन्तुष्ट नही हुए। रामसिंह को जोधपुर की गद्दी प्राप्त नही हुई थी, इसलिए वह खुश नहीं था। विजयसिंह को अपने राज्य का आधा भाग रामसिंह को देने के लिए बाध्य होना पड़ा था और उसके साथ ही उसे क्षतिपूर्ति के रूप में एक बहुत बड़ी धनराशि मराठों को देने के लिए विवश होना पड़ा था। वह अपने खोये हुये क्षेत्र रामसिंह से पुनः प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील था। जिस समय रामसिंह जयपुर के स्वर्गीय महाराजा ईश्वरीसिंह की पुत्री से विवाह करने जयपुर गया हुआ था, महाराजा विजयसिंह ने मारवाड़ के कतिपय सामन्तो की सलाह से रामसिंह के अधिकृत क्षेत्र पर आक्रमण कर मेड़ता, सोजत और जालौर के परगनों पर अधिकार कर लिया। इसकी सूचना मिलने पर रामसिंह एक बार फिर मराठो की सहायता से मारवाड़ पर चढ़ आया। मराठों की सेना का नेतृत्व जयप्पा का भाई महादजी सिन्धिया कर रहा था। मराठों का सामना करने की शक्ति राठौड़ों मे नहीं थी। अतः विजयसिंह को मराठा सरदार से पुनः सन्धि करनी पड़ी। सन्धि के अनुसार रामसिंह को उसके परगने लौटा दिये गये और महादजी को डेढ़ लाख रुपये हरजाने के रूप में महाराजा विजयसिंह को देने पड़े। इसके बाद महादजी अजमेर का प्रबन्ध गोविन्दराव को सुपुर्द कर दक्षिण को लौट गया।[97]

सन् 1752 ई. से 1756 ई. तक राठौड़-मराठा युद्ध के फलस्वरूप मारवाड की आर्थिक स्थिति बहुत बिगड़ गई थी। राज्य का खजाना रिक्त हो चुका था। विजयसिंह के सामन्त भी विद्रोही हो रहे थे। जैसे-तैसे विश्वस्त सेवक जगू (जगन्नाथ) की मदद से विजयसिंह अपने विद्रोही सामन्तो को नियंत्रित कर सका था। परन्तु वह अपनी दयनीय वित्तीय स्थिति के कारण मराठों को बहुत बड़ी बकाया रकम चुकाने की स्थिति मे नहीं था। विजयसिंह ने अपने वकीलों के माध्यम से रघुनाथ-राव (1757 ई.) और जनकोजी सिन्धिया (1758 ई.) को बड़ी रकम को कम

करने की प्रार्थना की थी, परन्तु मराठा सरदार सन्धि के अन्तर्गत निश्चित की गई रकम में किसी प्रकार की कटौती करने के पक्ष मे नहीं थे। मराठों के इस कठोर व्यवहार से महाराजा विजयसिंह रुष्ट था। वह मराठों के प्रभाव से मुक्त होना चाहता था। 1758 ई तक मराठों की शक्ति का प्रभाव पजाब तक हो गया था। अफगान शासक अहमदशाह अब्दाली जो पजाब से कर वसूल किया करता था, उसे पुनः अपने अधीन करने की तैयारी कर रहा था। वह मराठो का कट्टर विरोधी था। महाराजा विजयसिंह फरवरी 1756 ई. से ही अहमदशाह से पत्र-व्यवहार कर रहा था। 1759 ई. मे अब्दाली ने पजाब पर आक्रमण कर वहां से मराठो को बाहर निकाल दिया और वह अब दोआब की ओर अग्रसर होने लगा। उसने राजपूत राजाओ से मराठों के विरुद्ध किये गये अभियान में मदद चाही। गोविन्द बलाल ने सदाशिव-राव भाऊ को सूचित किया कि विजयसिंह ने मराठों के विरुद्ध अब्दाली को सहायता देना निश्चय किया है। मराठा सरदार ने इसको अधिक महत्त्व नही दिया, परन्तु 1 जनवरी, 1760 ई. को बरीयाघाट के युद्ध में दत्ताजी सिन्धिया के मारे जाने पर अब्दाली के आक्रमण की गम्भीरता को उसने समझा। अब मराठों ने विजयसिंह से अब्दाली के विरुद्ध सहायता प्राप्त करनी चाही। सिन्धिया के मत्री आनन्दराव बावले ने इस आशय का एक पत्र विजयसिंह को लिखा। एक चतुर राजनीतिज्ञ की भाँति विजयसिंह ने स्थिति का लाभ उठाया। उसने एक तरफ अपने प्रतिनिधि बारेठ करणीदान को मराठों से बातचीत करने के लिए भेजा। दूसरी तरफ उसने पत्र लिखकर अब्दाली को भी विश्वास दिलाया कि वह मराठा-विरोधी अभियान में उसकी सहायता के लिए एक राठौड़ी सेना भेज रहा है। इसके साथ-साथ बहाना बनाकर कि रामसिंह के आदमियो ने जून 1760 ई में उसके अधीनस्थ क्षेत्रो मे हस्तक्षेप किया है, विजयसिंह ने अपने सैनिकों को रामसिंह के परगनों पर अधिकार करने के आदेश दे दिये। करणीदान और बावले के बीच बातचीत के परिणाम-स्वरूप 15 जनवरी, 1761 ई. को एक समझौता हुआ जिसके अनुसार तय हुआ कि विजयसिंह अब्दाली के विरुद्ध मराठो की सहायता करेगा। सिन्धिया रामसिंह की मदद नही करेगा। यदि रामसिंह विजयसिंह के क्षेत्रो हर आक्रमण करता है तो सिन्धिया जोधपुर-नरेश की सहायता करेगा। इस प्रकार पानीपत के युद्ध के समय विजयसिंह ने अपनी स्थिति सुदृढ कर ली और अपना खोया हुआ क्षेत्र भी पुनः प्राप्त कर लिया। पानीपत की लड़ाई में मराठों को इतनी अधिक क्षति उठानी पड़ी थी कि अभी उनका रामसिंह की मदद से मारवाड़ मे विजयसिंह के विरुद्ध सैनिक अभियान करना सम्भव नही था।[98]

जनवरी 14, 1761 ई. के दिन पानीपत के निर्णायक युद्ध मे मराठो की पराजय हुई। इससे मराठा शक्ति को भयंकर आघात पहुंचा। इस पराजय के फलस्वरूप उत्तरी भारत मे सभी छोटे-बड़े राजा मराठो के आधिपत्य से मुक्त होने

के लिए प्रयत्नशील होने लगे थे। राजस्थान मे भी सारे रजवाड़े स्वच्छन्द व्यवहार करने लगे। वे मराठो के प्रभुत्व का अन्त करने के लिए एक बार फिर सक्रिय हो गए; परन्तु राजस्थान की विभिन्न जातियो और परस्पर विरोधी दलों को एक कर उन्हें सुसंगठित करना कोई सुलभ कार्य नही था। उनमें ऐसा कोई प्रभावशाली नेता नही था जिसके झंडे के नीचे सभी राजपूत राजा एकत्र होकर संयुक्त रूप से मराठो के विरुद्ध कार्यवाही कर सकें।[99]

पानीपत मे मराठो की पराजय के बाद से ही जयपुर का महाराजा माधोसिंह मराठा-विरोधी संघ के निर्माण मे संलग्न था। वजीर नजीबखां, याकूबअली और बादशाह शाहआलम द्वितीय के पास मराठा-विरोधी संघ बनाने के निमित्त विचार-विमर्श करने के लिए उसने राजदूत भेजे थे। उसने शाहपुरा, बून्दी, कोटा और करौली के राजाओं को भी मराठा-विरोधी संघ मे सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया और एक निश्चित स्थान पर ससैन्य उपस्थित होने के लिए उनका आह्वान किया गया; परन्तु माधोसिंह ने अपने पुराने वैर के कारण मारवाड़ के शासक विजयसिंह को, जो बहादुर और दिलेर था, तथाकथित मराठा-विरोधी गुट मे सम्मिलित होने के लिए नही कहा। इसके विपरीत उसने विजयसिंह के प्रतिद्वन्द्वी रामसिंह को अपने खोये हुए परगनों को पुनः प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित कर सहयोग प्रदान किया। रामसिंह ने कच्छावी सेना के सहयोग से मारवाड़ के सांभर-क्षेत्र पर आक्रमण किया। इससे विजयसिंह का माधोसिंह से नाराज होना स्वाभाविक ही था। उसका झुकाव मराठो के पक्ष मे रहा। जिस समय पेशवा ने मल्हार-राव को माधोसिंह के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने के आदेश दिये, उस समय महाराजा विजयसिंह को भी सूचित किया कि वह मल्हारराव की मदद करे। माधोसिंह का विजयसिंह को नाराज करना उसकी अदूरदर्शिता का ही परिचायक कहा जा सकता है। मारवाड़ और मेवाड़ राज्यों को सम्मिलित किए बिना मराठो के विरुद्ध सशक्त मोर्चा तैयार नहीं किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त माधोसिंह को अपने सामन्तों का भी पूर्ण समर्थन प्राप्त नही था। उसने कई महीने अपने विद्रोही सामन्तों को कुचलने में ही व्यतीत कर दिये।[100] मराठों की कठिनाई और उनकी विषम परिस्थिति का माधोसिंह अपनी चारित्रिक कमजोरियों के कारण लाभ नही उठा सका। कुछ ही समय बाद राजपूतो की स्थिति बिल्कुल प्रतिकूल होने लगी थी। मल्हारराव होल्कर ने, जो सिन्धिया के साथ मतभेद होने के कारण पानीपत के युद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ था, तुरन्त मराठो की स्थिति पुनः सुदृढ़ बना ली थी। उसने मालवा मे थोड़े ही समय में बिखरे हुए मराठा सैनिकों को एकत्र कर राजस्थान और मालवा मे स्वाधीन हुए क्षेत्रो पर फिर से अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। एक चन्द्रावत सरदार ने रामपुरा पर, जो मल्हारराव की जागीर थी, अधिकार कर लिया था। मई 1761 ई. मे मल्हारराव के सैनिकों ने

चन्द्रावतों को पराजित कर रामपुरा पर फिर से मल्हार का प्रभुत्व स्थापित किया। इसके बाद इन्दौर से एक सौ मील उत्तर मे गगागुरी नामक स्थान पर मल्हारराव ने आक्रमण किया। यहां कोटा के महाराव के एक राजपूत सरदार अभयसिंह राठौड ने अधिकार कर रखा था। जून के आरम्भ में उक्त किले पर फिर से मराठों का अधिकार हो गया। इस प्रकार मालवा और राजस्थान में पुनः मराठों का दबदबा हो गया।[101]

जिस समय मल्हारराव मालवा मे अपनी स्थिति मजबूत करने में संलग्न था, माधोसिंह ने कोटा राज्य के विरुद्ध सैनिक अभियान की तैयारी की। कोटा के महाराव शत्रुसाल ने माधोसिंह के मराठा-विरोधी गुट मे सम्मिलित होने के निमन्त्रण को अस्वीकार कर दिया था। इसके दो प्रमुख कारण थे : प्रथम तो मल्हारराव की बढ़ती हुई शक्ति को देखते हुए महाराव ने उसे अप्रसन्न करना उचित नहीं समझा। द्वितीयतः, शत्रुसाल यह भी समझता था कि माधोसिंह का उद्देश्य मराठों को राजस्थान से निकाल कर वहां स्वयं का आधिपत्य स्थापित करना था।[102] माधोसिंह ने रणथम्भौर दुर्ग पर अपना अधिकार स्थापित किया और फिर वह दुर्ग से संबंधित अर्द्ध स्वतन्त्र सामन्तो पर चढाई करने की जो तैयारी कर रहा था, उससे उसकी विस्तारवादी नीति का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। यहां जयपुर-कोटा-संघर्ष-सम्बन्धी जानकारी देना समीचीन ही होगा।

सन् 1567 ई. में अकबर ने बून्दी के राव सुर्जन हाड़ा से रणथम्भौर का गढ़ प्राप्त किया था। तभी से यह किला मुगलों के अधीन रहा। रणथम्भौर सूबा अजमेर का एक सरकार था और इसमें कोटा और बून्दी राज्य के कई परगने सम्मिलित थे। रणथम्भौर मे एक मुगल फौजदार नियुक्त था जो कोटा और बून्दी के परगनों से शाही लगान वसूल करता था और अजमेर सूबे में जमा करवा देता था। मुगलों की शक्ति जब तक क्षीण नही हुई, तब तक यही स्थिति चलती रही, परन्तु औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् स्थिति मे परिवर्तन आने लगा। अब कोटा के परगने व गढ रणथम्भौर सरकार के अन्तर्गत केवल नाम मात्र के रह गये थे। अब इन परगनों से न तो कोई मुगलों को कर दिया जाता था और न वे मुगलों द्वारा शासित ही थे। कोटा राज्य ने तो अब मुगलों से सम्बन्ध-विच्छेद कर मराठो के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था।[103]

सन् 1754 ई. मे रणथम्भौर का गढ मुगल बादशाह अहमदशाह ने जयपुर के महाराजा माधोसिंह को दे दिया क्योकि उसने सफदरजंग के विरुद्ध बादशाह की महती सेवाएं की थीं। यह केवल कानूनी कार्यवाही थी। अभी भी रणथम्भौर में एक मुस्लिम फौजदार शासन चला रहा था। मुगल बादशाद की कमजोरी का लाभ उठा कर वह वहां अपना एक स्वतन्त्र छोटा राज्य स्थापित करने की धुन में था। मराठों ने अजमेर पर तो पहले ही अधिकार कर लिया था, अब उन्होंने राजस्थान मे

मुगलों के अन्तिम गढ रणथम्भोर पर भी अपना अधिकार जमाने के उद्देश्य से इसका घेरा डाला। घेरा कई दिनो तक चलता रहा। रणथम्भोर के नवाब ने बून्दी के राव उम्मेदसिंह से मराठो के विरुद्ध सहायता मांगी, परन्तु वह तो स्वयं मराठों की मदद से बून्दी का शासक बना था, अतः मराठों के विरुद्ध नवाब को सहायता देने की स्थिति में नही था। तब नवाब ने निराश होकर माधोसिंह को रणथम्भोर का किला सुपुर्द कर दिया। माधोसिंह का जब किले पर अधिकार हो गया तब मराठा, जो लम्बे घेरे के कारण पहले ही परिश्रान्त हो चुके थे, नये सैनिकों का सामना करने की स्थिति में नही रहे। अतः वे रण छोड़ कर दक्षिण की ओर पलायन कर गये।[104]

जब माधोसिंह रणथम्भोर का स्वामी बन गया तो उसने चाहा कि जिस प्रकार कोटा और बून्दी मुगलकाल मे रणथम्भोर के फौजदार के अधीन थे, उसी प्रकार वे अब जयपुर नरेश की अधीनता स्वीकार करे। माधोसिंह का यह सोचना न्यायोचित नहीं था। कोटा और बून्दी रणथम्भोर के फौजदार के अधीन नही थे, वे तो मुगल-बादशाह के आधिपत्य मे थे। अब मुगल-शक्ति का ह्रास हो चुका था। कोटा के महाराव ने मराठों के वर्चस्व को स्वीकार कर लिया था। उनका जयपुर के महाराजा की अधीनता स्वीकार करने का प्रश्न ही नही था। जब महाराव ने माधोसिंह के नेतृत्व को स्वीकार नही किया तो वह नाराज हो गया और उसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने की तैयारी करने लगा।[105]

इसके अतिरिक्त माधोसिंह का कोटा राज्य से वैमनस्य बढने का एक अन्य कारण भी था। रणथम्भोर के आस-पास के क्षेत्र मे इन्द्रगढ, खातोली आदि आठ छोटी-छोटी हाड़ा राजपूतो की कोठरियां (सामन्ती राज्य) थी। वे मुगलों के ठिकाने थे और सरकार गढ़ रणथम्भोर के जरिए दिल्ली-बादशाह को कर दिया करते थे। बादशाह की क्षीण अवस्था मे जयसिंह ने रणथम्भोर दुर्ग का क्षेत्र इजारे में ले लिया था। अतः वह मुग़ल बादशाह के इजारेदार की हैसियत से इन कोठरियों के सरदारों से कर वसूल किया करता था। अब जब माधोसिंह का रणथम्भोर के किले पर अधिकार हो गया तो उसने इन कोठरियों के हाड़ा सरदारों से कर की मांग की। उन्होंने माधोसिंह को कर देना स्वीकार नही किया। वे इस तथ्य से पूर्णतया परिचित थे कि उनमे माधोसिंह की सेना व मराठों के निरन्तर आक्रमणों का सामना करने की शक्ति नही है। अतः उन्होंने कोटा के महाराव शत्रुसाल से उनकी सुरक्षा का दायित्व लेने की प्रार्थना की। वे कच्छावों की अधीनता स्वीकार न कर हाड़ा शक्ति के अधीन रहना उचित समझते थे। कोटा के महाराव ने उन्हे अपने संरक्षण मे लेना स्वीकार कर लिया। यह जयपुर-नरेश माधोसिंह के लिए असहनीय था। उसने हाड़ा कोठरियो पर शक्ति से अधिकार करने के लिए सैनिक अभियान शुरू किया।[106]

माधोसिंह एक विशाल सेना के साथ जयपुर से रवाना हुआ। पहले उसने उनियारा ठिकाने पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार कर लिया। उनियारा का ठाकुर राजनीतिक परिस्थितियों का लाभ उठाकर कुछ समय से महाराजा के आदेशों की अवहेलना करने लगा था। उनियारा पर अधिकार करने के पश्चात् माधोसिंह तो जयपुर लौट गया, परन्तु उसकी सेना लाखेरी पहुची। लाखेरी पर मराठो का अधिकार था। जयपुर की सेना ने मराठा-प्रशासक को मार भगाया और लाखेरी पर जयपुर-महाराजा का आधिपत्य स्थापित कर दिया। यहां से जयपुर की सेना ने कूच कर चम्बल नदी पार कर पालीघाट के क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। जब कोटा के महाराव को इन सैनिक गतिविधियो का पता चला तो उसने भी एक सेना अखेराम और झाला जालिमसिंह के नेतृत्व में कोटा से रवाना की। ऐसा कहा जाता है कि कोटा की सेना मे 15,000 सैनिक थे, जबकि जयपुर-सेना में लगभग 60,000 सिपाही थे। ऐसी स्थिति में झाला जालिमसिंह और अखेराम ने मराठा सरदार मल्हारराव से भी मदद लेनी चाही। उस समय मल्हारराव कोटा के निकट पड़ाव डाले पड़ा था और उसके पास एक बडी सेना भी थी। झाला ने अपना दूत मल्हार के पास भेजा और चार लाख रुपये देकर अपनी सहायता के लिए उसे चढ़ा लाया। कोटा और जयपुर की सेनाओं का मुकाबला निजामत मांगरोल में भटवाडा के पास हुआ। यह युद्ध 30 नवम्बर, 1761 ई. को आरम्भ हुआ और तीन दिनों तक चलता रहा। दोनों पक्षों की काफी क्षति हुई। अन्त में 2 दिसम्बर, 1761 ई. को निर्णायक-युद्ध हुआ जिसमे जयपुर की सेना पराजित हो गई और भाग खड़ी हुई। भागती हुई सेना का कोटा और मराठों की सेना ने पीछा किया और उनके माल-असबाब को लूट लिया। 17 हाथी, 1800 घोड़े, 73 तोपें और एक पंचरग निशान कोटा की सेना के हाथ लगे।[107] राजस्थानी स्रोतों से ज्ञात होता है कि यह युद्ध कोटा और जयपुर के बीच था। मराठा सरदार होल्कर युद्ध-क्षेत्र के निकट अपनी सेना सहित एक दर्शक के रूप मे खड़ा रहा और जब जयपुर की सेना के पैर उखड़ गये और वह भागने लगी तो मराठो ने भी जयपुर की सेना को लूटा। इसके विपरीत सरकार महोदय मराठा दस्तावेजों के आधार पर लिखते हैं कि यह युद्ध जयपुर और मराठो के बीच लड़ा गया था। कोटा की फौज तो मराठों की सहायता में वहां उपस्थित थी। सरकार यह भी लिखते है कि मल्हारराव के एक गोली लगी थी जिससे वह घायल हो गया था; परन्तु राजस्थानी कागजातों से इसकी पुष्टि नही होती। इनमे तो मल्हारराव के हाथी के चोट लगने का उल्लेख है। युद्ध के बाद इसका इलाज कोटा में हुआ था और उस पर 101 टक्के प्रतिदिन खर्च होने की सूचना मिलती है। यदि मल्हारराव के चोट आई होती तो निश्चय ही उसने कोटा के महाराव से मुआवजा के रूप में भारी रकम वसूल की होती। सरकार के अनुसार यह युद्ध 28 और 29 नवम्बर, 1761 ई. को हुआ था जबकि राजस्थानी

स्रोतों के अनुसार 30 नवम्बर से 2 दिसम्बर तक यह युद्ध लड़ा गया। कोटा के पुरालेखागार में मल्हारराव की फौज के स्वागत में 2361 रु. 9 आने खर्च किया जाना भी लिखा है। कोटा राज्य के सरकारी कागजात को यदि अधिक महत्त्व दिया जाये तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भटवाड़ा का युद्ध जयपुर और कोटा राज्यों के बीच मे लड़ा गया था। मल्हारराव रणक्षेत्र में उपस्थित अवश्य था, परन्तु उसने युद्ध में भाग नहीं लिया; हां, भागती हुई जयपुरी सेना को लूटने मे मराठा सैनिकों ने भी हाथ अवश्य बटाया था। इस युद्ध में झाला जालिमसिंह की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। इस युद्ध के कारण उसकी बड़ी प्रसिद्धि हुई और उसकी वीरता, साहस तथा कूटनीतिज्ञता के बारे मे राजस्थान में सर्वत्र चर्चा होने लगी थी। झाला जालिमसिंह के राजनीतिक जीवन के उत्थान का शुभारम्भ यहीं से होता है।[108]

माधोसिंह की निर्णायक-पराजय से अन्तिम फैसला हो गया। अब राजस्थान में मराठा-विरोधी गुट बनने की निकट भविष्य में कोई सम्भावना नही रही। मराठों की प्रतिष्ठा, जो पानीपत की पराजय से धूमिल हो गई थी, राजस्थान में पुनः स्थापित हो गई। होल्कर अपनी सेना के साथ कोटा से जयपुर की ओर अग्रसर हुआ और जयपुर से 30 मील दूर स्थित मनहोरपुर कस्बे के निकट ठहरा। माधोसिंह ने सन्धि-वार्ता करने हेतु अपने वयोवृद्ध अनुभवी दीवान कनीराम को होल्कर के पास भेजा। जोधपुर, कोटा और बून्दी के वकील भी होल्कर से मिलने वहां पहुंचे। उन्होंने खंडनी सम्बन्धी उससे चर्चा की। इसी बीच शाहआलम द्वितीय और उसके वजीर शुजाउद्दौला ने बुन्देलखण्ड में कालपी और झांसी के किलों पर मराठों को हटा कर अधिकार कर लिया। यहां के स्थानीय मराठा पदाधिकारियों ने मल्हारराव को उनकी सहायतार्थ आने के लिए संदेश भेजा। अतः मल्हारराव को तुरन्त राजपूताना छोड़ बुन्देलखण्ड की तरफ जाना पड़ा। परन्तु उसके पहुंचने के पहले ही खोये हुए किलो पर मराठों का पुनः अधिकार हो गया, इसलिए मल्हारराव रास्ते मे ही मुड़ कर इन्दौर की ओर चला गया।[109]

यह ऊपर बताया जा चुका है कि जयपुर और जोधपुर राज्यों मे उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर संघर्ष चालू हुए थे जिससे मराठों को अपना वर्चस्व और प्रभाव वहां स्थापित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। मेवाड में भी सिंहासन के लिए गृह-युद्ध हुआ जिसके कारण मराठो का मेवाड़ में व्यापक रूप से प्रसार हुआ। इसका विवरण आगे के पृष्ठों पर किया जायेगा।

महाराणा जगतसिंह की मृत्यु होने के बाद उसका लड़का प्रतापसिंह द्वितीय 5 जून, 1751 ई को मेवाड़ के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। स्वर्गीय महाराणा जगतसिंह के जीवनकाल में ही उसके अनुज बागोर के स्वामी नाथसिंह की नजर मेवाड़ की गद्दी पर लगी हुई थी। उसने अपने समर्थकों की सहायता से बन्दीगृह में युवराज प्रतापसिंह को विष देकर मारने की योजना भी बनाई थी। उसने प्रतापसिंह

को कैद करने में भी महाराणा जगतसिंह की मदद की थी। इसलिए प्रतापसिंह के सिंहासनारूढ़ होने पर नाथसिंह का महाराणा के प्रति शंकित होना स्वाभाविक ही था। वह राजधानी छोड़ अपने ठिकाने बागोर चला गया। वहां की व्यवस्था ठीक कर वह अपने पुत्र भीमसिंह के साथ सादड़ी, देवलिया, उमटवाड़ा आदि स्थानों पर गया और महाराणा के विरुद्ध गुट तैयार करने के प्रयास भी उसने किये। फिर वह बून्दी के राव उम्मेदसिंह और जयपुर के महाराजा माधोसिंह से भी मिला। माधोसिंह ने नाथसिंह को मेवाड़ का सिंहासन दिलवाने मे सहायता करने का वचन भी दिया। महाराणा के विरोधी ठाकुर जसवन्तसिंह (देवगढ़), उम्मेदसिह (शाहपुरा), बाबा भारतसिह (सनवाड़ा) आदि ने नाथसिह का साथ दिया। उन्होने सम्मिलित रूप से मेवाड़ के गांवों को लूटना शुरू कर दिया। यद्यपि उनका उद्देश्य पूरा नहीं हुआ तथापि विरोधी गतिविधियो से मेवाड़ राज्य को अत्यधिक क्षति उठानी पड़ी। दोनो पक्षो के प्रतिनिधि मराठों के पास सहायता के लिए पहुंचे लेकिन कोई नतीजा नही निकला। इस बीच 10 जनवरी, 1754 ई. को महाराणा प्रतापसिंह द्वितीय की मृत्यु हो गई।

महाराणा प्रतापसिंह द्वितीय का पुत्र राजसिह द्वितीय 11 जनवरी, 1754 ई. को मेवाड़ की राजगद्दी पर बैठा। वह अभी अवयस्क था, इसलिए सलूम्बर के रावत जैतसिंह को राज्य का शासन-कार्य सौंपा गया। मराठों की मध्यस्थता से नाथसिंह और विद्रोही सरदारों का महाराणा के साथ समझौता करवाने का प्रयास किया गया, परन्तु सफलता नहीं मिली। तब जैतसिंह ने विद्रोही तत्वों को शक्ति से कुचलने की योजना बनाई। उनके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की गई। इस दिशा में कुछ सफलता भी मिली, लेकिन दुर्भाग्य से जैतसिंह की नागौर के पास ताऊसर में जयप्पा सिन्धिया के शिविर में हत्या कर दी गई। वह वहा महाराजा विजयसिह और जयप्पा के बीच समझौता करवाने गया हुआ था। जैतसिह के मरने के बाद विरोधी ठाकुरों का मेवाड़ मे पुनः जोर बढने लगा। उन्होंने मेवाड के गांवों को लूटना आरम्भ कर दिया। महाराणा की बाल्यावस्था को देख कर मराठों के आक्रमणों में भी काफी तेजी आ गई थी, परन्तु 1759 ई. के बाद मराठा सरदारों की दृष्टि अहमदशाह अब्दाली की तरफ लगी हुई थी; अतः वे मेवाड़ की तरफ नही आ सके। पानीपत के युद्ध में मराठों की पराजय होने पर एक बार फिर मेवाड़ को मराठों का विरोध करने का अवसर मिला था, किन्तु आन्तरिक दुर्बलता के कारण मराठो से मुक्ति प्राप्त करना सम्भव नही हो सका। इसके अतिरिक्त दुर्भाग्य से 3 अप्रेल, 1761 ई. को महाराणा राजसिह द्वितीय की मृत्यु हो गई जिससे मेवाड़ में झगड़े का एक नया कारण उठ खड़ा हुआ।[110]

महाराणा राजसिह के कोई सन्तान नही थी, इसलिए उसका काका अड़सी (अरिसिंह) 3 अप्रेल, 1761 ई. को मेवाड़ की गद्दी पर आसीन हुआ। स्वर्गीय

महाराणा की झाला रानी के उस समय गर्भ था, परन्तु राजसिंह की माता ने इसे गुप्त रख क्योंकि उसे अरिसिंह का भय था। यदि अरिसिंह को इसकी सूचना मिल जाती तो सम्भवतः वह झाला रानी को मरवाने का प्रयास करता।[111]

महाराणा अरिसिंह बहुत तेज-मिजाज और क्रोधी था। 'हरिपूजन'[112] के कुछ दिनों पश्चात् वह मेवाड़ राज-परिवार के इष्टदेव एकलिंग महादेव के दर्शनार्थ गया। उस समय बहुत से सामन्त उसके साथ थे। वापिस लौटते समय चीरवा के तंग घाटे में अपना रास्ता साफ करने के लिए महाराणा ने सामन्तों के घोड़ों की पीठ पर चाबुक लगवाये। महाराणा के इस व्यवहार से सामन्त बड़े रुष्ट हुए और तभी से वे अरिसिंह को सिंहासनच्युत करने की सोचने लगे थे। उस समय तक झाला रानी के गर्भ रहने की बात भी सुनने में आने लगी थी। कुछ दिनों बाद झाला रानी के रत्नसिंह नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ। रानियों ने उसे उसके मामा जसवन्तसिंह के पास गोगूंदा भिजवा दिया। बालक को गुप्त स्थान पर रख कर जसवन्तसिंह उसका लालन-पालन करवाने लगा।[113]

चीरवा के घाटे की घटना से मेवाड़ के सामन्त पहले से ही नाराज थे। अब अरिसिंह ने भैंसरोड़ के रावत लालसिंह के जरिए बागोर के ठाकुर नाथसिंह की हत्या करवा दी; और कुछ समय बाद महाराणा ने सलूम्बर के रावत जोधसिंह को भी विष मिला पान खिलाकर उसका प्राणान्त कर दिया। सामन्तो के रोष और विरोध को समाप्त करने के लिए अरिसिंह ने सिन्ध और गुजरात से मुसलमान सैनिको को बुलाकर अपनी एक नई सेना तैयार की। इन सब कारणों से सामन्त भड़क उठे और महाराणा को राज्यच्युत करने का निश्चय कर लिया। जसवन्तसिंह ने रत्नसिंह को कुम्भलगढ़ पहुंचा दिया और वहां सभी विद्रोही सामन्तों ने एकत्र होकर 1764 ई. के प्रारम्भ में उसे मेवाड़ का महाराणा घोषित कर दिया। मेवाड़ में अब दो महाराणा हो गए और इस तरह वहां गृह–युद्ध का सूत्रपात हुआ। सलूम्बर, बीजोल्या, बदनोर, आमेट, घाणेराव और कानोड़ के सरदारों को छोड़कर अधिकांश मेवाड़ी सामन्त रत्नसिंह के पक्षपाती बन गये। उन्होंने मेवाड़ के उत्तर–पश्चिमी भाग को अपने अधिकार में कर लिया।[114]

अरिसिंह को संकट के समय सौभाग्य से कोटा के झाला जालिमसिंह का, जो बड़ा योग्य और कूटनीतिज्ञ था, सहयोग प्राप्त हो गया। वह उस समय कोटा के महाराव गुमानसिंह से नाराज होकर उदयपुर चला आया था। महाराणा ने उसे जागीर देकर अपनी सेवा में रख लिया। महाराणा ने उसे 'राजराणा' का खिताब दिया। उसकी सलाह और युक्ति से महाराणा ने शाहपुरा के उम्मेदसिंह और देलवाड़े के झाला राघवदेव को प्रलोभन आदि देकर अपनी ओर कर लिया। इससे महाराणा की स्थिति सुदृढ़ होने लगी। रत्नसिंह को, जिसका अधिकार उदयपुर के निकट क्षेत्र तक हो गया था, उसने अपने सैन्य बल से काफी पीछे हटा दिया।[115]

जसवन्तसिंह और उसके साथियों ने मेवाड़ में नियुक्त मराठा-पदाधिकारी यशवंतराव बाबले और सदाशिव गंगाधर को तीन लाख रुपये देने का वादा कर उनसे सहयोग प्राप्त कर लिया। बाबले ने पेशवा से भी रत्नसिंह की मदद करने की सिफारिश की और सूचित किया कि इस कार्य के लिए उसे 36 लाख रुपये प्राप्त हो सकेंगे।[116] इसके अतिरिक्त रत्नसिंह के पक्षपातियों ने अपने दूत महादजी सिन्धिया के पास भी भेजे। महादजी ने सवा करोड़ रुपये लेकर रत्नसिंह को सहायता देना स्वीकार कर लिया।[117]

अरिसिंह भी शान्त नहीं बैठा रहा। उसने भी मराठों से सहयोग प्राप्त करने के भरसक प्रयत्न किये। उसने झाला जालिमसिंह और महता अगरचन्द को पेशवा से सहायता लेने के लिए भेजा। जालिमसिंह ने कूटनीति से काम लिया। उसने महादजी के पदाधिकारियों को अपनी ओर मिला लिया। राघोराम पागे और दौलामियां ने अपने सेनानायक महादजी को रत्नसिंह की मदद न देने की सलाह दी। इस बीच झाला जालिमसिंह ने पेशवा से राघोराम पागे के नाम आदेश-पत्र लिखवाया जिसमें उसे अड़सी (अरिसिंह) की सहायता करने के लिए कहा गया था। तब राघोराम पागे बहेरजी ताकपीर को साथ लेकर आठ हजार सेना सहित महाराणा की मदद में उदयपुर पहुंच गया। उसने महाराणा अड़सी से बातचीत कर 25 सितम्बर, 1768 ई. को एक समझौता किया जिसके अनुसार मराठा सरदारों ने रत्नसिंह को कुम्भलगढ से निकाल देने का वादा किया और इस सेवा के बदले महाराणा ने 20 लाख रुपये देना स्वीकार कर लिया। महाराणा ने इनके अतिरिक्त अन्य मराठा सरदारों को भी अपने पक्ष मे करने का प्रयास किया। विष्णु महादेव और शिवकान्त भट्ट के कहने पर एक शक्तिशाली मराठा सरदार रामचन्द्र गणेश ने भी महाराणा की मदद करने का आश्वासन दिया।[118]

उक्त घटनाओं-सम्बन्धी सूचनाएं जब महादजी के पास पहुंचीं तो वह बड़ा क्रुद्ध हुआ। विद्रोही सरदार बालक रत्नसिंह को लेकर महादजी के पास उज्जैन पहुचे। उसने इनका स्वागत किया। रत्नसिंह के पक्ष वालों ने रत्नसिंह को मेवाड़ की गद्दी पर बैठाने के बदले उसे पचास लाख रुपया तथा मराठो की पुरानी चढी रकम भी चुका देने का प्रस्ताव रखा। महादजी ने धन के प्रलोभन में अरिसिंह के साथ मराठो द्वारा उपर्युक्त समझौते की अवहेलना कर रत्नसिंह को मेवाड़ की गद्दी पर बैठाने का वादा कर लिया। 14 दिसम्बर, 1768 ई. को उज्जैन से चलकर महादजी ने कालियादेह के स्थान पर पड़ाव डाला। जैसे ही इसकी सूचना अरिसिंह को मिली, उसने सलूम्बर के रावत पहाड़सिंह, शाहपुरा के उम्मेदसिंह और देलवाड़ा के झाला राघवदेव को सिन्धिया से मिलने और उसे समझा-बुझा कर अपने पक्ष में करने के लिए कालियादेह भेजा। परन्तु वे निराश होकर ही वापिस लौटे। इस समय महाराणा ने झाला राघवदेव पर सन्देह होने के कारण उसे मरवा दिया।[119]

महादजी उदयपुर पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा था। इससे चिन्तित होकर अड़सी ने अपने सरदारों को, जिसमें शहापुरा के उम्मेदसिंह, बनेड़े के रायसिंह, सलूम्बर के पहाड़सिंह और झाला जालिमसिंह भी सम्मिलित थे, महादजी से पुनः बातचीत करने भेजा। इनके साथ राघोराम पागे और दौलामियां व एक बड़ी सेना भी थी। उन्हें महादजी को धनराशि देकर समझा-बुझा कर अपनी ओर करने के लिए कहा था। यदि वह किसी भी तरह नहीं माने तो फिर लड़ने के लिए भी कहा गया था। महादजी अपनी बात पर अड़ा रहा और उसने अड़सी के पक्षवालों की एक भी बात नहीं सुनी। तब तो राजपूत लड़ने को तैयार हो गए। 16 जनवरी, 1769 ई. को उज्जैन के पास क्षिप्रा के तीर पर युद्ध हुआ जिसमें महादजी विजयी रहा। राघोराम भी इस युद्ध में अरिसिंह के पक्ष में लड़ा था और वीरगति को प्राप्त हुआ। शाहपुरा के उम्मेदसिंह, बनेड़ा के रायसिंह और पहाड़सिंह (सलूम्बर) भी खेत रहे। महता अगरचन्द और झाला जालिमसिंह मराठों द्वारा कैद कर लिए गए। बाद में जालिमसिंह को उसके एक मराठा मित्र ने 60,000 रुपये देकर मुक्त करवाया।[120]

अब पूर्ण रूप से तैयारी कर अप्रैल 1769 ई. के दूसरे सप्ताह के लगभग महादजी सिन्धिया उदयपुर की ओर अग्रसर हुआ। वहां पहुंचकर उसने उदयपुर नगर का घेरा डाल दिया। महाराणा व उसके स्वामिभक्त सरदारों ने डट कर महादजी का मुकाबला किया। घेरा कई दिनों तक चलता रहा। कुछ दिनों बाद तुकोजी होल्कर भी ससैन्य वहां आ पहुंचा। जब उदयपुर में भोजन-सामग्री की कमी होने लगी, तब राजपूतों ने सन्धि-वार्ता आरम्भ की। अड़सी ने महादजी को कहलाया कि रत्नसिंह को मेवाड़ की गद्दी पर बैठाना है तो उससे धन प्राप्त करें, यदि धन प्राप्त करना ही उद्देश्य है, तो हम भी धनराशि देने को तैयार है। महादजी को रत्नसिंह के पक्षवालों से धन मिलना कठिन था। तुकोजी होल्कर भी अड़सी के पक्ष में था और सन्धि करने के लिए उद्यत था। अड़सी के सरदारों ने सत्तर लाख रुपये मराठों को देकर सन्धि करने की बात सिन्धिया से तय कर ली, परन्तु कुछ दिनों बाद सिन्धिया ने 20 लाख अतिरिक्त धनराशि मांगी। इस पर सन्धि-वार्ता भंग हो गई और घेरा पूर्ववत् चलता रहा। तुकोजी खिन्न होकर 2 जून, 1769 ई. को वहां से पलायन कर गया। महादजी को सफलता मिलनी कठिन थी, क्योंकि राणा की फौज मराठों का डट कर सामना कर रही थी। अन्त में 21 जुलाई, 1769 को महादजी ने अरिसिंह से समझौता कर लिया। इस बार केवल 60 लाख रुपये लेना तय हुआ। इसके अतिरिक्त $3\frac{1}{2}$ लाख रुपये दफ्तर खर्च के देना तय रहा। कुछ धन तो तुरन्त प्राप्त हो गया। बाकी रकम के लिए जावद, जोरण, मोरवण आदि के परगने मराठों को दे दिए गए। समझौते के अनुसार जब इनकी आमदनी से पूरी रकम का भुगतान हो जाय, तब इन परगनों को वापिस राणा को लौटा देने की बात थी। इनके अतिरिक्त सन्धि की निम्नलिखित मुख्य शर्तें तय हुई :—

(1) रत्नसिंह को 60,000 रुपयों की जागीर दी जावे और वह मन्दसौर मे रहे। यदि वह मन्दसौर छोड़ कर अन्यत्र जाता है तो उसकी जागीर जब्त कर ली जायेगी।

(2) मेवाड़ से सिन्धिया के थाने उठा लिए जायेंगे।

(3) मेवाड़ में बावल्य (मराठा सरदार) की सेना नहीं रहेगी।

(4) सिन्धिया को दिए गए परगनो के मेवाड़ी जागीरदारों को तंग नही किया जायेगा।

(5) महाराणा का वकील सिन्धिया के यहां रहेगा।

(6) जो रुपया सिन्धिया को प्राप्त हुआ है, वह सिन्धिया, होल्कर और पंवार मे बांट दिया जायेगा और पेशवा की मुहर के साथ रसीद कर दी जायेगी।

(7) सिंधिया को चाहिए कि वह जोगी आदि जो मेवाड़ में रहकर शान्ति भंग करते हैं, उन्हे बाहर निकाल दे; आदि-आदि।

इस प्रकार सितम्बर 1769 ई. मे सन्धि हो जाने के बाद सिंधिया मेवाड़ छोड़ मालवा की ओर प्रयाण कर गया।[121]

उपर्युक्त सन्धि के वाद महादजी तो लौट गया परन्तु रत्नसिंह मन्दसौर नहीं गया। उसके सहयोगियों ने उसका पक्ष नही छोड़ा। उन्होने दो बार महापुरुषों (नागा साधुओं) की सेनाओं से रत्नसिंह को मेवाड़ की गद्दी दिलाने का असफल प्रयास किया। बार-बार पराजित होने से रत्नसिंह के पक्षवालों की शक्ति पूर्णतया क्षीण हो चुकी थी। गोड़वाड़ का परगना भी उनके हाथ से निकल गया।

महाराणा अरिसिंह ने गोड़वाड़ का परगना रत्नसिंह के हाथ मे पुनः न पड़ने देने तथा उसे कुम्भलगढ़ के किले से बाहर निकालने के उद्देश्य से मारवाड़ के महाराजा विजयसिंह से एक समझौता किया। इस समझौते के अन्तर्गत महाराजा विजयसिंह को 3000 सेना नाथद्वारा मे रखनी थी और यहां से फिर कुम्भलगढ़ पर आक्रमण कर इस किले पर राणा का अधिकार करवाना था। इस सेना को वेतन देने के लिए गोड़वाड़ का परगना अस्थायी रूप से मारवाड़ को दे दिया गया। तय रहा कि जैसे ही यह सेना भग कर दी जायेगी, गोड़वाड़ का परगना पुनः मेवाड को दे दिया जायेगा। इस समझौते के अनुसार गोड़वाड़ पर मारवाड़ का अधिकार हो गया। विजयसिंह ने नाथद्वारा मे समझौते के अनुसार सेना रख रत्नसिंह को कुम्भलगढ़ से बाहर निकालने का प्रयास नहीं किया, परन्तु गोड़वाड़ पर अपना अधिकार कायम रखा। राणा के अनेक प्रयत्न करने पर भी गोड़वाड़ का परगना मेवाड़ को पुनः प्राप्त नहीं हो सका।[122]

रत्नसिंह के विरुद्ध संघर्ष चलता रहा। धीरे-धीरे उसके कई स्थान भींडर, ...रहेड़ा कोदूकोटा, आठण आदि पर महाराणा का अधिकार हो गया। परन्तु

कुम्भलगढ़ अभी भी रत्नसिंह के पास ही रहा। उसके पक्षपाती देवगढ़ के रावत जसवन्तसिंह ने, जो जयपुर मे महाराजा पृथ्वीसिंह की सेवा मे था, एक बार फिर रत्नसिंह को मेवाड़ की गद्दी दिलाने के लिए समरू (एक फ्रांसीसी सेनानायक) को रुपये देकर अपने पुत्र स्वरूपसिंह के साथ अड़सी के विरुद्ध भेजा। उसके पास पांच हजार सेना के साथ तोपखाना भी था। वह अजमेर जिले के देवलिया गांव में पहुंचा। जैसे ही इसकी सूचना महाराणा अरिसिंह को मिली, वह एक सेना के साथ समरू का सामना करने रवाना हुआ। खारी नदी के पास दोनो सेनाओं मे मुठभेड़ हुई। तीन दिनों तक लड़ाई चलती रही। फिर किशनगढ़ के राजा बहादुरसिंह ने, जो महाराणा का श्वसुर और समरू का मित्र था, युद्ध-स्थल पर पहुच कर दोनों पक्षों मे समझौता करवा दिया। इस प्रकार रत्नसिंह के सहयोगियों का यह प्रयत्न भी विफल रहा।[123]

कुछ समय के बाद चित्तौड़ भी रत्नसिंह के अधिकार से निकल गया। महाराणा ने रावत भीमसिंह के नेतृत्व मे एक सेना चित्तौड़ पर आक्रमण करने को भेजी। रत्नसिंह की तरफ से नियुक्त किलेदार सूरतसिंह महता को जब भीमसिंह का ससैन्य वहा आने का समाचार मिला तो वह भयभीत होकर किला खाली कर भाग निकला। चित्तौड के किले पर सहज ही मे 12 नवम्बर, 1771 ई. को भीमसिंह का अधिकार हो गया।[124]

कुम्भलगढ़ का किला अभी भी रत्नसिंह के पास था। यदि महाराणा अरिसिंह की अकस्मात् मृत्यु नहीं होती तो सम्भवत: वह रत्नसिंह को जल्दी ही कुम्भलगढ़ के बाहर निकालने मे सफल हो जाता। सीमा-विवाद के कारण बून्दी के राव अजीतसिंह ने धोखे से 9 मार्च, 1773 ई. को अड़सी की हत्या कर दी। अरिसिंह की मृत्यु से मेवाड़ को बड़ा आघात पहुचा। मेवाड़ की और भी अधिक दुर्दशा हुई।[125]

अरिसिंह की मृत्यु के बाद उसके दो अल्प-वयस्क बालक हमीरसिंह (1773-78) और भीमसिंह (1778-1828) एक के बाद दूसरा राजगद्दी पर आसीन हुए। ऐसे संकटपूर्ण समय मे तो किसी अनुभवी व योग्य प्रशासक की आवश्यकता थी, परन्तु मेवाड़ में दीर्घकाल तक अन्तःपुर से राजमाता द्वारा संचालित शासन रहा जो अत्यधिक घातक प्रमाणित हुआ। प्रधानमन्त्री अमरचन्द बड़वे की मृत्यु के बाद तो स्थिति और भी दयनीय हो गई। यद्यपि रत्नसिंह का प्रमुख पक्षपाती और समर्थक देवगढ़ का रावत राघवदास महाराणा के पक्ष में हो गया था (1782 ई.) और अन्ततोगत्वा 1792 ई. में रत्नसिंह को कुम्भलगढ़ के किले से बाहर निकाल दिये जाने पर दीर्घकालीन गृह-युद्ध की इतिश्री भी हो गई थी, तो भी मेवाड़ की दुर्दशा में किसी प्रकार की कमी नही आई थी। मेवाड़ के आन्तरिक मामलो मे मराठो के हस्तक्षेप का क्रम निरन्तर चल रहा था।[126]

बेंगू का शासक रावत मेघसिंह विद्रोही रत्नसिंह के पक्ष में था। उसने अपनी जागीर के आस-पास के खालसा क्षेत्र पर लूट-खसोट करना आरम्भ किया और एक बहुत बड़े भूखण्ड पर अधिकार कर लिया। राणा के लिए यह एक चुनौती थी। उसके पास इतनी शक्ति नहीं थी कि वह रावत के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करे। उसने बेंगू के रावत को दण्ड देने के लिए मराठों से सहायता प्राप्त करनी चाही। राज्याधिकारियों की प्रार्थना पर महादजी सिंधिया एक बड़ी सेना के साथ महाराणा की सहायता करने मेवाड़ आ पहुंचा। रावत मेघसिंह ने कुछ समय तक तो दृढ़ता के साथ मराठों का सामना किया, परन्तु बाद मे जब उसका विद्रोही लड़का प्रतापसिंह शत्रुओं के पक्ष में चला गया तब उसे मराठों के साथ समझौता करने के लिए बाध्य होना पड़ा। समझौते के अनुसार रावत ने महादजी को 9,63,001 रुपये देने का वादा किया। इस धनराशि में से कुछ रकम का तो नकद भुगतान कर दिया गया और बाकी रकम के लिए सिंगोली तथा आस-पास के परगनों के कई गांव मराठो को सुपुर्द कर दिये गये (1774 ई.)। मेवाड़ की अस्त-व्यस्त और छीना-झपटी की स्थिति का अहिल्याबाई होल्कर ने भी लाभ उठाया। उसने मेवाड़ राज्य पर दबाव डाल कर निम्बाहेड़ा का परगना हस्तगत कर लिया।[127]

चूंडावतो और शक्तावतों का पारस्परिक कलह बहुत पहले से चला आ रहा था। अब महाराणा की दुर्बलता व मेवाड में सर्वत्र व्याप्त अराजकता और अव्यवस्था के परिणामस्वरूप उनके आपसी मतभेद बहुत ही तीव्र हो उठे। दोनों पक्षो के सरदार येन-केन-प्रकारेण अपनी शक्तिवृद्धि करने में जुटे हुए थे और अवसर मिलने पर एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिए वे भरसक प्रयत्नशील रहे। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे मराठों का सहयोग प्राप्त करने के लिए सदैव इच्छुक रहते थे। उक्त सरदारों के झगड़ो के कारण से भी मराठों का मेवाड़ में सरलता से प्रवेश हो सका। इस विषय पर यथास्थान विस्तृत विवरण दिया जायेगा।

अभयसिंह के विरोधी भाई आनन्दसिंह और रायसिंह मराठों को मारवाड़ के जालौर परगने पर चढ़ा लाये थे। मारवाड़ मे मराठों का यह प्रथम प्रवेश था। इसके बाद बून्दी, जयपुर, मारवाड़ किशनगढ़ और मेवाड़ में उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर गृह-युद्ध हुए जिसके फलस्वरूप मराठों का राजस्थान प्रदेश में तीव्र गति से प्रवेश व दखल होने लगा था। वे राजस्थान के राजाओं से धन एकत्र करते रहते थे। वे पहले उनसे इतनी अधिक धनराशि की माग करते थे जिसका भुगतान करना प्रायः उनकी क्षमता के बाहर होता था। इस पर उनसे समझौता कर कुछ रकम तो नकद ले लेते थे और बाकी रकम किश्तो मे चुकाने के लिए दस्तावेज लिखवा लेते थे। जब बकाया रकम का भुगतान शर्त के मुताबिक नहीं होता था तो मराठा ससैन्य वहां उपस्थित हो जाते और प्रदेश मे लूट-खसोट करने लगते। इस पर ये राजा लोग उन्हें शांत करने के लिए फिर धनराशि दिया करते थे। इस तरह का

कुचक्र चलता रहता था। कर्नल टॉड के अनुसार मराठों ने जगतसिंह से अरिसिंह के समय तक 181 लाख रुपये केवल मेवाड़ से वसूल किये थे। इसके अतिरिक्त 19,50,000 रुपयों की वार्षिक आय के परगनों पर भी उन्होंने अपना अधिकार स्थापित कर लिया था।[128] इसी प्रकार की स्थिति लगभग सभी रजवाड़ों की थी। मराठों के निरन्तर उत्पात के कारण राजस्थान के राज्यों की आर्थिक स्थिति डांवाडोल हो चुकी थी। चारों ओर अराजकता और अव्यवस्था का वातावरण व्याप्त था।

मराठों ने राजस्थान में मुगलों का स्थान तो ले लिया था, परन्तु मुगलों की भाँति वे वहां अपनी साम्राज्यिक प्रतिष्ठा स्थापित करने में असफल ही रहे। राजस्थान को अपने साम्राज्य का एक अंग मान कर वहां की व्यवस्था में सुधार करने के लिए मराठों ने कभी प्रयास नहीं किया; और न यहां के शासकों ने मराठों की सार्वभौम सत्ता को स्वीकार कर उन्हें साम्राज्य-विस्तार तथा स्थायित्व के लिए सहयोग ही प्रदान किया। पानीपत के मैदान में अब्दाली के विरुद्ध लड़े गये युद्ध में राजस्थान का एक भी राजा मराठों की सहायता हेतु वहां उपस्थित नहीं हुआ था। मराठों के आतंक से वे इतने कुंठित थे कि जब कभी उन्हें अवसर मिला, वे मराठों के आधिपत्य से अपने को मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील रहे। बाद में उन्होंने सशस्त्र विरोध कर मराठों के प्रभुत्व का अन्त करने का प्रयास भी किया था। इसका उल्लेख अगले अध्याय में किया जायेगा।

संदर्भिका

1. खाफीखां, भाग 2, पृ. 468
2. 1689 ई. में शम्भाजी का पुत्र शाहू अपनी विधवा माता तथा अन्य सम्बन्धियों के साथ कैद कर लिया गया था।
   खाफीखां, भाग 2, पृ. 582, सरदेसाई, भाग 2, पृ. 11
3. सरदेसाई, भाग 2, पृ. 31-43, एम. एल. शर्मा, पेशवाओं का इतिहास, पृ. 18-31
4. किन काइड एण्ड पारसनीस, ए हिस्ट्री ऑफ द मराठा पीपुल, पृ. 224
5. सरदेसाई, भाग 2, पृ. 94-100
6. सरकार भाग 1, पृ. 132, द्रष्टव्यः रघुबीरसिंह, मालवा इन ट्रांजीशन, अध्याय 4
7. सरदेसाई, भाग 2, पृ. 106-07

8. रघुबीरसिंह, पूर्व-आधुनिक राजस्थान, पृ. 162
9. भारतीय विद्या भवन, भाग 8, द मराठा सुप्रिमेसी, पृ. 89-92
10. पेशवा दफ्तर, जिल्द 15, पृ. 86, सरकार, भाग 1, पृ 150
11. सरदेसाई, भाग 2, पृ. 122-127
12. करणीदान, सूरज प्रकाश, भाग 2, पृ. 282 और आगे; व्यास, आर. पी., रोल ऑफ नोबिलिटी, पृ. 12; परिहार, मराठा-मारवाड़ सम्बन्ध, पृ. 29
13. राजवाड़े, भाग 2, पृ. 59, इस समझौते के अनुसार सर बुलन्दखां ने अहमदाबाद की आय का 5 प्रतिशत और गुजरात (सूरत के अतिरिक्त) की सरदेशमुखी देने का वचन दिया था; परिहार, पृ. 29-30
14. परिहार, पृ. 30-32
15. परिहार, पृ. 32-33; सरदेसाई ने पिलाजी की हत्या की तिथि 14 अप्रेल 1732 दी है (पृ. 131)
16. मीरात-ए-अहमदी, भाग 2, पृ. 143-144
17. मारवाड़ री ख्यात, भाग 2, पृ. 141; परिहार, पृ. 33
18. जे. के. ओझा, मेवाड़ का इतिहास, पृ. 7; जे. एन. सरकार ने फाल ऑफ द मुगल एम्पायर, भाग 1, पृ. 134 और 135, बून्दी के मामले मे हस्तक्षेप करने के समय (अप्रेल 1724) मराठों का प्रथम वार प्रवेश माना है। के. एस. गुप्ता और घा. रा. परिहार ने अपने शोध-ग्रन्थों में मराठों का राजस्थान में प्रथम प्रवेश 1724 ई. मे माना है। इस वर्ष मराठों ने मारवाड़ के जालौर क्षेत्र में लूट-खसोट की थी; परन्तु जे के. ओझा ने जयसिंह का महाराणा संग्रामसिंह को दिये गये एक पत्र के आधार पर मराठों का राजस्थान मे प्रथम प्रवेश 1711 ई. स्वीकार किया है।
19. के. एस. गुप्ता, मेवाड़ एण्ड द मराठा रिलेशन्स, पृ. 21
20. वही, पृ. 22-23
21. वही, पृ. 23-24; जे. के. ओझा, पृ. 9
22. वही, पृ. 25
23. गो. ही. ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ 619; भटनागर, सवाई जयसिंह, पृ. 132; दीपसिंह के सम्बन्ध मे विस्तृत विवरण दस्तूर कोमवर, जिल्द 1, पृ. 199 पर दिया है।
24. बेनी गुप्ता, मराठा पेनेट्रेशन इन्टु राजस्थान, पृ. 5-7
25. रघुबीरसिंह, पूर्व आधुनिक राजस्थान, पृ. 162
26. भटनागर, पृ. 142

27. वही, पृ. 143-146
28. वही, पृ. 147–153; द्रष्टव्य जे. के. ओझा, पृ. 33 पाद टिप्पणी 88; टॉड ने (पृ. 337 भाग 1) 1 लाख 60 हजार देना लिखा है। यह समझौता 10 वर्ष के लिए किया गया। इस धनराशि को (होल्कर, सिन्धिया और पंवार के बीच) तीन भागों में विभाजित करने का निर्णय लिया गया था। सूर्यमल मिश्रण ने (वंशभास्कर, भाग 4, पृ. 3237) डेढ़ लाख देना लिखा है। परन्तु ओझाजी ने वीर विनोद भाग 2, पृ. 1228–29 के आधार पर यह निश्चित किया है कि समझौते के अनुसार प्रति वर्ष मराठों को समान धनराशि देने की व्यवस्था नही थी।
29. परिहार, पृ. 36–37
30. सरदेसाई, पृ. 151
31. जे. के. ओझा, पृ. 35
32. एच. सी. टीकीवाल, जयपुर एण्ड द लैटर मुग़ल्स, पृ. 87
33. सिलेक्शन्स ऑफ पेशवा दफ्तर, भाग 15, पृ. 68, भाग 22, पृ. 120;
सरकार, भाग 1, पृ. 147;
लैटर मुग़ल्स भाग 2, पृ. 304;
कोटा राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 374; शर्मा ने महाराव का मांगरोल जाना लिखा है।
33.(अ) एम. एल. शर्मा, वही, पृ. 374.
34. के. एस. गुप्ता, पृ. 50
35. सरकार, भाग 1, पृ. 151
36. गौ. ही. ओझा, पृ. 633
37. परिहार, पृ. 38–39
38. एम. एल. शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 378
39. कोटा राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 381;
जे. के. ओझा, पृ. 40
40. वंशभास्कर, भाग 4, पृ. 3312–13
41. वीर विनोद, भाग 2, पृ. 1225
42. जे. के. ओझा, पृ. 41–45
43. वीर विनोद, भाग 2, पृ. 1229–30
44. जदुनाथ सरकार ने माधोसिंह को महाराणा जगतसिंह द्वितीय का भानजा लिखा है। वेनी गुप्ता, और अन्य लेखकों ने उसी का अनुसरण करते हुए भानजा लिख दिया है। वस्तुतः माधोसिंह जगतसिंह की मुआ का लड़का-भाई था।

45. गौ. ही. ओझा, भाग 2, पृ. 634; एम. एल. शर्मा, भाग 2, पृ. 383–84
46. सरकार भाग 1, पृ. 153;
के. एस. गुप्ता, पृ. 56
47. सरकार, भाग 1, पृ. 154; गौ. ही. ओझा, भाग 2, पृ. 636
48. सरकार, भाग 1, पृ. 154
49. वही, पृ. 155–56; के. एस गुप्ता, पृ. 59–60; वीर विनोद, भाग 2, पृ. 1237 से ज्ञात होता है कि राजमहल के युद्ध के बाद फिर खारी नदी के किनारे लड़ाई हुई जिसके फलस्वरूप उक्त सन्धि हुई। ऐसा ही वर्णन वंशभास्कर पृ. 3468–73 पर मिलता है। जे. के. ओझा अपने शोध-ग्रन्थ मेवाड़ का इतिहास में लिखता है कि खारी नदी के पास लड़ाई नहीं हुई। सन्धि की शर्तों का भी विस्तार के साथ वर्णन किया है। द्रष्टव्यः पृ. 79–83
50. सिलेक्शन्स फ्रॉम पेशवा दफ्तर, जिल्द 2, पृ. 11, जिल्द 27, पृ. 26 और 18–19, जिल्द 21, पृ. 17;
सरकार भाग 1, पृ. 157–58
51. सिलेक्शन्स फ्रॉम द सतारा कागज एण्ड पेशवाज डायरीज, जिल्द 3, पृ. 140–41; सरकार, भाग 1, पृ. 158;
के. एस. गुप्ता, पृ. 61–62; जे. के. ओझा, पृ. 85–86
52. सरकार, भाग 1, पृ. 159;
गौ. ही. ओझा, भाग 2, पृ. 637; के. एस. गुप्ता ने वंशभास्कर और वीर विनोद के आधार पर बगरू के युद्ध की तिथि अगस्त 14, 1748 दी है तथा तीन दिन तक युद्ध होना लिखा है। लेकिन मराठा पत्रों से छः दिनों तक युद्ध चलने का उल्लेख है तथा युद्ध के प्रारम्भ की तिथि 1 अगस्त दी गई है। गौ. ही. ओझा ने भी बगरू–युद्ध का 1 अगस्त से ही होना माना है। रघुबीरसिंह ने अपनी पुस्तक 'पूर्व आधुनिक राजस्थान', पृ. 171 पर सन्धि होने पर ईश्वरीसिंह द्वारा माधोसिंह को पांच परगने दिये जाने का उल्लेख किया है। मराठा स्रोतों में चार परगनों का ही देना लिखा है;
के. एस. गुप्ता, पृ. 63;
जे. के ओझा, पृ. 88–90
53. के. एस. गुप्ता, पृ. 63, जे के. ओझा, पृ. 88; दोनों विद्वानों ने कान्फीडेन्शियल रिकार्ड, उदयपुर वि. सं. 1804 का रोकड़ खर्च भंडार से हुआ; उसकी फर्द (1747–48 ई.) का आधार लिया है परन्तु इनके द्वारा रकम भुगतान करने की तिथि अलग-अलग दी गई है। गुप्ता ने इसकी तिथि 27 अप्रेल, 1749 दी है।

54. वंशभास्कर, भाग 4, पृ. 3324–25
55 कोटा राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 384–85; बेनी गुप्ता, पृ. 32
56. वंशभास्कर, भाग 4, पृ 3371; कोटा राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 386–87
57. बेनी गुप्ता, पृ. 33
58. वंशभास्कर, भाग 4, पृ. 3384–85; कोटा राज्य का इतिहास, पृ. 391–92
59 कोटा राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ 393–94 कोटा के गुलगुले दफ्तर से प्राप्त पत्रों से प्रमाणित है कि मंगवाल का गांव बालाजी को दिया था। उम्मेदसिंह ने मराठा सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से ही यह गांव पेशवा को अर्पित किया था।
60. बेनी गुप्ता, पृ. 40
61. सरकार, भाग 1, पृ. 177
62. वही, पृ 160
63. सिलेक्शन्स फ्रॉम पेशवा दफ्तर, जिल्द 2, पृ. 15 और 1
64. सरकार, भाग 1, पृ. 161
65. गौ. ही. ओझा, भाग 2, पृ. 638; शर्मा हिस्ट्री ऑफ द जयपुर स्टेट, पृ. 170–71; रघुबीरसिंह, पृ. 173
66. सरकार, भाग 1, पृ 163
67 वही, पृ. 163–64, वंशभास्कर में पृ. 3615 पर विवरण है कि कामी नवयुवक खांडेराव होल्कर ने ईश्वरीसिंह की अत्यन्त सुन्दरी रखैलों को अपने अन्तःपुर में ले जाना चाहा।
68. बाबूराम विष्णु के 22 जनवरी, 1751 के पत्र से पता चलता है कि जब मराठा नगर में प्रविष्ट हो गये तो दरवाजे बन्द कर दिये गये और उनकी हत्या कर दी गई। उसने मरने वालों की संख्या 3000 और घायलों की संख्या 1000 मानी है। वंशभास्कर (पृ. 3622) में भी इसकी पुष्टि हुई है। परन्तु एक अन्य मराठा प्रतिनिधि ने जयपुर से 12 फरवरी, 1751 ई. को एक पत्र लिखा था जिसमें मरने वालों की संख्या 1500 बताई है, जो ठीक प्रतीत होती है।
69. सिलेक्शन्स फ्रॉम पेशवा दफ्तर, जिल्द 2, पृ. 64–65
70. जे. के. ओझा, पृ 63–65
71. रघुबीरसिंह, पृ. 174
72. वीर विनोद, पृ. 1245;
के. एस. गुप्ता, पृ. 65–66;

जे. के. ओझा, पृ. 96–97

73. सरकार, भाग 1, पृ. 159;
रेऊ, भाग 1, पृ. 356–57;
परिहार, पृ. 39

74. व्यास, आर. पी., रोल ऑफ नोबिलिटी इन मारवाड़, पृ. 14

75. रेऊ, भाग 1, पृ. 360

76. सहरूल मुताखरीन, भाग 3, पृ. 883-885, रेऊ, भाग 1, पृ. 360–63

77. परिहार, पृ. 52–54 उस समय मारवाड़ के लगभग सभी बड़े-बड़े सामन्त रामसिंह के विरुद्ध हो गये थे। वे बख्तसिंह के प्रति सहानुभूति रखने लगे थे। इस विषय का एक दोहा मारवाड़ में प्रचलित रहा:—

रामैं सूं राजी नही, दीनो उत्तर देश।
जोधाणो भाला करैं, आवघणी बखतेश ।।

78. वही, पृ. 54

79. राठौड़ दानेश्वर वंशावली, पृ. 366 दो. 413

80. मारवाड़ री ख्यात, भाग 2, पृ. 183

81. परिहार, पृ. 55–56

82. मारवाड़ की ख्यात, भाग 2, पृ. 185, राठौड़ दानेश्वर वंशावली, पृ. 372 दोहा 448-456

83. विजय विलास, पृ. 109, दोहा 24
सम्वत् अठारे सौ नवे, सुद पख भादव मास।
तिथि तेरस बखतौनृपत बसियो सुरपुर वास ।।
यदुनाथ सरकार ने (हिन्दी संस्करण पृ. 173) बख्तसिंह की मृत्यु की तिथि 23 सितम्बर मानी है, जो सही नहीं है।

84. मल्हारराव का विजयसिंह को पत्र, आश्विन सुदी 12, वि. सं. 1809;
विजय विलास, पृ. 110 दोहा 1

85. परिहार, पृ. 64, रेऊ, भाग 1, पृ. 372

86. सरकार, भाग 2, पृ. 109, इस युद्ध के सम्बन्ध में मारवाड़ में एक दोहा प्रचलित है.—

याद घणा दिन आवसी, आपावली हेल।
भागा तीनों भूपति, माल, खजाना मेल ।।

87. रेऊ, भाग 1, पृ. 373

88. वही, पृ. 374, पाद टिप्पणी 1
सरकार, भाग 2, पृ. 111;
परिहार, पृ. 66

89 सरकार, भाग 2, पृ. 109–111

90. सरकार भाग 2, पृ. 112; सरकार ने राठौड़ दूत गुसाई, राजसिंह चौहान और नागौर का जनेश्वर का जयप्पा से सन्धि-वार्ता के लिए मराठा शिविर में जाना लिखा है। वहां महाराणा राजसिंह द्वितीय का राजदूत जैतसिंह भी था। वार्तालाप मे गर्मा-गर्मी आ गई। दोनों पक्षों मे क्रोधाग्नि भड़क उठी। जयप्पा ने दम्भ-भरे और अपशब्दो का प्रयोग किया—
"तलवार के बल पर मैं राजपूतो से खंडनी मांगता हू"—मैं अपने जूते की मार से तुमसे खंडनी मांगता हू" आदि आदि।
इस पर राठौड़-प्रतिनिधि ने म्यान से खंजर निकाल कर जयप्पा की हत्या कर दी। लगमग इसी तरह का विवरण हरिचरणदास अपने फारसी ग्रन्थ 'चहर गुलजार' में दिया है-द्रष्टव्य इलियट व डाउसन, भाग 8, पृ. 210; रेऊ ने अपनी पुस्तक मारवाड़ का इतिहास पृ. 374 पर लिखा है कि विजयसिंह ने खोखर केसरखां और एक गहलोत वीर को जयप्पा को मार डालने के लिए नियत किया था। उन्होने युक्ति से जयप्पा की हत्या कर दी। मारवाड़ में इस विषय की एक कहावत प्रसिद्ध है :-
"खोखर बड़ो खुराकी खाय गयो आपा सरीखो डाकी"
टॉड ने भी इस घटना का उल्लेख किया है, द्रष्टव्य: भाग 1, पृ. 594
जयप्पा की यादगार में ताऊसर स्थान पर एक छतरी का निर्माण करवाया गया था जिस पर इस घटना-सम्बन्धी एक लेख भी खुदा हुआ है। यह छतरी आज भी विद्यमान है।

91. सरकार, भाग 2, पृ. 113

92. परिहार, पृ. 67-68

93. वही, पृ. 68-69

94. वही, पृ. 69 ऐतिहासिक पत्र 142;
दयालदास री ख्यात भाग 2, पृ. 82 इसके अनुसार यह समझौता 2 फरवरी 1756 को हुआ था;
सरकार, भाग 2, पृ. 116

95. राठौड़ दानेश्वर वंशावली, पृ. 408, दोहा 665

96. सरकार, भाग 2, पृ. 117

97. रेऊ, भाग 1, पृ. 376

98. परिहार, पृ. 72

99. रघुबीरसिंह, पृ. 185

100. सरकार, भाग 2, पृ. 317;
एम. एल. शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 437;
रघुबीरसिंह, पृ. 185;

परिहार, पृ. 72-73

101. सरकार, भाग 2, पृ. 316-17

102 एम. एल. शर्मा, *कोटा राज्य का इतिहास*, भाग 2, पृ. 438

103. वही, पृ. 439-440

104. वही

105. वही

106. एम. एल. शर्मा, *हिस्ट्री ऑफ द जयपुर स्टेट*, पृ. 180

107. सरकार, भाग 2, पृ. 318; एम. एल. शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 442-45

108. सरकार, भाग 2, पृ. 318; द्रष्टव्य पाद-टिप्पणी 1; डा. रघुबीरसिंह ने भी सरकार के मत को ही स्वीकार किया है, एम. एल. शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 446-47; इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य: के. एस. रजोरा का शोध-निबन्ध, प्रकाशित जर्नल ऑफ द राजस्थान इन्स्टीट्यूट भाग 3, नं. 4, पृ. 44-52; टॉड, भाग 2, पृ. 417; इस सम्बन्ध मे द्रष्टव्य डा. एस. के. भट्ट का शोध-पत्र प्रकाशित *मराठा हिस्ट्री सेमीनार*, पृ. 157-202

109. सरकार, भाग 2, पृ. 319-20

110. गौ. ही. ओझा, भाग 2, पृ. 642-646

111. गौ. ही. ओझा, भाग 2, पृ. 647; द्रष्टव्य: 'भीम विलास' (अप्रकाशित) पृ. 22; "वीर विनोद, भाग 2, 1543; जे. के. ओझा अपने शोध निबन्ध में लिखता है (पृ. 127) कि राजमाता को अरिसिंह का भय नहीं था। उसे तो अगर भय था तो नाथूसिंह से था। इस प्रकार उसने गौ. ही. ओझा से इस विषय पर असहमति प्रकट की है, परन्तु यदि हम राजस्थान के इतिहास का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि ऐसी स्थिति में जो व्यक्ति एक बार गद्दी पर बैठता है, वह प्रयास करता है कि वस्तुतः उत्तराधिकारी पैदा ही नही हो। इसलिए अरिसिंह को जब गद्दी पर बैठाना निश्चित हुआ तो राजमाता का उससे भयभीत होना स्वाभाविक था।

112. मेवाड़ मे इस प्रकार की प्रथा रही कि महाराणा सिंहासनारूढ़ होने के बाद शोक निवृत्ति के लिए नगर के बाहर सब्जी-पूजन करने हेतु जाया करता था। इसे 'हरी की सवारी' कहते थे।

113. वीर विनोद, भाग 2, पृ. 1543-44

114. रघुवीरसिंह, पृ. 187; के. एस. गुप्ता, पृ. 84; जे. के. ओझा, पृ. 135-41 रघुवीरसिंह ने, रत्नसिंह को राणा घोषित करने का वर्ष 1765 ई. लिखा है। उन्होंने इसका कोई आधार नही बताया है।

वीर विनोद, पृ. 1550 पर उल्लिखित है कि कुम्भलगढ़ मे रहते हुए विरोधी महाराणा रत्नसिह की सात वर्ष की उम्र में शीतला से मृत्यु हो गई, परन्तु असन्तुष्ट सामन्तों ने इसे गुप्त रखा। एक अन्य लड़के को रत्नसिह के नाम से प्रसिद्ध कर अरिसिह के प्रति अपने विद्रोह को चालू रखा। मेवाड़ के राजकीय दस्तावेज में रत्नसिह को फितूरी कहा गया है।

115. गौ. ही. ओझा, भाग 2, पृ. 650-651
116. जे. के. ओझा, पृ. 159-60
117. गौ. ही. ओझा, पृ. 651
118. वीर विनोद, पृ. 1533-34;
रघुवीरसिह, पृ 188;
के. एस. गुप्ता, पृ. 90
119. रघुवीरसिह, पृ. 188-89; के. एस. गुप्ता, पृ. 91-92
120. गौ. ही. ओझा, भाग 2, पृ. 652-53;
रघुवीरसिह, पृ, 189
द्रष्टव्य सरकार, भाग 2, पृ. 325; यह इस घटना को प्रमाणिक नहीं मानता। उसका कथन है कि उज्जैन तथा उदयपुर मे इतना अन्तर है कि इस घटना को, जैसा ओझा और टॉड ने उल्लेख किया है, स्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसा सरकार का कथन स्वीकार नही किया जा सकता। सम्भवतः उसने 'वीर विनोद' में दिया हुआ (भाग 2, पृ. 1553-54) अंग्रेजी ताकपीर और राघोराम का लिखा दस्तावेज नहीं देखा था, और न उसे इस युद्ध में मारे जाने वालों की छतरियो के रूप में वहां के स्थानीय भौतिक प्रमाणों का ही पूरा पता था। अतः उसका मत भ्रमपूर्ण ही कहा जायेगा। सभी सामग्री के विश्लेषण के बाद यह निश्चित है कि युद्ध उज्जैन में हुआ था।
के. एस. गुप्ता, पृ. 92-95
121. टॉड लिखता है कि (भाग 1, पृ. 344) मोरवण का परगना होल्कर को दिया था। उसने आगे यह भी लिखा है कि निम्बाहेड़ा का परगना भी होल्कर ने धमकी देकर राणा से प्राप्त कर लिया। यह टॉड का भ्रम है। निम्बाहेड़ा का परगना अरिसिह के काल में नही लिया गया था। यह परगना तो महाराणा हम्मीरसिह के काल मे अहल्याबाई ने प्राप्त किया था।
गौ. ही. ओझा, भाग 2, पृ. 654-657;
रघुवीरसिह, पृ. 190-91;
के. एस. गुप्ता, पृ. 95-101
122 गौ. ही ओझा, भाग 2, पृ. 657-661

123, जे. के. ओझा, पृ. 200-01; समरू का मूल नाम वाल्टर रैनहार्ट था। यह फ्रांसीसी था। सर्वप्रथम यह एक फ्रांसीसी जहाज में खलासी होकर आया था। बाद में पांडिचेरी में सोमर्स नाम से सेना में भर्ती हो गया। भारत में यह समरू नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी और अवध के नवाब सफदरजंग के यहां नौकरी की थी। तत्पश्चात् सिराजुद्दौला और मीर कासिम की सेवा में रहा। उस समय पटना में उसने कई अंग्रेजों को धोखे से मार डाला। अतः वहां से भाग कर वह अवध के नवाब के वजीर के पास चला गया (1763 ई.)। इसके बाद उसने भरतपुर और जयपुर राज्यों में भी सेवाएं अर्पित कीं। उसके बाद बादशाह शाहआलम के वजीर की सेवा में रहा। वहां उसे सरधाना का परगना जागीर में दिया गया। उसने कश्मीर की रहने वाली जार्जियन जेबुन्निसां से विवाह किया जो बेगम समरू के नाम से इतिहास में जानी जाने लगी। द्रष्टव्यः गौ. ही ओझा भाग 2, पृ. 661 पाद-टिप्पणी

124. जे. के. ओझा, पृ. 202

125. गौ. ही. ओझा, भाग 2, पृ. 664

126. रघुबीरसिंह, पृ 195

127. गौ. ही. ओझा, भाग 2, पृ. 668-669

मल्हारराव के जीवन काल में उसका पुत्र खाण्डेराव कुम्हेर के युद्ध मे वीर गति को प्राप्त हो गया था, इसलिए उसका पुत्र मालेराव 1766 ई. में उसका उत्तराधिकारी हुआ। परन्तु एक वर्ष बाद वह भी स्वर्ग सिधार गया जिससे उसकी माता अहल्या बाई ने राज्य-कार्य संभाला। मराठा इतिहास मे उसका बहुत महत्त्व है।

128. टॉड, भाग 1, पृ. 348; गौ. ही. ओझा, पृ. 671

अध्याय 5

राजस्थान में मराठों के प्रति आक्रोश-महादजी सिन्धिया का आधिपत्य

(1761–1794 ई.)

पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि अहमदशाह अब्दाली के विरुद्ध लड़े गये पानीपत के युद्ध से मराठा शक्ति को बड़ा आघात पहुंचा था। राजस्थान पर भी इसका प्रभाव पड़ा। यहां के राजाओं ने मराठों को कर देना बन्द कर दिया[1] तथा उनके आधिपत्य से मुक्त होने के लिए वे गतिशील हो गये। वे स्वच्छन्दता से कार्य करने लगे थे। परन्तु यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रह सकी। मल्हारराव होल्कर ने कोटा नरेश शत्रुसाल की सेना से मिलकर जयपुर के महाराजा माधोसिंह की सेना को मंगरोल के निकट भटवाड़ा के युद्ध में परास्त कर दिया था। इस युद्ध के परिणामस्वरूप राजस्थान में पुनः मराठों का वर्चस्व स्थापित हो गया। जयपुर-दरबार की मराठों को राजस्थान से बाहर निकालने की योजना पूर्ण रूप से असफल हो गई।[2] अब उसने अनुभव किया कि मराठों को शस्त्र-बल से पराजित नहीं किया जा सकता। अतः उसने मराठों की चढ़ी रकम का किश्तों में भुगतान करने तथा भविष्य में कर के रूप में एक निश्चित धनराशि देते रहने का वादा कर स्थायी समझौता कर लिया। इसके अतिरिक्त टोंक और रामपुरा के परगने भी मराठों को प्राप्त हो गये। मल्हारराव के पुत्र मालाराव को एक लाख रुपयों की वार्षिक आय की जागीर भी दी गई।[3] माधोसिंह द्वारा उक्त समझौता करने का एक अन्य कारण भी था। उसके समक्ष एक नया खतरा भरतपुर के जाट राजा जवाहरसिंह के कारण हो गया था। जाटों और मराठों दोनों को एक साथ शत्रु बनाये रखना माधोसिंह के लिए नीति-संगत नहीं था। माधोसिंह का जाटों के साथ सम्बन्धों का विवरण आगे 'भरतपुर में जाटों का अभ्युदय' शीर्षक अध्याय में दिया जायेगा।

उदयपुर में अरिसिंह और रत्नसिंह के बीच उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर जो संघर्ष हुआ, उससे मेवाड़ की बड़ी दुर्दशा हुई और मराठों को मेवाड़ राज्य में

हस्तक्षेप करने का अवसर प्राप्त हुआ तथा मराठों की मेवाड़ मे स्थिति सुदृढ़ हो गई। मेवाड़ राज्य से मराठो को अतुल धनराशि प्राप्त हुई तथा मेवाड के कतिपय परगनों पर भी उनका स्थायी रूप से अधिकार हो गया।[4] इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

आपसी फूट, जातीय वैमनस्य और व्यक्तिगत राग-द्वेष प्रतिस्पर्द्धा के कारण राजस्थान के राजा संगठित होकर मराठो के विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही करने में सदैव असफल ही रहे। पानीपत के युद्ध के बाद जयपुर के महाराजा माधोसिह जब मराठों के विरुद्ध सैनिक अभियान की तैयारी कर रहा था, तब मारवाड़ के शासक विजयसिंह और कोटा के महारावल शत्रुसाल की तरफ से उसे सहयोग नहीं मिला। इसके विपरीत उन्होंने मराठों से मिलकर माधोसिह के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने मे सक्रियता से भाग लिया था। यद्यपि राजपूत राजा मराठो के आतंक व लूट-खसोट से रुष्ट और खिन्न थे, तथापि पारस्परिक झगड़ो को निपटाने और निजी स्वार्थों की पूर्ति हेतु वे स्वयं मराठों को आमन्त्रित करते रहते थे। यहां हम एक राजपूत राजा का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं जिसने अपने स्वजातीय पड़ोसी राजा के विरुद्ध कार्यवाही करने हेतु मराठों को आमन्त्रित किया। कोटा के महारावल शत्रुसाल बून्दी के हाड़ा शासक उम्मेदसिंह से खिन्न था, क्योंकि उसने भटवाड़े के युद्ध में कोटा राज्य की तत्परता से मदद नही की थी। उम्मेदसिंह की इस निष्क्रियता के लिए कोटा का महारावल उसे दण्डित करना चाहता था। उसने अपने वकील अखेराय कायस्थ को मराठा सरदार महादजी सिन्धिया के पास भेजा और उसे बून्दी के विरुद्ध सैनिक अभियान करने के लिए उत्तेजित किया। सैनिक अभियान में कोटा राज्य की तरफ से सहयोग देने का वचन दिया गया। फलतः सिन्धिया तथा शत्रुसाल की सम्मिलित सेना ने बून्दी का घेरा डाला और युद्ध छिड़ गया। बून्दी के राव उम्मेदसिंह को मराठों को एक बड़ी धनराशि हरजाने के रूप में देने के लिए बाध्य होना पड़ा। महादजी सिन्धिया का प्रभुत्व वहा पुनः स्थापित हो गया।[5] इससे कोटा-बून्दी के हाड़ा-घरानों का पारस्परिक विरोध और भी तीव्र हुआ। इस प्रकार पारस्परिक झगड़ों और व्यर्थ के प्रपचों में वे राजपूत राजा अपनी शक्ति का ह्रास करने मे व्यस्त रहे।

पिछले अध्याय मे बताया जा चुका है कि जोधपुर के महाराजा विजयसिंह और मराठो के बीच 15 जनवरी, 1761 ई. को एक समझौता हुआ था जिसके अनुसार महाराजा ने मराठो को अब्दाली के विरुद्ध सहायता देने का वचन दिया था और इसके बदले मे जनकू सिन्धिया ने महाराजा के प्रतिद्वन्दी रामसिंह को भविष्य मे मदद नही करने का निर्णय लिया था। इस समझौते से विजयसिंह की स्थिति सुदृढ हो गई थी। अब्दाली द्वारा किये गये आक्रमण के कारण मराठों का ध्यान [illegible] और पंजाब पर केन्द्रित था। वे एक विकट परिस्थिति में फंसे हुए थे।

मराठों की इस संकटमय स्थिति का महाराजा विजयसिंह ने लाभ उठाया। उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी रामसिंह को मारवाड़ से बाहर खदेड़ दिया और उसके अधीनस्थ क्षेत्रों पर अधिकार करना आरम्भ कर दिया। रामसिंह के सहयोगी सरदार भी जागीरों के प्रलोभन में आकर महाराजा की सेवा में उपस्थित होने लगे थे।[6] जालौर, सोजत, मेड़ता, परबतसर, मारोठ, सांभर आदि सभी क्षेत्रों पर महाराजा का पुनः अधिकार स्थापित हो गया।

रामसिंह मारवाड़ से भागकर जयपुर चला गया। महाराजा माधोसिंह ने रामसिंह की सहायता करने हेतु मई 1761 ई में मारवाड़ के विद्रोही सामन्त चाम्पावत श्यामसिंह को एक सैनिक टुकड़ी देकर सांभर की तरफ भेजा।[7] परन्तु माधोसिंह को इस प्रयास में कोई सफलता नहीं मिली। वस्तुतः इस समय माधोसिंह का ध्यान राजस्थान के दक्षिण पूर्वी सीमा पर स्थित कोटा राज्य की तरफ लगा हुआ था। कोटा राज्य और होल्कर के विरुद्ध युद्ध करने की तैयारी में वह लगा रहा। फलतोगत्वा भटवाड़े के युद्ध में वह परास्त हुआ जिससे उसकी सैनिक शक्ति का ह्रास हुआ और अब वह रामसिंह की सशस्त्र सहायता करने की स्थिति में नहीं रहा। फलतः रामसिंह निःसहाय अवस्था में जयपुर में ही बैठा रहा। माधोसिंह ने उसके निर्वाह के लिए सांभर प्रदेश दे दिया था।[8]

पानीपत के युद्ध के पश्चात् कुछ समय के लिए मराठा शक्ति केवल नाममात्र की रह गई थी। रामसिंह को इस समय मराठों से सहायता मिलना सम्भव नहीं था। भटवाड़ा के युद्ध के पश्चात् मल्हारराव होल्कर कुछ दिनों तक कोटा में निवास कर जयपुर की ओर अग्रसर हुआ। जयपुर से चालीस मील पर स्थित मनोहरपुर के निकट उसने अपना शिविर लगाया और वहां से वह खडनी के लिए तकाजा करने लगा। जयपुर नरेश ने अन्य रजवाड़ों को भी वार्षिक कर देने के लिए कहा। जोधपुर के महाराजा विजयसिंह ने अपना वकील उससे मिलने के लिए भेजा। महाराजा के होल्कर के साथ सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण रहे। होल्कर वहां अधिक समय तक नहीं ठहर सका। उसे आवश्यक कार्यवश तुरन्त बुन्देलखण्ड की तरफ प्रस्थान करना पड़ा था। वहां से वह फिर इन्दौर की ओर पलायन कर गया। इसके बाद होल्कर मृत्युपर्यन्त (26 मई, 1766) राजस्थान में पुनः नहीं आ सका। उसकी वृद्धावस्था और बार-बार स्वास्थ्य की खराबी के कारण राजस्थान में मराठो द्वारा सबल नीति का अनुसरण करना सम्भव नहीं हो सका।[9] इसके अतिरिक्त जनकूजी सिन्धिया की मृत्यु से हुए रिक्त स्थान की पूर्ति में विलम्ब करने तथा सिन्धिया परिवार में दो मुखिया स्वीकार करने और उन्हें पृथक्-पृथक् अधिकार देने से उत्तरी भारत में मराठा-हितों को हानि पहुंच रही थी। पानीपत के युद्ध के बाद दक्षिण में नये पेशवा माधोराव और उसके चाचा रघुनाथराव के बीच संघर्ष चालू हो गया था। इस स्थिति का लाभ उठाकर हैदराबाद के निजाम ने पूना और उसके निकट-

वर्ती मराठा-अधिकृत क्षेत्र में लूटमार आरम्भ कर दी। सन् 1762 और 1763 ई. के पूरे वर्षों में मराठों का ध्यान दक्षिण में अपनी स्थिति को मजबूत बनाने में केन्द्रित रहा। इन परिस्थितियों में मराठों द्वारा राजस्थान में प्रभावी कार्यक्रम सम्पन्न नही किया जा सका। राजपूत राजाओं को भी मराठा आतंक से कुछ समय के लिए राहत मिल सकी।[10]

इन परिस्थितियो में महाराजा विजयसिंह ने जालौर और सांभर पर अधिकार करने के पश्चात् 1762 ई. में अजमेर पर भी अधिकार करने का निश्चय किया। उसने अपने सेनानायक वल्लू जोशी को अजमेर पर आक्रमण करने के आदेश दिये। उसने महाराजा के आदेशानुसार अजमेर पर आक्रमण कर दिया। मराठा सेनानायक ने डटकर मुकाबला किया। कुछ समय के बाद सिन्धिया की एक अतिरिक्त सेना अजमेर की रक्षा-हेतु पहुंच गई। तब राठौड़ी सेना अजमेर पर अधिकार करने के इरादे को छोड मेड़ता लौट गई। महादजी सिन्धिया ने महाराजा विजयसिंह से वार्षिक कर के अलावा 3 लाख रुपये क्षतिपूर्ति के रूप में लेने के लिए दबाव डाला। विजयसिंह ने पहले तो रकम का भुगतान करने के लिए आनाकानी की, परन्तु सैनिक अभियान की धमकी देकर सिन्धिया ने इस धनराशि का भुगतान करवा लिया।[11] इस घटना के बाद महाराजा ने सिन्धिया के साथ शान्ति व सहयोग की नीति का अनुसरण किया। 1764 ई. में जब मराठो ने जयपुर प्रदेश पर आक्रमण किया, तब जयपुर-नरेश माधोसिंह ने विजयसिंह से सहायता मागी थी, परन्तु राठौड़ नरेश ने कच्छावों की मदद नही की। इसके विपरीत, मराठों की सहायतार्थ उसने एक सैनिक टुकड़ी भेजी थी।[12]

महाराजा विजयसिंह द्वारा अपनाई गई सहयोग की नीति के बाद भी महादजी सिन्धिया के रवैये में कोई अन्तर नहीं आया। 1765 ई. में महादजी के दबाव के फलस्वरूप विजयसिंह को उसे तीन लाख रुपये देने के लिए बाध्य होना पड़ा था।[13]

मराठों के निरन्तर सैनिक अभियानों की धमकियां तथा शोषण की नीति से महाराजा विजयसिंह कुंठित व रुष्ट था, परन्तु उसके पास इतनी शक्ति नहीं थी कि वह मराठों का सामना कर सके। उसकी यह स्थिति सन् 1766 ई. मे और भी बिगड़ गई। इस समय महादजी सिंधिया ने अजमेर प्रदेश में व्यवस्था कायम करने के लिए महाराजा विजयसिंह को मारवाड़ राज्य के खर्चे से एक सेना अजमेर भेजने का आदेश दिया। इस आदेश की पूर्ति करने से मारवाड़ की अर्थव्यवस्था पर बुरा असर पड़ा। राजकीय कोष की स्थिति दयनीय थी। महाराजा ने मजबूर होकर मारवाड़ के सामन्तो पर 'रेख बाव' नामक एक अतिरिक्त कर लगाया तथा मारवाड़ के साहूकारों से ऊंची ब्याज की दरों पर कर्ज प्राप्त करने के लिए उसे बाध्य होना पड़ा था।[14]

मराठों के लिए मित्रता और शत्रुता का कोई सिद्धान्त नहीं था। धनराशि की मात्रा के प्रलोभन के आधार पर वे पक्ष या विपक्ष का दृष्टिकोण अपना लेते थे। राजपूत शासक मराठो पर विश्वास नही करते थे। महाराजा विजयसिंह मराठों के आतंक से दुःखी था। वह उनके आधिपत्य से मुक्त होने के लिए छटपटाने लगा था। मराठो से छुटकारा पाने के लिए महाराजा को किसी विश्वसनीय और सबल मित्र की आवश्यकता थी। उस समय भरतपुर का जाट-शासक जवाहरसिंह अपनी सैनिक प्रतिभा के लिए सम्पूर्ण उत्तरी भारत मे प्रसिद्ध था। उसने 1767 ई. के आरम्भ में मराठों को जगह-जगह पर पराजित कर कालपी तक के क्षेत्र पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था।[15] वह अपनी इन विजयों से उत्साहित होकर मराठों को सम्पूर्ण उत्तरी भारत से खदेडने का स्वप्न देखने लगा था। उसने राजस्थान के राजाओं का आह्वान मराठा-विरोधी गुट में सम्मिलित होने के लिए किया। महाराजा विजयसिंह ने जवाहरसिंह के इस प्रयास का स्वागत किया। 6 नवम्बर 1767 ई. को जाट राजा जवाहरसिंह और विजयसिंह पुष्कर मे मिले और दोनों में पगड़ी-बदल भाई के सम्बन्ध स्थापित हुए।[16] इस सम्बन्ध मे हम आगे उपयुक्त स्थान पर विस्तारपूर्वक विवरण देने का प्रयास करेंगे। महाराजा की इन मराठा विरोधी गतिविधियो से नाराज होकर मराठों ने मारवाड़ प्रदेश पर आक्रमण किया और परबतसर के आस-पास के क्षेत्रों में लूट-खसोट की। अन्त में महाराजा के दीवान सूरतराम ने मराठा आक्रमणकारियों को धन देकर मारवाड़ की सीमा से बाहर जाने के लिए राजी कर लिया।[17]

महाराजा विजयसिंह को जाट राजा के साथ मिल कर मराठा विरोधी गुट बनाने मे सफलता नही मिली। इससे उसे बडी निराशा हुई। उसने अब पुनः महादजी सिंधिया से मैत्री कर उसके आदेशानुसार कार्य करने की नीति अपना ली।

सन् 1769 ई. में उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर मेवाड़ मे महाराणा अरिसिंह और उसके भतीजे रत्नसिंह के बीच गृह-युद्ध आरम्भ हो गया था जिसका विवरण पिछले अध्याय मे किया जा चुका है। इस गृह-युद्ध से महाराजा विजयसिंह ने भी लाभ उठाया। पहले उसने महादजी सिंधिया के आदेशानुसार रत्नसिंह का पक्ष लिया, जिसके फलस्वरूप रत्नसिंह के सहयोगी सामन्तो से उसे 15 लाख रुपयों की धनराशि प्राप्त हुई।[18] महादजी सिंधिया भी रत्नसिंह का पक्षपाती बन कर मेवाड़ मे आया था, परन्तु बाद मे महाराणा अरिसिंह से एक बड़ी धनराशि मिल जाने पर उसने रत्नसिंह का पक्ष लेना छोड़ दिया। वह मेवाड़ से प्रस्थान कर गया। मेवाड़ मे अभी भी आन्तरिक कलह चल रहा था। रत्नसिंह के पक्षपाती प्रदेश मे उपद्रव मचा रहे थे। महाराणा इस उपद्रव को शान्त करने की स्थिति मे नहीं था। उसने महाराजा विजयसिंह से मेवाड़ मे शान्ति-व्यवस्था स्थापित करने के लिए सैनिक

सहयोग चाहा। इस सम्बन्ध में महाराणा ने विजयसिंह को लिखा कि मेवाड़ में शान्ति कायम करने के लिए 3000 राठौड़ी सैनिक नाथद्वारा में रखे जायं। उनके खर्चे के लिए गोडवाड का परगना महाराजा को हस्तगत करने की स्वीकृति दे दी। इस समझौते के अनुसार गोड़वाड का परगना मारवाड़ राज्य में मिला लिया गया।[19] महाराजा को मेवाड में शान्ति स्थापित करने में कोई विशेष रुचि नहीं थी, परन्तु गोडवाड़ का परगना सदैव के लिए मारवाड़ राज्य का भाग बन गया। इस परगने के मिलने से महाराजा विजयसिंह को आर्थिक लाभ हुआ। मेवाड़ के मामले मे महाराजा विजयसिंह और महादजी सिंधिया के बीच तालमेल रहा। बाद मे 1771 ई. में जब होल्कर ने मेवाड में हस्तक्षेप किया तो महादजी सिंधिया ने 30 व 31 मई को महाराजा के पास पत्र भेजे जिसमें मेवाड़ में नियुक्त महादजी के प्रतिनिधि गोविन्दराम से मिलकर उसे मेवाड़-गोडवाड़ में सिंधिया-राठौड हितों की रक्षा करने को कहा था।[20] महादजी के आदेशानुसार विजयसिंह मेवाड़ पहुंचा परन्तु इससे उनको कोई विशेष लाभ नही हुआ। वस्तुतः होल्कर और अरिसिंह के मध्य चल रही वार्ता मे वह हस्तक्षेप के पक्ष में नहीं था। जून 1771 ई. में वह वापिस मारवाड़ लौट लाया।

उधर मराठा सरदार महादजी सिंधिया और तुकोजी होल्कर के मध्य मतभेद हो गये जिससे मराठा-क्षेत्र मे कुछ समय के लिए अनिश्चितता का वातावरण बन गया था। महाराजा विजयसिंह ने भी इस स्थिति का लाभ उठाना चाहा। उसने महादजी सिंधिया को दिये जाने वाले वार्षिक कर के भुगतान मे शिथिलता दिखलाई जिससे मराठा-सरदार कुपित हुआ। उसने 23 मार्च, 1772 ई. को एक पत्र द्वारा महाराजा को चेतावनी दी कि यदि जून के महीने तक पूरी रकम का भुगतान नही होता है तो वह मारवाड़-क्षेत्र पर आक्रमण कर देगा।[21] महाराजा ने इस चेतावनी की ओर ध्यान नही दिया।

इसी समय मारवाड़ के पदच्युत राजा रामसिंह की निसन्तान मृत्यु हो जाने के कारण उसके अधीन सांभर प्रदेश का विवाद खड़ा हो गया। महाराजा विजयसिंह ने इस पर अधिकार कर लिया था, परन्तु जयपुर के महाराजा पृथ्वीसिंह (1768-78) ने इस क्षेत्र पर अपने अधिकार का दावा किया। महाराजा ने अपने प्रतिनिधि गुलाबराय आसोपा को महादजी के पास भेजा। उसने सिंधिया को 1769 से 1772ई. तक की चढ़ी धनराशि का भुगतान करने तथा गोड़वाड़ परगने की चौथ देने का वादा किया। इस पर महादजी सिंधिया ने सांभर परगने पर महाराजा विजयसिंह का अधिकार स्वीकार कर लिया।[22] इस समझौते से विजयसिंह का पक्ष प्रबल हो गया। जयपुर का महाराजा सांभर के मामले पर अब ज्यादा विरोध करने की स्थिति मे नहीं रहा।

इस प्रकार महाराजा विजयसिंह मराठों के आक्रमण से बचने के लिए समय-समय पर मराठा-सेनापतियों को धनराशि का भुगतान करता रहता था।

मराठा-सरदारों की मांग का कोई अन्त नहीं था और न उसके द्वारा की जाने वाली सैनिक कार्यवाही का औचित्य ही। महाराजा महादजी सिंधिया से रुष्ट था, उसके प्रति आक्रोश भी था, परन्तु ऊपरी तौर पर उसके साथ मधुर सम्बन्ध बनाये रखने में ही वह अपना हित समझता था। होल्कर से उसके सम्बन्ध अच्छे रहे। महारानी अहिल्याबाई द्वारा बनाये गये मन्दिर के लिए महाराजा ने मकराना से संगमरमर पत्थर भिजवाने का प्रबन्ध किया था।[23]

18 नवम्बर, 1772 ई. को पेशवा माधोराव का निधन हो गया। उसके कोई पुत्र नहीं था, इसलिए उसका अनुज नारायणराव, जिसकी उस समय 16-17 वर्ष की आयु थी, पेशवा के पद पर आरूढ़ हुआ। उसमें पेशवा-पद की गरिमा बनाये रखने की क्षमता नहीं थी। वह चिड़चिड़े स्वभाव का व्यक्ति था। उसने योग्य और अनुभवी पदाधिकारियों की सलाह से कार्य नहीं किया। नारायणराव का चाचा रघुनाथराव पेशवा बनने का आकांक्षी था। पूना-दरबार में दलबन्दी और षड्यन्त्रों का बोलबाला था। षड्यन्त्र के फलस्वरूप पेशवा नारायणराव की 30 अगस्त, 1773ई. को हत्या कर दी गई। पेशवा नारायणराव की हत्या के बाद सब प्रकार से प्रयत्न करने पर भी जब उसका चाचा रघुनाथराव पेशवा-पद प्राप्त करने में असमर्थ रहा तब उसने मराठा राज्य के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया और वह अंग्रेजों के सहयोग से पेशवा बनने का प्रयास करने लगा जिसके फलस्वरूप मराठों व अंग्रेजों के मध्य प्रथम युद्ध आरम्भ हुआ (1776 ई.)। इस विकट संकट-काल में मराठा-राज्य की रक्षार्थ महादजी सिंधिया व अन्य सभी प्रमुख मराठा सरदार जुलाई 1776 ई. से पहले ही दक्षिण की ओर पलायन कर गये थे। आंग्ल-मराठा युद्ध-काल में (1776-1782 ई.) वे अपने राज्य की रक्षार्थ व सुरक्षा हेतु दक्षिण में व्यस्त रहे। उनकी अनुपस्थिति में राजस्थान में मराठों के हिताहित का ध्यान रखने वाला कोई प्रमुख व्यक्ति नहीं रहा। राजपूत राजाओं को इस काल में किसी बड़े मराठा-आक्रमण का सामना नहीं करना पड़ा। मराठों के आतंक से कुछ समय के लिए उन्हें राहत मिली।[24] परन्तु राजपूत राजाओं ने इस समुचित अवसर के मिलने पर भी किसी प्रकार का लाभ नहीं उठाया। उन्होंने अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के प्रयत्न नहीं किये। वे आन्तरिक झगड़ों और पारस्परिक वैमनस्य के चक्कर में अपनी शक्ति का ह्रास करते रहे। इस परिस्थिति से मारवाड़ के शासक विजयसिंह ने अवश्य कुछ लाभ उठाया। उसने अपनी शक्ति को संगठित करने के प्रयास किये।

मेवाड़ से गोड़वाड़ परगना प्राप्त होने से मारवाड़ की माली स्थिति में काफी सुधार हुआ। इसके बाद रामसिंह के स्वर्गवास होने पर (1772 ई.) उसके अधीनस्थ सांभर का क्षेत्र भी विजयसिंह ने अपने अधीन कर लिया था। विजयसिंह ने अपने उपद्रवी सामन्तों को कुचल दिया था।[25] और मारवाड़ में शांति स्थापित कर दी गई थी जिससे व्यापार में वृद्धि हुई और समृद्धि का संचार हुआ।

इस काल में महाराजा विजयसिंह की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि थी उमरकोट (सिन्ध) पर अधिकार करना। 1780 ई. में उमरकोट के टालपुरों ने मारवाड़ की सीमा पर उत्पात मचाना आरम्भ कर दिया था। वे पोकरण आदि परगनों पर अधिकार की योजना बना रहे थे। महाराजा विजयसिंह ने अपने विश्वसनीय प्रतिनिधि मांडणोत हरनाथसिंह, पातावत मोहकमसिंह, बारहठ जोगीदास और सेवग थानू को टालपुरियों से बातचीत करने के लिए भेजा। जब बातचीत के कोई ठोस परिणाम नहीं निकले तो इन राजपूत प्रतिनिधियों ने टालपुरियों के उद्दण्ड सरदार बीजड़ को धोखे से मार दिया। उधर बीजड़ के अनुचरों ने इन राजपूत दूतों को मार अपने स्वामी का बदला लिया। बीजड़ के भाई-बन्धुओं ने पुनः मारवाड़ की सीमा पर लूट-खसोट करना शुरू कर दिया। इनसे निपटने के लिए महाराजा विजयसिंह ने एक विशाल सेना भेजी। राठौड़-वाहिनी ने टालपुरियों को परास्त कर उमरकोट पर अधिकार कर लिया। यह घटना वि. सं. 1839 (1782 ई.) की है। इस अभियान में पोकरण के ठाकुर सवाईसिंह ने अच्छी भूमिका का निर्वाह किया था। इससे प्रसन्न होकर महाराजा ने उसे प्रधान के पद पर नियुक्त किया और वेतनस्वरूप उसे मन्जुल और दुनाड़ा नामक दो गांव अतिरिक्त जागीर (बधारे में) में दिये। टालपुरियों ने उमरकोट को राठौड़ों से मुक्त करवाने के अनेक प्रयास किये, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। ख्यातों तथा जोधपुर राज्य के दफ्तरी रिकार्ड से जानकारी मिलती है कि 1812 ई. तक उमरकोट जोधपुर राज्य का भाग बना रहा।[26] उमरकोट के प्राप्त हो जाने पर महाराजा विजयसिंह को अपनी सेना में उत्तम नस्ल के सिन्धी सैनिको की भर्ती के लिए स्थायी स्रोत उपलब्ध हो गया था। इसके साथ ही महाराजा ने अपनी सेना के गठन और प्रशिक्षण का दायित्व भीमराज सिंघवी को सुपुर्द किया। भीमराज ने अपनी कर्तव्यनिष्ठा का परिचय दिया। धीरे-धीरे मारवाड़ में एक सुशिक्षित और सगठित सेना तैयार हो गई। नागा और दादूपन्थी जमात के सैनिकों को भी राजकीय सेना में स्थान दिया गया।

रामसिंह के मरणोपरान्त विजयसिंह और जयपुर राज्य के राजाओं के पारस्परिक सम्बन्धों में सुधार होने लगा था। धीरे-धीरे मारवाड़ और जयपुर नरेशों के मध्य मित्रता इतनी गहरी हो गई कि उन दोनों ने मिलकर महादजी सिंधिया का सशस्त्र सामना करने की तैयारी कर ली। यहां जयपुर राज्य की स्थिति का विवरण देना समीचीन ही होगा।

6 मार्च, 1768 ई. को जयपुर नरेश माधोसिंह का देहान्त हो गया। उसके दो पुत्र थे-पृथ्वीसिंह और प्रतापसिंह, जिनकी आयु उस समय क्रमशः पांच और तीन वर्ष की थी। राजगद्दी बड़े पुत्र पृथ्वीसिंह को प्राप्त हुई। उसकी माता, जो देवगढ (मेवाड़) ठिकाने के चूंडावत ठाकुर जसवन्तसिंह की पुत्री थी, बालक राजा की संरक्षिका बनी।

माधोसिंह ने अपने शासनकाल में तीन निम्न श्रेणी के व्यक्तियों को राज्य के महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त कर दिया था। खुशालीराम बोहरा ब्राह्मण था और राजा को गंगाजल पिलाया करता था। उसे प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त किया गया। राजसिंह कच्छावा सामान्य सिपाही से सेनापति के पद पर पहुंच गया था। फिरोज को, जो शाही हाथियों की देखभाल किया करता था, हाकिम-माल बनाया गया। राजमाता चूंडावतजी अपने पिता रावत जसवन्तसिंह की, जो अब जयपुर मे ही निवास करने लगा था, मन्त्रणा और उपर्युक्त तीन मन्त्रियों के सहयोग से अपने पुत्र के नाम पर प्रशासन का कार्य चला रही थी।[27]

इस समय जयपुर शासन में कच्छावा सरदारों का कहीं स्थान नहीं था, इसलिए वे रुष्ट और खिन्न थे। उनके लिए देवगढ़ के ठाकुर और निम्न वर्ग के मन्त्रियों का शासन में दखल असहनीय था। कच्छावा सामन्तों के चार प्रमुख दल थे—(i) नाथावत (ii) राजावत (iii) शेखावत और (iv) नरूका। नाथावतों का नेतृत्व चौमू और सामोद के ठिकानेदार कर रहे थे। राजावतों का मुखिया झिलाय का ठाकुर था। राजावतों का राजपरिवार से निकट का सम्बन्ध था और वे गद्दी के उत्तराधिकार में सर्वाधिक समीप माने जाते थे; परन्तु प्रतिस्पर्द्धा के कारण वे एक-दूसरे से झगड़ते रहते थे और देवगढ के रावत का राज्य में हस्तक्षेप का विरोध करने के लिए भी एक नहीं हो सकते थे। तीसरा गुट शेखावतों का था। इनका नेता मनोहरपुर का ठाकुर था। शेखावतों ने राज्य में विद्रोह का मार्ग अपना रखा था। नरूका दल का मुखिया माचेड़ी का जागीरदार प्रतापसिंह था। वह बड़ा महत्त्वाकांक्षी, व्यावहारिक और सूझबूझ वाला व्यक्ति था।[28]

पृथ्वीसिंह के दस वर्ष की अवधि मे (7 मार्च, 1768 से 16 अप्रेल, 1778 तक) न तो मराठों के कोई आक्रमण हुए और न मुगलों की तरफ से किसी प्रकार का हस्तक्षेप। वे दोनों अपने पारिवारिक झगड़ो और अपनी निजी कठिनाइयों में व्यस्त थे। इन दोनों प्रबल शत्रुओं से मुक्त होने पर भी राजमाता के निर्बल शासन के कारण जयपुर राज्य अनेक कठिनाइयों से ग्रस्त था। नाथावतों और राजावतों की पारस्परिक फूट और प्रतिस्पर्द्धा, शेखावतों की विद्रोहमयी प्रवृत्ति और नरूका सरदार प्रतापसिंह की एक पृथक् स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की आकांक्षा के फलस्वरूप जयपुर राज्य की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। कच्छावा सामन्त एक दूसरे मन्त्रियों को लड़ाने, सभी मन्त्रियों को रावत जसवन्तसिंह के विरुद्ध भड़काने तथा राजमाता के प्रशासन के प्रति असतोष फैलाने मे सक्रिय थे। माचेड़ी के जागीरदार प्रतापसिंह नरूका ने इस प्रशासकीय अव्यवस्था से पूरा-पूरा लाभ उठाया। उसने अपनी जागीर से सटे हुए शेखावाटी, मेवात और जाटो के प्रदेशो पर अधिकार कर लिया और वहां दुर्गों का निर्माण करवा लिया। अपनी स्वार्थ-सिद्धि हेतु कभी वह जाट राजा के पक्ष में, और कभी उसके विरोधी नजफखां (शाही फौजों के साथ) के साथ रहता था। उसकी कुशल कूटनीति और सैनिक प्रतिभा के कारण मुगल

बादशाह भी प्रभावित हुआ और उसने उसको रावराजा की उपाधि से विभूषित कर तथा शाही मनसब प्रदान कर औपचारिक तौर पर जयपुर-नरेश से मुक्त एक स्वतन्त्र शासक के रूप में स्वीकार कर लिया था (1774–75)।[29] इस घटना के कुछ समय बाद प्रतापसिंह ने अलवर किले पर आक्रमण कर उस पर अपना अधिकार कर लिया। यहीं से अलवर राज्य का आधुनिक इतिहास आरम्भ होता है।[30]

प्रारम्भ में प्रतापसिंह जयपुर राज्य के जागीरदार के रूप में बना रहा। उसकी योग्यता और प्रभावी गतिविधियों को देखकर जयपुर के लोग यह अनुभव करने लगे थे कि मुगलों की लोलुपता और सामन्तों की अराजकता से राज्य की यदि कोई रक्षा कर सकता है तो वह मात्र प्रतापसिंह है। इस धारणा के फलस्वरूप शासन का सारा नियन्त्रण उसके हाथ में आ गया। प्रतापसिंह ने अपनी शक्ति का उपयोग करके पहले रावत जसवन्तसिंह को कैद कर लिया। सात लाख रुपये हरजाने के वसूल कर उसे मुक्त किया गया। निर्बल व असहाय राजमाता की अनुमति से उसने खुशालीराम बोहरा को भी कारावास में डाल दिया। अन्त में उसके प्रति विरोध बढने लगा और उसको अपनी हत्या का भी खतरा उत्पन्न हो गया। तब वह एक रात्रि को चुपके से जयपुर से निकल भागा (1777 का उत्तरार्द्ध)। इसके कुछ महीनों बाद 16 अप्रेल, 1778 ई. में नवयुवक राजा पृथ्वीसिंह की मृत्यु हो गई और उसका तेरह-वर्षीय भाई सवाई प्रतापसिंह जयपुर का शासक बना।[31]

सन् 1776 से 1782 ई. तक मराठे अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष में व्यस्त रहे। इस काल में उत्तरी भारत में मराठों का प्रभाव नाम मात्र का ही रह गया था। उन परिस्थितियों में मुगल दरबार पुनः सक्रिय होने लगा था। मुगल सम्राट् शाहआलम को प्रमुख सेनापति मिर्जा नजफखां ने अपनी शक्ति को सुदृढ़ कर दिल्ली के आस-पास के क्षेत्र पर मुगल-सत्ता की पुनः स्थापना की। उसने हाल ही में स्वतन्त्र हुए माचेडी (अलवर) के रावराजा प्रतापसिंह नरूका के राज्य पर आक्रमण किया और उसे 'खिराज' देने के लिए बाध्य किया (जुलाई 1778 ई)। दिसम्बर के महीने में एक बार फिर रावराजा प्रतापसिंह के अधीन क्षेत्र में शाही सेना ने लूट-खसोट की। रावराजा को मुगल सेना नायक से सन्धि करने के लिए विवश होना पड़ा। उसने 2 लाख रुपये युद्ध खर्चे के रूप में दिये।

मिर्जा नजफखां के प्रतिस्पर्द्धी अब्दुल अहद की सलाह से मुगल बादशाह शाहआलम ने जयपुर नरेश से उत्तराधिकार का नजराना प्राप्त करने के लिए 10 दिसम्बर, 1778 ई. को दिल्ली से जयपुर की ओर प्रस्थान किया। 17 जनवरी, 1779 ई को जयपुर के निकट अमीनपुर गांव में शाही शिविर लगाया गया। दो दिन बाद 19 जनवरी को जयपुर का दीवान खुशालीराम बोहरा वहां उपस्थित हुआ। 23 जनवरी को सुसज्जित सेना के साथ मिर्जा नजफखां भी वहां आ पहुंचा। बादशाह ने आदेश दिया कि अब्दुल अहद और नजफखां खुशालीराम बोहरा से

मिलकर जयपुर राज्य से ली जाने वाली 'खिराज' की रकम निश्चित करें। 19 फरवरी को बालक राजा सवाई प्रतापसिंह की मुगल बादशाह शाहआलम से भेंट हुई। उसने 2 लाख रुपये सम्राट् को नजर किये और फिर आपसी विचार-विमर्श के बाद 20 लाख रुपये खिराज के रूप में देना तय हुआ। बादशाह ने स्वयं अपने हाथ से सवाई प्रतापसिंह के तिलक किया और खिलअत भेंट आदि प्रदान कर उसे विदा किया। उसका सारा प्रदेश, जिसमें नारनौल शामिल था, उसको वापिस लौटा दिया गया। खिराज की रकम की वसूली के लिए नजफखां ने अपने कर्मचारी हिम्मत बहादुर को जयपुर राज्य में छोड़ दिया और बादशाह दिल्ली रवाना हो गया।[32]

हिम्मत बहादुर एक वर्ष तक जयपुर राज्य में ठहरा रहा परन्तु खिराज की रकम वह नहीं वसूल कर सका। नवयुवा जयपुर नरेश सवाई प्रतापसिंह बुद्धिहीन, अविवेकी, अस्थिर और उद्धत स्वभाव का था। ऐश्वर्य-विलास में लिप्त रहने के कारण प्रशासन का कार्य दौलतराम हलदिया बनिया और रोडाराम दर्जी के हाथों में सौंपा हुआ था। प्रशासन में तीव्र गति से परिवर्तन किये जाते थे जिससे राज्य की आय और व्यवस्था में निरन्तर गिरावट आती जा रही थी। कच्छावा सरदारों का प्रशासन में कोई हाथ नहीं था, इसलिए वे असन्तुष्ट होकर अपने-अपने ठिकानों में जा बैठे थे। वे राज्य के प्रति पूर्णरूपेण उदासीन थे। ऐसी स्थिति में मुगल बादशाह को खिराज की रकम चुकाना सम्भव ही नहीं था।

जब खिराज की रकम की वसूली की कोई आशा नहीं दिखाई दी तब नजफखां ने शक्ति के बल पर रकम की वसूली का निर्णय लिया। उसने जयपुर राज्य पर दो तरफ से आक्रमण करने की योजना बनाई। मूर्तजाखां बारेच को शेखावाटी के मार्ग से उत्तर की ओर से जयपुर पर आक्रमण करने को भेजा। दूसरी तरफ महबूब अलीखां के नेतृत्व में एक सेना आगरा से पश्चिम की ओर हिंडौन और लालसोट के मार्ग से रवाना की। महबूब अली लूट-खसोट करता हुआ भलाय, भांडारेज, बस्सी, टोडा, लालवाड़ी, चाटसू और वाटका पर अधिकार कर 20 अक्टूबर, 1780 ई. को जयपुर नगर के निकट जा पहुंचा। उसी समय दूसरी तरफ मूर्तजाखां शेखावाटी के मार्ग से श्रीमाधोपुर तक आ गया था। वह जयपुर से उत्तर में चालीस मील दूर रह गया था। सवाई प्रतापसिंह निःसहाय स्थिति में था। उसने खुशालीराम को कैद से मुक्त कर मुगल सेनानायक महबूब अली से समझौता करने के लिए अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया। कई दिनों तक महबूब अली और खुशालीराम के बीच बातचीत चलती रही, परन्तु समझौता सम्भव नहीं हो सका। महबूब खिराज की पूरी रकम का तुरन्त भुगतान चाहता था। जयपुर राज्य इस स्थिति में नहीं था कि पूरी रकम का भुगतान एक साथ कर सके। परिणामतः मुगल सेनानायक राज्य में निरन्तर लूट-खसोट कर धन एकत्र करने में लगे रहे। राजा अपने दुर्भेद्य दुर्ग में डटा रहा। मुगल सेना लूट-खसोट पर अधिक दिनों तक निर्वाह नहीं

कर सकती थी। लूट से प्राप्त धन मुगल सेना के सिपाहियों के वेतन का भुगतान करने के लिए पर्याप्त नहीं था। वेतन न मिलने पर मुगल सैनिक सेना छोड़ कर जाने लगे थे। महबूब और मूर्तजाखां को सम्राट् या नजफखां की तरफ से भी कोई आर्थिक सहायता नही मिल रही थी। इस अर्थाभाव की स्थिति में सैनिक आक्रमणों का असफल होना स्वाभाविक ही था। फरवरी 1781 ई. मे निराश होकर महबूब दिल्ली लौट गया और कुछ समय बाद मार्च 1781 ई. मे मूर्तजाखां भी ऋण के बोझ से लदा असफल होकर दिल्ली की ओर प्रस्थान कर गया।[33] यद्यपि वे मुगल सैनिक अभियान विफल हुए तथापि जयपुर राज्य की बड़ी दुर्दशा हुई। उसकी आय के स्रोत नष्ट कर दिये गये। जयपुर राज्य की स्थिति दिनों-दिन अधिकाधिक शोचनीय होती जा रही थी। एक मराठा राजदूत ने यथार्थता का अनुभव कर लिखा था "जयपुर राज्यवंश के पास न रुपया है, न कोई आदमी। वकील-ए-मुतलक एक दर्जी है, और मन्त्री एक ब्राह्मण है जो पहले गंगाजल पिलाया करता था। शेष सब बनिये हैं। इस प्रकार राज्य का सचालन होता है। उसके पास सेना नही है।"[34]

महबूब अली के चले जाने के बाद नजफखां ने जयपुर से खिराज संग्रह करने का काम पुनः हिम्मत बहादुर के सुपुर्द कर दिया। उसने जयपुर-नरेश को समझा-बुझा कर पचहत्तर हजार रुपयो की एक किश्त वसूल की। उसने यह धनराशि अपने स्वामी के पास दिल्ली भेजी। कुछ समय के बाद नजफखां असाध्य रोग से पीड़ित होकर 6 अप्रेल, 1782 ई. को मर गया। इसके पश्चात् दिल्ली में पारस्परिक झगड़े आरम्भ हो गये जिसके फलस्वरूप कुछ वर्षों तक किसी ने जयपुर की तरफ ध्यान ही नहीं दिया। 1782 से 1784 ई. तक तीन वर्षों में कच्छावा-नरेश ने खिराज की कोई रकम शाही खजाने में जमा नही करवाई। 1784 ई. के उत्तरार्द्ध मे (10 नवम्बर, 1784) महादजी सिन्धिया दिल्ली-राज्य का मुख्तियार नियुक्त हुआ।[35] इसके पश्चात् मुग़ल-दरबार की ओर से जयपुर राज्य में पुनः राजनीतिक हलचल आरम्भ हुई जिसका उल्लेख आगे के पृष्ठों पर किया जायेगा।

महादजी सिन्धिया की मध्यस्थता के फलस्वरूप ग्वालियर से 20 मील दक्षिण में स्थित सालबाई के स्थान पर 17 मई, 1782 ई. को मराठों और अंग्रेजों के मध्य सन्धि सम्पन्न हुई जिससे अंग्रेज-मराठा प्रथम युद्ध का अन्त हुआ। वैसे तो पहले भी सुसज्जित विशाल सेना और विस्तृत भू-भाग के स्वामी होने के कारण महादजी सिन्धिया की गणना भारत के अग्रणी शक्तिशाली सेनानायकों में की जाती थी, परन्तु अब इस आंगल-मराठा युद्ध में जो उसकी उपलब्धियां रही, उससे उसका राजनीतिक महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया था। उसकी शक्ति मे आशातीत वृद्धि हुई थी। अंग्रेजो ने भी उसे अर्द्धस्वतन्त्र शासक के रूप में स्वीकार कर उसके दरबार में अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया था। अतएव

मिर्जा नजफखां के मरणोपरान्त मुग़ल-दरबार की विगड़ती हुई स्थिति में सुधार लाने के लिए मुगल-सम्राट् ने महादजी सिन्धिया की सेवाओं को लेना आवश्यक समझा, क्योंकि उस समय राजनीतिक क्षितिज पर वह एक मात्र उदीयमान नक्षत्र था। अतः उसने महादजी सिन्धिया को आग्रहपूर्वक आमन्त्रित कर शासन का सारा कार्य उसे सौंप दिया तथा 4 दिसम्बर, 1784 ई. को महादजी सिन्धिया को मुगल-साम्राज्य का वकील-ए-मुतलक (सर्वोपरी अधिकारी) के पद पर नियुक्त कर दिया गया।[36]

वकील-ए-मुतलक के पद पर नियुक्त होते ही महादजी सिन्धिया ने अनुभव किया कि उसके समक्ष अनेक समस्याएं हैं। सम्राट् के पास खर्च के लिए रुपये नहीं थे। इसकी व्यवस्था महादजी को करनी थी। राजपूत नरेश और स्थानीय जमींदार तथा दुर्ग-रक्षक प्रायः स्वतंत्र हो गये थे। आगरे का दुर्ग शुजाउद्दीन पठान के अधिकार में था। उसने महादजी का सामना किया परन्तु सफल नहीं हुआ। 26 मार्च, 1785 ई. को सिन्धिया का आगरे के दुर्ग पर अधिकार हो गया। महादजी ने वृन्दावन में अपना कार्यालय बनाया और यहां से चारों ओर के क्षेत्रों पर नियंत्रण रखने और कर संग्रह करने का कार्य आरम्भ किया।[37]

सन् 1782 ई. के बाद राजस्थान में मराठों की सत्ता की जो पुनः स्थापना हुई, उसमें पेशवा व पूना में स्थित उसके पदाधिकारियों की भूमिका नहीं रही। महादजी सिन्धिया ने एक अर्द्ध-स्वतन्त्र शासक की भाँति निजी तौर पर राजस्थान के नरेशों को नतमस्तक किया था और उन्हें कर देने के लिए विवश किया था। इस तरह वस्तुतः राजस्थान में अब मराठा सरदारों का वर्चस्व स्थापित हुआ, पेशवा व पूना राज्य का नहीं। अब तक चल रहे राजपूत-मराठा संघर्ष ने अब राजपूत-मराठा सरदार संघर्ष का स्वरूप ले लिया था। महादजी सिन्धिया ने राजस्थान में अपना प्रभुत्व स्थापित करने में मुगल-बादशाह-प्रदत्त वकील-ए-मुतलक के पद का पूरा लाभ उठाया।[38]

अंग्रेजों के भारत में आगमन और उनकी सत्ता-विस्तार के साथ ही भारतीय युद्ध-शैली में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे थे। यूरोपीय शस्त्रों का प्रयोग तथा पाश्चात्य तरीकों से सेना को सुशिक्षित सुसंचालित करने की प्रणाली कतिपय भारतीय सेनानायकों ने भी अपना ली थी। जवाहरसिंह जाट और मिर्जा नजफखां ने यूरोपीय सेनानायकों को नियुक्त कर अपनी सेना को पाश्चात्य ढंग पर प्रशिक्षण देने में पहल की थी। नजफखां ने शाही सेना में कुछ योग्य फ्रांसीसी-काउण्ट द मोडेव, रेन मेडेक जर्मन वाल्टर रेनहार्ट (उपनाम समरू) तथा उसकी बेगम को नियुक्त किया था। महादजी सिंधिया के पास राणाखान, अम्बाजी इंगले, रामजी पटेल आदि अनेक योग्य और विश्वसनीय मराठा सरदार थे। इनके अतिरिक्त महादजी ने 1784 ई. मे फ्रांसीसी सेनानायक द बॉय को अपना सेनापति नियुक्त किया, जिसने

पाश्चात्य ढंग से कवायद तथा यूरोपीय समर-शैली की शिक्षा देकर एक पैदल बन्दूकचियों की पलटन तैयार की थी। इसी पल्टन के बल पर महादजी ने राजस्थान के अतिरिक्त दिल्ली, आगरा, ग्वालियर आदि उत्तरी भारत के प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था।[39]

'महादजी सिन्धिया ने वकील-ए-मुतलक के पद के भारी उत्तरदायित्व को तो स्वीकार कर लिया था परन्तु उसके पास धन का पूर्ण अभाव रहा। वह पहले से ही ऋण के बोझ से दबा हुआ था। 1784 ई. के अन्त तक उस पर 80 लाख का ऋण हो गया था। उसकी सेना का, जिसमे शाही सेना भी सम्मिलित थी, अनुमानतः दस लाख रुपयों का मासिक खर्चा था। जयपुर राज्य से वार्षिक कर की चढ़ी रकम का भुगतान नहीं हो रहा था। वकील-ए-मुतलक नियुक्त होने के पश्चात् महादजी सिन्धिया ने जयपुर राज्य से दुहरी मांग की। मराठों की चौथ के साथ ही मुगल-सम्राट् की चढ़ी खिराज की रकम की वसूली भी जयपुर राज्य से करनी थी। अतः उसने मोहम्मद हमदानी का दमन करके भरतपुर और माचेड़ी के राजाओं से सन्धि की। तत्पश्चात् उसने महुवा-रामगढ़ के निकट जयपुर राज्य की सीमा पर आक्रमण कर दिया। इससे भयभीत होकर जयपुर-नरेश ने अपने प्रतिनिधि खुशालीराम बोहरा को महादजी के पास शान्तिमय समझौता करने के लिए भेजा। बोहरा महादजी से मिला और उसने 21 लाख रुपये देना स्वीकार कर लिया। दो लाख रुपये नकद और दो लाख रुपयो के जवाहरात तुरन्त देना स्वीकार किया। 10 लाख रुपयों के बदले जयपुर राज्य के कुछ इलाके सुपुर्द करने और 7 लाख रुपये जागीरदारों से वसूल करने का निर्णय लिया गया था। इसके बाद बोहरा रुपयों का बन्दोबस्त करने जयपुर चला गया। एक शाही मुसलमान पदाधिकारी भी रकम की वसूली के लिए उसके साथ कर दिया गया। फिर भी समझौते का पूरा पालन नहीं हुआ। 1785 ई. मे जयपुर-नरेश ने मात्र 3 लाख रुपयों का भुगतान किया।[40]

समझौते के अनुसार जयपुर राज्य से महादजी को निश्चित धनराशि प्राप्त नहीं हुई तो वह बहुत क्रुद्ध हुआ। अब उसने बलपूर्वक जयपुर-नरेश से बकाया धनराशि एकत्र करने का निर्णय लिया। 20 नवम्बर, 1785 ई. को अफ्रासियाबखां के अनुचरों से उसने अलीगढ़ का किला छीन लिया। इस प्रकार उनसे निवृत्त होने के पश्चात् 3 जनवरी, 1786 ई. को महादजी ने जयपुर की ओर प्रयाण किया। मुगल-सम्राट् को भी उसने अपने साथ लिया। सर्वप्रथम उसने अपना डेरा डीग के समीप लगाया। वहां वह एक महीने तक पड़ाव डाले रहा। इस बीच माचेड़ी के रावराजा प्रतापसिंह और खुशालीराम बोहरा के माध्यम से जयपुर राज्य से बड़ी धनराशि शांतिपूर्वक प्राप्त करने के लिए प्रयास करता रहा। परन्तु जब इन प्रयासों का कोई परिणाम नहीं निकला, तब वह ससैन्य जयपुर की ओर अग्रसर हुआ। उसने लालसोट के समीप अपना शिविर लगाया (1 मार्च, 1786) और रावराजा

माचेड़ी को जयपुर नरेश के पास वात-चीत करने के लिए भेजा।[41]

माचेड़ी के रावराजा बालाजी महन्त और खुशालीराम बोहरा को साथ ले पुनः महादजी के डेरे पर पहुंचा। 10 मार्च को खिराज सम्बन्धी वार्ता आरम्भ हुई। गत वर्ष 10 लाख रुपये की आय के हिण्डौन आदि परगने मुगलों को दिये गये थे जिन पर सिन्धिया के नाम से माचेड़ी के रावराजा और नजफकुलीखां ने अधिकार कर लिया था। जयपुर के प्रतिनिधियों ने इन परगनों को लौटाने के लिए कहा और इन पर शाही सेना द्वारा किये गये अधिकार के समय फसलों को जो हानि हुई थी, वह खिराज में बाद दी जाने के लिए आग्रह किया। उनकी तरफ से 60 लाख रुपयों तक खिराज के रूप में देने का प्रस्ताव आ गया था। सम्भवतः महादजी भी इसे स्वीकार कर लेता, परन्तु रावराजा नहीं चाहता था कि इस प्रकार का कोई समझौता हो; क्योंकि ऐसा हो जाने पर उसे नारनौल आदि परगने खाली करने पड़ते। उसने महादजी को अधिकाधिक धनराशि प्राप्त करने की सलाह दी। महादजी ने खुशालीराम बोहरा के समक्ष 3 करोड़ 40 लाख रुपयो की मांग प्रस्तुत की। इस पर बोहरा ने कहा कि जयपुर राज्य तो इतने कंकर देने की स्थिति में भी नहीं है। इस पर कुछ समय के लिए वार्ता भंग हो गई।[42]

माचेड़ी के रावराजा ने महादजी सिन्धिया को सुझाव दिया कि यदि जयपुर-नरेश उसकी मांग पूरी करने को तैयार नही है तो उसे राज्यच्युत कर उसके स्थान पर महाराजा पृथ्वीसिंह के मरणोपरान्त उत्पन्न हुए पुत्र मानसिंह[43] (भतीजा) को जयपुर का राजा बना दिया जाय और उसे (रावराजा को) उसका संरक्षक और मुख्तियार नियुक्त कर दिया जाय। ऐसा करने पर रावराजा महादजी को 50 लाख रुपये पेशकश के देगा। पहले तो महादजी इस दिशा मे सोचने लगा था और जयपुर-नरेश को धमकी भी दे दी थी कि यदि वह उसकी मांग पूरी नही करता है तो उसके स्थान पर मानसिंह को जयपुर का राजा बना दिया जायेगा। परन्तु बाद में उसने यह अनुभव कर लिया कि माचेड़ी का रावराजा अविश्वसनीय और धूर्त है। वह दोहरी नीति का अनुसरण कर रहा है। वह उससे जो कुछ कहता है, ठीक उसके विपरीत वह जयपुर नरेश से वार्ता करता है। अतः उसने मानसिंह को जयपुर राजगद्दी देने का विचार त्याग दिया। बातचीत का दौर पुनः चालू हुआ। लम्बे विचार-विमर्श के बाद अन्ततोगत्वा यह तय हुआ कि जयपुर-नरेश 63 लाख रुपये दे (60 लाख पेशकश और 3 लाख दरबार खर्च); और राशि का भुगतान निम्न प्रकार से हो:-

1. 11 लाख रुपयों का भुगतान तुरन्त किया जाये (7 लाख नकद, 3 लाख के जवाहरात और 1 लाख की कीमत के हाथी और घोड़े);
2. 10 लाख रुपयों की एक अन्य किश्त छह महीनों में दे दी जाये;
3. 20 लाख रुपयों की आय के परगने मुगलों को सुपुर्द किये जाय; तथा
4. शेष 22 लाख की धनराशि जागीरदारों से वसूल कर शाही खजाने में जमा करवाई जाय;

यह भी तय हुआ कि मुगलों को दिये गये परगनों पर महादजी और जयपुर राज्य के पदाधिकारी मिलकर प्रशासन का कार्य करेंगे। सम्पूर्ण रकम की वसूली के पश्चात् ये परगने पुनः जयपुर राज्य को हस्तान्तरित कर दिये जायेंगे। हाल ही में महादजी की सेना द्वारा जो धन एकत्र किया गया है, वह राशि अंतिम राशि में से कम कर दी जायेगी।[44]

खुशालीराम ने 3 लाख रुपये तो तुरन्त दे दिये और शेष 8 लाख जयपुर पहुंच कर रोडाराम दर्जी व अन्य सम्पन्न व्यक्तियों से लेकर महादजी के पास भिजवा दिये। 11 लाख की प्रथम किश्त प्राप्त हो जाने पर महादजी ने रायजी पाटिल, नजफकुलीखां और माचेड़ी के रावराजा को मय सेना के साथ जयपुर राज्य में छोड़ दिया ताकि वे बाकी रकम का भुगतान करवा सकें। 4 जून, 1786 ई. को वह डीग के लिए प्रस्थान कर गया। वहां से बादशाह शाह आलम तो दिल्ली चला गया और वह स्वयं मथुरा पहुंचा। अगले पांच मास उसने वृन्दावन में व्यतीत किये।[45]

एक लम्बे कशमकश के बाद जयपुर राज्य और महादजी के बीच खिराज-सम्बन्धी समझौता हो गया था जिससे जयपुर नरेश तत्कालीन संकट से मुक्त हो सका। महादजी सिन्धिया की बढती हुई खिराज की मांगें, उसके उद्दण्ड व कठोर व्यवहार तथा उसके द्वारा मानसिंह को जयपुर के सिंहासन पर आसीन करने की दी गई धमकी से महाराजा प्रतापसिंह का क्रुद्ध होना स्वाभाविक ही था। मराठा व मुगल सेनानायकों द्वारा जयपुर क्षेत्र में की गई लूट-खसोट से महाराजा बडा खिन्न था। उसने तत्कालीन संकट को टालने के लिए उपर्युक्त समझौता कर लिया था, परन्तु उसके मन में इस समझौते का पालन करने की बिल्कुल इच्छा नहीं थी। उसके हृदय में मराठों के प्रति घृणा और आक्रोश था। वह महादजी-विरोधी संघ बनाने के लिए प्रयत्नशील था। उसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी से सहायता प्राप्त करने का प्रयास किया। उसने अपना एक प्रतिनिधि मण्डल लखनऊ स्थित ब्रिटिश पदाधिकारियों के पास भेजा था और उन्हें महादजी की बढ़ती हुई शक्ति के दमन-हेतु सहयोग देने के लिए आमन्त्रित किया था। उस समय कम्पनी का गवर्नर जनरल कार्नवालिस था। वह देशी राज्यों के मामलों में फंसने के पक्ष में नहीं था। अतः जयपुर नरेश को अंग्रेजों की तरफ से मदद नहीं मिल सकी।[46]

प्रतापसिंह ने अपने निजी दूत भेजकर जोधपुर महाराजा विजयसिंह से भी सविनय प्रार्थना की कि वह महादजी-विरोधी सैनिक अभियान में सम्मिलित हो तथा उसके उद्धार के निमित्त वह सशस्त्र सहायता प्रदान करे।[47] महाराजा विजयसिंह ने, स्वयं जिसके मन में महादजी सिन्धिया के प्रति भयंकर नाराजगी व आक्रोश था, जयपुर-नरेश को सशस्त्र सहायता देने के प्रस्ताव का स्वागत किया। विजयसिंह का महादजी से नाराज होने के कारणों पर यहां विवेचन कर लेना उपयुक्त ही होगा।

महाराजा विजयसिंह और महादजी सिन्धिया में पहले भी कभी घनिष्ठता नहीं रही थी। महाराजा परिस्थिति वश ही समय-समय पर धन देकर महादजी को प्रसन्न रखने का प्रयास करता रहा था। 1776 ई. में महादजी सिन्धिया का सेनानायक अम्बाजी इंगले एक बड़ी सेना के साथ मारवाड़ पर आक्रमण करने के उद्देश्य से राजस्थान मे आ धमका। महाराजा विजयसिंह ने महादजी के पास इसकी शिकायत की और उससे निवेदन किया कि वह इंगले को मारवाड़ पर आक्रमण करने से रोके। महादजी सिन्धिया ने विजयसिंह के इस आग्रह पर कोई ध्यान नहीं दिया।[48] नियमानुसार वार्षिक कर दिये जाने पर भी इंगले द्वारा मारवाड़ पर आक्रमण करना औचित्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता। महाराजा ने मराठा सरदार को एक बड़ी धनराशि देकर विदा किया और देश को लूट-खसोट से सुरक्षित रखा। जैसे-तैसे 1780 ई. तक महाराजा और महादजी के सम्बन्ध सामान्यतः मैत्रीपूर्ण बने रहे, परन्तु इसके बाद उनके सम्बन्ध दिनोंदिन बिगड़ते चले गये। इसके निम्नलिखित कारण थे :—

1. महाराजा विजयसिंह के साथ हुई 1756 ई. की सन्धि के अनुसार अजमेर नगर पर सिन्धिया का अधिकार स्वीकार कर लिया गया था, परन्तु इसके आस-पास के क्षेत्रों पर राठौड़ों का आधिपत्य पूर्ववत् बना रहा। जुलाई 1780 ई. में महाराजा विजयसिंह ने जब भिनास के मामले में हस्तक्षेप किया, तब महादजी ने विरोध किया और रुष्ट होकर एक पत्र महाराजा को लिखा जिसमें उसने महाराजा को भिनाय से अपने पदाधिकारियों को तुरन्त हटा लेने के लिए कहा था। महादजी के इस रोषपूर्ण रवयै से महाराजा खिन्न था। उसने महादजी के आदेश का पालन नहीं किया।
2. सन् 1781 ई. में महाराजा विजयसिंह ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ पारस्परिक सहयोग-सम्बन्धी समझौता करने का इच्छुक था। महाराजा ने इस सम्बन्ध में वार्तचीत के लिए अपना एक दूत गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिग्ज के पास भेजा था। नवम्बर 1781 ई. में वारेन हेस्टिंग्ज ने विजयसिंह को सूचित किया था कि उसका व्यक्तिगत दूत एण्डरसन अपने सामान्य शत्रुओ के विरुद्ध पारस्परिक सहयोग-सम्बन्धी समझौता करने के लिए जोधपुर पहुंच रहा है। एण्डरसन को इस सम्बन्ध में आदेश भी दिये गये थे। इस पत्र में गवर्नर जनरल ने आशा प्रकट की थी कि महाराजा अंग्रेजों की सहायता करेगा। इस समय अंग्रेजों का मराठों से युद्ध चल रहा था। महाराजा की अंग्रेजो के साथ इस प्रकार की राजनीतिक हलचलों से महादजी सिन्धिया का महाराजा के विरुद्ध कठोर रुख अपनाना स्वाभाविक था। अंग्रेजों के प्रति महाराजा का झुकाव सिन्धिया के लिए अरुचिकर था।

3. मेवाड़ में महाराणा भीमसिंह की अल्पायु का लाभ उठा कर वहां के महत्त्वाकांक्षी सामन्तो ने 1784 ई. में उपद्रव खड़ा कर दिया था। इस उपद्रव में मेवाड़ के शक्तावत-सरदार महाराणा के पक्ष में थे जबकि चूंडावत-सामन्त उसका विरोध करने मे लगे हुए थे। महादजी सिन्धिया ने चूंडावतों का पक्ष लिया और इस गृह-कलह से लाभ उठाना चाहा। इस समय मारवाड़ का शासक विजयसिंह काफी सबल हो चुका था। उसके पास सेना और धन की कमी नही थी। पड़ोसी राज्य उसकी मध्यस्थता व सहयोग की अपेक्षा रखते थे। मेवाड़ के महाराणा ने भी भीमसिंह की तरफ से शक्तावत-सरदारों से महाराजा विजयसिंह से सहायता मांगी। इस पर महाराजा ने तुरन्त एक राठौड़ी सैनिक टुकड़ी महाराणा की सहायतार्थ भेज दी। चूंडावतों की तरफ से महादजी सिन्धिया और शक्तावतों के पक्ष मे महाराजा विजयसिंह का मेवाड़ के आन्तरिक कलह मे भाग लेने पर तो दीर्घकालीन सिन्धिया-राठौड़ विरोध का अब खुला प्रदर्शन होने लगा था। महादजी ने विजयसिंह को शक्तावतों का साथ छोड़ देने के लिए पत्र भेजा था परन्तु महाराजा ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। अतः महादजी और विजयसिंह के बीच कटुता बढ़ने लगी थी।[49]

जोधपुर-जयपुर राज्यो के बीच कटुता का मूल कारण विजयसिंह का प्रतिद्वन्द्वी रामसिंह था जिसको जयपुर राज्य की तरफ से विजयसिंह के विरुद्ध सहयोग मिल रहा था। 1772 ई. में रामसिंह के निधन के बाद परिस्थितियां बदल चुकी थी। अब शनैः-शनैः दोनों राज्यों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होने लगे थे। 1774 ई. मे माचेड़ी के प्रतापसिंह नरुका ने जयपुर-नरेश-विरोधी कार्यवाही की। उस समय विजयसिंह ने नरूका के विरुद्ध राठौड़-मुगल-कच्छावा संघ के निर्माण के प्रयास किये। उसने मुगल बादशाह को विश्वास दिलाया था कि वे इस गुट की संगठित शक्ति से नरूका व मराठा शक्ति को नियन्त्रित कर सकेंगे। इसका फल यह हुआ कि माचेड़ी के राव की आकांक्षा पूर्ण नहीं हो सकी। महाराजा विजयसिंह की जयपुर-नरेश के साथ मित्रता में दृढता आने लगी।[50]

16 अप्रेल, 1778 ई. को सवाई प्रतापसिंह जयपुर की राजगद्दी पर बैठा। नरूका ने पुनः विद्रोह का झंडा खड़ा किया। 1782 ई. तक उसने जयपुर राज्य के एक बड़े भू-भाग पर अधिकार कर लिया। ऐसी स्थिति मे जब जयपुर नरेश ने मराठों से सहायता प्राप्त करनी चाही, तब विजयसिंह ने उसे ऐसा न करने के लिए सतर्क किया। महाराजा ने सवाई प्रतापसिंह की सहायतार्थ राठौड़ी सेना भेजने का आश्वासन दिया था जिससे उनकी मित्रता और भी गाढ़ी हो गई थी। अगस्त 1785 ई. मे महाराजा विजयसिंह की पौत्री की शादी सवाई प्रतापसिंह के साथ

सम्पन्न हुई जिससे जोधपुर-जयपुर सम्बन्ध और भी घनिष्ठ हो गये और इन दोनों राज्यों के बीच महादजी सिंधिया के विरुद्ध भावी सैनिक गठबन्धन के लिए पृष्ठभूमि तैयार हो गई।[51]

महाराजा विजयसिंह उस समय आर्थिक और सैनिक दोनों दृष्टि से शक्तिशाली था। गोडवाड़ के परगने मिल जाने से मारवाड़ की वित्तीय स्थिति में बहुत सुधार हुआ था। 1781 ई. मे महाराजा विजयसिंह ने बादशाह शाह आलम से मारवाड़ में टकसाल खोलने की अनुमति प्राप्त कर ली थी।[52] विजयशाही सिक्कों के प्रचलन से मारवाड़ में व्यापार को स्थायित्व मिल सका और चोफेर सम्पन्नता दृष्टिगत होने लगी। पहले उल्लेख किया जा चुका है कि भीमसिंह के सेनापतित्व में मारवाड़ राज्य में एक शक्तिशाली सेना का गठन किया जा चुका था। इस सेना में सिन्धी, रुहेला और दादू पन्थी नागा सैनिकों की भर्ती की गई थी। अगस्त 1785 ई. मे नजफकुलीखां और विजयसिंह के बीच पारस्परिक सहयोग का समझौता हो गया था।[53] फरवरी 1786 ई. में महाराजा ने होल्कर से सिंधिया के विरुद्ध सहायता देने का आग्रह किया था।[54] जून 1786 में अंग्रेजों से सहायता प्राप्त करने के लिए भी प्रयास किये गये।[55] 1786 ई. तक महाराजा विजयसिंह राजस्थान में शक्तिशाली शासक के रूप मे ख्याति अर्जित कर चुका था। इसके साथ ही वह महादजी सिंधिया का कट्टर विरोधी भी बन गया था।

महादजी सिंधिया के राजस्थान से चले जाने के बाद (जून 1786) उसके द्वारा नियुक्त रायाजी पटेल, नजफकुलीखां और माचेड़ी के रावराजा जयपुर राज्य से हुए समझौते के अनुसार खिराज की किश्तो का भुगतान करवाने में असफल रहे। वस्तुतः जयपुर नरेश खिराज की रकम कत्तई देने के पक्ष में नहीं था। वह तो महादजी का सशस्त्र सामना करने की तैयारी कर रहा था। मई 1786 ई. में महादजी के विरुद्ध अंग्रेजों से सैनिक सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने भूतपूर्व दीवान दौलतराम हल्दिया को उसने लखनऊ भेजा था। अंग्रेजों से सहायता प्राप्त करने की आशा में वह वहां आठ मास तक ठहरा रहा। यद्यपि गवर्नर जनरल कार्नवालिस ने स्पष्ट शब्दों में देशी राज्यो के मामलों मे हस्तक्षेप करने से इन्कार कर दिया था, फिर भी हल्दिया को वहां के स्थानीय अंग्रेज पदाधिकारियों से सैनिक सहायता मिलने की आशा थी। जनवरी 1787 ई. में वह जयपुर लौटा। जयपुर नरेश ने उसे पुनः प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त किया और मराठों का पक्षपाती खुशालीराम बोहरा को पदच्युत कर दिया। दौलतराम ने यह संकेत दिया था कि अंग्रेज दोआब मे महादजी की पूर्वी सीमा पर सेनाओं का जमाव कर रहे हैं। इस अफवाह ने जयपुर-नरेश के मनोबल को काफी ऊंचा उठा दिया था।[56]

दौलतराम हल्दिया द्वारा मन्त्री-पद सम्भालने पर जयपुर और जोधपुर राज्यों के बीच सैनिक समझौता सम्भव हो सका। जयपुर-नरेश ने जब महाराजा

विजयसिंह के समक्ष महादजी के विरुद्ध सैनिक सहायता देने का प्रस्ताव रखा तो उसने सहर्ष इसका स्वागत किया। महाराजा ने जयपुर-नरेश को सैनिक सहायता देने का आश्वासन दिया परन्तु उसने यह शर्त रखी कि मारवाड़ से भेजी जाने वाली सेना का खर्चा जयपुर राज्य को वहन करना होगा। यदि जयपुर महाराजा इसके व्यय के लिए नकद धनराशि देने में असमर्थ हो तो जयपुर राज्य के कुछ प्रदेश महाराजा के सुपुर्द कर दिये जायें। महाराजा विजयसिंह के इस सशर्त सहायता प्रस्ताव का तत्कालीन जयपुर-दीवान खुशालीराम बोहरा ने विरोध किया था। वह महादजी सिंधिया के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने के पक्ष में था। फलतः जयपुर-नरेश ने राठौड़ राजा के सहायता-सम्बन्धी प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया था। ऐसा परिलक्षित होने लगा था कि राजपूत राजाओं द्वारा मराठा-विरोधी संगठन-निर्माण का प्रयास असफल हो जायेगा, परन्तु जनवरी 1787 ई. में दौलतराम हल्दिया के प्रधानमन्त्री बनने पर जयपुर और जोधपुर राज्यों के बीच सैनिक संगठन सम्बन्धी वार्ता पुनः आरम्भ हुई और थोड़े विचार-विमर्श के बाद फरवरी 1787 ई. में जयपुर-नरेश महाराजा विजयसिंह के प्रस्ताव से सहमत हो गया। फलत: जयपुर-जोधपुर राज्यों के बीच एक दूसरे को सैनिक सहायता देने का समझौता सम्पन्न हुआ। उन्होंने सिंधिया और मुगल सम्राट् की मांगों का सशस्त्र प्रतिरोध करने का निश्चय किया।[67]

राठौड़-कच्छावा सैनिक गठबन्धन से राजपूतों में उत्साह और साहस का संचार हुआ। विजयसिंह के प्रभाव से शेखावतों ने जयपुर-नरेश सवाई प्रतापसिंह के नेतृत्व को स्वीकार कर लिया। राज्य के सभी कच्छावा सरदार अपने आपसी मतभेदों को भुलाकर जयपुर-नरेश के झंडे के नीचे एकत्र होने लगे थे। जयपुर-नरेश के पास लगभग 20 हजार सेना हो गई। राजपूतों ने अवध के नवाब शुजाउद्दौला, पंजाब के सिक्ख सरदार और अफगान-शासक तैमूरशाह को मराठों के विरुद्ध सहायता देने के लिए आमन्त्रित किया। महाराजा विजयसिंह ने मारवाड़ में सैनिक भर्ती करने के आदेश दिये और जोधपुर में रहने वाले मराठा-प्रतिनिधि रामराव सदाशिव और जगन्नाथ कृष्णाजी के स्वतन्त्र विचरण पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इससे स्पष्ट था कि महाराजा विजयसिंह सिंधिया का विरोधी बन गया और वह उसके साथ शक्ति-परीक्षण के लिए तैयार था। जयपुर-नरेश ने भी अपने जागीरदारों को आदेश भेज दिये कि वे महादजी के प्रतिनिधि को खिराज की रकम न दें। उन्हें कहा गया कि वे मराठा सेना का बलपूर्वक सामना करें।[68]

महादजी के सेनानायक रायाजी पटेल व उसके साथियों को आरम्भ में जयपुर राज्य की सीमा पर स्थित कतिपय गांवों पर अधिकार करने में सफलता मिली। इसका जयपुर राज्य में भयंकर प्रतिरोध हुआ। 1786 ई. के दिसम्बर माह के अन्त में जब रायाजी ने एक स्थानीय गढ़ पर आक्रमण किया तो उसे करारी हार

खानी पड़ी। उसके सात सौ सैनिक धराशायी हो गये। रायाजी की स्थिति बड़ी शोचनीय थी। उसने अपने स्वामी महादजी से आग्रह किया कि वह शीघ्र उसकी सहायता का प्रबन्ध करे। 1787 ई. की फरवरी के अन्त में महादजी ने बख्शी जीवादादा के नेतृत्व में रायाजी की सहायतार्थ एक बड़ी सेना भेजी। इससे भी स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। राजपूतों का संगठन काफी सबल था। अतः महादजी स्वयं अपनी विशाल सेना के साथ प्रस्थान कर 24 मार्च, 1787 ई. को जयपुर से 32 मील की दूरी पर स्थित दौसा नगर के पास पहुंचा।[59] यहां पहुंचकर सिंधिया ने सारी स्थिति का गम्भीरता से अध्ययन किया। उसने सोचा कि जयपुर-जोधपुर सैनिक संगठन राजस्थान में मराठा-प्रभुत्व के लिए एक भारी खतरा है; इसलिए उसने इस गठबन्धन को तोड़ने के लिए कूटनीति का सहारा लिया। प्रथम तो उसने जयपुर-नरेश को गुट से पृथक् करने के प्रयास किये। खिराज-सम्बन्धी समझौता करने के लिए वार्ता चालू की। सवाई प्रतापसिंह ने केवल 14 लाख रुपये देना स्वीकार किया और इसके साथ उसने जयपुर के विद्रोही खुशालीराम बोहरा को उसे सुपुर्द करने को कहा। ये दोनों बातें महादजी सिंधिया की प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं थीं। अतः कोई समझौता सम्भव नहीं हो सका। इसके पश्चात् महादजी ने महाराजा विजयसिंह को प्रलोभन देकर उसे जयपुर नरेश से पृथक् करने के प्रयास किये। महाराजा अपने निश्चय पर अडिग रहा और सिंधिया को किसी प्रकार की सफलता नही मिली। ऐसी स्थिति में महादजी सिंधिया और राजपूतों के बीच युद्ध होना अवश्यम्भावी हो गया था।[60]

महादजी सिंधिया के विश्वसनीय सेनानायक रानाखा और रायाजी पटेल जयपुर द्वारा प्रस्तावित धनराशि प्राप्त कर जयपुर राज्य से लौट जाने के पक्ष मे थे। परन्तु खुशालीराम बोहरा और माचेरी के रावराजा ने इसका विरोध किया। इसी बीच जयपुर के प्रतिनिधि महादजी से बिना मिले ही शिविर छोड़ कर चले गये। अब तो सिंधिया के पास युद्ध करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प ही नही था। महादजी सिंधिया अपनी कमजोर स्थिति से अनभिज्ञ नहीं था। उसने अपने सहयोगी खाण्डेराव को बुन्देलखण्ड से और अम्बाजी इगले को पंजाब से अपनी सेनाओं के साथ तुरन्त राजस्थान मे आने के आदेश भेजे। कुछ समय तक वह दौसा मे शान्ति से बैठा रहा। उसकी धारणा थी कि राजपूत राजाओं का सगठन ज्यादा दिनों तक नही रहेगा। वे अपने छोटे-बड़े स्वार्थों के कारण आपस मे लड़ने को तैयार हो जायेंगे। कुछ समय व्यतीत होने पर राजपूत-शिविर मे शिथिलता आने लगेगी। राजपूत-सेना के किसान सैनिक वर्षा-ऋतु आने पर भाग कर अपने खेतों पर काम करने चले जायेंगे। महादजी को आशा थी कि उस समय तक उसके साथी मराठा सेनानायक भी उसकी मदद मे पहुच जायेंगे। ऐसी स्थिति मे संगठित मराठा-शक्ति के सामने विघटित राजपूत-शासक ठहर नही सकेंगे। उन्हें एक-एक

करके, परास्त कर, राजस्थान में पुनः मराठा-प्रभुत्व सहज ही में स्थापित किया जा सकेगा।[61]

जिस समय महादजी सिन्धिया दौसा में ठहरा हुआ था, महाराजा विजयसिंह ने अपने सेनापति भीमराज सिंघवी को राठौड़ी सेना के साथ मेड़ता से सांभर के मार्ग से जयपुर पहुंचने के आदेश दिये। उसके पश्चात् अपने पुत्र जालिमसिंह के नेतृत्व में 15000 राठौड़ घुड़सवारों ने भीमराज की सहायतार्थ जोधपुर से प्रस्थान किया। जोधपुर-नरेश ने सवाई प्रतापसिंह को सन्देश भेजा कि भीमराज के पहुंचने तक वह युद्ध आरम्भ न करे। महाराजा प्रतापसिंह ने अपनी सेना के साथ जयपुर नगर से बाहर निकल सागानेर के निकट अपने डेरे लगा दिये। वह राठौड़ी सेना की प्रतीक्षा में ठहरा रहा।[62]

महादजी सिन्धिया की स्थिति दिन-प्रति-दिन बहुत गम्भीर होती जा रही थी। उसके मुगलिया सवार और हिन्दुस्तानी सिपाही वेतन न मिलने के कारण बहुत असन्तुष्ट थे। इसका राजपूत राजाओं ने लाभ उठाया। उन्होंने इन असन्तुष्ट सैनिकों को प्रलोभन देकर अपने पक्ष में करने का अभियान चलाया। फलतः बहुत से मुगलिया सिपाही अपना पक्ष त्यागने लगे। 6 मई, 1787 ई. को महादजी के दो प्रमुख सेनानायक जुल्फिकार अलीखां और मंसूरअली चुपके से अपने सैनिकों के साथ शत्रुदल में जा मिले। 25 मई को सबसे बड़ा मुगलिया फौजदार मोहम्मद बेग हमदानी अपने तोपखाने सहित राजपूत शिविर में चला गया। राजपूतों ने महादजी से आगरा और जयपुर क्षेत्रों से भूमि छीन कर उसे यह भूमि जागीर के रूप में देने का आश्वासन दिया था। इसके अतिरिक्त फौज खर्च के रूप में प्रति दिन 3000 रुपये उसे देना राजपूत राजाओं ने तय किया था। हमदानी द्वारा पक्ष त्याग किये जाने से महादजी की स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। इसके साथ ही कच्छावा सेनानायक रोड़ाराम खवास और दयाभाई ने रणथम्भौर और कुशलगढ की तरफ से आने वाली मराठा-रसद के मार्ग भी अवरुद्ध कर दिये थे। महादजी सिन्धिया दौसा से पीछे हटा और लालसोट के निकट उसने अपने डेरे लगाये।[63] वहां वह अपने सहयोगी इगले और खाण्डेराव की प्रतीक्षा करने लगा।

हमदानी के राजपूतों के शिविर में आ जाने से उनका मनोबल बहुत ऊंचा हो गया था। अब वे पूरे राजस्थान से मराठों को बाहर निकालने के लिए योजना बनाने लगे थे। उन्होंने उदयपुर के महाराणा भीमसिंह को कहलाया कि वह मेवाड़ के पांच परगने, जिन पर मराठों का आधिपत्य था, पुनः प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करे। उन्होंने राणा को उज्जैन पर आक्रमण करने के लिए भी उकसाया।[64] इसी प्रकार कोटा के राजराणा झाला जालिमसिंह को कोटा-क्षेत्र से मराठों को बाहर निकालने के लिए प्रोत्साहित किया।[65] जयपुर-नरेश ने कर्नल हार्पर से निवेदन किया कि वह गवर्नर जनरल पर प्रभाव डालकर हिम्मत बहादुर को आदेश दिलायें कि वह यमुना की दूसरी ओर से सिन्धिया-शासित क्षेत्रों पर आक्रमण करे।[66]

हमदानी का राजपूतों के साथ गठबन्धन हो जाने के बाद कच्छावा, राठोड़ और हमदानी की संयुक्त सेना की संख्या 50,000 के लगभग पहुंच गई थी। शिवपुर और करौली के राजाओं ने भी कच्छावा-नरेश की मदद में अपनी सैनिक टुकड़ियां भेजी थी। जैसे ही महादजी विषम परिस्थिति के कारण दौसा से पीछे हटा, राजपूत सेना ने भी आगे बढना आरम्भ कर दिया। राजपूतों ने लालसोट से 14 मील उत्तर-पश्चिम में स्थित तुंगा गांव के पास अपना डेरा लगाया। राजपूत सैनिक युद्ध करने के लिए अधीर थे, परन्तु जयपुर-नरेश ने कुछ समय तक युद्ध करना स्थगित रखा क्योंकि वह बीकानेर, बूंदी, खीचीवाड़ा और अन्य राजपूत-केन्द्रों से सहायक सैनिकों के पहुंचने की प्रतीक्षा में था विशेषकर उसे सिन्धी बन्दूकचियों की प्रतीक्षा थी।[67]

जुलाई 1787 ई. में राठौड़, कच्छावा और हमदानी के बीच एक नया समझौता हुआ। इसके अनुसार यह निर्णय लिया गया कि महादजी के विरुद्ध विजयी होने पर जयपुर को वह समस्त क्षेत्र दे दिया जायेगा जो एक समय माधोसिंह के पास था। माचेड़ी के रावराजा के राज्य पर अधिकार कर उसे दो भागो मे विभाजित कर दिया जायेगा। इसका एक भाग राठौड़ो को दे दिया जायेगा। नजफखां के क्षेत्र पर हमदानी का प्रभुत्व स्वीकार किया जायेगा परन्तु उन क्षेत्रों में से जयपुर-परिवार के पुराने भाग सवाई प्रतापसिंह को मिल जायेंगे। उनके अतिरिक्त यदि कोई अन्य क्षेत्र जीता गया तो उसका आधा भाग हमदानी के पास रहेगा और आधे भाग को जयपुर और जोधपुर राज्यों में बांट दिया जायेगा।[68]

राजपूत सेना का तुंगा पर जमाव होने के पश्चात् महादजी की सेना उधर अग्रसर हुई, परन्तु युद्ध नहीं हुआ क्योंकि महादजी इंगले और खाण्डेराव के आने की प्रतीक्षा में था। इधर-उधर छुट-पुट झड़पें होती रहीं परन्तु जम के युद्ध नहीं हुआ। 23 जून, 1787 ई. को खांडेराव हरी तीन हजार दक्षिणी सवार लेकर, द बॉय तेरह सौ सुशिक्षित सिपाहियों सहित और राजधर गूजर (समथर का राजा) दो हजार नागो और तीन सौ पैदल लेकर सिन्धिया के डेरे में आ पहुंचे। इसके पश्चात् जुलाई 16 तक इंगले भी पंजाब से राजस्थान पहुंच महादजी की सेवा मे उपस्थित हो गया। सेना-संचालन व सामरिक दृष्टि से विशेष लाभ प्राप्ति हेतु सेना व तोपों का ठीक जगह पर जमाव करने के पश्चात् महादजी ने 28 जुलाई, 1787 ई. को राजपूतों पर आक्रमण कर दिया। इस प्रकार दीर्घपेक्षित रक्त-पिपासु तुंगा का युद्ध प्रातः 9 बजे आरम्भ हुआ और रात्रि 8 बजे तक अबाध गति से चलता रहा।[69]

राजपूत सेना मे राठोड़ दायीं तरफ और हमदानी के सैनिक बांयी ओर थे। बीच में कच्छावा राजपूत थे जो महादजी की मध्य हिन्दुस्तानी सेना की भांति पीछे की ओर थे। प्रातः 9 बजे से तोपों का युद्ध आरम्भ हुआ। यह दो घंटों तक चलता

रहा। इसमें मराठों को अधिक क्षति उठानी पड़ी, क्योंकि राजपूतों की तोपें बड़ी थीं और उनके गोले सिन्धिया की सेना के बीच जाकर गिर रहे थे। 11 बजे दायीं ओर से राठौड़ी सेना ने भयंकर रूप से मराठों के विरुद्ध युद्ध आरम्भ किया। यद्यपि इस आक्रमण में राठौड़ी सेना के अनेक सैनिक आहत हुए तथापि वे मराठों की बायीं पंक्ति को तोड़ने में सफल हो गए। सैकड़ों की संख्या में अफगान और नागा सैनिक मारे गये। यहां तक कि द बॉय के सैनिक भी हतोत्साहित होकर इधर-उधर भागने लगे थे। राठौड़ों को पीछे से युक्ति-युक्त सहायता नहीं मिली। जो लाभ उन्हें अपने आक्रमण से प्राप्त हुआ था, उसे स्थायित्व प्रदान करने के लिए कच्छावा सेना मध्य भाग से आगे नहीं बढ़ी। इधर मराठों की सुरक्षित सेना के आ जाने से राठौड़ों को पीछे हटना पड़ा। रानाखां का तोपखाना सक्रिय हो गया था। उसकी मार राठौड़ सहन न कर सके। राठौड़ बार-बार आगे बढ़ने की कोशिश करते रहे परन्तु विशेष सफलता नहीं मिली। राजपूतों की सबसे बड़ी क्षति यह हुई कि हमदानी एक गोले का शिकार बन गया जिससे वह तुरन्त मृत्यु का ग्रास बना। हमदानी की मृत्यु से राजपूतों की आक्रमण-शक्ति को बड़ा आघात पहुंचा। शाम को 8 बजे युद्ध समाप्त हो गया और दोनों पक्षों के सैनिक अपने-अपने शिविरों की ओर पलायन कर गये। इस प्रकार तुंगा की लड़ाई, जिसे गलती से लालसोट के युद्ध की संज्ञा दे दी जाती है, निर्णायक नहीं हो सकी, परन्तु इसमें रक्तपात बहुत हुआ।[70]

29 जुलाई को युद्ध नहीं हुआ। प्रातः रानाखां के नेतृत्व में मराठा सैनिक रणभूमि में पहुंचे और वे राजपूतों के शिविर के काफी निकट तक चले गये। परन्तु राजपूत सैनिक अपनी खाइयों से बाहर नहीं आये। वे अपने स्थानों पर आत्मरक्षा के लिए डटे रहे। 30 जुलाई को महादजी के शिविर में मुगलिया सिपाहियों ने वेतन-प्राप्ति के लिए खुला विद्रोह कर दिया। महादजी द्वारा बहुत कुछ आश्वासन देने पर भी वे शान्त नहीं हुए। 31 जुलाई को 7000 मुगलिया सैनिक अपने शस्त्रों, तोपों और गोला-बारूद के साथ सिन्धिया के खेमे से बाहर निकल गये। जयपुर-नरेश ने उन्हें प्रलोभन देकर अपने पक्ष में कर लिया। इतनी बड़ी संख्या में मुगलिया सिपाहियों द्वारा पक्ष त्याग के कारण महादजी की स्थिति बहुत कमजोर हो गई। अन्न और धन दोनों की कमी का वह अनुभव कर रहा था। ऐसी विषम स्थिति में महादजी सिन्धिया ने पहली अगस्त के सूर्योदय से तीन घण्टे पूर्व बड़ी सावधानी और सतर्कता से पीछे हटने की प्रक्रिया आरम्भ कर दी। प्रति दिन लम्बे-लम्बे कूच कर सात दिनों के पश्चात् वह सुरक्षित ढंग से डीग के निकट पहुंच गया। अपने असीम धैर्य, योग्यता और सूझ-बूझ के कारण महादजी ने तुंगा की लड़ाई को पानीपत सिद्ध नहीं होने दिया। इसी से महादजी सिन्धिया की सर्वत्र प्रशंसा की गई है।[71]

यहां तुंगा के युद्ध पर समीक्षात्मक विचार कर लेना समीचीन ही होगा। मारवाड़ की ख्यातों और राजस्थानी साहित्य में सर्वत्र तुंगा के युद्ध में राजपूतों की विजय मानी गई है। परन्तु ख्यातिप्राप्त इतिहासवेत्ता जदुनाथ सरकार ने युद्ध-विधि को ध्यान में रखते हुए इस युद्ध में राजपूतों का विजयी होना स्वीकार नहीं किया है। उसका कथन है कि 'राजपूतों ने रणभूमि में निरन्तर हमले किये लेकिन वे मराठा सेना को विचलित नहीं कर सके। युद्ध के दूसरे दिन मराठा फौज पुनः रण-भूमि में पहुंची थी परन्तु राजपूत उससे लड़ने अपने शिविर से बाहर नहीं निकले। तुंगा की लड़ाई राजपूतों के शौर्य की कहानी हो सकती है, उनके विजय की द्योतक नहीं। इस युद्ध में राजपूतों को अधिक क्षति उठानी पड़ी थी। लौटती हुई मराठा सेना के मार्ग को अवरुद्ध करने का भी राजपूत सैनिकों ने प्रयास नहीं किया। इसे राजपूतों की विजय की संज्ञा कैसे दी जा सकती है' ?

मराठा पत्र-प्रेषकों और महादजी स्वयं ने तुंगा के युद्ध में मराठों का विजयी होना माना है। सरकार महोदय मराठों के इस दावे को भी स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि मराठे राजपूतों के शिविर पर आक्रमण कर उन्हें पीछे नहीं खदेड़ सके, और न वे अपने शत्रुओं की किसी वस्तु पर अधिकार करने में सक्षम रहे। तीन दिनों के बाद महादजी अपनी सेना के साथ पीछे हटने लगा था। ऐसी स्थिति में मराठों का युद्ध में विजयी होना कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? सरकार के मतानुसार इस युद्ध में किसी भी पक्ष की विजय नहीं हुई। यह युद्ध निर्णात्मक नहीं कहा जा सकता।[72]

रघुवीरसिंह ने भी अपनी पुस्तक 'पूर्व-आधुनिक राजस्थान' में सरकार द्वारा दिये गये तर्कों को आधार बनाते हुए इस युद्ध में किसी भी पक्ष का विजयी होना स्वीकार नहीं किया है।[73]

मराठा-इतिहासकार सरदेसाई ने महादजी द्वारा नाना फड़नवीस को भेजे गये एक पत्र का हवाला देते हुए इस युद्ध को अनिर्णायक प्रमाणित किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'मराठों का नवीन इतिहास' तृतीय खंड में उल्लेख किया है कि हमदानी की आकस्मिक मृत्यु पर राजपूत निश्चेष्ट हो गये थे। जब महादजी वापिस लौट गया तो उन्होंने इतनी सरलता से अपना पिंड महादजी से छूट जाने के लिए ईश्वर को धन्यवाद दिया था। परोक्ष रूप से राजपूतों की असहाय और दयनीय स्थिति की ओर इंगित करते हुए सरदेसाई ने तुंगा के रणक्षेत्र में मराठों का सफल सिद्ध होना स्वीकार किया है।[74]

तुंगा के मैदान में लड़े गये युद्ध में कौन पक्ष विजयी रहा तथा किस पक्ष की पराजय हुई, इसका निर्णय लेने के पूर्व दोनों पक्षों के उद्देश्यों तथा युद्ध के परिणामों पर दृष्टिपात करना आवश्यक होगा। उद्देश्यों की पूर्ति को आधार मानकर ही हम किसी पक्ष का विजयी होने का निर्णय लेने में सक्षम हो सकेंगे। यह तो सभी इतिहासकार स्वीकार करते है कि महादजी सिन्धिया अपनी विशाल

वाहिनी के साथ राजस्थान में जयपुर राज्य से खिराज की चढ़ी रकम वसूल करने तथा जयपुर-नरेश को दंड देने के उद्देश्य से उपस्थित हुआ था और उसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसे तुंगा के मैदान में युद्ध करने के लिए उद्यत होना पड़ा था। राजपूत राजा महादजी को खिराज की बढ़ी-चढ़ी रकम का, जिसका कोई औचित्य नहीं था, भुगतान करने के पक्ष में नहीं थे। राजपूतों का मूल उद्देश्य यह था कि मराठा सरदार राजस्थान की भूमि पर अधिकार करने की चेष्टा न करे और राजपूत राजाओं के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखे। ऐसी स्थिति में वे मराठों को उचित धनराशि वार्षिक कर के रूप में देने के लिए भी तैयार थे। इस आशय का एक पत्र महाराजा विजयसिंह ने तुकोजी होल्कर को लिखा था जिसमें स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया गया था कि राजस्थान की भूमि राजस्थानियों के उपभोग के लिए है। उनके साथ मित्रता में ही मराठों का भला है। महादजी ने आक्रामक के रूप में शाही शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए राजस्थान में प्रवेश किया था। वह बड़े उल्लास, उत्साह और आत्मविश्वास के साथ राजस्थान में आया था, परन्तु उसे निराशा, भय और आत्मग्लानि की स्थिति में राजस्थान से लौटने के लिए बाध्य होना पड़ा था। उसे जयपुर नरेश से फूटी कौड़ी भी खिराज के रूप में नहीं मिल पाई। खाली हाथ अपनी जान बचाकर जैसे-तैसे शीघ्रातिशीघ्र वह अपनी बची-खुची सेना को सुरक्षित स्थान पर ले जाने में सफल रहा। जाने की जल्दी में उसने अपना बहुत-सा सामान पीछे छोड़ा या उसे नष्ट करने के आदेश दिये ताकि वह सामान शत्रुओं के हाथ न पड़ सके।[75] सरदेसाई का कथन कि 'हमदानी की मृत्यु ने राजपूतों को निश्चेष्ट बना दिया' सही नहीं है। हमदानी के मरणोपरान्त महादजी सिन्धिया के असन्तुष्ट मुगलिया सैनिकों को अपने पक्ष में करने के लिए राजपूत सक्रिय और उत्साहित थे। 7000 मुगलिया सैनिकों को प्रलोभन देकर अपने पक्ष में करने में वे सफल रहे।[76] महादजी के राजस्थान से पलायन करने के बाद भी उसके विरोधी हलचलों में वे सचेष्ट रहे। राजपूत सेना ने कुछ समय तक महादजी की सेना का पीछा भी किया था परन्तु बाद में जब मराठा सेना जयपुर राज्य की सीमा से बाहर चली गई तो उसे सन्तोष हुआ और उसने अब खुशालगढ़, हिण्डौन, गंगापुर आदि क्षेत्रों से मराठा-प्रशासकों को भगा कर, वहाँ पुनः जयपुर राज्य का प्रभुत्व स्थापित करने का उल्लेखनीय कार्य किया। जयपुर-नरेश अपनी सेना के साथ मानपुर और रामगढ़ पहुंचा और वहां से एक-एक लाख रुपये दंड के रूप में एकत्र किये। इसके पश्चात् वह माचेड़ी के राव को दंड देने के अभिप्राय से उसके राज्य में प्रविष्ट हुआ और उसके कुछ किलों पर उसने अधिकार कर लिया। रावराजा के मुख्य नगर अलवर का भी घेरा डाला गया, परन्तु बाद में महाराजा विजयसिंह के कहने से जयपुर-नरेश ने अलवर का घेरा उठा लिया। राजस्थान में सर्वत्र यह मान्यता रही कि मराठा-विरोधी अभियान में राजपूत विरोधी रहे हैं; इसलिए शाहपुरा, करौली, बीकानेर,

उदयपुर आदि अन्य रजवाड़ों के राजाओं ने इस विजय के उपलक्ष में सवाई प्रतापसिंह को बधाई के पत्र भेजे थे।[77] सरदेसाई का यह कथन कि राजपूतों की दयनीय स्थिति थी और उन्होने महादजी से पिंड छूट जाने पर ईश्वर से प्रार्थना की, ठीक नहीं प्रतीत होता। तुंगा के युद्ध के समय राजपूत पूर्ण रूप से संगठित थे। उन्होने बड़े जोश और साहस के साथ युद्ध में भाग लिया था। उनमें प्रबल आत्मविश्वास का प्रादुर्भाव हुआ था और वे शत्रुओं को पराजित करने को तत्पर थे। यह सही है कि राजपूत सैनिक 29 जुलाई को युद्ध करने अपने शिविर से बाहर नहीं आये और केवल आत्मरक्षा के लिए खड़े रहे, परन्तु रात्रि को जयपुर-नरेश की तरफ से एक पत्र सिन्धिया के नाम आया जिसमें हमदानी और अन्य योद्धाओं की अन्त्येष्टि के लिए दो दिनों का अवकाश मांगा गया था। उसमें स्पष्टतया उल्लेख किया गया था कि 31 जुलाई को राजपूत युद्ध करने को तैयार रहेंगे।[78] महादजी की फौजें युद्ध करने रणक्षेत्र में नहीं पहुंचीं। उन्होने तुरन्त पीछे हटने का कार्यक्रम आरम्भ किया। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर तुंगा का युद्ध राजपूतों के लिए विजय का सूचक कहा जा सकता है क्योंकि महादजी अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में पूर्ण रूप से असफल रहा था। राजपूतो की इसी मे विजय थी कि वे इस समय मुग़ल-मराठा शक्ति के सामने नतमस्तक नहीं हुए और अन्त तक महादजी को युद्ध के लिए ललकारते रहे।

तुंगा की पराजय से महादजी की शक्ति को बहुत बड़ा आघात पहुंचा था। उसकी शक्ति कुछ समय के लिए इतनी क्षीण हो गई कि राजपूत ही नहीं, अपितु रुहेले, नवाब वजीर तथा अंग्रेज सभी मराठा शक्ति को चुनौती देने लगे थे। इस समय उत्तरी भारत मे सारा वातावरण मराठों के विरुद्ध हो गया था। लगभग पानीपत की स्थिति की पुनरावृत्ति हो रही थी। राजस्थान में राजपूतो का मनोबल शिखर पर था। राठौड़-नरेश विजयसिंह ने अपने सेनानायक धनराज सिंघवी को अजमेर हस्तगत करने के आदेश दिये। सिंघवी ने 27 अगस्त, 1787 ई. को अजमेर नगर पर अधिकार कर लिया और गढ़ बीटली (तारागढ़) का घेरा डाल दिया। मराठा-किलेदार शेरखां जमादार ने साहसपूर्वक राठौड़ी सेना का सामना किया परन्तु जयपुर से रोडोजी खवास के नेतृत्व में राठौडों की सहायता में एक फौज के आ जाने पर और महादजी की तरफ से किसी भी प्रकार की सहायता न मिलने पर वह अधिक दिनों तक किले की रक्षा करने में असमर्थ था। ऐसी स्थिति में उसने अपने को शत्रुओं के हाथ पड़ने से रोकने के लिए जहर खाकर आत्महत्या कर ली। किले पर राठौड़ों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। महाराजा विजयसिंह ने अजमेर का प्रबन्ध धनराज सिंघवी को सुपुर्द कर दिया। अब सिंधिया का कुछ समय के लिए सम्पूर्ण राजस्थान से प्रभुत्व समाप्त हो गया।[79]

महादजी सिंधिया की कमजोर स्थिति का सभी मराठा-विरोधी राजपूत राज्यों ने लाभ उठाया। दक्षिण राजस्थान में सर्वत्र मराठा-विरोधी घटनाएं हुई।

मेवाड़ के प्रधानमन्त्री सोमचन्द ने किसी प्रकार चूंडावतों और शक्तावतों के बीच चल रहे दीर्घकालीन संघर्ष का अन्त कर उनमें मेल करवा दिया। फिर इन दोनों गुटो की सम्मिलित मेवाड़ी सेना ने सिंगोली, निम्बाहेड़ा, जीरण, जावद आदि मराठा-अधिकृत मेवाड़ी परगनों से मराठों को मार भगाया (सितम्बर-नवम्बर 1787 ई.)। जावद में नाना सदाशिवराव ने कुछ समय तक मेवाड़ी सेना का सामना किया, परन्तु बाद में वह कुछ शर्तों पर नगर खाली कर प्रस्थान कर गया। रामपुर पर चूंड़ावतों ने अधिकार कर लिया। तुंगा के युद्ध में सिंधिया की पराजय का ही यह परिणाम था। मेवाड के सभी परगने कुछ समय के लिए मराठों के आधिपत्य से मुक्त करवा लिये गये थे, पर मेवाड़ में यह स्थिति अधिक दिनों तक नही रह सकी। जैसे ही उक्त घटनाओं की सूचना राजमाता अहिल्याबाई को मिली, उसने तुरन्त तुलाजी सिंधिया और श्रीभाई के नेतृत्व में 5000 सवार जावद की ओर रवाना किये। मार्ग में सदाशिवराव के सैनिक भी उनसे आ मिले। 26 जनवरी, 1788 ई. को नीमच से साठ मील दक्षिण-पूर्व में स्थित हडकियाखाल के स्थान पर मेवाड़ी सेना से मुठभेड़ हुई जिसमे मराठे विजयी रहे। शनैः-शनैः मराठों ने सभी खोये हुए परगनों पर पुनः अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। चूंड़ावतों और शक्तावतों की अल्पकालीन मैत्री भी समाप्त हो गई। अवसर पाकर चूंडावतो ने शक्तावतों के पक्षपाती तथा महाराणा भीमसिंह के विश्वसनीय प्रधानमंत्री सोमचन्द की हत्या कर दी (24 अक्टूबर, 1789)। इस घटना के साथ ही चूंडावतों और शक्तावतों के बीच संघर्ष पुनः आरम्भ हो गया जो मेवाड़ की दुर्दशा का मूल कारण बना।[80]

कोटा के राजराणा झाला जालिमसिंह ने इस अवसर पर दोहरी नीति का अनुसरण किया था। एक तरफ कोटा राज्य की सेना मराठों पर आक्रमण करने में मेवाड़ी सेना का पूर्ण साथ दे रही थी तो दूसरी ओर जालिमसिंह स्वयं महादजी सिंधिया व उसके अधिकारियों के साथ मेल-जोल बनाये हुए था।[81]

राजस्थान से महादजी सिंधिया के चले जाने पर करौली और नरवर जैसे छोटे राज्य भी मराठा आधिपत्य से अपने को मुक्त करने के लिए अधीर होने लगे थे। उन्होंने अपनी सम्मिलित शक्ति से मराठा-विरोधी सैनिक अभियान भी चलाया था।[82]

तुंगा के युद्ध-क्षेत्र से लौट जाने के बाद लगभग तीन वर्ष तक राजपूत राजाओं को दंडित करने की तीव्र आकांक्षा रखते हुए भी महादजी राजस्थान की तरफ नही आ सका था। कुछ समय तक वह अपनी खोई शक्ति को पुनः जुटाने में व्यस्त रहा। फिर जून 1788 ई. के बाद दिल्ली राज्य मे अपने प्रतिद्वन्द्वियों व शत्रुओं का सफाया करने मे लगा रहा। अतः उसको राजस्थान के राजाओं की तरफ ध्यान देने का अवसर ही नही मिला। जयपुर-नरेश प्रतापसिंह और मारवाड़-शासक

विजयसिंह इस बात से अनभिज्ञ नहीं थे कि सिंधिया अपनी अनुकूल परिस्थिति मे तुंगा की पराजय का प्रतिशोध लेने शीघ्रातिशीघ्र राजस्थान में आयेगा। यह सभी को विदित था कि तुंगा से पीछे हटते समय महादजी ने शपथ ली थी कि 'यदि मैं जीवित रहा तो जयपुर और जोधपुर को खाक में मिला दूंगा।'[83] इसलिए ये दोनों राजा महादजी सिंधिया के भावी आक्रमण को रोकने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहे। इन दोनों राजाओं ने पेशवा के नाम पूना पत्र भेजकर महादजी के विरुद्ध शिकायत की थी और उससे आग्रह किया था कि वह महादजी को उत्तरी भारत मे अपना प्रतिनिधि नही नियुक्त करे तथा उसे भविष्य मे राजस्थान पर आक्रमण नही करने का आदेश प्रसारित करे।[84] मुगल सम्राट् शाह आलम के नेतृत्व मे महादजी विरोधी गुट बनाने हेतु जयपुर और जोधपुर के शासकों ने दौड़-धूप की थी (फरवरी-मार्च 1788 ई.)। महाराजा विजयसिंह ने अपने दूत भीमराज सिंघवी को इस सम्बन्ध में बादशाह से मन्त्रणा करने के लिए दिल्ली भेजा था। जयपुर-नरेश प्रतापसिंह तो स्वयं मुगल बादशाह से मिलने रिवाड़ी पहुंचा।[85] मुग़ल सम्राट् तो मात्र नाम का रह गया था। उसके द्वारा किसी शक्तिशाली गुट बनाने की तो कल्पना करना ही व्यर्थ था। अंग्रेजों की नवोदित शक्ति से प्रभावित होकर राठौड़-नरेश विजयसिंह ने उनके साथ समझौता कर महादजी के विरुद्ध सैनिक सहायता प्राप्त करने का प्रयास भी किया, परन्तु लार्ड कार्नवालिस ने विजयसिंह के सहायता प्राप्त करने सम्बन्धी प्रस्तावों पर तनिक भी ध्यान नही दिया। तुकोजी होल्कर और महादजी सिंधिया के बीच तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गये थे। राठौड़ शासक ने मराठा सरदारों के पारस्परिक वैमनस्य से लाभ उठाना चाहा। उसने तुकोजी को महादजी विरोधी गुट में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया।[86] तुकोजी की महादजी के साथ तो अनबन थी ही, वह महाराजा विजयसिंह से भी उसकी मराठा-विरोधी गतिविधियों के कारण नाराज था। अजमेर पर राठौड़ों का अधिकार उसे खटक रहा था। अतः महाराजा विजयसिंह को तुकोजी की ओर से किसी प्रकार का प्रोत्साहन नही मिल पाया। विजयसिंह और प्रतापसिंह ने अफगानिस्तान के तैमूर शाह को मराठा विरोधी गुट में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया था। महाराजा विजयसिंह ने सिक्ख सरदारों से भी महादजी के विरुद्ध सैनिक सहायता जुटाने के प्रयत्न किये।[87] राजपूत राजाओं के ये सभी प्रयास कारगर प्रमाणित नही हो सके। वे मराठों के भावी आक्रमण से बचने के लिए सैनिक संगठन और सामरिक प्रबन्ध करने में नितान्त असफल रहे। अन्ततोगत्वा जब उन्होने देखा कि हमदानी का भतीजा इस्माइल बेग और महादजी के बीच मनमुटाव हो गया है तो दोनों राजपूत राजाओं ने तुरन्त उसे अपने पक्ष में करने के लिए अपने दूत उसके पास भेजे। इस्माइल बेग को अपने सैनिकों को वेतन चुकाने के लिए धन की आवश्यकता थी। उसे राजपूत राजाओं से धन मिलने की आशा भी थी। अतः उसने सिंधिया के विरुद्ध राजपूत राजाओं को

सहयोग देना स्वीकार कर लिया। राजपूत राजाओं और इस्माइल बेग के बीच एक समझौता हुआ (फरवरी 1790 ई.) जिसके अनुसार निम्नलिखित शर्तें स्वीकार कर ली गईं:—

1. जोधपुर-राजा सात लाख और जयपुर-नरेश पांच लाख रुपये इस्माइल बेग को देंगे।
2. दो लाख रुपयों का भुगतान तुरन्त कर दिया जायेगा और बाकी रकम की अदायगी महादजी के साथ युद्ध आरम्भ हो जाने पर की जायेगी।
3. इस्माइल बेग अपने कुटुम्ब के सदस्यों को जमानत के रूप में जयपुर में रखेगा।[88]

जयपुर-जोधपुर का गठबन्धन तो पहले से ही चल रहा था। अब इसे इस्माइल बेग का सहयोग मिल जाने से राजपूतों की स्थिति काफी सुदृढ़ हो गई थी। वे अब महादजी सिंधिया के आक्रमण का सामना करने के लिए अपने को सक्षम अनुभव करने लगे थे।

दूसरी तरफ 1789 ई. के उत्तरार्द्ध में महादजी सिंधिया ने फ्रांसीसी द बॉय को अपना सेनापति नियुक्त कर उसके माध्यम से अपने सैनिकों को यूरोपीय ढंग से प्रशिक्षित कर एक सुसंगठित और सुव्यवस्थित ब्रिगेड तैयार कर लिया था जो सेंस्टर की स हायता से ढाली गई 60 तोपों से सुसज्जित तेरह बटालियनें थीं। महादजी सिंधिया ने ग्वालियर से भी अपनी तोपें मंगवाकर द बॉय के सुपुर्द कर दी थीं। जनवरी 1790 ई. में इस ब्रिगेड में 12 यूरोपियन और 7 भारतीय पदाधिकारी थे। इस ब्रिगेड के कारण महादजी की सैनिक शक्ति में असीम वृद्धि हुई थी। अब अंग्रेजी सेना के अलावा महादजी सिंधिया की इस सुशिक्षित सेना से लोहा लेना किसी भारतीय सेनानायक की सामर्थ्य के बाहर था। महादजी सिंधिया ने तुकोजी होल्कर के साथ अपने मतभेदों को मिटाकर मेल कर लिया था। होल्कर के सहयोग से महादजी का पक्ष अत्यन्त सबल दिखाई देने लगा था।[89]

इसी समय, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, इस्माइल बेग और उसके स्वामी महादजी के बीच मनमुटाव होने लगा था। अन्ततोगत्वा मार्च 1790 ई. में इस्माइल बेग महादजी का पक्ष त्याग राठौड़-कच्छावा गुट का सक्रिय साझीदार बन गया। महादजी के हृदय में बहुत पहले से राजपूतों के प्रति प्रतिशोध की भावना प्रबल थी, अब उसने जोधपुर और जयपुर नरेशों तथा इस्माइल बेग के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उन्हें दण्ड देने व नतमस्तक करने के लिए महादजी ने मई 1790 ई. में नायक गोपाल भाऊ के नेतृत्व में एक बड़ी फौज राजस्थान की ओर प्रस्थान की। जीवा दादबख्शी और द बॉय भी सेना में सम्मिलित थे। इनके अतिरिक्त अम्बाजी इंगले, तुकोजी होल्कर और माचेड़ी के रावराजा को अपनी सेनाएं भाऊ के सहयोग के लिए भेजने का आग्रह किया गया।[90]

जैसे ही राजपूत राजाओं को मराठा फौज का राजस्थान की तरफ अग्रसर होने के समाचार मिले, उन्होंने अपनी सेनाओं को जुटाना शुरू कर दिया। मारवाड़ के शासक विजयसिंह ने बनेचन्द सिंघवी के सेनापतित्व में एक फौज इस्माइल बेग की सहायतार्थ नारनौल की तरफ भेजी और दूसरी सेना गंगाराम भंडारी के नेतृत्व में जयपुर-नरेश की फौज में सम्मिलित होने के लिए जोधपुर से रवाना की। बनेचन्द सिंघवी तीव्र गति से कूच कर इस्माइल बेग के पास नारनौल के निकट पहुंचा। राजस्थान की तरफ बढ़ती हुई मराठा फौज से उनकी मुठभेड़ हुई जिसमें इस्माइल बेग की सेना तथा राठौड़ी सेना पराजित हुई। उन्होंने पीछे हट कर पाटन के पास अपने डेरे स्थापित किये जहां जयपुर और जोधपुर की सेनाएं पहले से ही विद्यमान थीं। मराठा सेना ने भी पाटन से आठ मील पूर्व की ओर अपने पड़ाव डाले। दोनों सेनाओं के आमने-सामने आ जाने पर छोटी-मोटी झड़पें होने लगी थी। 22 मई, 1790 ई. को द बॉय के सैनिकों ने शत्रुओं की सेना की पंक्ति को तोड़ने का विफल प्रयास किया। दोनों तरफ के कुछ सैनिक हताहत हुए लेकिन इसका कोई विशेष परिणाम नहीं निकला। इसके बाद चार सप्ताह दोनों पक्षों की तरफ से निष्क्रियता से ही व्यतीत हुए। परन्तु इन दिनों में राजपूत शिविर में मुगल सेनानायक इस्माइल बेग और उसके सहयोगी अब्दुल मतलबखां के बीच मनमुटाव होने लगा था। यह राजपूतों के लिए आगे चलकर हानिकारक प्रमाणित हुआ। दोनों पक्ष के सेनानायक अपनी सेनाओं की व्यूह-रचना मे लगे रहे। अन्ततोगत्वा 20 जून, 1790 ई. को पाटन का इतिहास-प्रसिद्ध निर्णायक युद्ध हुआ जिसमे मराठा सेना पूर्ण रूप से विजयी हुई। इस्माइल बेग के मराठा सेना को परास्त करने के सारे प्रयत्न असफल रहे। राठौड़ी सेना ने बड़े साहस और वेग के साथ शत्रु पर आक्रमण किया था, परन्तु द बॉय के कारगर तोपखाने की घातक अग्नि-वर्षा के सामने वे नहीं टिक सके। उनमें से अधिकांश रणक्षेत्र मे धराशायी हुए और वीर-गति को प्राप्त हुए। रात होते-होते राजपूत पक्ष के सैनिक रणक्षेत्र छोड़ भागने लगे। अगले दिन भी यही स्थिति रही। मराठों ने उनका निरन्तर पीछा किया और उनके सामान को लूट लिया। परिश्रान्त, प्यासे और भूखे राजपूत सैनिकों ने पाटन नगर में कुछ समय तक ठहरे रहने के पश्चात् आत्मसमर्पण कर दिया। पाटन के नगर और किले पर मराठों का अधिकार हो गया। मराठों के लिए यह निर्णायक जीत थी। शत्रुओं की तोपें व अन्य युद्ध-सामग्री उनके हाथ लगी। इस्माइल बेग की उत्तम सेना प्रायः नष्ट हो चुकी थी। राठौड़ों को अत्यधिक क्षति उठानी पड़ी थी। जयपुर-नरेश ने इस युद्ध के पश्चात् फिर अगले 10 वर्षों तक मराठों को चुनौती नहीं दी।[91]

मराठों की इस विजय का एकमात्र श्रेय द बॉय को दिया जाना चाहिए। उसकी सुशिक्षित सेना और तोपखाने के सामने, जिसकी मार बड़ी तीव्र गति से और

सटीक होती थी, राजपूत सैनिक, जिनमें संगठित नेतृत्व और अनुशासन का अभाव था, नहीं टिक सके। मुगलिया सेनानायकों में भी एकमत नहीं था। राजपूतों में इस्माइल बेग के प्रति भी शतप्रतिशत विश्वास नहीं था। कर्नल टॉड ने राजपूतों की पराजय का कारण कच्छावा सैनिकों का रणक्षेत्र में निष्क्रिय रूप से खड़े रहना बताया है। उसके अनुसार मराठों और जयपुर वालों मे एक गुप्त समझौता हो गया था जिसके अनुसार यह तय हुआ था कि यदि युद्ध में कच्छावा सैनिक नहीं लड़ेंगे तो मराठे विजयी होने पर जयपुर राज्य मे लूट-खसोट नहीं करेंगे। राठौड़ सैनिक अपने स्वभाव के अनुसार द बॉय के तोपखाने तक आक्रमण करते हुए पहुंच गये थे, परन्तु कच्छावा सैनिकों ने उस समय राठौड़ों को सहयोग नहीं दिया। कच्छावों द्वारा धोखा देने का एक कारण एक चारण द्वारा राठौड़ों की प्रशंसा मे रचित कविता थी:—'उदलती आमेर राखी राठौड़ां खरी'। इस कविता की रचना तुंगा की लड़ाई मे राजपूतो की विजय के समय की गई थी। इस कविता से जयपुर वालों के आत्म-सम्मान को ठेस पहुंची थी। बदले की भावना से प्रेरित होकर ही कच्छावों ने पाटन में राठौड़ों का मान-मर्दन होने दिया। पाटन के युद्ध में राठौड़ो की बड़ी दुर्दशा हुई थी। ऐसा कहा जाता है कि जब पाटन के रणक्षेत्र से बचे हुए राठौड़ हतोत्साहित होकर भाग रहे थे तब उस आपातकाल में स्त्रियों ने भी राठौड़ों से घोड़े छीन लिये थे। इस सम्बन्ध में कविता की निम्न पंक्तियां प्रचलित थी:—

घोड़ा, जूता, पागडी;
मूंछा खग-मारवाड़,
पांच रकमां मेल-लीदा,
पाठण में राठौड़।

निःसन्देह उक्त कविताओं में दोनों जातियों पर तीखे प्रहार हैं।[92]

सरकार महोदय टॉड के इस मत से सहमत नही हैं कि राठौड़ों को धोखा देकर सहायता दिये बिना नष्ट करने के लिए महादजी ने कच्छावों को घूस दी थी। सरकार यह तो स्वीकार करते हैं कि पाटन के युद्ध के बाद विजयी सेना ने जयपुर राज्य मे लूट-खसोट नहीं की और न मराठो ने जयपुर नगर पर आक्रमण ही किया था। वे इसे भी सही मानते हैं कि जयपुर के राजा ने जोधपुर की अपेक्षा सिन्धिया से अधिक शीघ्र सन्धि कर ली थी, परन्तु इन सबका कारण वे किसी गुप्त समझौते के फलस्वरूप नही मानते। जयपुर राज्य की भौगोलिक स्थिति ऐसी थी जिसके कारण जयपुर-नरेश ने मराठो से तुरन्त सन्धि-वार्ता आरम्भ कर दी थी। इसके अतिरिक्त जयपुर राज्य का अपराध तो मात्र खिराज की रकम का भुगतान न करना था, जबकि जोधपुर के राजा ने अजमेर पर अधिकार कर जघन्य अपराध किया था जो क्षमा के योग्य नही था। महादजी की नजरो में दोनो राजाओं का अपराध समान नही था। अतः जयपुर के साथ शीघ्रता से समझौता हो जाना कोई अनहोनी

यात नही थी। सरकार महोदय ने पाटन के युद्ध के बाद राठौड़ और कच्छावों के बीच अनबन का कारण उक्त गुप्त समझौता नहीं माना है। मूल रूप से कच्छावों द्वारा सैनिक खर्चे के रूप में दिये जाने वाले रुपयो के प्रश्न को लेकर उनमे मनमुटाव हुआ था, ऐसी उनकी मान्यता है।[93]

सरकार का मत काफी तर्कपूर्ण और युक्तियुक्त प्रतीत होता है, परन्तु इस बात को अस्वीकार नही किया जा सकता कि राठौड़ों और कच्छावों के बीच जातीय सम्मान और पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा की भावना सदैव प्रबल रही। पाटन के युद्ध में भी यदि इसी प्रकार की भावना से प्रेरित होकर कच्छावा सैनिको ने राठौड़ो की ठीक समय पर रणक्षेत्र में मदद नहीं की हो, तो कोई आश्चर्य की बात नही। उनका एकमत होकर संगठित रूप से पाटन के युद्ध में भाग न लेना भी राजपूतों की हार का कारण माना जा सकता है।

सरकार के अनुसार पाटन के युद्ध में राजपूतों की पराजय मुख्यतः उनकी तरफ से लड़ रहे मुगलिया फौज के दो दलों में दगाबाजी के कारण हुई थी। इस्माइल बेग के सेनानायक अब्दुल मतलबखां और अलायार बेग के सैनिकों को मराठो ने एक लाख रुपये घूस के देकर उन्हें युद्ध में उदासीन बना दिया था।[94]

जी. आर. परिहार अपनी पुस्तक 'मराठा-मारवाड़ सम्बन्ध' में लिखते हैं—यद्यपि राठौड़ बड़ी वीरता से लड़े परन्तु कच्छावों की निष्क्रियता और द बॉय के तोपखाने की पहली मार से इस्माइल बेग के भाग जाने के कारण वे हार गये। इस युद्ध में 3000 राठौड़ सैनिक मारे गये या घायल हुए।[95]

पाटन के युद्ध में परास्त होकर राठौड़ी सेना अस्त-व्यस्त स्थिति में भागती हुई मारवाड़ की सीमा में पहुंची। इस पराजय से भयभीत होकर महाराजा विजयसिंह ने महादजी सिन्धिया से सन्धि करने का प्रयास किया परन्तु मराठा सरदार सन्धि करने के पक्ष में नहीं था। वह न केवल अजमेर पर ही पुनः अधिकार करना चाहता था बल्कि सम्पूर्ण मारवाड़ पर अधिकार कर महाराजा विजयसिंह को सिंहासनच्युत करने के लिए भी कटिबद्ध था। सिन्धिया के सेनानायक पाटन से प्रस्थान कर शेखावाटी के क्षेत्र को लूटते हुए जयपुर को एक तरफ छोड़ कर अजमेर की ओर अग्रसर होने लगे। मराठा-सेना ने मार्ग में सांभर, परवतसर और रूपनगर पर अधिकार किया और फिर अजमेर पहुंच 21 अगस्त, 1790 ई. को नगर का घेरा डाल दिया।[96]

महाराजा विजयसिंह ने भी अब सैनिक तैयारी की। जालोर, देसूरी और सिरोही से सेनाएं आईं। पुरानी तोपों की तुरन्त मरम्मत करवाई गई ताकि रणक्षेत्र में उनका उपयोग किया जा सके। मारवाड़ में अनिवार्य सैनिक भर्ती के आदेश दिये गये। बीकानेर से भी सेना मंगवाई गई। पाटन के युद्ध से कच्छावा-राठौड़ संघ का अन्त नहीं हुआ। जयपुर-शासक ने महाराजा विजयसिंह को सहयोग देने

का आश्वासन दिया था। महाराजा ने इस्माइल वेग को भी सहायता देने के लिए आमन्त्रित किया था। बहुत जल्दी में तैयार की गई एक विशाल सेना भीमराज बख्शी के नेतृत्व में मेड़ता भेजी गई ताकि अजमेर में घिरे हुए राठौड़ सैनिकों को सहायता पहुंचाई जा सके। बीकानेर से एक सैनिक टुकड़ी डीडवाना के मार्ग से प्रस्थान कर मेड़ता के पास डांगावास ग्राम में जोधपुर की सेना में सम्मिलित हो गई। भीमराज सिंघवी ने जयपुर से सहायक सेना के पहुंचने तक डांगावास गांव मे ठहरे रहना उचित समझा।[97]

महादजी सिन्धिया भी इस समय निष्क्रिय नहीं बैठा था। उसने जयपुर-नरेश को अपनी शक्ति का भय दिखा कर उदासीन बना दिया था। उसने एक मराठा सेना जयपुर राज्य के पूर्व में स्थित भुसावर भेजी। योजना थी कि यदि जयपुर की सेना विजयसिंह की सहायतार्थ मारवाड़ में भेजी जाती है तो भुसावर में स्थित मराठा सेना जयपुर राज्य पर आक्रमण कर देगा। महाराजा विजयसिंह को भयभीत करने के उद्देश्य से महादजी ने घोषणा कर दी कि वह स्वयं एक विशाल सेना के साथ अजमेर पहुंच रहा है। अपनी इस घोषणा की सार्थकता के लिए वह मथुरा से प्रस्थान कर शान्तनुकुंड जा पहुंचा।[98]

इधर अजमेर-स्थित मराठा फौज के सेनानायकों ने राठौड़ी सेना को मेड़ता के निकट ही परास्त करने का निर्णय लिया। अजमेर के घेरों को यथास्थिति मे छोड कर मराठा-सेना दो भागो में विभाजित होकर मेड़ता की ओर अग्रसर हुई। प्रथम सेना ने, जिसका नेतृत्व गोपाल भाऊ कर रहा था, सीधे रास्ते से प्रस्थान कर 7 सितम्बर, 1790 ई. को मेड़ता से 4 मील पूर्व मे स्थित नटारिया गांव में पहुंच डेरा डाल दिया। मराठों की दूसरी सेना तोपखाने के साथ द बॉय के नेतृत्व में पिसनगांव और गोविन्दगढ़ होती हुई घुमावदार रास्ते से मेड़ता की ओर अग्रसर हुई। मार्ग में आलणियावास के पास लूनी नदी के रेतीले पाट में द बॉय का तोपखाना फंस जाने से इसकी गति अवरुद्ध हो गई। इस समय राठौड़ी सेना के सेनापति भीमराज को उसके सहयोगी मारवाड़ के प्रमुख सामन्तों तथा गंगाराम भंडारी ने द बॉय पर आक्रमण करने की सलाह दी थी परन्तु उसने इस सलाह पर ध्यान नही दिया। वह महाराजा विजयसिंह के आदेशानुसार इस्माइल बेग की सेना की प्रतीक्षा कर रहा था। उसके आने पर ही शत्रुओं पर आक्रमण करने की उसने योजना बना रखी थी। द बॉय ने बड़े धैर्य और चतुराई से तोपखाने को रेतीले भाग से पार किया और वह अपनी सेना के साथ 9 सितम्बर को मेड़ता के पास नटारिया ग्राम मे पड़ाव डाले गोपाल भाऊ की सेना मे सम्मिलित हो गया। द बॉय के पहुंचने पर राजपूत सरदारों ने एक बार फिर भीमराज से मराठो पर तुरन्त आक्रमण करने का आग्रह किया था परन्तु उसने इस्माइल वेग और जयपुर की फौजो के आये बिना शत्रुओं पर आक्रमण करना उचित नही समझा। द बॉय के सैनिक एक दिन

के विश्राम के बाद पूर्ण स्वस्थ हो गये थे। 10 सितम्बर को प्रातः सूर्योदय के पहले ही द बॉय ने राठौड़ों की सेना पर आक्रमण कर दिया।[99]

राठौड़ी सेना में 26 हजार घुड़सवार, 10 हजार पैदल और 25 पुरानी तोपें थी। नागा साधुओं की जमात के सैनिक भी इसमे सम्मिलित थे। सर्वप्रथम नागा सैनिक ही द बॉय के तोपखाने के शिकार बने। कुछ ही समय मे इनका सफाया हो गया। इस बीच भीमराज के सैनिकों में खलबली मच गई। वे भागने लगे। परन्तु राठौड़ी सामन्त अपनी सेनाओं के साथ डटकर लड़ने को तैयार हुए। ज्योंही सूर्य उदय हुआ और प्रकाश बढ़ने लगा, आसोप के ठाकुर महेशदास और आऊवा के ठाकुर शिवसिह के नेतृत्व में चार हजार राठौड़ी अश्वारोहियो ने मराठों पर तीव्र वेग से आक्रमण किया। द बॉय की मार को सहन करते हुए उन्होंने गोपाल भाऊ और जीवादादा की पंक्तियों का भेद दिया और मराठों को पीछे हटने पर विवश कर दिया, परन्तु पीछे से किसी भी प्रकार का सहयोग न मिलने से अन्ततोगत्वा उनमे से अधिकांश सैनिक रणक्षेत्र में धराशायी हो वीर गति को प्राप्त हुए। भीमराज सिंघवी अपने सैनिकों सहित रणक्षेत्र छोड़ नागौर की ओर पलायन कर गया। मराठे विजयी रहे। मेड़ता नगर और मेड़ता के गढ़ पर उनका अधिकार हो गया।[100]

इस युद्ध में राठौड़ों को जान और माल की भारी क्षति उठानी पडी। महेशदास कूंपावत और शिवसिह चांपावत लगभग 2000 सैनिकों के साथ रणक्षेत्र में खेत रहे। 3000 से भी अधिक राठौड़ी सिपाही घायल हुए। मराठों को भी हानि उठानी पड़ी। द बॉय के 900 पैदल सैनिक हताहत हुए। सिन्धिया के 50 सैनिक रणक्षेत्र में मारे गये तथा 250 सैनिक घायल हुए। उसके अफसरों में मालोजी पिंगले और सुखजी सिन्धिया मृत्यु के ग्रास बने तथा शेख शरीफ घायल हुआ।[101]

इस मेड़ता के ऐतिहासिक रणक्षेत्र में राठौड़ों की पराजय हुई। इसके अनेक कारण थे। राठौड़ी सेना में किसी एक व्यक्ति का नियन्त्रण नहीं था। सामन्ती सैनिक मात्र अपने सरदार को ही अपना सेनापति स्वीकार करते थे और उसी के आदेशानुसार वे युद्ध-क्षेत्र मे अपने कार्यकलापों का प्रदर्शन करते थे। राठौड़ी सेना संयुक्त रूप से नहीं लड़ रही थी। उनकी विभिन्न सैनिक पंक्तियों और तोपखाने मे किसी भी प्रकार का तालमेल नहीं था। फ्रांसीसी सिपाही और राजनीतिज्ञ काम्टे डी मोडवे ने 1776 ई. मे लिखा था कि हमारी तरह एक भारतीय राजा की सेना व्यवस्थित इकाई नही है। उसके विभिन्न अंगों मे पारस्परिक सम्बन्ध नही रहता। उनमें कोई प्रधान सेनापति नही होता और उसके नीचे विभिन्न सरदार कार्य नहीं करते। एक का न दूसरे से कोई सम्बन्ध रहता है और न एक दूसरे के अधीन होता है। सिपाहियों का प्रत्येक समूह यथाशक्ति और यथामति अपनी रसद और गोला-

बारूद का प्रबन्ध करता है। लगभग यही स्थिति महाराजा विजयसिंह की सेना की थी। अतः उसकी पराजय हुई। राठौड़ों का तोपखाना भी कमजोर था। सभी तोपें जीर्ण-शीर्ण स्थिति में थी। मारवाड़ की सेना के नागा सिपाहियों में अनुशासन का नितान्त अभाव था। उनमें पलायनवाद की भावना घर कर चुकी थी। यद्यपि राठौड़ी सिपाहियों का मनोबल ऊंचा था, फिर भी वे पराजित हुए क्योंकि उनकी युद्ध शैली इतनी त्रुटिपूर्ण थी कि वे सुशिक्षित और अनुशासित मराठा सैनिकों से टक्कर लेने की स्थिति में थे ही नहीं। राजपूत सेनानायकों द्वारा युद्ध प्रारम्भ करने का सामयिक निर्णय न लेना भी पराजय का कारण बना। जिस समय द बॉय का तोपखाना लूनी नदी के रेतीले भाग में फंसा हुआ था, राजपूतों को चाहिए था कि वे उस पर आक्रमण कर देते। इसी तरह जब द बॉय की थकी-मांदी सेना माऊ के डेरे पर पहुंची, उसी समय यदि राजपूत उन पर टूट पड़ते तो सम्भवतः विजयश्री उनके हाथ लग जाती। जोधपुर राज्य के सेनापति भीमराज सिंघवी में वस्तुतः स्थिति को समझने की क्षमता नहीं थी। उसमें आत्मविश्वास का अभाव था। वह जोधपुर से प्राप्त आदेशानुसार इस्माइल बेग की फौज की प्रतीक्षा में ठहरा रहा। उसने वस्तुस्थिति का अवलोकन कर मराठा सेना पर आक्रमण करने का सुअवसर खो दिया; और इसीलिए उसे हार का अनुभव करना पड़ा। राजपूतों की अव्यवस्थित सेना के विपरीत मराठा सेना सुव्यवस्थित और सुसंगठित थी। उनका नेता द बॉय बहुत ही कुशल सेनानायक था। सिन्धिया के सभी सेनानायकों में अच्छा तालमेल बना हुआ था। होल्कर की सेना सुरक्षित स्थान पर पीछे खड़ी थी जो समय पड़ने पर युद्ध क्षेत्र में प्रवेश कर पराजय को विजय में परिणत करने की क्षमता रखती थी। द बॉय द्वारा तुरन्त युद्ध छेड़ देना उसकी बुद्धिमता व दूरदर्शिता का परिचायक था, क्योंकि यदि युद्ध प्रारम्भ करने में विलम्ब हो जाता तो इस्माइल बेग की फौज जो नागौर पहुंच चुकी थी, निश्चय ही मेड़ता पहुंच जाती और ऐसी स्थिति में मराठों के लिए राजपूतों पर सरलता से विजय प्राप्त नहीं की जा सकती थी। द बॉय ने अपने प्रभावी तोपखाने का समुचित तरीके से प्रयोग कर चार घंटों ही में राजपूतों पर निर्णायक विजय प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त कर लिया।[102]

सर यदुनाथ सरकार इस युद्ध के तथा द बॉय के रण-कौशल के सम्बन्ध में लिखते हैं—"द बॉय के जीवन में यह सबसे भयंकर युद्ध था। इसने उसकी विलक्षण सैनिक बुद्धि को उत्तम रूप से प्रकट कर दिया। अनुशासन के विरुद्ध केवल साहस तथा गोलियों के विरुद्ध तलवारों की नितान्त निरर्थकता के श्रेष्ठ उदाहरण के रूप में यह युद्ध अनन्त काल तक स्मरण किया जायेगा। मेड़ता की लड़ाई से प्राचीन भारतीय रण-प्रणाली पर यूरोपीय रण-प्रणाली की श्रेष्ठता असन्दिग्ध रूप से सिद्ध हो गयी।"[102अ]

मेड़ता की पराजय ने जोधपुर राज्य के जन-जीवन को अस्त-व्यस्त कर दिया। जोधपुर निवासियों को मराठी सेना द्वारा जोधपुर पर आक्रमण करने की पूर्ण आशंका थी। वे जोधपुर नगर छोड़ गाँवों की ओर पलायन करने लगे थे। महाराजा विजयसिंह स्वयं जालौर या जैसलमेर की ओर प्रस्थान करने की तैयारी करने लगा था। मेड़ता के युद्ध के बाद जीवाजी के नेतृत्व में एक मराठा सैनिक टुकड़ी जोधपुर की तरफ अग्रसर होने लगी थी। उसने सवासपुर में डेरे लगा दिये थे। महाराजा विजयसिंह और जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह के बीच मनमुटाव की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। ऐसी स्थिति में महाराजा विजयसिंह ने महादजी से सन्धि कर लेना ही हितकर समझा। उसने अपना दूत व्यास नवलराय को शांति-प्रस्ताव के साथ महादजी से मिलने भेजा। इसके साथ ही महाराजा ने अपने दूत को जीवाजी और गोपाल भाऊ मराठा सेनानायकों से सन्धि-वार्ता हेतु रवाना किया। महादजी ने पहले तो व्यास नवलराय से वार्ता करने से इन्कार कर दिया, परन्तु बाद में पेशवा व अन्य मराठा सरदारों के दबाव के फलस्वरूप महादजी ने व्यास नवलराय के शान्ति प्रस्तावों पर विचार-विमर्श किया। महादजी महाराजा विजयसिंह से बहुत अधिक नाराज था। उसने मारवाड़ नरेश से 2 करोड़ 35 लाख रुपये युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में मांगे। इस बड़ी धनराशि के साथ जोधपुर और गोड़वाड़ क्षेत्र की वार्षिक कर के रूप में चढ़ी रकम का भुगतान भी तुरन्त चाहा और अजमेर नगर को मराठों को सुपुर्द करने की शर्त भी रखी। विजयसिंह के लिए इतनी बड़ी धनराशि का महादजी के इच्छानुसार भुगतान करना सम्भव ही नहीं था। अतः सन्धि-वार्ता भग हो गई। महादजी स्वयं मारवाड़ की ओर अग्रसर हुआ।[103]

महादजी के कठोर व्यवहार को देखते हुए महाराजा को यह अनुमान होने लगा था कि वह जोधपुर नगर पर आक्रमण करेगा। अतः महाराजा विजयसिंह भी जैसे-तैसे अपनी रक्षा के लिए सैनिक तैयारी करने लगा। इस्माइल बेग और भीमराज सिंघवी अपनी सेनाओं के साथ जोधपुर पहुंच चुके थे। उन्होंने नगर की रक्षा के लिए गढ़बन्दी करना आरम्भ कर दिया था।[104]

उधर महादजी सिंधिया की स्थिति में भी परिवर्तन आने लगा। महादजी सिंधिया और तुकोजी होल्कर के साथ मेड़ता के युद्ध के समय जो समझौता हुआ था, वह अल्पकालीन ही प्रमाणित हुआ। उनमें मतभेद पुनः खुल कर प्रबल रूप से उभर कर सामने आये और उनके पारस्परिक सम्बन्धों में भयंकर कटुता आने लगी। होल्कर की सेना मारवाड़-क्षेत्र से पलायन कर गई। होल्कर के साथ-साथ महादजी सिंधिया की अली बहादुर से भी अनबन हो गई थी। महादजी सिंधिया को धन प्राप्त करने की आवश्यकता थी क्योंकि द बॉय के सैनिकों को तुरन्त वेतन चुकाना था। राजस्थान में अकाल की स्थिति बनी हुई थी, अतः वहां से उसे अन्न, चारा व धन प्राप्त करने की कोई आशा नहीं थी। महादजी का राजस्थान में एकमात्र

विश्वसनीय सहयोगी माचेड़ी का राव प्रतापसिंह 24 नवम्बर, 1790 ई. को दिवंगत हो चुका था। इसमाइल बेग के पिता मुनीम बेग ने रेवाड़ी के दुर्ग गोकुलगढ़ पर अपना अधिकार कर लिया था। राजस्थान की आम जनता भी मराठा-विरोधी थी। गांवों में किसान-वर्ग भी मराठों से मुठभेड़ करने लगे थे। ऐसी परिस्थिति में महादजी का महाराजा विजयसिंह के साथ नम्र होना स्वाभाविक ही था। उसने जोधपुर राज्य से सन्धि कर लेना ही अपने लिए हितकर समझा।[105]

25 दिसम्बर, 1790 को महादजी सांभर पहुंचा। वहां महाराजा विजयसिंह के प्रतिनिधि उससे सन्धि-वार्ता के लिए उपस्थित हुए। कुछ दिनों तक वार्ता चलती रही। फिर 24 जनवरी, 1791 ई. को महादजी और महाराजा के बीच सन्धि सम्पन्न हो गई। इसकी निम्नलिखित धाराएं थीं :-

(अ) क्षतिपूर्ति सम्बन्धी धाराएं :—

(i) महाराजा विजयसिंह ने क्षतिपूर्ति के रूप में महादजी सिंधिया को 60 लाख रुपया देना स्वीकार किया। इस धनराशि मे नजराना, दरबार-खर्च और खासा सवारी की रकम भी सम्मिलित थी।

(ii) 15 लाख रुपये नकद दिये जायेंगे। इस रकम का भुगतान दो किश्तों में किया जायेगा। प्रथम किश्त 8 लाख रुपये 4 फरवरी, 1791 तक और बाकी रकम द्वितीय किश्त में 4 अप्रेल, 1791 ई. तक देय होगी। इसके अतिरिक्त 3 लाख रुपयों का भरना (पशु-जवाहरात व अन्य वस्तुओ के रूप में) दिया जायेगा।

(iii) 15 लाख रुपये नकद सेना मे वितरित करने हेतु दिये जायेंगे। इसके अतिरिक्त 3 लाख रुपयों के मूल्य का भरना दिया जायेगा।

(iv) चार लाख रुपयों के मूल्य का भरना दो वर्षों में भुगतान किया जायेगा।

(v) नावां, मारोठ और परवतसर से प्राप्त वार्षिक कर के रूप में बीस लाख रुपयों की धनराशि महादजी को दी जायेगी। इसका मुगतान 16 जून, 1791 ई. तक किये जाने का निर्णय लिया गया था।

(vi) यदि निर्णय के अनुसार समय पर धनराशि का मुगतान हो जाता है तो महादजी कुल रकम में 2 लाख की छूट प्रदान कर देगा।

(ब) प्रादेशिक सम्बन्धी धाराएं तथा वार्षिक कर :—

(i) *विजयसिंह मारवाड़ और गोड़वाड़ का* वार्षिक कर क्रमशः 1,50,000 रुपये और 30,000 रुपये प्रति वर्ष नियमित रूप से देता रहेगा।

(ii) अजमेर महादजी को सुपुर्द कर दिया जायेगा।

(iii) अजमेर के साथ सांभर (झील सहित), खेरवा, मसूदा और भिनाय के 29 गांव भी महादजी को सुपुर्द कर दिये जायेंगे।

उपर्युक्त धाराओं के अतिरिक्त विजयसिंह ने आश्वासन दिया कि वह मराठा अधिकारी के कार्यों में हस्तक्षेप नही करेगा, जो निश्चित क्षेत्रों से कर वसूल करेंगे। वह किशनगढ़ के शासक के विरुद्ध सैनिक अभियान नही करेगा। सिंधिया ने भी आश्वासन दिया कि मराठा सेना मारवाड़ के क्षेत्र में लूट-खसोट नही करेगी। यदि मराठा प्रतिनिधि निश्चित धनराशि से अधिक धन एकत्र करते हैं तो अतिरिक्त धनराशि महाराजा को लौटा दी जायेगी। सिंधिया महाराजा के विद्रोही पुत्र जालिमसिंह की मदद नहीं करेगा। दोनों ने एक-दूसरे को विश्वास दिलाया कि वे एक-दूसरे के शत्रुओं को अपने यहां शरण नहीं देंगे। महाराजा को कहा गया कि इस्माइल वेग को जोधपुर राज्य की सीमा से बाहर निकाल दे।[106]

सन्धि की धाराओं का पालन किया गया। अजमेर पुनः मराठों को सुपुर्द कर दिया गया और निश्चित धनराशि शर्तों के अनुसार दे दी गई। महादजी और महाराजा के बीच अब मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गये। होल्कर ने महादजी के विरुद्ध महाराजा से सैनिक सहायता मांगी तो उसे सहायता नही दी गई। इस्माइल बेग को महादजी के इच्छानुसार जोधपुर से बाहर जाने के आदेश दे दिये गये। विद्रोही पुत्र जालिमसिंह को दबाने के लिए महादजी ने महाराजा को सहयोग दिया था। महाराजा मृत्यु-पर्यन्त नियमित रूप से वार्षिक कर महादजी को भेजता रहा।

मेड़ता की हार से महाराजा विजयसिंह को भारी क्षति उठानी पड़ी। उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण हो गया। महादजी सिंधिया का प्रभुत्व मारवाड़ पर स्वीकार कर लिया गया। विजयसिंह की प्रतिष्ठा को ठेस पहुंची थी। मारवाड़ के कुछ उपजाऊ परगने मराठों को दे दिये गये जिससे मारवाड की आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी। मारवाड़ के सामन्त भी विद्रोही हो गये। निराश व हताश स्थिति में महाराजा विजयसिंह की 7 जुलाई, 1793 ई. को जीवन लीला समाप्त हो गई।[107]

जोधपुर के साथ सन्धि सम्पन्न हो जाने के बाद महादजी ने जयपुर राज्य के साथ समझौता करने की ओर ध्यान दिया। जयपुर-नरेश का प्रतिनिधि रोड़ोजी खवास महादजी से वार्ता करने के लिए उपस्थित था। परिणामतः फरवरी 1791 ई. में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार जयपुर राज्य को सब मिलाकर 17 लाख रुपये महादजी को देना निश्चय किया। इस धनराशि में से 15 लाख रुपये तो महादजी को और 2 लाख रुपये उसके मन्त्रियों को दिये जाने की व्यवस्था की गई। इस पर एक लाख रुपयों की साहूकारी हुण्डी दे दी गई और बाकी रकम की व्यवस्था करने के लिए रोड़ोजी जयपुर की ओर प्रस्थान कर गया।[108]

जब इस प्रकार के समझौते की सूचना होल्कर को मिली तो वह आग बबूला हो गया और उसने अप्रेल 1791 ई. में अपनी सेना में स्थित पिंडारियों को जयपुर

राज्य में लूट-खसोट करने के आदेश दे दिये। राजा भयभीत हो गया। उसने रोड़ोजी सवास को उसके पास बातचीत करने के लिए भेजा। होल्कर को भी महादजी के समान ही 17 लाख रुपये देने निश्चित हुए। परन्तु इतनी बड़ी धनराशि का भुगतान करना जयपुर राज्य की सामर्थ्य के बाहर था। होल्कर कई महीनों तक धन-संग्रह करने के लिए जयपुर राज्य में टिका रहा। अन्ततोगत्वा महाराजा प्रतापसिंह ने उक्त धनराशि के बदले में रामपुरा का परगना होल्कर को दे दिया।[109] इस प्रकार जयपुर राज्य की मराठों के साथ मित्रता कायम हो गई। अब जयपुर राज्य मराठों का संरक्षण-राज्य रह गया था। सवाई प्रतापसिंह ने तुकोजी होल्कर की सैनिक सहायता से अलवर (माचेड़ी) के राजा ने अपने खोये हुए परगने पुनः प्राप्त करने का प्रयास किया। उसे कुछ सफलता भी मिली। परन्तु 1793 ई. के मध्य में जब सिन्धिया की फौज के विरुद्ध लाखेरी के युद्ध में होल्कर की पराजय हो गई तब से कुछ समय के लिए राजस्थान की राजनीति से उसे विमुक्त कर दिया गया।[110] अब तो महादजी का वर्चस्व राजस्थान में पूर्ण रूप से स्थापित हो गया। अजमेर तथा उत्तरी राजस्थान के मामलों की देख-भाल करने के लिए उसने लकवा दादा को अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर दिया। जयपुर राज्य से कर-संग्रह के लिए महादजी ने अपने फ्रांसीसी सेनानायक द बॉय को वहां छोड़ दिया था। जयपुर राजकीय सेना ने द बॉय की मदद से राज्य के विद्रोही सामन्तों का दमन कर उनसे वार्षिक कर की धनराशि एकत्र की थी।[111]

मेवाड़ में सोमचन्द गान्धी की हत्या के पश्चात् शक्तावतों और चूंडावतों के मध्य संघर्ष ने भयंकर रूप धारण कर लिया था। दिवंगत सोमचन्द के भाई को मेवाड़ राज्य के प्रधान-पद पर नियुक्त किया गया। उसने अपने ज्येष्ठ भ्राता की हत्या का बदला लेने के अभिप्राय से भींडर के शक्तावत सरदार मोहकमसिंह की सहायता से अपने भाई के हत्यारे कुरावड़ के चूंडावत सरदार अर्जुनसिंह के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की और उसे माकोला के स्थान पर पराजित किया। परन्तु सेरोदा में लड़े गये युद्ध में चूंडावतों ने शक्तावतों को खदेड़ दिया। इस प्रकार ठौर-ठौर पर इन दलों में झड़पें होती रहती थीं। मेवाड़ उजड़ता जा रहा था। राज्य में सर्वत्र अराजकता का वातावरण व्याप्त था। दुर्बल-हृदय राणा भीमसिंह किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में था। उसके पास न धन था, न शक्ति जिससे वह मेवाड़ की बिगड़ती हुई स्थिति में सुधार ला सके। मेवाड़ में महाराणा की सत्ता मात्र नाम की रह गई थी। चित्तौड़गढ़ पर भी चूंडावतों का अधिकार था। राणा की शक्तिहीन स्थिति का इससे अधिक और क्या स्पष्ट प्रमाण हो सकता है? इन परिस्थितियों में महाराणा भीमसिंह ने अपने मन्त्रियों की सलाह से कोटा-निवासी राजराणा झाला जालिमसिंह को महादजी सिन्धिया से सहायता प्राप्त करने के लिए पुष्कर भेजा। झाला जालिमसिंह चूंडावतों का कट्टर विरोधी था। उस समय

महाराणा का वह विश्वसनीय सलाहकार था। महादजी से भी उसके मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे।[112]

झाला जालिमसिंह ने पुष्कर पहुंच कर महादजी को राणा के सन्देश से अवगत कराया। राणा का आग्रह था कि महादजी मेवाड़ को अपने संरक्षण में लेकर वहां पर व्याप्त अराजकता को समाप्त कर उसे सर्वनाश से बचाये। जालिमसिंह के विशेष विनय के कारण महादजी ने महाराणा की प्रार्थना स्वीकार कर ली और 16 अप्रेल, 1791 ई. को मेवाड़ के भावी प्रबन्ध से सम्बन्धित एक समझौता हुआ जिसके अनुसार महादजी को पहले चूंडावतों का दमन कर महाराणा के अधिकारों की रक्षा करनी थी। फिर चूंडावतों से दंड स्वरूप 64 लाख रुपये वसूल किये जाने थे। इसमें से 48 लाख रुपये महादजी को मिलते और शेष धनराशि राणा स्वयं अपने पास रखता। महादजी ने अपने नायब अम्बाजी इंगले को ससैन्य झाला जालिमसिंह के साथ अग्रिम दस्ते के रूप में मेवाड़ भेज दिया।[113]

चूंडावतों के प्रमुख नेता सलूम्बर के रावत भीमसिंह ने पिछले कई वर्षों से चित्तौड़ व उसके आस-पास के क्षेत्र पर जबरन् अधिकार कर रखा था। अम्बाजी इंगले का प्रथम लक्ष्य चित्तौड़ व इसके निकट के क्षेत्र को चूंडावतों से खाली करा कर राणा को सुपुर्द करना था। वह चित्तौड़ की ओर अग्रसर हुआ। रास्ते में हमीरगढ़ के किले पर अधिकार कर वहां के किलेदार धीरतसिंह को, जो रावत भीमसिंह का प्रमुख सलाहकार था, मार भगाया। वह भाग कर चित्तौड़ चला गया। इंगले ने चित्तौड़ के निकट डेरा डाल दिया और अपने स्वामी महादजी के आने की प्रतीक्षा करने लगा। रावत भीमसिंह युद्ध करने को उद्यत था।

मेवाड़ की समस्या इतनी विकट थी कि महादजी के आये बिना इसका सुलझना सम्भव नहीं था। अतः महादजी भी मेवाड़ पहुंचा। वहां पहुंचकर उसने अनुभव किया कि मेवाड़ को अपने संरक्षण में लेकर उसने एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया है। मेवाड़ पहुंचकर उसने विभिन्न दलों के नेताओं से बातचीत की और देश की परिस्थिति को समझने का प्रयास किया। महादजी ने नाहर मगरे पहुंच महाराणा से भी भेंट की (सितम्बर 1791)। उस समय भीमसिंह व उसके साथियों को चित्तौड़गढ़ से बाहर निकाल देने के सम्बन्ध में चर्चा हुई। तत्पश्चात् महादजी और महाराणा दोनों साथ-साथ चित्तौड़ के निकट पहुंचे। उन्होंने रावत भीमसिंह को किला खाली कर देने के लिए कहलाया। भीमसिंह ने इंगले के माध्यम से स्पष्ट तौर पर सन्देश भेजा कि जब तक झाला जालिमसिंह को, जो उसका कट्टर शत्रु है, कोटा नहीं भेज दिया जाता है वह किला खाली करने के लिए तैयार नहीं है। राणा रावत की इस शर्त को मानने के लिए राजी नहीं था, परन्तु महादजी के दबाव के कारण उसने रावत की इस शर्त को

स्वीकार कर लिया। झाला जालिमसिंह अक्टूबर 1791 ई. में कोटा लौट गया। इस पर 17 नवम्बर, 1791 ई. को रावत अपने साथियों के साथ महाराणा की सेवा में उपस्थित हो गया और किले का अधिकार राणा को सुपुर्द कर दिया। राणा ने भी उसके पिछले सारे अपराध क्षमा कर दिये।[114]

पूरे दिसम्बर के महीने में महादजी ने चित्तौड़ के निकट घोसूंडा ग्राम में ठहर कर मेवाड़ के भावी शासन-प्रबन्ध तथा वहां से मराठों को दी जाने वाली खंडनी के संग्रह की व्यवस्था की। खंडनी की कुल रकम 50 लाख रुपये आंकी गई थी जिसमें से महाराणा किसी तरह 5 लाख रुपये तत्काल दे सका। महादजी सिन्धिया ने अपने नायब के रूप में अम्बाजी इंगले को महाराणा के नाम पर देश का प्रशासन चलाने के लिए नियुक्त किया। शासन-सम्बन्धी सारे नागरिक व सैनिक अधिकार इंगले को प्रदान किये गये और उसकी सहायतार्थ दस हजार दक्षिणी घुड़सवार और बेगम समरू की सेवा में चार पलटनें वहां उसके अधीन रखी गईं। सरकार महोदय ने उसकी हैसियत ब्रिटिश भारत के इतिहास में 'एजेण्ट टू द गवर्नर जनरल' के समकक्ष मानी है। इस प्रकार वकील-ए-मुतलक के रूप में महादजी ने मेवाड़ में ऐसी शासन व्यवस्था कायम की जिससे उसकी अनुपस्थिति में भी मेवाड़ में अराजकता नहीं फैल सके।[115]

5 जनवरी, 1792 ई. को महादजी सिंधिया ने महाराणा भीमसिंह, रावत भीमसिंह तथा अन्य सामन्त वर्ग से विदा ली और 6 जनवरी को वह दक्षिण की ओर प्रस्थान कर गया। दक्षिण की तरफ जाने के पहले महादजी ने अम्बाजी को निम्नलिखित निर्देशन दिये थे :–

(1) महाराणा की प्रतिष्ठा स्थापित की जाय और राजद्रोही सामन्तों व सिन्धी सिपाहियों ने अवैध रूप से खालसा भूमि पर जो अधिकार कर लिया है, उसे मुक्त करवा कर राणा को वह भूमि सुपुर्द करवाई जाय।

(2) मेवाड़ राज्य के झूठे दावेदार रत्नसिंह को कुम्भलगढ़ के किले से बाहर निकालकर किले पर राणा का अधिकार स्थापित किया जाय।

(3) मारवाड़ से गोड़वाड़ का परगना वापस दिलवाने का प्रयास किया जाय।

(4) अरिसिंह की मृत्यु के समय से बून्दी राज्य के साथ जो झगड़ा चला आ रहा है, उसे निपटाने का यत्न किया जाय।[116]

इंगले ने अपने स्वामी के निर्देशानुसार कार्य करना आरम्भ किया। उसे काफी सफलता भी मिली। रत्नसिंह को कुम्भलगढ के किले से बाहर निकाल किले पर राणा का अधिकार करवा दिया गया। अतिक्रमण की भूमि पुनः खालसा भूमि में सम्मिलित कर ली गई। जागीरदारों के उत्पात व उनसे

उत्पन्न अराजकता का अन्त हुआ। वस्तुतः इंगले के सदप्रयत्नों से मेवाड़ में अगले आठ वर्ष तक प्रायः शान्ति की स्थिति बनी रही और वहाँ की जनता ने राहत की सांस ली।[117]

जनवरी 1792 ई. में जब महादजी ने मेवाड़ छोड़ा, उस समय तक राजस्थान पर उसका एकाधिपत्य स्थापित हो गया था। महादजी सिंधिया ने अपनी यूरोपीय ढंग से सुशिक्षित व यूरोपीय सेनानायकों द्वारा संचालित सेना के बल पर राजपूतों के विरोध को कुचल दिया और उन्हें इतना शक्तिहीन बना दिया कि भविष्य में वे मराठों के विरुद्ध सशस्त्र लोहा लेने का साहस नहीं कर पाये। पाटन और मेड़ता के युद्धों में महादजी के विजयी होने के साथ ही राजपूत-मराठा संघर्ष का तो अन्त हो गया था परन्तु राजपूतों के मन में मराठों के प्रति विद्वेष और घृणा की भावना निश्चित रूप से बनी रही। मराठों की अक्खड़ व उनकी निरन्तर बढती हुई उद्धतता के कारण राजस्थान मे वे सदैव हेय दृष्टि से ही देखे गये। महान् मुगलों की भाँति वे अपना वर्चस्व व शाही गरिमा की छाप राजस्थान के राजाओं व वहां के जन जीवन पर अंकित करने मे नितान्त असफल रहे।

अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजस्थान की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। मराठों के हाथों निरन्तर पराजित होने के कारण राजस्थान के राजाओं का मनोबल गिर चुका था। राजपूतों के शौर्य व आत्म-गौरव तथा उनकी प्रतिष्ठा सम्बन्धी गाथाएं अतीत के आवरण में लुप्त होती जा रही थी। उनमें अब अपनी वीरता और साहस के प्रति आत्म-विश्वास विनष्ट हो चुका था। इस युग में राजपूत राजा असीम भोग-विलास तथा वासना के दास बन गये थे। उनमे नैतिक सदाचार एवं पवित्र आचरण की भी अभाव दिखाई देने लगा था। उनके इस नैतिक पतन की विभीषिका का प्रतिबिम्ब समाज के निम्नतर श्रेणियों पर भी दृष्टिगोचर होने लगा था। जागीरदारों के उत्पात, उत्तराधिकार के झगड़े और अनुशासनहीन किराये के सैनिकों के विद्रोह की राजनीति ने राजस्थान की शक्ति पूर्णतया क्षत-विक्षत कर दी थी। राजस्थान के राजा, प्रशासक और सामान्य लोग देश की बदलती हुई परिस्थितियों से पूर्णतया अनभिज्ञ थे। डा. रघुबीरसिंह ने निम्नलिखित पंक्तियों में इस युग के राजपूत राजाओं और उनके साथ अवाम की अनैतिकता व उनकी अनभिज्ञता का सही चित्रण प्रस्तुत किया है। यद्यपि ये पंक्तियां काव्यात्म शैली में लिखी गई तथापि इनसे सत्यता की संपुष्टि तो होती ही है :[118]

"राग-रंग मे डूबे हुए, मदिरा की मस्ती में चूर, अफीम की पिनक में पड़े राजस्थान के राजा और रंक सब ही कूप-मण्डूक बने हुए थे। विदेश की तो बात दूर रही, देश और प्रान्त की बदलती हुई राजनीति से भी वे सर्वथा अनभिज्ञ थे। तुंगा-युद्ध के बाद तक शाह आलम के नेतृत्व में उनका विश्वास सर्वथा दयनीय था। उत्तरी भारत में महादजी की सर्व-व्यापी सत्ता का अनुभव करके भी उन्हें यह आशा

बनी रही कि बालक पेशवा या सुदूर पूना-स्थित उसके अधिकारी किसी भी प्रकार इन राजस्थानी राजाओं की सहायता करके उन्हें महादजी के चंगुल से निकाल सकेंगे। समरू, रेने मादे, आदि यूरोपीय तथा अंग्रेज सेनानायकों द्वारा शिक्षित एवं संचालित सेनाओं की सफलताओं को देखकर भी राजस्थानी नरेशों ने अपने-अपने राज्यों की सेना में उपयुक्त परिवर्तन करने की आवश्यकता तक नहीं समझी। द बॉय को एक बार अपना सेनानायक बनाने का निश्चय करके भी सालवाई की संधि के बाद जयपुर के सवाई प्रतापसिंह ने सर्वदा के लिए उसका विचार त्याग दिया। युद्ध में बन्दूकों और तोपों के निर्णायक प्रभाव का यह तिरस्कार एवं युद्ध-विद्या में आवश्यक परिवर्तन की यह उपेक्षा राजस्थानी राज्यों के लिए पूर्णतया घातक सिद्ध हुई। अपनी इतिहास-प्रसिद्ध अदूरदर्शिता तथा मोहपूर्ण अपरिवर्तनवादिता के कारण ही राजस्थान का यह शोचनीय पतन हुआ।"

अभी तो यह राजस्थान के ह्रास व अधोगति का आरम्भ मात्र था। राजस्थान में मराठों का पूर्ण रूप से आधिपत्य स्थापित हो जाने के बाद राजस्थान की राजनीति की आन्तरिक और बाहरी उलझनें निरन्तर बढ़ती गईं। मराठा सरदारों से राजपूत राज्यों को संरक्षण नहीं मिल पाया। इसके विपरीत उनके पारस्परिक द्वेष, ईर्ष्या और प्रतिस्पर्द्धा के कारण राजस्थान की भूमि पर लड़े गये युद्धों के फलस्वरूप राजस्थान की स्थिति बड़ी चिन्ताजनक होती जा रही थी। इनके अतिरिक्त खूंखार पठानों और पिंडारियों द्वारा की गई लूट-खसोट ने तो राजस्थान की दुर्दशा को चरम सीमा पर पहुंचा दिया था। अन्ततोगत्वा अंग्रेजों के आगमन पर ही सभी उलझनों का प्रतिकार सम्भव हो सका था और प्रान्त में शान्ति-व्यवस्था स्थापित हो सकी। आगे के अध्याय में इन्हीं उलझनों का सविस्तर उल्लेख किया जायेगा तथा उन परिस्थितियों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जायेगा जिसके फलस्वरूप राजस्थान के राजाओं ने सहर्ष व तत्परता के साथ ईस्ट इण्डिया कम्पनी से सन्धियां की।

संदर्भिका

1. एस. पी. डी. भाग 24, पत्र नं. 21, तारीख 27।10।1761
2. माधोसिंह ने नाजिबखां, याकूब अली और बादशाह शाह आलम द्वितीय को मराठा-विरोधी गुट में सम्मिलित होने के लिए *आमन्त्रित किया था।* इसी प्रकार जोधपुर, उदयपुर, कोटा, बून्दी और करौली के नरेशों को मराठा-विरोधी सैनिक अभियान में सहयोग देने को कहा गया था। आर.के. सक्सेना,

'राजस्थान के प्रमुख राज्यों के साथ मराठों का सम्बन्ध' (1761-1818), पृ. 33

3. वही, पृ. 44-45
4. द्रष्टव्य, वही; प्रारम्भ में दिया गया मानचित्र मेवाड़ 1734 ई. से 1778 ई.
5. एम. एल. शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 451
6. महाराजा विजयसिंह री तवारीख, पृ. 88, (पुरालेख विभाग, बीकानेर)
7. भगवतसिंह, चापावत, राठौड़ों का इतिहास, पृ. 228-29
8. जोधपुर राज्य की ख्यात, भाग 3, पृ. 56; मूंदीयाड़ की ख्यात, भाग 2, पृष्ठ 375
9. जदुनाथ सरकार, मुगल साम्राज्य का पतन, भाग 2; पृ. 319-20
10. वही, पृ. 320
11. जी. आर. परिहार, मराठा-मारवाड़ सम्बन्ध (1724-1843), पृ. 74
12. वही, पृ 74
13. जोधपुर राज्य की ख्यात, भाग 3, पृ. 80; तवारीख, पृ. 112
14. महाराजा विजयसिंह का नन्दवाणा ग्राम के बोहरों के नाम पौष कृष्ण 15,1823 । 31 दिसम्बर, 1766 का पत्र; अरजी वही नं. 4, पृ. 286 (जोधपुर रेकार्ड); जोधपुर राज्य की ख्यात, भाग 3, पृ. 80
15. सरकार, भाग 2, पृ. 295
16. हकीकत वही नं. 1, पृ. 169 (जोधपुर रिकार्ड); वीर विनोद, पृ. 1304
17. जोधपुर राज्य की ख्यात, भाग 3, पृ. 92
18. तवारीख, पृ. 131; वीर विनोद, पृ. 1556-57
19. अरिसिंह का विजयसिंह को खरीता, बैशाख वदी 11, वि. सं 1827; 21 अप्रेल, 1770 पोर्टफोलियो फाइल, दस्तरी रिकार्ड, जोधपुर
20. महादजी का विजयसिंह को पत्र, आषाढ़ वदी 2-3, वि. सं. 1828 । 31 मई, 1771 (पोर्टफोलियो फाइल, दस्तरी रिकार्ड, जोधपुर) ।
21. महादजी सिंधिया का विजयसिंह को पत्र, चैत्र कृष्ण 5,1829 23 मार्च, 1772 ई. (पोर्टफोलियो फाइल 6, पत्र 18, जोधपुर रेकार्ड)
22. महादजी सिंधिया का पत्र महाराजा विजयसिंह के नाम, आषाढ़ शुक्ल पक्ष 1830 जून 1773 (पोर्टफोलियो फाइल नं. 6 पत्र नं. 26, जोधपुर रेकार्ड) ।
23. हथवही नं. 2, पृ. 127, 131-32 (जोधपुर रेकार्ड)
24. रघुबीरसिंह, पूर्व-आधुनिक राजस्थान, पृ 196-97
25. आउवा के ठाकुर जैतसिंह को जोधपुर किले में आमन्त्रित कर मार दिया

गया। रामपुर के ठाकुर केसरीसिंह को भी नतमस्तक करवाया। आउवा और रायपुर की जागीरें जब्त कर ली गई।

26. वी. ना. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 384-85; मारवाड़ की ख्यातों में कहीं-कहीं यह भी लिखा मिलता है कि सिन्ध का शासक *गुलाम अली खां* अपने अमीर बीजड़ से बहुत तंग था। उसने महाराजा विजयसिंह से बीजड़ के, विरुद्ध कार्यवाही करने की प्रार्थना की थी। बीजड़ की हत्या से गुलाम अली खां बहुत प्रसन्न हुआ और उसने महाराजा की इस सेवा के बदले उमरकोट पर उसे अधिकार करने की स्वीकृति दे दी थी। द्रष्टव्य: महाराजा विजयसिंह एवं उनका युग, शिवदत्तदान बारठ कृत शोध ग्रन्थ पृ. 172-179 (अप्रकाशित)
27. सरकार, मुगल साम्राज्य का पतन, भाग 3, पृ. 201
28. वही, पृ. 202; प्रतापसिंह नरूका प्रारम्भ मे जयपुर राज्य का एक छोटा-सा जागीरदार था। उसके पास मात्र ढाई गांव थे। उसके एक गांव के नाम पर माचेड़ी वाला कहलाता था। कुछ समय तक वह महाराजा माधोसिंह की सेवा मे रहा था। उस समय उसने वीरता और साहस का परिचय दिया था। महाराजा की तरफ से शंकित होकर वह जाट राजा जवाहर सिंह की सेवा मे चला गया, परन्तु शीघ्र ही वह माधोसिंह के पास पुनः आ गया। फरवरी 1768 ई. में जब जवाहरसिंह जाट के साथ जयपुर का युद्ध हुआ तो उसने स्वामिभक्ति का परिचय दिया और माधोसिंह के पक्ष में लड़ा। इससे प्रसन्न होकर माधोसिंह ने उसे उसकी जागीर लौटा दी। फिर धीरे-धीरे उसने अपनी शक्ति मे वृद्धि की और अलवर राज्य की स्थापना की जिसका क्षेत्रफल 3158 वर्ग मील था।
29. (i) यारटन, गजेटियर ऑफ टेरिटोरीज (ii) सरकार, भाग 3, पृ. 202-3, (iii) रघुवीरसिंह, पृ. 192-93, अन्डर ईस्ट इण्डिया कम्पनी, जिल्द 1, पृ. 101;
30. वीर विनोद, पृ. 1378-79
31. सरकार, भाग 3, पृ. 203; रघुवीरसिंह, पृ. 193
32. सरकार, भाग 3, पृ. 107
33. वही पृ. 127-131; रघुवीरसिंह, पृ. 197
34. वही, पृ. 208, एच. सी. टिकीवाल, जयपुर एण्ड द लेटर मुग़ल्स पृ. 153-156
35. टिकीवाल, वही, पृ. 157 और 159; मथुरालाल शर्मा, मराठो का संक्षिप्त इतिहास, पृ. 397
36. रघुवीरसिंह, पृ. 198-99

37. मथुरालाल शर्मा, वही, पृ. 397
38. रघुवीरसिंह, पृ. 199
39. वही, पृ. 199-200, सरदेसाई, मराठों का नवीन इतिहास, तृतीय खण्ड, पृ. 138
40. महादजी सिन्धिया-सम्बन्धी ऐतिहासिक पत्र, 406, दिल्ली के मराठा दूतों की डाक, जिल्द 1, पृ. 133; आर. के. सक्सेना, पृ. 100-01 एच. सी. टिकीवाल, पृ. 160
41. सरकार, भाग 3, पृ. 210, सरदेसाई ने अपनी पुस्तक 'मराठों का नवीन इतिहास', खण्ड 3, पृ. 152 पर महादजी का शिविर सागानेर के निकट होना लिखा है।
42. वही, पृ. 211
43. सवाई पृथ्वीसिंह के मरणोपरान्त एक पुत्र उत्पन्न हुआ था जिसका नाम मानसिंह था। प्रतापसिंह बालक मानसिंह के पक्ष मे जयपुर की गद्दी छोड़ने के लिए तैयार नही था। उसके मन्त्री खुशालीराम ने बालक की सुरक्षा का ध्यान रखते हुए उसे युक्ति से उसके ननिहाल किशनगढ़ पहुंचा दिया। बाद में मानसिंह उन आदमियों के षड्यन्त्र का साधन बना रहा जो पृथ्वीसिंह से रुष्ट थे। माचेड़ी के रावराजा प्रतापसिंह की योजना थी कि सवाई प्रतापसिंह को राजगद्दी से वंचित कर मानसिंह को गद्दी दिलवाई जाय जिससे वह उसका संरक्षक और मुख्तियार बन सके। उसने महादजी सिन्धिया को इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए प्रेरित किया और इसीलिए बालक मानसिंह को महादजी के पास पहुंचा दिया। पहले तो महादजी ने इस कार्य को करने के लिए अपना मानस बना लिया था परन्तु बाद में उसने ऐसा करना उचित नही समझा। सिन्धिया ने वृन्दावन में जागीर देकर मानसिंह को यावज्जीवन वहां रखा।
44. सरकार, भाग 3, पृ. 210-213; एच. सी. टिकीवाल, पृ. 160-61; आर. के. सक्सेना, पृ. 102-04
45. वही, भाग 3, पृ. 212
46. फॉरेन सीक्रेट 23, 1 जून, 1786 सं. नं. 30 अभिलेखागार दिल्ली; सरदेसाई, खण्ड 3, पृ. 152; एम. एल. शर्मा, हिस्ट्री ऑफ द जयपुर स्टेट, पृ. 199
47. रघुवीरसिंह, पृ. 201; एच. सी. टिकीवाल, पृ. 164
48. दीवान सूरतराम का महादजी को पत्र, कार्तिक सुदी 5, वि. सं. 1883/16 नवम्बर, 1776 (अभिलेखागार बीकानेर)
49. हकीकत वही, नं. 4, पृ. 127 (जोधपुर रिकार्ड); जी. आर. परिहार,

मराठा-मारवाड़ सम्बन्ध, पृ. 87; द्रष्टव्य : संदर्भ टिप्पणियां सं. नं. 2, 3 और 4

50. वही, पृ. 87
51. (i) जोधपुर पेथील राज करणे, पत्र नं. 2, (ii) तवारीख पृ. 187, (iii. वही, पृ. 88, (iv) आर. के. सक्सेना, पृ. 105, पाद टिप्पणी सं. 4
52. ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, द्वितीय खंड, पृ. 734; वेब कृत राजपूताना के सिक्के, अनुवादक डा० मांगीलाल मयंक पृ. 56
53. सिन्धिया सम्बन्धी ऐतिहासिक पत्र नं 411
54. अम्बाजी इंगले का विजयसिंह को पत्र, फाल्गुन बदी 1, वि. सं. 1842/22 फरवरी, 1786 (पो. फो. नं. 2 व फाइल नं. 1 पत्र 6)
55 कलेण्डर फॉर पर्शियन कारस्पोन्डेंस (7) पृ. 564, 565; फॉरेन सीक्रेट जून 23, 1786 नं. 30
56. सरकार, भाग 3, पृ. 215
57. जी. आर. परिहार, पृ. 88, टिकीवाल, पृ. 164
58. जोधपुर पेथील (पूरक) (1); आर. के. सक्सेना, पृ. 106
59. 59–जी. आर. परिहार, पृ. 89; टिकीवाल, पृ. 165 आर. के. सक्सेना, पृ. 106–07
60. फॉरेन सीक्रेट और पालिटिकल, नं. 5, अप्रेल 20, 1787 जी हारपर से गवर्नर जनरल अप्रेल 12, 1787; तिवारी पुरोहित री बही, पृ. 16
61. सरकार, भाग 3, पृ. 218-19, सरदेसाई, भाग 3, पृ. 154, जी. आर. परिहार, पृ. 89,
62. हकीकत बही, नं. 4, पृ. 276 (जोधपुर रिकार्ड), जोधपुर ख्यात, भाग 3, पृ. 112
63. सरकार, भाग 3, पृ. 221-222
64. हिस्टोरिकल पेपर्स, पत्र नं. 502
65. मुहणोत ज्ञानमल (जोधपुर) का पत्र राजराणा जालिमसिंह के नाम पत्र, भाद्रपद, कृष्ण 12, 1844/8 सितम्बर, 1787, आरजी बही नं. 4 पृ. 211 (जोधपुर रिकार्ड)
66. जी. आर. परिहार, पृ. 90
67. वही, पृ. 90 सिंधिया सम्बन्धी ऐतिहासिक पत्र, 500
68. विलियम कर्क पेट्रिक का गवर्नर जनरल को पत्र, 7 जुलाई, 1787, फॉरेन सीक्रेट 20 जुलाई, 1787 नं. 8
69. सरकार, भाग 3, पृ. 223-24, सरदेसाई, भाग 3, पृ. 154 टिकीवाल पृ. 168-69

70. जोधपुर राज्य की ख्यात, भाग 3, पृ. 116-117; सरकार, भाग 3, पृ. 230-233
71. वही पृ. 234-238, सरदेसाई, भाग 3, पृ. 155-56
72. सरकार, भाग 3, पृ. 233-34
73. रघुबीरसिंह, पृ. 202
74 सरदेसाई भाग 3, पृ. 155
75. सरकार, भाग 3, पृ. 238-239; टिकीवाल, पृ. 170
76. सरकार, भाग 3, पृ. 236
77. आर. के. सक्सेना, पृ. 114-16
78. सरकार, भाग 5, पृ. 234
79. महाराजा विजयसिंह री ख्यात, पृ. 87; रेऊ, भाग 1, पृ. 388; जी. आर. परिहार, पृ. 92
80. ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 677-79; रघुबीरसिंह, पृ. 203
81. रघुबीरसिंह, पृ. 203
82 आर. के. सक्सेना, पृ. 117
83. सरकार, भाग 4, पृ. 16
84. अर्जी वही, नं. 4, पृ. 6 (जोधपुर रिकार्ड), रघुबीरसिंह, पृ. 204
85. रघुबीरसिंह, पृ. 204; टिकीवाल, पृ. 173
86. जोधपुर येथीच, पत्र-5
87. जी. आर. परिहार, पृ. 93
88. सरकार, भाग 4, पृ. 15; एम. एल. शर्मा हिस्ट्री आफ जयपुर स्टेट, पृ. 206-07; आर. के. सक्सेना, पृ. 119-120
89. सरकार, भाग 4, पृ. 16-17 पाद टिप्पणी।
90. वही, पृ. 17
91. सरकार, भाग 4, पृ. 17-22; रघुबीरसिंह पृ. 205-06,
92. टॉड, एनल्स एण्ड इन्टिक्यूटिज ऑफ राजस्थान, भाग 1,पृ. 596
93. सरकार, भाग 4, पृ. 31-32
94. वही
95. जी. आर. परिहार, पृ.94
96. वही
97. वही
98. सरकार, भाग 4, पृ. 23
99. वही, जी. आर. परिहार, पृ. 95
100. वही, पृ. 25-30

101. द्रष्टव्य, सरकार भाग 4, पृ. 85; जी. आर. परिहार, पृ. 96, 101
102. वही, पृ. 96-97
105 (अ) माडर्न रिव्यू, जनवरी 1944; उद्धृत मराठों का नवीन इतिहास भाग 3, पृ, 224-25
103. वही, पृ. 97-98
104. वही, पृ. 98
105. सरकार, भाग 4, पृ. 39-40
106. जी. आर. परिहार, पृ. 99-100; आर. के. सक्सेना, पृ. 125-26
107. रेऊ, भाग 1, पृष्ठ 392 रेऊ ने मृत्यु की तिथि 8 जुलाई दी है।
108. सरकार, भाग 4, पृ. 40
109. वही, पृ. 41
110. वही, पृ. 75-79, एम. एल. शर्मा, पृ. 213
111. एम. एल. शर्मा, पृ. 213
112. टॉड, भाग 1, पृ. 352
113. वही, पृ. 353, ओझा, भाग 2, पृ. 680
114. ओझा, भाग 2, पृ. 680-682;
भीम विलास, पृ. 102
अंबाहि ज्वाब कहवाय भीम, हम रांन चरन सेवग कदीम,
जालम करहि रुकसत जाम, महारांन दाय लागहि सुताम,
जालम हि सीख तब दिय दिवांन; लगि रान चरन तब भीम आन।
115. सरकार, भाग 4, पृ. 55;
116. टॉड, भाग 1, पृ. 355; वीर विनोद, भाग 2, प्रकरण 15
117. ओझा, भाग 2, पृ. 683-84
118. रघुबीरसिंह, पृ. 215

अध्याय 6

अराजकता का युग एवं राजस्थान में ब्रिटिश शासन की स्थापना

(1794-1818 ई.)

(क) राजस्थान में मराठा-प्रभुत्व का अवसान

सन् 1792 ई. के आरम्भ में ही राजस्थान की राजनीति में एक विशिष्ट मोड़ आया। मेवाड़-राज्य महादजी सिन्धिया के संरक्षण में आ चुका था। महादजी ने अपने सेनानायक अम्बाजी इंगले को नागरिक व सैनिक अधिकार प्रदान कर मेवाड़ में शासन संचालित करने के लिए नियुक्त कर दिया था। जोधपुर और जयपुर राज्य के राजा महादजी के सम्मुख नत-मस्तक हो गये थे और उन्होंने युद्ध-क्षति व वार्षिक कर के रूप में उसे भारी धन-राशि देना स्वीकार कर लिया था। इन राज्यों के साथ की गई सन्धियों के अनुसार आश्वासित धनराशि एकत्र करने के लिए महादजी ने अपने फ्रांसीसी सेनानायक द बॉय को राजस्थान में छोड़ रखा था। रजवाड़ों से प्राप्त प्रदेशों की व्यवस्था हेतु एक अन्य मराठा सेनानायक लकवा दादा नियुक्त था। इनके अतिरिक्त महादजी सिन्धिया के प्रधान कर्मचारी गोपाल भाऊ और जीवा दादा अपनी-अपनी सैनिक टुकड़ियों के साथ राजस्थान व उत्तरी भारत मे मराठा-हितों की रक्षार्थ नियुक्त थे। इस प्रकार महादजी का राजस्थान में पूर्ण रूप से आधिपत्य स्थापित हो गया था।

राजपूत राजाओं की स्थिति बड़ी दयनीय थी। उनकी आर्थिक स्थिति बहुत खराब थी, फिर भी उन्हें मराठों को बहुत बड़ी धनराशि देने या देने का वादा करने के लिए बाध्य किया जाता था। मराठों के मन में एक गलत धारणा बनी हुई थी कि बादशाह मोहम्मदशाह के शासन काल में जयपुर के सवाई राजा जयसिंह और जोधपुर के महाराजा अभयसिंह ने क्रमशः मालवा और गुजरात की सूबेदारी के समय करोड़ो रुपयों की सम्पत्ति एकत्र की थी। इसका आधार मात्र चारणों के

प्रशंसात्मक विवरण थे जो सदैव बढ़ा-चढ़ा कर किये जाते थे ।[1] वस्तुतः पिछली अर्द्ध शताब्दी से मराठों के निरन्तर आक्रमणों, राज्यों के आन्तरिक झगड़ों व खालसा भूमि पर अवैध अधिकारों की प्रक्रिया के फलस्वरूप इन राज्यों के आय के स्रोत ही कुछ अंशो मे अवरुद्ध हो गये थे । एक तरफ इन राज्यों की आय में कमी हो रही थी, दूसरी तरफ उनके प्रशासन के खर्चे में निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी। आन्तरिक और बाह्य खतरों से निपटने के लिए इन रजवाड़ों को स्थायी फौजों को रखना नितान्त आवश्यक हो गया था। वेतनभोगी सैनिक अधिकांशतः पुरबिया, राजपूत, सिन्धी, अरबी और रहेले होते थे । जयपुर और कोटा के शासकों ने तो अल्प समय के लिए यूरोपीय सेनानायकों को भी अपनी सेना में नियुक्त किया था। उनको वेतन देने के लिए राजाओं को बहुत बड़ी धनराशि एकत्र करनी पड़ती थी। फिर मराठो को भी निश्चित धनराशि का कुछ भाग तो देने के लिए बाध्य होना ही पड़ता था । ऐसी स्थिति में राजपूत राजाओं के पास अधिक धन संग्रहीत होना सम्भव ही नही था । 1743 ई. में जब सवाई जयसिंह का देहान्त हुआ, जयपुर राज्य की आय एक करोड़ रुपये से भी कुछ अधिक थी; परन्तु जिस समय अंग्रेजों ने इस राज्य को अपने संरक्षण में लिया, जयपुर-राज्य की आय मात्र 16 लाख रुपये रह गई थी ।[2] 1786 ई. में जब महादजी ने जयपुर के मंत्री खुशहालीराम बोहरा से 60 लाख रुपयों की मांग की तो बोहरा ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि जयपुर राज्य के कोष में तो 60 लाख पत्थर के टुकड़े भी उपलब्ध नही हैं ।[3] इन तथ्यों का अवलोकन करने के बाद राजपूत राजाओं के पास संग्रहीत धन की कल्पना करने का कोई आधार ही नहीं रह जाता । अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में राजपूत राजा कागजों में मराठों के ऋणी होकर दिवालिया की भाँति बिक चुके थे । राजपूत राजाओं को चढ़ी रकम का भुगतान करना तो दूर रहा, उन्हें कभी-कभी तो अपने दैनिक खर्चे के लिए भी साहूकारों से ऋण लेना पड़ता था । जब कभी मराठा राज्यो मे ससैन्य प्रवेश करते तो बड़ी कठिनाई से कुछ धन उनके लिए जुटाने का प्रयास किया जाता था । इस काल में राजा व उनके मन्त्रियों की सदैव यह नीति रहती थी कि वे मराठा सरदारों को एक दूसरे के विरुद्ध भड़कते रहें । विशेषकर होल्कर और सिन्धिया को लड़ाने के लिए वे प्रयत्नशील रहते थे । इसी से वे अपना हित समझते थे । 1791 ई. में जयपुर के एक मंत्री ने सिन्धिया और होल्कर को दो जंगली हाथियो के नाम से सम्बोधित किया था । वह चाहता था कि इनका दंगल हो और वह बहुत दूर से देखता रहे। इनमें से कोई एक जब तक अपनी श्रेष्ठता स्पष्ट रूप से स्थापित नही कर दे, तब तक वह अपने राजा पर चढ़ी धनराशि का भुगतान मराठो को नहीं करेगा ।[4] सितम्बर 1792 ई. में जयपुर के दीवान दौलतराम हल्दिया ने तुकोजी होल्कर को सिन्धिया से लड़ाने में अहम भूमिका निभाई थी । वह होल्कर से सवाई माधोपुर के

निकट भगवतपुरा के डेरे में मिला। उसने होल्कर को सिन्धिया की फौज से युद्ध करने के लिए प्रोत्साहित किया और उसे आश्वासन दिया कि इस कार्य मे जयपुर-राज्य की सेना भी मदद करेगी। सिन्धिया और होल्कर की फौजों में संघर्ष चालू हो गया।[5] 8 अक्टूबर, 1792 ई. को होल्कर की फौज सुरोली स्थान पर पराजित हुई। फिर लाखेरी के रणक्षेत्र में एक निर्णयात्मक युद्ध हुआ।(जून 1, 1793) जिसमे पुनः होल्कर पराजित हुआ। कुछ समय के लिए वह राजस्थान की राजनीति से पृथक् कर दिया गया।[6] वायदे के अनुसार जयपुर-राज्य की सेना ने होल्कर की मदद नहीं की और न जयपुर राज्य के मन्त्रियों ने इस काल में मराठों की चढ़ी रकम का भुगतान ही किया।

तुकोजी होल्कर का जयपुर-राज्य से सम्बन्ध टूट गया। लाखेरी के रण-क्षेत्र से महादजी का फ्रांसीसी सेनानायक द बॉय सीधे जयपुर पहुंचा और उसने जयपुर के प्रधानमन्त्री दौलतराम हल्दिया को चढ़ी रकम का भुगतान करने को कहा। जयपुर-राज्य की सेना ने द बॉय की सेना की मदद से राज्य के विद्रोही जागीरदारों से धन एकत्रत किया। द बॉय ने राज्य और सामन्तों से कुल मिलाकर 70 लाख रुपयों की वसूली की।[7] जयपुर राज्य अब पूर्ण रूप से महादजी सिन्धिया के नियन्त्रण मे था। सिन्धिया के सेनानायक द बॉय और पैरों दोनों का जयपुर राजा के साथ शिष्टता का व्यवहार रहा। इनके सिपाही भी अनुशासित रूप में विचरण करते थे। अतः अगले कई वर्षों तक जयपुर-राज्य में शान्ति-व्यवस्था बनी रही। जयपुर-राज्य भी वार्षिक कर का भुगतान नियमित रूप से करता रहा। महादजी के इन सेनानायकों ने महाराजा जयपुर को अपने विद्रोही जागीरदारों को कुचलने मे महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया। जो खालसा भूमि अवैध तरीके से ले ली गई थी, वह पुनः मुक्त करवाई गई और उस पर राजा का अधिकार करवा दिया गया। जयपुर-राजा और कोटा के फौजदार जालिमसिंह को द बॉय द्वारा दिये गये पत्रों से उपर्युक्त तथ्यो की पुष्टि होती है।[8]

महादजी के मेवाड़ से पलायन कर जाने के बाद उसका नायब अम्बाजी इंगले ने उदयपुर-राज्य का शासन-भार सम्भाल लिया। सर्वप्रथम उसने रत्नसिंह से कुम्भलगढ का किला खाली करवाने के उद्देश्य से एक सेना भेजी। रत्नसिंह अब शक्तिहीन हो चुका था। 6 दिसम्बर,1792 ई. को कुम्भलगढ़ के किले पर राणा की सेना का अधिकार हो गया, रत्नसिंह किला छोड़ कर भाग गया। किले की व्यवस्था हो जाने के बाद इंगले ने मेवाड़ के सरदारो से दड के रुपये वसूल किये। उसने 12 लाख रुपये चूंडावतों से और 8 लाख रुपये शक्तावतों से एकत्र किये। इसके बाद रायपुर, राजनगर, गुरला, गाडरमाला, हमीरगढ, कुरंज, जहाजपुर आदि स्थानों को देशद्रोही सिन्धी सिपाहियों और राणा-विरोधी सरदारो से छीन कर इन पर पुनः मेवाड़ के राणा का अधिकार करवा दिया। इस प्रकार इंगले ने मेवाड़ की

प्रशासनिक व्यवस्था मे सुधार किया और राणा विरोधी तत्त्वों को कुचल कर मेवाड़ में शान्ति स्थापित कर दी। अगले सात-आठ वर्षों तक मेवाड़ में अमनो-चैन की स्थिति बनी रही। अम्बाजी के प्रशासन-काल में चूंडावतों को अधिक हानि उठानी पड़ी थी। इसलिए उनमें शक्तावतों के विरुद्ध प्रतिशोध की भावना प्रबल होने लगी। वे अब शक्तावतों के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए उपयुक्त समय की प्रतीक्षा में थे।[9]

सन् 1794 ई. में डूंगरपुर के महारावल फतहसिंह ने खड़गबन्दी की रकम राणा को प्रेषित नहीं की। उसने राणा की सत्ता की उपेक्षा की जिससे खिन्न होकर राणा ने डूंगरपुर पर चढ़ाई की और महारावल से 3 लाख रुपये दंड के लिये। इसी प्रकार बांसवाड़ा के रावल विजयसिंह ने भी महाराणा के प्रतिकूल आचरण किये जिससे नाराज होकर महाराणा ने उसके विरुद्ध भी सैनिक कार्यवाही की। उसने भी 3 लाख रुपये दंड के देकर क्षमा-याचना कर ली।[10]

12 फरवरी, 1794 ई. को महादजी सिन्धिया की पूना में मृत्यु हो गई। अब उसका भतीजा दौलतराव उत्तराधिकारी बना। यह बड़ा अस्थिर बुद्धि और दुराचारी व्यक्ति था। आगामी कुछ वर्ष मराठों के लिए बड़े घातक प्रमाणित हुए। एक-एक करके सभी अनुभवी मराठा सरदार इस संसार से जाने लगे थे। 14 अगस्त, 1795 ई. को राज-माता अहल्याबाई का देहान्त हो गया। उसकी मृत्यु से होल्कर-परिवार को बड़ी क्षति पहुंची। 27 अक्टूबर, 1795 ई. को होनहार नवयुवक पेशवा माधव राव भी काल का ग्रास बन गया। पहले तो पेशवा के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर, और इसके तय हो जाने के पश्चात् मराठा शासन के संचालन में एकाधिकार प्राप्त करने के लिए पूना मे निरन्तर षड्यन्त्रों का कुचक्र चलता रहा जिससे मराठा शक्ति का क्षय हुआ। सभी मराठा सरदार पूना की राजनीति मे उलझे रहे। इसका प्रभाव उत्तरी भारत और राजस्थान पर पड़ना स्वाभाविक ही था। राजस्थान के शासन-संचालन का कार्य अभी मराठा सेनानायकों के हाथ में ही रहा। 1795 ई. के अन्त में द बॉय सिन्धिया की फौज से अवकाश प्राप्त कर अपने देश फ्रांस को लौट गया था। उसका उत्तराधिकारी पैरों में द बॉय जैसी प्रतिभा, कार्यकुशलता व योग्यता नहीं थी। कुछ समय बाद महादजी के समय का योग्य प्रशासक और कुशल सेनानायक जीवाजी दादा की भी मृत्यु हो गई। अब राजस्थान में स्थित सेना नायकों को एक सूत्र में बांध कर मराठों के हित मे उनसे कार्य लेना किसी एक व्यक्ति की सामर्थ्य की बात नहीं थी। उनमें एक दूसरे के प्रति घोर मतभेद थे। उनकी प्रतिस्पर्द्धा और स्वार्थपरता के कारण राजस्थान की भूमि पर इन मराठा सेनानायकों के मध्य अनेक युद्ध हुए जिससे मराठा शक्ति को तो आघात पहुंचा ही, राजस्थान की बरबादी भी खूब हुई। सर्वत्र अराजकता व अशान्ति का वातावरण बन गया।[11]

दौलतराव सिंधिया ने अपना कार्यभार सम्भालने के तुरन्त बाद अम्बाजी इंगले को हिन्दुस्थान के पूर्वी भाग का, जिनमें झांसी आदि क्षेत्र सम्मिलित थे, सूबेदार नियुक्त कर उसे मेवाड़ छोड़ने के आदेश भेजे। इंगले ने अपने दीवान नाना गणेश पन्त को मेवाड़ का शासन-प्रबन्ध चलाने के लिए नियुक्त कर दिया और उसकी सहायता के लिए सवाई सिंह मेहता और शेरसिंह मेहता को रखा। नाना गणेश ने भी शक्तावतों का पक्ष लिया और चूंडावतों को बहुत हानि पहुंचाई। उसने अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर मेवाड़ में जोर-जुलम से धन एकत्र किया। चूंडावत सरदार से कुरावड़ की जागीर छीन ली और सलूम्बर पर तोपों के मोर्चे लगवाये जिससे भयभीत होकर चूंडावतो के सहयोगी सिन्धी सिपाहियों ने भाग कर देवगढ़ मे शरण ली। मेवाड़ में पुनः अशान्ति और अराजकता का वातावरण व्याप्त होने लगा।[12]

चूंडावतो ने अपनी दीन-हीन दशा का कारण शक्तावतों को ही माना। अतः वे येन-केन-प्रकारेण अपने विरोधी शक्तावतों से बदला लेने के लिए प्रयत्नशील थे। उन्होंने अपने प्रतिनिधि अजीतसिंह को इंगले के पास भेजा। वह उस समय दतिया की लड़ाई में व्यस्त था। अजीतसिंह ने 10 लाख रुपयों का लालच देकर इंगले को अपने पक्ष में कर लिया। इंगले ने अपने नायब गणेश पन्त को शक्तावतों का साथ छोड़ देने के लिए लिख दिया। अपने स्वामी के आदेशानुसार गणेश ने शक्तावतों का पक्ष लेना छोड़ दिया और वह चूंडावतों का पक्षपाती बन गया (अक्टूबर 1796 ई. के लगभग)। शक्तावतों के गुट से सम्बन्धित प्रधान सतीदास तथा सोमचन्द गांधी के पुत्र जयचन्द कैद कर लिये गये और मेहता अगरचन्द को प्रधान के पद पर नियुक्त कर दिया गया। रावत भीमसिंह चूंडावत को मेवाड़ का मुसाहिब बनाया गया। अब भीमसिंह व अन्य चूंडावत सरदारो ने मिलकर शक्तावतो से 10 लाख रुपये वसूल किये और उनकी दो जागीरें-हींता तथा सेमारी जब्त कर लीं।[13]

अल्प आयु, मन्द बुद्धि और अशिक्षित दौलतराव ने पूना में अपने मंत्रिमंडल में परिवर्तन किये जिसके फलस्वरूप उत्तरी भारत के प्रधान सेनापति गोपाल भाऊ को पदच्युत कर उसके स्थान पर शेणवी लकवा दादा को नियुक्त किया गया। नवम्बर 1794 ई. को उसने जग्गू बापू के साथ उत्तरी भारत में पहुंच सिंधिया के प्रतिनिधि के रूप मे कार्यभार सम्भाल लिया। यह नया पद लकवा के लिए पुष्प-शैया प्रमाणित नही हुआ। धन की बहुत कमी थी। सैनिकों को समय पर वेतन नहीं मिल रहा था, इसलिये सेना में सर्वत्र असन्तोष व्याप्त था। पूना मे दलगत द्वेष और राजनीतिक प्रपंचों व कुचक्रों के कारण अव्यवस्था व अनिश्चितता की स्थिति बनी हुई थी। निजाम के साथ युद्ध और नवयुवक पेशवा की मृत्यु (अक्टूबर 1795 ई.) के कारण मराठा राज्य की केन्द्रीय शक्ति शून्य हो चुकी थी। वहां से लकवा को किसी प्रकार की सहायता मिलना सम्भव नही था। 1795 ई. के अन्त मे द वॉय

अवकाश प्राप्त कर अपने देश फ्रांस को लौट गया था। इससे मराठों को उत्तर में एक विश्वसनीय और प्रबल रक्षक से वंचित होना पड़ा था। इसके अतिरिक्त भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा की तरफ से जमनशाह के आक्रमणों का भय शरद ऋतु के आरम्भ मे हर वर्ष बना रहता था। ऐसी स्थिति में लकवा दादा के लिए कोई नयी योजना बनाकर महत्त्वपूर्ण कार्य हाथ में लेना सम्भव नहीं था। राजस्थान मे मराठा शक्ति में शिथिलता आने लगी थी। बिना सैनिक कार्यवाही किये राजस्थान के राजाओं से वार्षिक कर की वसूली नही की जा सकती थी। राजपूत राजा मराठों के चुंगल से मुक्त होने के लिए छटपटाने लगे थे। जयपुर और कोटा के शासकों ने तो अपने राज्यों की रक्षा के लिए मई 1795 ई. में अंग्रेजों के साथ सन्धि करने का एक असफल प्रयास भी किया था।[14]

मराठा राजधानी पूना में निरन्तर चलते रहने वाले कुचक्रों व षड्यन्त्रों के फलस्वरूप नवम्बर 1796 ई. में लकवा दादा को कैद करने के आदेश उत्तरी भारत मे दौलतराव सिंधिया द्वारा भेजे गये। लकवा पूर्व दिशा मे अवध की ओर पलायन कर गया। यद्यपि एक महीने के बाद ही दौलतराव ने उसे पुनः अपने पुराने पद पर आरूढ़ कर दिया था, फिर भी वह कुछ समय तक बड़ी सावधानी वरतता रहा। वह दस माह तक अपने पद पर वापस नहीं लौटा। उसकी अनुपस्थिति मे उत्तरी भारत मे समस्त सत्ता जग्गू बापू के हाथो में रही।[15]

कुछ समय के बाद जब लकवा और जग्गू बापू भोपाल की ओर जा रहे थे, सागर के निकट 10 मार्च, 1798 ई. को वे दौलतराव के आदेशानुसार कैद कर लिये गये। उत्तरी भारत का राज्य-प्रबन्ध अस्थायी रूप से अम्बाजी इंगले के पास रहा।

इस समय पूना मे दौलतराव का मुख्य सलाहकार सर्जेराव घाड़गे था। कुछ समय से महादजी की विधवाओं और दौलतराव के बीच मनमुटाव चल रहा था। 15 मई, 1798 ई. को सर्जेराव ने महादजी की विधवाओं के साथ अभद्र व्यवहार किया जिसके परिणामस्वरूप इन विधवाओं ने दौलतराव के विरुद्ध खुला विद्रोह आरम्भ कर दिया। सिंधिया का परिवार दो गुटों में विभाजित हो गया और गृह-युद्ध आरम्भ हो गया। अगस्त 1798 ई. में लकवा और जग्गू बापू कैद से निकल भागे। उन्होंने विधवाओं का पक्ष लिया और लकवा उनके प्रतिनिधि के रूप मे उत्तरी भारत मे कार्य करने लगा। अम्बाजी इंगले और फ्रांसीसी सेनानायक पेरों ने दौलतराव का साथ दिया। इस प्रकार उत्तरी भारत में इन दो गुटो में संघर्ष चालू हो गया। राजस्थान भी इससे अछूता नही रह सका।[16] अम्बाजी इंगले के सेनानायकों और लकवा दादा की फौजों के बीच मेवाड़ मे लगभग एक वर्ष तक संघर्ष चलता रहा।

उत्तरी भारत मे महादजी की विधवाओं के प्रतिनिधि लकवा दादा ने अपने को मेवाड़ का सूबेदार घोषित किया। इंगले पहले से ही मेवाड़ का सूबेदार था और उसका नायब नाना गणेश पन्त मेवाड़ का शासन चलाने के लिए वहां नियुक्त था। इस प्रकार मेवाड़ की सूबेदारी के दो दावेदार हो गये थे। लकवा ने महाराणा को लिखा कि वह इंगले के नायब गणेश पन्त को मेवाड़ से बाहर निकाल दे। दूसरी तरफ इंगले ने अपने नायब गणेश पन्त को सूचित किया कि वह शेणवियों (लकवा आदि को) मेवाड़ में नही घुसने दे। इन दिनो मेवाड़ के प्रशासन मे चूंडावतो का बोलबाला था। महाराणा उन्हीं के हाथों में था। चूंडावत अम्बाजी से नाराज थे क्योंकि वह उनके शत्रु राजराणा झाला जालिमसिंह का परम मित्र था। अतः चूंडावत सरदार इंगले के नायब गणेश पन्त को मेवाड़ से बाहर निकालने के लिए उत्सुक थे। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने जोधपुर के महाराजा भीमसिंह से सहयोग प्राप्त करने के भी प्रयत्न किये। इसी संदर्भ मे उन्होने मेवाड़ी राजकुमारी कृष्णा कुमारी का महाराजा भीमसिंह के साथ विवाह करने का प्रस्ताव रखा था।[17] इस विषय पर सविस्तार विवरण आगे दिया जायेगा।

अब लकवा दादा और अम्बाजी इंगले के बीच उत्पन्न संघर्ष से चूंडावतों ने लाभ उठाना चाहा। नाना गणेश ने मेवाड़ के राणा से लकवा के विरुद्ध सैनिक सहयोग चाहा। तब चूंडावतो ने दोहरी नीति का अनुसरण किया। उन्होने गणेश पन्त को मदद देने का आश्वासन दिया और सलाह दी कि वह लकवा के विरुद्ध युद्ध आरम्भ करे। दूसरी तरफ उन्होंने लकवा को भी गणेश के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने के लिए प्रोत्साहित किया। सर्वप्रथम लावा स्थान पर गणेश पन्त और लकवा की फौजों मे युद्ध हुआ। मेवाड़ी सेना की सहायता न मिलने के कारण गणेश पन्त पराजित हुआ और वह भाग कर चित्तौड चला गया। अब दोनो पक्षो ने मेवाड़ के राणा से सहायता मांगी। इसी बीच गणेश पन्त पुनः एक और लड़ाई मे हारा और उसने हमीरगढ़ में जाकर शरण ली। इस घटना के बाद मेवाड़-राज्य की तरफ से एक फौज शेणवियो की सहायतार्थ मेहता अगरचन्द (प्रधान), सलूम्बर के रावत भीमसिंह, आमेट के ठाकुर रावत प्रतापसिंह आदि अन्य चूंडावत सरदारों के नेतृत्व मे भेजी गई। गणश पन्त ने अपने शत्रुओं का डट कर मुकाबला किया। हमीरगढ़ के रावत धीरतसिंह के दो पुत्र-अभयसिंह और भवानीसिंह मारे गये। इसी समय लकवा दादा, जो अभी मालवा में अपने प्रतिद्वन्द्वियों के विरुद्ध लड़ रहा था, मेवाड़ पहुंचा (9 अप्रेल, 1799 ई.)। उधर गणेश पन्त की सहायता के लिए एक सेना अम्बाजी के सेनानायक गुलाबराव कदम के नेतृत्व में आ पहुंची। गुलाबराव की सेना के साथ मेवाड़ की राजकीय सेना की मूसामूसी गांव के पास मुठभेड़ हुई। इस लड़ाई में मेवाड़ी सेना पराजित हुई। चूंडावतों ने अब भाग कर शाहपुरा में जाकर शरण ली। वहां से पुनः सज-धज कर लकवा के तोपखाने के साथ उन्होंने आगे बढ़ कर

हमीरगढ़ को जा घेरा और गोलन्दाजी शुरू कर दी जिससे किले की एक दीवार को क्षति पहुंची। गणेश भागने की तैयारी कर रहा था कि एक अन्य फौज वहां आ पहुंची जिसका नेतृत्व अम्बाजी के भाई बालेराव, बापू सिंधिया, जसवन्तराव सिंधिया, कप्तान बटरफील्ड और कोटा के जालिमसिंह कर रहे थे। इस सेना ने घोसूंडी गांव में अपना डेरा लगाया। गणेश पन्त भी हमीरगढ़ से निकल इस सेना में सम्मिलित हो गया (अप्रेल 1799 ई.)। लकवा दादा और मेवाड़ी सेनाओं ने भी चित्तौड़ के पास पहुंच कर अपने शिविर कायम कर लिये। दोनों पक्षों में छुट-पुट झड़पें होती रहीं। कुछ समय के बाद बालेराव और गणेश पन्त में सैनिकों के वेतन के प्रश्न को लेकर आपस में मतभेद हो गया। गणेश पन्त अब सांगानेर चला गया। बालेराव लकवा से समझौता कर मेवाड़ छोड़ कर वापस मालवा लौट गया (10 मई, 1799 ई.)। लकवा दादा उदयपुर की तरफ पलायन कर गया।[18]

इन दिनों दौलतराव के सामने एक नया संकट उत्पन्न हो गया था। तुकोजी होल्कर के उत्तराधिकारी उसके अनौरस पुत्र यशवन्तराव और दौलतराव के बीच भी संघर्ष चालू हो गया। यशवन्तराव बड़ा साहसी और वीर था। उसने महादजी की विधवा स्त्रियों का पक्ष लिया और मालवा में भयंकर रूप से लूट-खसोट आरम्भ कर दी। विधवाओं से युद्ध करने में दौलतराव को बड़ी धनराशि खर्च करनी पड़ रही थी। उसे बहुत बड़ी रकम ऋण के रूप में एकत्र करनी पड़ी। अब लकवा दादा और यशवन्तराव की सम्मिलित सेना उसके लिए बहुत बड़ा संकट उत्पन्न कर सकती थी। उसे अपनी दुर्बल स्थिति का अनुभव होने लगा था। अतः उसने विधवाओं से समझौता कर लेने में ही अपना हित समझा। जब दौलतराव का महादजी की विधवा स्त्रियों से मेल हो गया तो उसने लकवा दादा को पुनः उत्तरी भारत का प्रमुख अधिकारी नियुक्त कर दिया।[19]

इतना होने पर भी मेवाड़ में अम्बाजी और लकवा दादा के बीच संघर्ष का अन्त नहीं हुआ था। अम्बाजी मेवाड़ की सूबेदारी छोड़ना नहीं चाहता था। वह पिछले आठ वर्षों से वहां धन-संग्रह कर रहा था। उसने अपने पुत्र भाऊ इंगले को जार्ज टॉमस[20] की सधी हुई सेना के साथ मेवाड़ भेजा। टॉमस की सेना में सदरलैंड[21] भी अपनी सैनिक टुकड़ी के साथ सम्मिलित हो गया। उन्होंने मेवाड़ में प्रवेश कर चूंडावतों के देवगढ़, आमेट, कोशीथल आदि गांव लूटे और वहां से लाखों रुपये वसूल किये। लकवा ने भी इनका मुकाबला करने के लिए देबारी के पास अपने डेरे डाले। टॉमस और सदरलैण्ड की फौजें भी वहां पहुंच गईं। कुछ दिनों बाद सदरलैंड तो वहां से चला गया परन्तु टॉमस वहां अड़ा रहा। दोनों पक्षों में झड़पें होती रहीं। वर्षा ऋतु होने के कारण जम कर युद्ध नहीं हो सका। लकवा ने टॉमस को कहलाया कि दौलतराव ने अंबाजी और लकवा के बीच समझौता कर लेने के आदेश दिये हैं। इसकी पुष्टि में दौलतराव के पत्र भी उसके सामने प्रस्तुत किये गये,

परन्तु टॉमस ने यह कहकर कि वह तो अंबाजी का नौकर है, समझौता प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। अंबाजी के प्रमुख सेनानायकों को घूस देकर ने उन्हें युद्ध नहीं करने के लिए तैयार कर लिया था। ऐसी स्थिति में टॉमस पीछे हटकर मेवाड़ के उत्तर में स्थित शाहपुरा के निकट अपने डेरे लगाने को विवश होना पड़ा। दोनों तरफ की फौजें आमने-सामने पड़ी रहीं। यदा-कदा झड़पें होती रहीं और दोनों ओर के सैनिक भी बड़ी संख्या में आहत हुए, परन्तु निर्णयात्मक युद्ध नहीं हो सका। टॉमस ने अपने स्वामी के लिए 4 लाख रुपये मेवाड़ी जनता से वसूल किये थे। उधर लकवा ने भी मेवाड़ी सामन्तों से बहुत बड़ी धनराशि प्राप्त की। मेवाड़ में चौफेर अराजकता और अशान्ति का वातावरण छाया हुआ था। अन्ततोगत्वा दौलतराव ने अम्बाजी इंगले के स्थान पर लकवा दादा को मेवाड़ का सूबेदार नियुक्त कर दिया। इसके पहले लकवा दादा मेवाड़ छोड़ कर अजमेर की तरफ प्रस्थान कर गया था, और उसने किशनगढ़ का घेरा डाल दिया। इस प्रकार टॉमस का मन्तव्य भी पूर्ण हो गया क्योंकि लकवा मेवाड़ प्रदेश से बाहर चला गया था। इधर फ्रांसीसी सेनानायक पेरों भी लकवा का सहयोगी बन गया था। उसने अंबाजी इंगले पर दबाव डाला कि वह दौलतराव सिन्धिया के आदेशानुसार लकवा से मैत्री करके मेवाड़ के सभी अधिकार उसे दे दे और वहां से अपना दखल उठा ले। इंगले ने विवश होकर पेरों को मध्यस्थ बना कर लकवा से सन्धि कर ली तथा जार्ज टॉमस को छुट्टी दे दी (नवम्बर 5, 1799 ई.)। वह बीकानेर की ओर चला गया। अब लकवा मेवाड़ का सर्वेसर्वा बन गया।[22]

जनवरी 1800 ई. में लकवा पुनः मेवाड़ आया। उसने शाहपुरा के राजा से जहाजपुर का सुदृढ़ किला छीन लिया और इसे महाराणा को सुपुर्द कर दिया। महाराणा ने इस सेवा के लिए लकवा को छः लाख रुपये दिये। लकवा ने छः महीने तक मेवाड़ में शक्ति से शासन का संचालन किया और वहां से 24 लाख रुपये वसूल किये। फिर अपने सेनानायक जसवन्तराव भाऊ को मेवाड़ का प्रबन्धक नियुक्त कर वह स्वयं जयपुर की ओर प्रयाण कर गया।[23] यशवन्तराव ने बनेड़ा के राजा से 13 हजार रुपये वसूल किये।[24]

दौलतराव के दरबार में एक बार फिर एकाएक परिवर्तन हुआ जिससे राजस्थान की राजनीतिक परिस्थितियों में भारी अन्तर आया। सर्जेराव घाडगे की सलाह से दौलतराव ने अपने प्रधान मन्त्री बालोबा तात्या को कैद कर लिया और लकवा को भी कैद करने के लिए उत्तरी भारत के पदाधिकारियों को आदेश भेजे (25 अप्रेल, 1800 ई.)। जैसे ही इसकी सूचना मिली 5 मई, 1800 ई. को लकवा, जगु बापू और उसके अन्य साथी मराठा-शिविर से निकल भागे और अजमेर पहुंच कर जोधपुर के महाराजा भीमसिंह से मैत्री और पारस्परिक सहयोग की सन्धि कर ली। लकवा ने अपने बाल बच्चों व माल-असबाब जोधपुर महाराजा के

हमीरगढ़ को

क्षति पहुंचने छोड़ने का निर्णय लिया। लकवा का विद्रोह फिर से प्रारम्भ हो गया। पहुंची जिसेस मे महादजी की विधवा रानियों के साथ भी दौलतराव का पुनः युद्ध कप्तान गया। दौलतराव ने लकवा के स्थान पर एक बार फिर अम्बाजी इंगले को में उत्तरी भारत में प्रमुख पदाधिकारी नियुक्त कर दिया।

हो इस बार भाग्य ने लकवा का साथ नहीं दिया। कुछ समय के बाद अजमेर पर पेरों के एक सेनानायक ने अधिकार कर लिया। तब अक्टूबर के प्रारम्भ में लकवा अजमेर छोड़ उदयपुर पहुंचा। वहां से 2 लाख रुपये वसूल किये और फिर मालवा की तरफ प्रस्थान कर गया। वहां उसे कई स्थानों पर युद्ध लड़ने पड़े। ग्वालियर के पूर्व में स्थित सेहुंडा नामक स्थान पर अन्तिम बार पेरों की फौज से पराजित होकर कोई एक वर्ष बाद दीन-हीन अवस्था में वह मेवाड़ पहुंचा जहां सलूम्बर में 7 फरवरी, 1802 ई. को उसकी मृत्यु हो गई।[25]

अम्बाजी इंगले और लकवा दादा की सूबेदारी के 10 वर्षों में मेवाड़-राज्य की बड़ी दुर्दशा हुई। मराठा आक्रमणकारियों का यह प्रमुख स्थल बन गया। अराजकता और अशान्ति की स्थिति मे मेवाड़ क्षेत्र के व्यापार और कृषि दोनों को ही अपार क्षति पहुंची। मेवाड़ी जनता सदैव भयभीत और आतंकित रहती थी। उसके माल और जान की कोई सुरक्षा नहीं थी। चूंडावतों और शक्तावतों के संघर्ष ने भयंकर रूप धारण कर लिया था जिससे राज्य और ठिकानों की आर्थिक स्थिति क्षत-विक्षत हो चुकी थी। यद्यपि मराठा-शक्ति सरदारों के पारस्परिक झगड़ों के फलस्वरूप बहुत कमजोर हो गई थी, फिर भी मेवाड़ के महाराणा ने इससे कोई लाभ नहीं उठाया क्योंकि मेवाड़ी सामन्तों के मतभेद और आन्तरिक कलह के कारण वह संयुक्त रूप से कोई निर्णय लेने की स्थिति में ही नही था। इस काल में मेवाड-मराठा सम्बन्धों में एक मौलिक परिवर्तन आया। अब मेवाड़-राज्य का व छत्रपति से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रह गया था। होल्कर और सिन्धिया ने पेशवा और छत्रपति का स्थान ले लिया था। इसे मराठा-शक्ति के पराभव का ही द्योतक माना जायेगा।

मेवाड़ की दुर्दशा का अभी अन्त नहीं हुआ था। दौलतराव सिन्धिया और यशवन्तराव होल्कर के तनाव-पूर्ण सम्बन्धों में किसी प्रकार का सुधार नही हो पाया था। यशवन्तराव के भाई विठोजी होल्कर के बध के पश्चात् तो इन दोनो सरदारों के बीच मालवा में कई स्थानों पर घमासान युद्ध हुए। इन्दौर के युद्ध में पराजित होकर 1802 ई. के प्रारम्भ में होल्कर मेवाड़ पहुंचा। सिन्धिया की सेना भी उसका पीछा करती हुई आ रही थी। जनवरी के अन्त तक होल्कर नाथद्वारे के निकट पहुंच गया। उसने नाथद्वारे के गोस्वामियों से तीन लाख रुपये मांगे। वह मन्दिर की सम्पत्ति को भी लूटना चाहता था। जैसे ही महाराणा को होल्कर के इन अपवित्र इरादों का पता चला, उसने तुरन्त कुछ सैनिक नाथद्वारे भेजे। गोस्वामी मय मूर्तियो

के इन सैनिकों की सहायता से सुरक्षित रूप से उदयपुर पहुँच गया। होल्कर को नाथद्वारा से यथेष्ट द्रव्य नहीं मिला, परन्तु कांकरोली से उसने पर्याप्त धन प्राप्त किया। उसने मेवाड़ी सामन्तों से दंड के रूप में लाखों रुपये वसूल किये और फिर वह अजमेर के मार्ग से जयपुर और कोटा की ओर पलायन कर गया। उसको पीछा करते हुए सिन्धिया के सेनानायक भी मेवाड़ पहुँचे। उन्होंने महाराणा से 3 लाख रुपये वसूल किये। मराठों की लूट की प्रवृति की यह पराकाष्ठा थी कि उन्होंने मन्दिरों की सम्पत्ति तक को हड़पने में हिचक अनुभव नहीं की। मराठे घोर पतन की ओर अग्रसर हो रहे थे।[26]

मराठों के बढ़ते उपद्रव व अत्याचारों से देश की रक्षा करने हेतु मेवाड़ के तत्कालीन प्रधान मन्त्री मौजीराम ने महाराणा को सलाह दी कि मेवाड़ी सेना यूरोपीय ढंग से सुशिक्षित की जाय और उसके खर्च के लिए सरदारों से रकम वसूल की जाय। सरदारो को जब इसका पता चला तो उन्होंने अपने स्वार्थवश उसे पदच्युत कर उसके स्थान पर सतीदास गांधी को पुनः प्रधान मन्त्री बनाया (मार्च 1802 ई.)। अम्बाजी इंगले बालाराव ने सतीदास गांधी और शक्तावतों से मेल कर चूंडावतों के विरुद्ध एक संयुक्त गुट तैयार कर लिया। उसने महाराणा के भूतपूर्व मन्त्री देवीचन्द को, जो चूंडावतों का पक्षपाती था, कैद कर लिया और चूंडावतों की जागीरें जब्त कर लीं। बालाराव ने मौजीराम को भी कैद करना चाहा, परन्तु महाराणा ने इसका विरोध किया। इस पर मराठा-सेना राजमहल की ओर बढ़ी। तब तो साहसी मौजीराम ने बालाराव तथा उसके साथियो को कैद कर लिया। चूंडावतों ने मराठा सेना पर आक्रमण कर उसे तितर-बितर कर भगा दिया। बालाराव के कैद होने की सूचना मिलने पर कोटा का झाला जालिमसिंह एक फौज लेकर मेवाड़ पर चढ़ आया। भींडर और साबा के शक्तावत सरदार भी अपनी सेनाओं के साथ उससे आ मिले। वे अब उदयपुर की ओर अग्रसर होने लगे। महाराणा ने भी चूंडावतो के दबाव के फलस्वरूप एक सेना उनसे मुकाबला करने के लिए उदयपुर से रवाना की। चेजा घाटी के पास चार-पांच दिनो तक दोनों फौजों में संघर्ष चलता रहा। बाद मे सुलह हो गई। राणा ने बालाराव व उसके साथियों को कैद से मुक्त कर दिया और युद्ध के खर्चे के रूप मे राणा ने जहाजपुर का परगना झाला जालिमसिंह को सुपुर्द कर दिया। जालिमसिंह ने अपनी ओर से विष्णुसिंह शक्तावत को वहां का हाकिम नियुक्त किया।[27]

सन् 1803 ई. में यशवन्त होल्कर एक बार फिर मेवाड़-प्रदेश में प्रविष्ट हुआ। उसने महाराणा से 40 लाख रुपये मांगे। महाराणा ने बड़ी कठिनाई से 12 लाख रुपये उसे दिये। होल्कर ने देवगढ़, लावा और बदनौर के सरदारों से भी दंड के रुपये वसूल किये। फरवरी 1804 ई. के अन्त तक वह अजमेर के आस-पास घूमता रहा और लूट-खसोट कर धन एकत्र करता रहा।[28]

सन् 1803–04 ई. में भोंसला और सिन्धिया अंग्रेजों से युद्ध करने में व्यस्त रहे। होल्कर भी 1804 ई. में फिरंगियों से लड़ रहा था। अतः राजस्थान के राजाओं को कुछ समय तक मराठों से राहत मिली। सिन्धिया का अंग्रेजों के साथ हो जाने के बाद मई 1805 ई. में दौलतराव और यशवन्तराव (अंग्रेजों से सन्धि हो चुकी थी) दोनों एक साथ हाड़ौती के मार्ग से अजमेर होते हुए मेवाड़ पहुंचे। अंग्रेजों द्वारा पराजित होने से उनकी शक्ति व प्रतिष्ठा को बड़ी ठेस पहुंची थी। उनके पास धन की बहुत कमी थी। वे चाहते थे कि मेवाड़ पर उनका प्रभुत्व बना रहे जिससे वे अपने परिवार के सदस्यों को मेवाड के पहाड़ी किलों में संकट-काल में सुरक्षित रख सकें। उस समय अंबाजी इंगले ने, जो उसके प्रतिद्वन्द्वी लकवा दादा को सहायता देने के कारण महाराणा से नाराज था, होल्कर और सिन्धिया को सलाह दी कि वे मेवाड-राज्य को आपस में दो भागों में बांट लें।

इस समय रावत संग्रामसिंह शक्तावत तथा कृष्णदास पंचोली तो होल्कर के और रावत सरदारसिंह चूंडावत सिन्धिया के दरबार में महाराणा के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित थे। जैसे ही उन्होंने इंगले के प्रस्ताव के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की, वे बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने अपने पारस्परिक मतभेदों को भुलाकर संगठित होकर कूटनीति से मराठा-सरदारों द्वारा मेवाड़ के बंटवारे को रोकने का सफल प्रयास किया। टॉड ने इस सम्बन्ध में बड़ा मार्मिक विवरण दिया है। महाराणा के प्रतिनिधियों ने होल्कर के समक्ष महाराणा की दयनीय स्थिति का मर्मस्पर्शी विवरण प्रस्तुत किया जिससे होल्कर भावविभोर हो गया। उधर दौलतराव की पत्नी बैजाबाई के माध्यम से सिन्धिया को भी इंगले के प्रस्ताव पर ध्यान न देने के लिए दबाव डलवाया। अन्ततोगत्वा होल्कर ने सिन्धिया से कहा कि महाराणा हमारे मालिकों के मालिक हैं, उसे उत्पीड़ित करना उचित नहीं। उसके जो प्रदेश छीन लिए हैं, हमें उन्हें वापस दे देना चाहिए। सिन्धिया ने होल्कर के सुझाव को मान लिया। होल्कर ने निम्बाहेड़ा का परगना महाराणा को लौटा दिया। इसी बीच होल्कर के पास सूचना पहुंची कि महाराणा का वकील भैरवबख्श लार्ड लेक के शिविर में पहुंच मराठों को मेवाड़ से बाहर निकालने के लिए अंग्रेजों से सैनिक सहायता प्राप्त करने हेतु प्रयत्नशील है। इस समाचार से होल्कर बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने महाराणा के प्रतिनिधियों को बड़ा फटकारा और वह खिन्न होकर मेवाड़ छोड़ कर उत्तर की ओर प्रस्थान कर गया। होल्कर के चले जाने के बाद सिन्धिया ने सदाशिव के माध्यम से मेवाड़ से 16 लाख रुपये वसूल किये।[29]

अनर्गल और निःसंकोच रूप से मराठों द्वारा की गई लूट-खसोट से मेवाड़ को बड़ी क्षति पहुंची। उसकी बड़ी दुर्दशा हो रही थी। महाराणा भीमसिंह कमजोर और अविवेकी शासक था। उसमें अपने सभी सामन्तों को साथ लेकर संयुक्त रूप से राज्य के हित में कार्य करने की क्षमता ही नहीं थी। उसे नये-नये उपद्रवों का

सामना करना पड़ रहा था। कुंवरी कृष्णाकुमारी के विवाह के प्रश्न को लेकर राजस्थान के इतिहास में एक बहुत बड़ा बखेड़ा खड़ा हो गया जिसमें राजस्थान के लगभग सभी छोटे-बड़े राजा उलझ गये थे। इसका सविस्तर विवरण आगे जोधपुर के इतिहास की जानकारी देते समय किया जायेगा।

यह ऊपर बताया जा चुका है कि लाखेरी के युद्ध के पश्चात् जयपुर-राज्य पर सिन्धिया का पूर्णतया नियन्त्रण स्थापित हो गया था। सिन्धिया के फ्रांसीसी सेनानायक द बॉय और पेरों नियमित रूप से जयपुर राज्य से वार्षिक कर वसूल कर लेते थे। महाराजा प्रतापसिंह के साथ उनका मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बना रहा। फरवरी, 1794 ई. में महादजी सिन्धिया की मृत्यु पर उसके परिवार में कुछ अव्यवस्था होने लगी थी। जयपुर के राजा ने अपने को मराठा आधिपत्य से मुक्त करने के उद्देश्य से अपने एक फ्रांसीसी पदाधिकारी कप्तान जे. पिल्लेट के माध्यम से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के गवर्नर जनरल के पास सन्धि-प्रस्ताव भिजवाया, परन्तु उस समय कम्पनी देशी राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति का अनुसरण कर रही थी; इसलिए गवर्नर जनरल ने महाराणा के सन्धि-प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया।

द बॉय के अवकाश ग्रहण कर लेने के बाद सिंधिया के सेनानायकों के आपसी झगड़ों व दौलतराव द्वारा पूना में अपने मन्त्रिमण्डल में बार-बार परिवर्तन करने के फलस्वरूप राजस्थान में मराठा-प्रशासन में अनिश्चितता व शिथिलता आने लगी थी। 1798 ई. में कुछ समय से जयपुर राज्य से भी नियमित रूप से कर की वसूली नहीं हो रही थी। इस पर लकवा दादा ने रेवाड़ी में नियुक्त मराठा अधिकारी वामनराव को जयपुर-राज्य पर आक्रमण करने का आदेश दिया। उसने आयरलैंड-निवासी सेनानायक जार्ज टॉमस को भी अपनी सहायतार्थ ससैन्य साथ लिया। जनवरी 1798 ई. में वे जयपुर राज्य की सीमा में प्रविष्ट हुए। खण्डेला और शेखावाटी के अन्य विद्रोही सरदारों ने भी मराठा सेना का साथ दिया। जयपुर महाराजा ने रोडजी खवास के नेतृत्व में एक सेना आक्रमणकारियों का सामना करने के लिए जयपुर से रवाना की। 8 फरवरी, 1798 ई. को इन दोनों सेनाओं के बीच फतहपुर में घमासान युद्ध हुआ जिसमें यद्यपि कच्छावा सैनिक बड़ी बहादुरी से लड़े, फिर भी अन्ततोगत्वा टॉमस की सुशिक्षित सेना की ही विजय हुई। मराठों की यह विजय उनके लिए कोई विशेष सार्थक सिद्ध नहीं हुई। वामनराव को सर्वथा नगण्य धन लेकर ही सन्तोष करना पड़ा।

इस युद्ध में बीकानेर के महाराजा सूरतसिंह ने जयपुर-राज्य की सेना को पाच हजार सैनिकों से सहायता दी थी, इसलिए टॉमस ने लौटते समय बीकानेर-राज्य पर चढ़ाई कर दी। बीकानेर के महाराजा ने दो लाख रुपये देने का वादा कर उससे सुलह कर ली। कुछ रुपया तो टॉमस को तुरन्त मिल गया और बाकी की रकम के

लिए सूरतसिंह ने जयपुर के अपने व्यापारियों के नाम हुंडियां लिख कर दे दीं। इन हुण्डियों के रुपयों की वसूली नहीं हो सकी, तब टॉमस ने दूसरी बार मार्च 1800 ई. में बीकानेर पर चढ़ाई कर दी। उसने महाराणा-विरोधी भट्टियों को भटनेर का किला दिलवा दिया। इसके अतिरिक्त वह बीकानेर-राज्य का किंचित् मात्र भी बिगाड़ नहीं कर सका। कुछ समय के बाद पटियाला से बीकानेर वालों की सहायता के लिए 1000 सवार पहुंच गये जिससे युद्ध का माहौल ही बदल गया। वस्तुतः बीकानेर के प्रतिकूल जलवायु के कारण जार्ज टॉमस को वहां से लौट आने के लिए बाध्य होना पड़ा।[30]

होल्कर और सिंधिया के बीच संघर्ष, महादजी सिंधिया की विधवाओं और दौलतराव के मध्य युद्ध, दौलतराव के पदाधिकारियों में पारस्परिक द्वेष, प्रतिस्पर्द्धा और कलह से जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह ने लाभ उठाना चाहा। वह 1791 ई. की सन्धि से बड़ा कुंठित था। इसके अनुसार उसे बहुत बड़ी धनराशि प्रति वर्ष सिंधिया के सेनानायकों को देनी पड़ती थी। वह टोंक-रामपुरा के परगनों को पुनः प्राप्त करने के लिए बहुत उत्सुक था। इनके लिए उसने कई बार मराठों से मांग भी की थी। मार्च, 1800 ई. में सवाई प्रतापसिंह ने 1791 ई. के समझौते की पूर्ण रूप से उपेक्षा कर मराठों के विरुद्ध युद्ध की तैयारी करनी आरम्भ कर दी थी। मराठों को राजस्थान से बाहर निकालने के लिए वह योजना बनाने लगा था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने जोधपुर के महाराजा भीमसिंह से पांच हजार घुड़सवार अपनी सहायता के लिए प्राप्त कर लिये। सवाई प्रतापसिंह की इन सैनिक गतिविधियों से मराठे अवगत थे। उत्तरी भारत मे दौलतराव सिंधिया द्वारा प्रधान पदाधिकारी के रूप मे नियुक्त लकवा दादा ने जयपुर-राज्य के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने के लिए एक फौज तैयार की जिसमे पोहलमेल (जर्मन) और शेवेलियर दुद्रेनेक (फ्रांसीसी) के नेतृत्व में यूरोपीय ढंग से शिक्षित ब्रिगेड भी सम्मिलित थी। मराठों की इस विशाल वाहनी ने मालपुरा पहुंच अपने पड़ाव डाले। जयपुर सेना, जिसका नेतृत्व स्वयं महाराजा प्रतापसिंह कर रहा था, राजधानी से रवाना होकर मालपुरा नगर से दक्षिण मे चार मील दूर तक पहुंच गई। 16 अप्रैल, 1800 ई. को मालपुरा का घमासान निर्णायक युद्ध हुआ। सदैव की भांति इस युद्ध मे भी राठौड़ी घुड़सवारों ने बड़े साहस और वीरता का परिचय दिया। उन्होंने बड़े वेग और निःशंकतापूर्वक आक्रमण कर फ्रांसीसी सेनानायक दुद्रेनैक की सेना की धज्जियां उड़ा दीं। मराठा घुड़सवार रणक्षेत्र छोड़कर भाग गये। राठौड़ो ने उनका लगभग दो मील तक पीछा किया। इतना होने पर भी विजयश्री राजपूतों के हाथ न लग सकी। पोहलमेन ने धीरज, दृढ़ता एवं कुशलतापूर्वक अपनी सेना का संचालन किया। उसने जयपुर सेना का सफाया कर दिया जिससे लकवा पूर्ण विजयी हुआ। सवाई प्रतापसिंह पीछे हटकर जयपुर पहुंच गया। लकवा की एक सेना जयपुर की

ओर अग्रसर हो रही थी कि इतने में मराठा-शिविर में एकाएक राजनीतिक परिस्थिति के कारण खलबली मच गई। दौलतराव ने लकवा को कैद करने के आदेश भेज दिये थे। अतः लकवा अपने साथियों के साथ मराठा शिविर छोड़ अजमेर की ओर पलायन कर गया। उसकी आगे की गतिविधियों का उल्लेख पहले किया जा चुका है।[31]

लकवा दादा विजय का श्रेय प्राप्त नहीं कर सका। उसके चले जाने के बाद सिन्धिया का फ्रांसीसी सेनानायक पेरो अलीगढ़ की तरफ से जयपुर पहुंचा। 10 मई के लगभग उसने जयपुर सरकार से एक समझौता किया जिसके अनुसार जयपुर-महाराजा ने नौ लाख रुपये सिन्धिया को देने का वादा किया। छः लाख रुपये एक किश्त मे तुरन्त देना तय हुआ और शेष रकम का भुगतान छः महीनों में कर देने का आश्वासन दिया गया। पेरों ने टोंक-रामपुरा के परगने महाराजा को लौटाने का भी आश्वासन दिया क्योंकि इन परगनो का आदि-स्वामी जयपुर नरेश ही था।[32] इस घटना के बाद मराठा अपने गृह-युद्ध और आन्तरिक कलहो मे उलझे रहे। फिर 1803 ई. मे सिन्धिया और भोसला अंग्रेजों के साथ युद्ध करने मे व्यस्त हो गये। 1804 ई. मे होल्कर का भी अंग्रेजो से युद्ध छिड़ गया। इन सब कारणों से अगले तीन-चार वर्षों तक मराठे राजस्थान की तरफ ध्यान नही दे सके। अत. प्रतापसिंह के अन्तिम तीन वर्ष शान्ति से व्यतीत हुए। 1 अगस्त, 1803 ई. को उसकी मृत्यु हो गई और उसके स्थान पर उसका लड़का जगतसिंह जयपुर-सिंहासन पर आरूढ हुआ।[33]

जदुनाथ सरकार ने जयपुर में स्थित मराठा पत्रकारों व सन्देश-वाहकों द्वारा प्रेषित समाचारों को आधार मानकर सवाई प्रतापसिंह को निम्न स्तर का व्यक्ति माना है जिसमें न तो साहस था और न प्रशासनिक प्रतिभा। वह बड़ा विलासी और उद्दंड प्रवृति का राजा था।। भावी क्षीयमान अवध के नवाबों की भाँति वह स्त्री की पोशाक पहन कर तथा पैरों में घुंघरू बांध कर अन्तःपुर मे नाचा करता था। सरकार महोदय का प्रतापसिंह के चरित्र-सम्बन्धी यह विवरण भ्रमात्मक ही माना जायेगा। वस्तुतः मराठा सन्देशवाहकों के समाचार सत्यता से दूर व शरारतपूर्ण थे। एम. एल. शर्मा[34] ने प्रतापसिंह को साहसी और वीर शासक स्वीकार किया है। उसने महादजी सिन्धिया व उसके यूरोपीय सेनानायकों का कड़ा प्रतिरोध किया था। तूंगा के युद्ध (1787 ई.) से, जिसमें महादजी को पीछे हट जाने के लिए विवश होना पड़ा था, मालपुरा के युद्ध (1800 ई.) काल तक उसने सदैव धैर्य और साहस का परिचय दिया। मराठो के निरन्तर आक्रमणों से उसने अपने देश की रक्षा की थी। उसने परम्परागत विद्वेष की भावना को भुला कर मारवाड़ के राठौड़ शासकों (विजयसिंह और भीमसिंह) के साथ मैत्री कर मराठा-विरोधी गुट बनाया। उसने अन्य रजवाड़ों का भी मराठा-विरोधी गुट मे सम्मिलित होने के लिए आह्वान

किया था। यद्यपि वह मराठों को राजस्थान के बाहर निकालने में असफल रहा था तथापि मराठा सदैव उससे शंकित रहते थे। महादजी सिन्धिया ने सवाई प्रतापसिंह को कई बार पराजित किया था, फिर भी वह कच्छावा की राजधानी जयपुर पर आक्रमण करने का साहस नहीं कर सका था। प्रतापसिंह न केवल एक अच्छा सेनानायक ही था अपितु वह कुशल राजनीतिज्ञ भी था। मराठों से पराजित होने का कारण उसकी सैनिक व मानसिक प्रतिभा में कमी नहीं, बल्कि मराठा सैनिको का यूरोपीय ढंग पर शिक्षित होना था। उसके अतिरिक्त प्रतापसिंह के सामन्त उच्छृंखल और स्वार्थी थे। आन्तरिक कलह के कारण वह राज्य की संगठित शक्ति के साथ बाह्य आक्रमणकारी का सामना करने में सक्षम नहीं हो सका। यद्यपि प्रतापसिंह के सभी बड़े-बड़े सामन्त कच्छावा जाति के ही थे तथापि वे उसके प्रबल शत्रु थे। माचेड़ी के राव प्रतापसिंह का विरोधी होकर एक पृथक् स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर लेना जयपुर राज्य की शक्ति पर घातक प्रहार था। झलाई के राजावत ठाकुर बहादुरसिंह और दूदू का पहाड़सिंह खंगरोत उसके कट्टर विरोधी थे। इनके अतिरिक्त शेखावत सरदार तो निरन्तर उससे संघर्ष कर रहे थे। ऐसी विषम और संकटमयी स्थिति में प्रतापसिंह अपने राज्य की रक्षा कर सका, यह उसके कुशल प्रशासक और योग्य सेनानायक होने का परिचायक है, न कि उसकी मंदबुद्धि और शासकीय अयोग्यता का। जेम्स टॉड ने,[36] जो उसका लगभग समकालीन ही था, उसे साहसी और वीर राजा माना है। उसमें सही निर्णय लेने की क्षमता भी और यही कारण है कि वह 25 वर्षों तक सफलतापूर्वक राज्य कर सका। वह संगीत, साहित्य और कला में भी अभिरुचि रखता था। वह अनेक भाषाओं का ज्ञाता और कवि था। वह कृष्ण का भक्त था। उसकी कविताएं कृष्ण-भक्ति से ओत-प्रोत होती थीं।

(ख) राजस्थान में अन्तरराज्यीय कलह

महाराजा जगतसिंह (1803-1818 ई.) के शासन काल में दो प्रमुख घटनाएं हुईं। प्रथम तो उदयपुर के महाराणा भीमसिंह की पुत्री कृष्णाकुमारी का महाराजा जगतसिंह के साथ प्रस्तावित विवाह के प्रश्न को लेकर जोधपुर राज्य से युद्ध हुआ। दूसरा महत्वपूर्ण कार्य अनेक उतार-चढाव के उपरान्त जयपुर-राज्य और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बीच सन्धि होना था। कृष्णाकुमारी की विवाह-सम्बन्धी समस्या के साथ जोधपुर राज्य के उत्तराधिकार का प्रश्न भी जुड़ा हुआ था। इन समस्याओं के फलस्वरूप पांच वर्ष तक राजस्थान में निरन्तर अन्तर्राज्यीय द्वन्द्व और संघर्ष चलते रहे जिससे प्रदेश की बड़ी बरबादी हुई। इन समस्याओं की पृष्ठभूमि को समझने के लिए यहां महाराजा विजयसिंह के काल में मारवाड़ राज्य के इतिहास का संक्षिप्त रूप से निरूपण कर लेना समीचीन ही होगा।

महाराजा विजयसिंह (1752-1793 ई.) के प्रारम्भिक काल में मराठों के निरन्तर आक्रमणों के कारण शासन-प्रबन्ध में शिथिलता आने लगी थी। मारवाड़

के सामन्त स्वाधीन होने की कोशिश करने लगे थे। उनमें महाराजा के विरुद्ध विद्रोह की भावना तीव्र होती जा रही थी। पोकरण का चांपावत ठाकुर देवीसिंह तो खुले ग्राम यह कहता था कि 'मारवाड़ तो मेरी तलवार की मूठ मे है'।[37] सभी बड़े-बड़े चांपावत, कूंपावत और उदावत सरदार महाराजा की आज्ञा का उल्लघन कर अपनी-अपनी जागीरों में निवास करने लगे थे। यदा-कदा वे एकत्र होकर महाराजा के प्रतिद्वन्द्वी रामसिंह को जोधपुर की गद्दी पर बैठाने के लिए विचार-विमर्श कर लिया करते थे। महाराजा बड़ा भयभीत था। उसने अपने विश्वसनीय पदाधिकारी धायभाई जगन्नाथ (जग्गू) और गोवर्द्धन खीची की सलाह से एक स्थायी सेना का गठन किया जिसमें पुरबिया राजपूत और सिन्धी, अरबी तथा रुहेला मुसलमान सिपाहियो को भर्ती किया गया था। इस सेना से विरोधी सामन्तों की समस्या का किंचित् मात्र भी समाधान नही हो सका था। इससे तो महाराजा और सामन्तो के सम्बन्धों में और भी अधिक कटुता आने लगी थी।[38] महाराजा ने अपने पदाधिकारियो को उन्हें समझाने के लिए भेजा, परन्तु वे सभी प्रयास असफल सिद्ध हुए। अन्ततोगत्वा महाराजा स्वय इन विद्रोही सामन्तों से मिलने गया, उन्हें हर भाँति से खुश करने का प्रयास किया और अन्त में उन्हें समझा-बुझा कर वह जोधपुर ले आया। ऊपरी तौर पर महाराजा और सामन्तो के बीच मेल हो गया था परन्तु उनके हृदय अभी भी एक-दूसरे के प्रति साफ नहीं थे। ठाकुर देवीसिंह सदैव 500 सशस्त्र सैनिको के साथ रहता था और महाराजा की सत्ता को समय-समय पर चुनौती देने की धमकियाँ दिया करता था। मारवाड़ के सामन्त धायभाई जगन्नाथ और महाराजा के धर्मगुरु आत्माराम के राजनैतिक प्रभाव के कारण रुष्ट थे। महाराजा द्वारा स्थायी फौज का रखना भी उन्हें अरुचिकर था।

2 फरवरी, 1760 ई. को गुरु आत्माराम का जोधपुर गढ में देहान्त हो गया। उसकी समाधि के समय सभी सरदार किले मे उपस्थित हुए थे। उस समय महाराजा ने जगन्नाथ और गोवर्द्धन खीची की सलाह से ठाकुर देवीसिह (पोकरण), *ठाकुर केसरीसिंह (रास), ठाकुर छतरसिह (आसोप) और ठाकुर दौलतसिंह (निवाज)* को धोखे से पकड़ लिया और कैद में डाल दिया। बाद में दौलतसिह को तो कम उमर होने के कारण मुक्त कर दिया, परन्तु अन्य तीन सरदार तो मृत्युपर्यन्त कैद मे ही रहे।[39]

इन सरदारों को कैद कर लेने से उपद्रव शान्त नहीं हुआ। देवीसिंह के पुत्र सबलसिंह ने विद्रोह का झंडा खड़ा किया। उसने चांपावत सरदारों व अन्य जागीरदारों को संगठित कर मारवाड़ के गांवों को लूटना आरम्भ कर दिया। राज्य मे सर्वत्र अराजकता और अशान्ति फैलने लगी। इस संकटमय स्थिति मे जगन्नाथ ने बड़े धैर्य और साहस से काम लिया। उसने राजकीय सेना की मदद से विद्रोही तत्वों को कुचलने का जोरदार अभियान चलाया। बिलाड़ा के पास लड़े गये एक

युद्ध में सबलसिंह मारा गया। राजकीय सेना के सेनानायक बालू जोशी और राम करण पंचोली ने अन्य बागी सामन्तों का भी सफाया कर दिया। 1761 ई. के अन्त तक मारवाड़ मे पुनः शान्ति स्थापित हो गई। सबलसिंह का पुत्र सवाईसिंह पोकरण का ठाकुर बना। वह अभी नाबालिग था। वह शान्त होकर अपनी जागीर में बैठा रहा। कुछ समय बाद वह महाराजा की सेवा में उपस्थित हो गया। अन्य ठाकुर भी धीरे-धीरे महाराजा के सहयोगी बन गये। गोडवाड़ का परगना, जैसलमेर के कुछ गांव तथा उमरकोट के मिल जाने से महाराजा विजयसिंह की स्थिति काफी मजबूत हो गई थी। उमरकोट के लिए लड़े गये युद्धों मे पोकरण के ठाकुर सवाई सिंह ने बड़ी भूमिका निभाई थी। इससे प्रसन्न होकर महाराजा ने उसे प्रधान के पद पर नियुक्त किया और इस कार्य के लिए वेतन स्वरूप मजल और दूनाड़ा नामक गांव बधारे मे दिये।[40] महादजी के विरुद्ध तुंगा, पाटन और मेड़ता मे लड़े गये युद्ध मे सभी सामन्तों का बड़ा योगदान रहा।

मराठों के साथ निरन्तर युद्धों व सांभर की सन्धि के अनुसार बहुत बड़ी धनराशि मराठो को देने के कारण जोधपुर राज्य की वित्तीय स्थिति दयनीय हो गयी थी। राजकोष रिक्त हो गया। महाराजा काफी वृद्ध हो गया था। उसका स्वास्थ्य निरन्तर गिरता जा रहा था। ऐसे समय मे भी महाराजा विजयसिंह अपनी प्रिय पासवान गुलाबराय के प्रेमपाश में बन्धा हुआ था। गुलाबराय का राज्य के कार्यो मे बढ़ता हुआ प्रभाव मारवाड़ के स्वेच्छाचारी सरदारों को अरुचिकर था। सरदार लोग उस स्त्री के आधिपत्य से नाराज तो थे ही, अब जब उसने मारवाड़ के उत्तराधिकार के मामले मे भी हस्तक्षेप करना चाहा तो सामन्त वर्ग पुनः विद्रोही हो गया। इन विद्रोही सामन्तो का नेता ठाकुर सवाईसिंह, जो राज्य के प्रधान पद पर भी कार्यरत था, चाहता था कि महाराजा विजयसिंह के बाद उसके स्वर्गीय पुत्र भोमसिंह का पुत्र भीमसिंह गद्दी पर बैठे, जबकि पासवान गुलाबराय विजयसिंह के पांचवे पुत्र गुमानसिंह के पुत्र मानसिंह को मारवाड़ के सिंहासन पर बैठाना चाहती थी। उसने उसे अपने दत्तक पुत्र के रूप में पाला-पोसा था। उसने उसे उत्तराधिकारी घोषित करने के लिए महाराजा विजयसिंह को तैयार कर लिया। तदनुसार महाराजा ने 1792 ई. में मानसिंह को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। परन्तु सरदारों के विरोध के कारण वह अपने इस मन्तव्य को कार्यरूप मे परिणत नही कर सका। सरदारों के इस विरोधात्मक रवैये को देखते हुए गुलाबराय का अपने प्रत्याशी मानसिंह के जीवन के प्रति शंकाशील होना स्वाभाविक ही था। उसने महाराजा की सहमति से उसे अपने विश्वसनीय व्यक्तियों के साथ अपनी जागीर जालौर मे पहुंचा दिया।[41]

मारवाड़ के बड़े-बड़े सरदार महाराजा से नाराज होकर जोधपुर छोड़ बिसलपुर चले गये। महाराजा उन्हें मनाने के लिए वहां पहुंचा। वह उन्हें समझा-

बुझा कर अपने साथ लेकर जोधपुर लौटा। परन्तु इस बीच ठाकुर सवाईसिंह की सहायता से भीमसिंह ने जोधपुर नगर व किले पर अधिकार कर लिया। उधर गुलाबराय की भी धोखे से हत्या कर दी गई। महाराजा जोधपुर के निकट बालसमन्द में ठहरा रहा। बाद में अन्य सरदारो ने ठाकुर सवाईसिंह को समझाया कि महाराजा के जीवित रहते भीमसिंह का किले पर अधिकार रहना न्यायोचित नही है। अतः एक समझौता हुआ जिसके अनुसार भीमसिंह को खर्चे के लिए सिवाना की जागीर दी गई तथा महाराजा ने उसे अपना उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया। भीमसिंह अपने कुछ विश्वासी साथियों के साथ जोधपुर नगर से बाहर निकल गया। तत्पश्चात् महाराजा विजयसिंह नगर मे प्रविष्ट हुआ। इसके बाद वह अधिक दिनों तक जीवित नही रहा। बीमारी की हालत में जब उसे अपनी प्रियतमा गुलाबराय की हत्या का पता लगा तो वह बड़ा संतप्त हुआ। निराशामय व क्षीण स्थिति में 8 जुलाई, 1793 ई. को उसका देहावसान हो गया। यद्यपि इस समय मानसिंह और उसका चाचा जालिमसिंह 2–3 हजार सैनिकों के साथ जोधपुर नगर के निकट शेखावतो के तालाब के पास डेरा डाले हुए थे, फिर भी उन्हें किले में प्रवेश नही होने दिया। सभी सरदारों ने शपथ लेकर ठाकुर सवाईसिंह को वचन दिया था कि विजयसिंह के दिवंगत होने पर भीमसिंह को मारवाड़ के सिंहासन पर बैठाया जायेगा। किले मे उपस्थित सरदारों ने महाराजा की मृत्यु का समाचार सवाईसिंह और भीमसिंह के पास भेजा। उस समय भीमसिंह विवाह करने के लिए जैसलमेर गया हुआ था। जैसे ही भीमसिंह को यह सूचना मिली, वह तुरन्त जोधपुर पहुंचा। ठाकुर सवाईसिंह भी साथ था। भीमसिंह को किले मे दाखिल होने दिया गया और 20 जुलाई, 1793 ई. को वह मारवाड़ के सिंहासन पर बैठ गया।[42] जब भीमसिंह जोधपुर का महाराजा बन गया, तब निराश होकर मानसिंह जालौर की ओर प्रस्थान कर गया। मार्ग मे उसने मारवाड़ के गांवों को लूटा और जालौर पहुंच कर वह स्वतन्त्र शासक की भांति कार्य करने लगा। उसने 'राजराजेश्वर महाराजाधिराज' की पदवी धारण की।[43] भीमसिंह ने पहले अपने सभी संभावित प्रतिद्वन्द्वियों का सफाया किया। विजयसिंह के लडके सरदारसिंह को मरवा दिया और एक अन्य लड़के शेरसिंह की आंखे फुड़वा दीं। अपने चाचा जालिमसिंह से गोड़वाड़ का परगना छीन लिया और बाद में उसे पराजित कर मेवाड़ की सीमा मे खदेड़ दिया। वहां 3 जून, 1798 ई. को उसकी मृत्यु हो गई। इन सभी बान्धवों का अन्त कर अब महाराजा भीमसिंह ने मानसिंह को समाप्त करने के कारगर कदम उठाये। मानसिंह ने मेवाड़ के राणा व पालनपुर के नवाब से सहायता प्राप्त करने के प्रयत्न किये। गोल, सकदड़ा आदि स्थानों पर राजकीय फौजों के साथ युद्ध हुए जिनमे दोनों पक्षों के सैनिक धराशायी हुए। धीरे-धीरे राजकीय सेना ने जालौर के परगने पर अधिकार कर लिया, परन्तु जालौर का नगर और गढ़ अभी भी मानसिंह के

अधिकार मे थे । 1801 ई. में महाराजा भीमसिंह ने बनराज की अध्यक्षता में एक बड़ी सेना मानसिंह के विरुद्ध भेजी । इस सेना ने जालोर नगर पर अधिकार कर लिया और गढ़ का घेरा डाल दिया ।[44]

इस बीच में महाराजा भीमसिंह के उद्दंड और अभद्र व्यवहार से मारवाड़ के अनेक बड़े-बड़े सामन्त उससे नाराज हो गये थे । विशेषकर महाराजा के दीवान जोधराज सिंघवी द्वारा इन सरदारों से अनियमित रूप से बहुत बड़ी धनराशि एकत्र करने के कारण वे क्षुब्ध थे । उन्होंने षड्यन्त्र कर जोधराज की हत्या करवा दी। तब तो महाराजा भीमसिंह बहुत क्रुद्ध हुआ उसने आहुआ, आसोप, चंडावल, रास आदि के ठाकुरो की जागीरें जब्त कर लीं और उनके विरुद्ध इन्द्रराज सिंघवी और गंगाराम भडारी के नेतृत्व में एक राजकीय सेना भेजी । इस सेना ने इन ठाकुरों को पराजित कर उन्हें मारवाड़ राज्य की सीमा से बाहर निकाल दिया । अब एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी मानसिंह का अन्त करने के लिए इन्द्रराज और गंगाराम की सेना जालोर पहुंच गई । किले का घेरा सुदृढ किया गया । मानसिंह की स्थिति बहुत दयनीय थी। खाद्य सामग्री में कमी आने लगी थी । वह किले को खाली कर भाग जाने की तैयारी करने लगा था । उस समय किले में स्थित जलन्दरनाथ के मन्दिर के पुजारी आयसजी देवनाथ ने भविष्यवाणी की कि कातिक शुक्ल पक्ष की षष्ठी (21 अक्टूबर, 1803 ई.) तक यदि मानसिंह किला खाली नहीं करता है तो वह निश्चय ही जोधपुर का महाराजा बनेगा । मानसिंह किले में डटा रहा । देवनाथ की भविष्यवाणी सत्य प्रमाणित हुई । 19 अक्टूबर, 1803 ई. को महाराजा भीमसिंह की मृत्यु हो गई ।[45]

जब महाराजा भीमसिंह के देहान्त के समाचार राजकीय सेना के सेनापति इन्द्रराज और गंगाराम को मिले तो उन्होंने मानसिंह को जोधपुर चलने के लिए आमन्त्रित किया ताकि वह जोधपुर के सिंहासन पर बैठ सके । महाराजा भीमसिंह के कोई पुत्र नही था । अतः अब जोधपुर राज्य के सिंहासन के लिए एक मात्र मानसिंह ही निकटतम उत्तराधिकारी बचा था । मानसिंह के उन सभी असन्तुष्ट सरदारों को, जो जोधपुर से बाहर थे, सेवा में उपस्थित होने के लिए खास रुक्के भेजे । उन्हें उनकी जब्त की गई जागीरें पुनः बहाल करने का आश्वासन दिया गया । मानसिंह राजकीय सेना के साथ जोधपुर पहुंच गया । ठाकुर सवाईसिंह भी, जो मानसिंह का कट्टर विरोधी था, जोधपुर पहुंचा । परन्तु अपने को असहाय व दुर्बल समझकर उसने भी मानसिंह का जोधपुर में स्वागत किया । 5 नवम्बर, 1803 ई को मानसिंह को जोधपुर का महाराजा घोषित कर दिया गया और 17 जनवरी, 1804 ई को उसका विधिवत् राज्याभिषेक सम्पन्न हुआ ।[46]

ठाकुर सवाईसिंह ने परिस्थितियों के वशीभूत होकर ही मानसिंह को मारवाड़ का शासक स्वीकार किया था । वस्तुतः उसके बिना परामर्श के इन्द्रराज सिंघवी और गंगाराम भडारी द्वारा मानसिंह को जोधपुर का राजा बनाने से

सवाईसिंह न तो सन्तुष्ट था और न हृदय से प्रसन्न ही था। उसने मानसिंह के किले मे प्रविष्ठ होने के पहले ही भीमसिंह की दो गर्भवती रानियों-देरावरजी और तुंवरजी को किले से बाहर निकाल चौपासनी के मन्दिर में भिजवा दिया था। ज्योंही मानसिंह ने शासन का भार सम्भाला, ठाकुर सवाईसिंह और भीमसिंह के कुछ अन्य पक्षपातियों द्वारा उसके सामने एक गम्भीर प्रश्न प्रस्तुत किया गया कि यदि इन रानियों के पुत्र हुआ तो उनका क्या होगा? रानियों को चौपासनी भिजवा देने से मानसिंह बड़ा खिन्न था। अन्ततोगत्वा विचार-विमर्श के बाद एक लिखित आश्वासन-पत्र तैयार किया गया जिसके अनुसार यह तय हुआ कि यदि भीमसिंह के पुत्र होता है तो वह जोधपुर राज्य का अधिकारी होगा और मानसिंह अपनी जागीर जालौर लौट जायेगा और यदि पुत्री होती है तो उसका विवाह जयपुर या उदयपुर जैसे राजघराने मे कर दिया जायेगा। यहां यह भी निर्णय लिया गया कि रानियों को चौपासनी के मन्दिर मे नही रखा जाये। इस आश्वासन-पत्र पर सभी उपस्थित ठाकुरों और चौपासनी के गुसाईंजी के हस्ताक्षर करवाये गये। इस प्रकार इस समस्या का समाधान तो किया गया; परन्तु चूंकि देरावरजी ने किले में रहने से इन्कार कर दिया था, उसे तलहटी के महल मे रखा गया। इससे ठाकुर सवाईसिंह और महाराजा के बीच मनमुटाव उत्पन्न हो गया। ठाकुर सवाईसिंह ने रानी की सुरक्षा के लिए तलहटी के महल पर अपनी सेना नियुक्त कर दी थी।[47]

इस घटना के पश्चात् निरन्तर एक के बाद दूसरी ऐसी घटनाएं होती रही जिससे ठाकुर सवाईसिंह और महाराजा मानसिंह के सम्बन्धों मे दिन-प्रति-दिन कटुता बढ़ती गई। मारवाड़ राज्य की यह परम्परा थी कि जब किसी नये शासक का राज्याभिषेक होता था, उस समय मुंदयाड़ का बारहट प्रशस्तिगान करता था और नये शासक के नाम को स्वर्गीय महाराजा के नाम से सम्बद्ध किया जाता था। मानसिंह अपने नाम के पूर्व भीमसिंह के नाम के स्थान पर विरुदावली में अपने पिता गुमानसिंह का नाम जोड़ना चाहता था। इस परिवर्तन के लिए जब मुंदियाड़ का चारण तैयार नहीं हुआ, तब उसने अपने कृपा-पात्र जुगता चारण को इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए कहा। उसने मानसिंह की इच्छानुसार भीमसिंह के नाम का उच्चारण न करके गुमान-सिंगोत मानसिंह का नाम पढ़ा। परम्परागत रीति के प्रतिकूल मानसिंह की इस कार्यवाही से ठाकुर सवाईसिंह और अन्य सरदार भी बहुत खिन्न हुए।[48]

राज्याभिषेक के अवसर पर महाराजा मानसिंह ने अपने सहयोगियों को ऊंचे-ऊंचे पद दिये तथा उन्हें जागीरें आदि देकर सम्मानित किया। यद्यपि ठाकुर सवाईसिंह को प्रधान के पद पर नियुक्त किया गया था तथापि भीमसिंह के अन्य पक्षपातियों के साथ कड़ी कार्यवाही की गई और उन्हें दण्ड दिया गया। इस प्रकार महाराजा द्वारा अपनाई गई प्रतिशोध की नीति से ठाकुर सवाईसिंह और उसके साथी

क्षुब्ध थे। देरावरजी के समर्थकों और सम्बन्धियों को यह नीति चौकन्ना व सतर्क कर देने वाली थी।[49]

कुछ समय बाद देरावरी रानी के पुत्र हुआ जिसका नाम धौकलसिंह रखा गया। ठाकुर सवाईसिंह और उसके अनुयायियों ने नवजात शिशु की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए उसको भाटी छत्रसिंह की संरक्षता में उसके ननिहाल सुदूर खेतड़ी भिजवा दिया (28 मई, 1804 ई.)। मानसिंह के विरोधी लोगों ने उसे जोधपुर सिंहासन को छोड़ने का अभियान शुरू किया। मानसिंह ने देरावरजी के पुत्र होना स्वीकार नहीं किया। उसने धौकलसिंह को मात्र सवाईसिंह का फितूर माना-यानी उसकी एक शरारतपूर्ण चाल बताई। इससे सवाईसिंह और महाराजा के सम्बन्धों में अत्यधिक कटुता आ गई। अब ठाकुर सवाईसिंह अपने पांच सौ अनुयायियों के साथ महाराजा मानसिंह से अनुमति प्राप्त किये बिना जोधपुर छोड़ पोकरण चला गया और वहां से वह मारवाड़ के सरदारों को पत्र लिखकर धौकलसिंह का पक्ष लेने के लिए प्रेरित करने तथा उन्हें महाराजा मानसिंह के विरुद्ध भड़काने का कार्य करने लगा।[50]

मानसिंह ने धौकलसिंह के उत्पन्न होने की जांच करवाई और देरावरजी से यह घोषित करवा दिया कि धौकलसिंह उसका पुत्र नहीं है। ऐसा उसने सम्भवतः मानसिंह से भयभीत होकर अपने लड़के की सुरक्षा की दृष्टि से ही किया होगा। इससे अधिक और किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं थी। अतः मानसिंह विरोधी उबाल शान्त हो गया। परन्तु ठाकुर सवाईसिंह अभी भी दृढ़ संकल्प किए हुए था कि येन-केन-प्रकारेण मानसिंह को सिंहासनच्युत कर उसके स्थान पर धौकलसिंह को मारवाड़ की गद्दी पर आसीन करें।[51]

कुछ समय बाद ठाकुर सवाईसिंह की पोती का विवाह जयपुर के महाराजा जगतसिंह से होना निश्चित हुआ और यह विवाह जयपुर में ही सम्पन्न होना था। जैसे ही महाराजा मानसिंह को इसकी सूचना मिली, उसने ठाकुर सवाईसिंह को पत्र लिखकर इस बात पर बल दिया कि वह जयपुर जाकर अपनी पोती का विवाह न करे क्योंकि 'डोला' पद्धति से विवाह करना राठौड़ों के सम्मान के अनुकूल नहीं होगा। इसके प्रत्युत्तर में ठाकुर ने लिखा कि उसकी पोती का विवाह तो राठौड़ों की प्रतिष्ठा के विपरीत नहीं हो रहा, क्योंकि जयपुर में उसकी स्वयं की हवेली है और उसका भाई जयपुर राज्य के गीजगढ़ का जागीरदार है। परन्तु मेवाड़ की राजकुमारी कृष्णाकुमारी जिसकी सगाई महाराजा भीमसिंह के साथ हुई, उसका विवाह अब कच्छावा राजा जगतसिंह के साथ होने जा रहा है। इससे राठौड़ों की प्रतिष्ठा को निश्चय ही ठेस पहुंचेगी।[52]

कृष्णाकुमारी उदयपुर के महाराणा भीमसिंह की पुत्री थी। वह अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध थी। 1799 ई. में उसकी सगाई जोधपुर के महाराजा

भीमसिंह से हुई थी, परन्तु विवाह सम्पन्न होने के पहले ही 1803 ई. मे भीमसिंह की मृत्यु हो गई थी। तत्पश्चात् महाराजा मानसिंह से विवाह होने की बात भी चली थी, परन्तु जब मानसिंह ने घाणेराव के ठिकाणे पर अधिकार कर वहां के ठाकुर को निष्कासित कर दिया तब महाराणा, जो उसका दूर का सम्बन्धी था, नाराज हो गया और उसने अपनी लड़की का विवाह कच्छावा राजा जगतसिंह के साथ करने का निर्णय ले लिया। जगतसिंह ने स्वीकृति दे दी थी और टीका-सम्बन्धी व्यवस्था की जानी थी। ठाकुर सवाईसिंह के प्र के कारण मानसिंह उत्तेजित हो गया था और उसने महाराणा को कृष्णाकुमारी का विवाह जगतसिंह के साथ न करने को लिखा। उधर ठाकुर सवाईसिंह ने महाराणा को कहलाया कि यदि वह महाराजा मानसिंह के दबाव में आकर अपनी पुत्री का विवाह जगतसिंह के साथ नहीं करता है तो इससे सिसोदियों की प्रतिष्ठा को ठेस पहुंचेगी। इसके साथ ही, ठाकुर ने जगतसिंह को महाराणा द्वारा भेजे गये प्रस्ताव को स्वीकार कर देने के लिए प्रोत्साहित किया। इस प्रकार ठाकुर सवाईसिंह ने कृष्णाकुमारी के विवाह के प्रश्न को लेकर मानसिंह के लिए संकटपूर्ण स्थिति उत्पन्न कर दी।[53]

महाराणा ने मानसिंह के सन्देश की अवहेलना करते हुए कृष्णाकुमारी का टीका जयपुर के लिए रवाना कर दिया। इसके साथ जयपुर की एक बड़ी सेना थी। मानसिंह के लिए इस टीके को रोकना प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया था। वह तुरन्त मेड़ता पहुंचा और उसने बख्शी इन्द्रराज के नेतृत्व में एक बड़ी सेना टीके को रोकने के लिए भेज दी। मानसिंह ने कोटा और सिरोही के राजाओं से मदद मांगी। होल्कर से भी सहायता देने की प्रार्थना की। टीका-दल शाहपुरा में ठहरा हुआ था। जगतसिंह ने मानसिंह द्वारा टीका रोकने की कार्यवाही को अपना व्यक्तिगत अपमान समझा। वह सैनिक तैयारी में लग गया। ऐसा प्रतीत होने लगा था कि जयपुर और जोधपुर राज्यों के बीच युद्ध आरम्भ हो जायेगा। परन्तु शाहपुरा के राजा ने समझा-बुझा कर टीका-पार्टी को उदयपुर लौटा दिया और जयपुर के दीवान रामचन्द्र तथा जोधपुर के बख्शी इन्द्रराज सिंघवी ने आपस में विचार-विमर्श कर तय किया (अगस्त 1806 ई.) कि मानसिंह और जगतसिंह दोनों ही कृष्णाकुमारी से विवाह नहीं करेंगे। दोनों राजाओं में पुनः सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो, इसके लिए यह निश्चय हुआ कि जगतसिंह महाराजा मानसिंह की पुत्री से और मानसिंह जगतसिंह की बहिन से विवाह करेंगे। होलकर मानसिंह की मदद करने वहां आ पहुंचा था। जब दोनों राजाओं में समझौता हो गया तो वह दक्षिण की ओर लौट गया।[54]

यद्यपि जोधपुर और जयपुर के शासकों के बीच परिस्थितियों के दबाव के कारण समझौता हो गया था तथापि वे एक दूसरे के प्रति प्रसन्न नहीं थे। जगतसिंह अभी भी कृष्णाकुमारी से विवाह करने के लिए उत्सुक था। ठाकुर सवाईसिंह भी जोधपुर सिंहासन के लिए अपने प्रत्याशी धौकलसिंह के लिए सहायता जुटाने में

सक्रिय था। उसने जयपुर के महाराजा जगतसिंह से प्रार्थना की कि वह धौकलसिंह को जोधपुर के सिंहासन पर बैठाने के लिए सहयोग प्रदान करे। ऐसा करने से उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि होगी और वह निःसंकोच होकर कृष्णकुमारी से विवाह कर सकेगा। जगतसिंह धौकलसिंह की मदद करने के लिए तैयार हो गया। ठाकुर सवाईसिंह ने अपने मित्र बड़लू के ठाकुर सादूलसिंह के माध्यम से बीकानेर के महाराजा सूरतसिंह को भी धौकलसिंह का समर्थक बना लिया। धौकलसिंह को सहयोग देने के बदले में 80 गांवों सहित फलौदी का कस्बा बीकानेर को देना स्वीकार कर लिया गया।[55]

ठाकुर सवाईसिंह खेतड़ी से धौकलसिंह को साथ लेकर जगतसिंह के पास जयपुर पहुंचा। धौकलसिंह की वैधता प्रमाणित करने के उद्देश्य से उसे जगतसिंह के साथ एक ही थाल में भोजन करवाया गया। जयपुर दीवान ने दौलतराव सिंधिया, सर्जेराव घाटगे और पठान अमीरखां को भी अपनी ओर कर लिया। ठाकुर सवाई सिंह ने महाराजा जगतसिंह को भरोसा दिलवाया कि समय आने पर मारवाड़ के राठौड़ सरदार भी उसके साथ हो जायेंगे।[56]

इस प्रकार की राजनीतिक गतिविधियों और सैनिक तैयारी का पता जब महाराजा मानसिंह को चला तो वह भी युद्ध की तैयारी करने मे लग गया। उसने अपना डेरा परबतसर में कायम किया। उसने बून्दी और किशनगढ़ के शासकों से सहायता प्राप्त की। होल्कर को भी सैनिक सहायता देने के लिए शीघ्र आने का सदेश भेजा। वह तुरन्त मदद देने पहुंचा और किशनगढ़ राज्य के तीहोद गाव में ठहरा। उसने महाराजा मानसिंह से सेना का खर्चा मांगा। मानसिंह ने अपने पदाधिकारियों को जोधपुर धन एकत्र करने को भेजा। उन्होंने घरों पर कर लगा कर तथा आभूषण आदि बेच कर कुछ धनराशि एकत्र की। उधर चतुर कूटनीतिज्ञ ठाकुर सवाईसिंह ने जयपुर महाराजा से बहुत बड़ी धनराशि होल्कर को इस बात के लिए दिलवाने का तय कर लिया कि वह युद्ध में मानसिंह की मदद नही करेगा। जयपुर-जोधपुर के युद्ध में उसने तटस्थ रहना स्वीकार कर लिया। मानसिंह की तरफ से जब उसे धनराशि दी गई तो उसने इसे लेने से इन्कार कर दिया, क्योंकि वह राशि उसकी सेना के खर्चे के लिए पर्याप्त नहीं थी। जयपुर-राज्य से उसे धनराशि मिल जाने पर वह अपना डेरा उठाकर दक्षिण की ओर चला गया। मानसिंह को इससे बड़ी निराशा हुई।[57]

अब जयपुर के निकट एक विशाल सेना एकत्रित होने लगी। बीकानेर के महाराजा सूरतसिंह, खेतड़ी के शासक अभयसिंह, पिंडारी सरदार अमीरखां, सिन्धिया के सेनानायक आदि छोटे-मोटे अनेक राजा अपनी-अपनी सेनाओं के साथ जयपुर-राज्य की सेना में सम्मिलित होने लगे। तोपें व गोला-बारूद भी पर्याप्त रूप से जुटाया गया था। ठाकुर सवाईसिंह सेना के अग्र भाग में रहा। यह विशाल सेना अब मारवाड़ की ओर अग्रसर हुई। धौकलसिंह भी सेना के साथ था।[58]

महाराजा मानसि ह परबतसर से आगे बढ़ कर अपनी सेना के साथ गिंगोली गांव पहुंचा । 13 मार्च, 1807 ई. को जयपुर की सेना गिंगोली पहुची और युद्ध आरम्भ हो गया । जैसे ही युद्ध शुरू हुआ, योजनाबद्ध बहुत से राठौड़ सरदार मानसिंह का पक्ष छोड़कर ठाकुर सवाईसिंह से जा मिले । महाराजा मानसिंह की स्थिति बड़ी कमजोर हो गई । वह अपनी बची हुई सेना के साथ ही शत्रु से युद्ध करने के पक्ष में था, परन्तु आउवा, आसोप, निंबाज, कुचामन आदि के कुछ निष्ठा-वान् सरदारों ने उसे पीछे हटने के लिए बाध्य कर दिया । महाराजा मानसिंह अपने तीन-चार हजार घुड़सवार के साथ पीछे हट गया और मेड़ता के मार्ग से जोधपुर पहुंच गया । राठौड़ों की त पें व उनका गोला-बारूद और शिविर का अन्य सामान शत्रुओं द्वारा लूट लिया ग ा ।[59]

जयपुर की सेनाओं ने मारोठ, परबतसर, डीडवाना, नागौर, मेड़ता और सोजत पर अधिकार कर लिया । ठाकुर सवाईसिंह को आशा थी कि महाराजा मानसिंह जोधपुर खाली क र जालोर की ओर पलायन कर जायेगा, परन्तु ऐसा नही हुआ । मानसिंह ने जोधपु र में ठहर वहां किलाबन्दी आरम्भ कर दी । महाराजा जगतसिंह मेवाड़ पहुंच कर कृष्णाकुमारी से विवाह करने के लिए उत्सुक था । परन्तु ठाकुर सवाईसिंह ने उसे पह ले धौकलसिंह को जोधपुर की गद्दी पर बैठाने के लिए आग्रह किया जिसे उसने मान लि या । अब ठाकुर सवाईसिंह पहले मेड़ता से पीपाड़ के मार्ग से अपनी सेना के साथ 30 मार्च, 1808 ई. को जोधपुर पहुंचा । उसने अपना डेरा नागौरी दरवाजे के बाहर काग़ा में स्थापित किया । बाद में अप्रेल के प्रथम सप्ताह में जगतसिंह और सूरतसिंह ने जोधपुर पहुंच क्रमशः राई के बाग और गुलाबसागर के निकट अपने-अपने डेरे ल गाये । अमीरखां का डेरा नगर की दूसरी तरफ अखे-राजजी के तालाब के पास ल गा । जोधपुर नगर का घेरा डाला गया और युद्ध आरम्भ हुआ । 18 अप्रेल को जोधपुर नगर पर शत्रुओं का अधिकार हो गया । फिर जोधपुर किले का घेरा ड ाला गया जो पांच महीनों तक चलता रहा । फतहपोल, राणीसर, लखनपोल औ र जयपोल के पास अनेक लड़ाइयां हुईं, परन्तु मानसिंह के सैनिकों ने अदम्य साहस का परिचय दिया और गढ की दृढता के साथ रक्षा की ।[60]

महाराजा मानसिंह की किले मे स्थिति बड़ी दयनीय होती जा रही थी । उसके पास रक्षा के साधन बहुत सीमित थे । बाहर से उसे मदद मिलने की कोई आशा नहीं थी । अतः उस ने अपने सरदारों और मुत्सद्दियों से विचार-विमर्श कर जोधपुर नगर व मारवाड़ को लूट-खसोट से बचाने के उद्देश्य से सन्धि-वार्ता करने का निर्णय लिया । इन्द्रराज सिंघवी और गंगाराम भंडारी को ठाकुर सवाईसिंह से समझौता-वार्ता करने के लिए भेजा गया । उन्होंने ठाकुर सवाईसिंह के समक्ष प्रस्ताव रखा कि नागौर त था कुछ अन्य परगने धौकलसिंह को दे दिये जायें और

युद्ध समाप्त कर दिया जाय। ठाकुर सवाईसिंह ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। उसने 22 लाख रुपये युद्ध के खर्चे के रूप में मांगे तथा इस बात पर बल दिया कि महाराजा मानसिंह जोधपुर किले को धौकलसिंह को सुपुर्द कर वह स्वयं अपनी पुरानी जागीर जालौर को पलायन कर जाये। इस तरह सन्धि-वार्ता भंग हो गई, परन्तु इन्द्रराज सिंघवी तथा गंगाराम भंडारी कतिपय सरदारों (कुचामन, आसोप, आउवा, निवाज आदि, के साथ जोधपुर के किले के घेरे से बाहर निकल गये। अब वे महाराजा मानसिंह के लिए बाहर से सेना जुटाने के प्रयत्न करने लगे।[61]

इन्द्रराज सिंघवी ने अपना दूत दौलतराव सिंधिया के पास महाराजा मानसिंह की सहायता के लिए सेना प्राप्त करने के उद्देश्य से भेजा। परिणामस्वरूप अंबाजी इंगले और जीन बेपटिस्ट के नेतृत्व में एक मराठा सेना मारवाड़ में पहुंची। जैसे ही ठाकुर सवाईसिंह को इस मराठा सेना के पहुंचने की सूचना मिली, वह अपने कुछ सैनिकों के साथ अजमेर की तरफ रवाना हुआ और उसने मेड़ता के निकट देवरिया गांव में अपने डेरे डाले। उसने दिखावे के तौर पर इन्द्रराज से सन्धि-वार्ता चालू की परन्तु वस्तुतः वह इंगले को अपने पक्ष में करने के लिए प्रयत्नशील था। उसने जगतसिंह की तरफ से इंगले को 12 लाख रुपये देने का वचन दिया और साथ ही में उसे आश्वासन दिया कि जैसे ही धौकलसिंह मारवाड़ की गद्दी पर सुदृढ़ता से आसीन हो जायेगा, वह उसे 7 लाख रुपये देगा। धन के प्रलोभन में आकर इंगले ने ठाकुर सवाईसिंह का साथ देना स्वीकार कर लिया। इन्द्रराज के साथ चल रही सन्धि-वार्ता भग हो गई। मानसिंह के सेनानायकों को बड़ी निराशा हुई।[62]

मराठों की नई फौज के आ जाने से जोधपुर के घेरे को और भी अधिक सुदृढ कर दिया गया। परन्तु कुछ ही समय बाद जयपुर-शिविर में अमीरखां और महाराजा जगतसिंह के बीच मनमुटाव होने लगा। एक तो इंगले के आने से उसका प्रभाव कुछ कम हो गया था, दूसरी बात यह भी थी कि अमीरखा को महाराजा जगतसिंह की तरफ से सम्भावित धनराशि भी नहीं मिली थी। अतः वह महाराजा से नाराज हो गया। इन्द्रराज सिंघवी ने इस स्थिति का लाभ उठाना चाहा। उसने अपने दूत भेजकर अमीरखां को चार लाख रुपये देने का वचन दे अपनी ओर कर लिया। उसको यह भी कहा गया कि राठौड़ों की सेना के साथ वह जयपुर राज्य के गांवों को लूट कर बहुत बड़ी धनराशि एकत्र कर सकता है। अमीरखां अपने सहयोगी सर्जेराव घाटगे के साथ महाराजा जगतसिंह से विमुख होकर राठौड़ों के पक्ष मे चला गया। राठौड़ों और अमीरखां की संयुक्त फौज ने जयपुर के सेनानायक शिवलाल को फागी के युद्ध में परास्त कर दिया (18 अगस्त, 1807 ई.) और उसके सारे माल-असबाब को लूट लिया। अब उन्होने जयपुर के निकट झोटवाड़ा गाव में डेरे डाल ढूंढाड़ प्रदेश को लूटना आरम्भ कर दिया।[63]

फागी के युद्ध में जयपुर-सेनानायक की पराजय का जोधपुर के घेरे पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। बहुत से राठौड़ सरदार, जो प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से अभी तक ठाकुर सवाईसिंह के पक्ष में थे, उससे पृथक् होकर इन्द्रराज सिंघवी के निर्देशन मे मानसिंह के खोये हुए परगनों पर पुनः उसका अधिकार करवाने के लिए संगठित होकर संघर्ष करने लगे। जैसे ही जगतसिंह को फागी के युद्ध में जयपुर-सेनानायक की अपमानजनक पराजय का समाचार मिला, वह भयातुर होकर अपना डेरा उठाकर शीघ्रातिशीघ्र जयपुर की ओर प्रस्थान कर गया। मार्ग में मेड़ता के निकट दांता गांव में राठौड़ो व अमीरखां की फौजों से उसे मुठभेड़ करनी पड़ी। इस युद्ध मे राठौड़ों ने जयपुर की फौज से वह सभी सामान, जो गिंगोली में उसे हाथ लगा था, छीन लिया। जैसे-तैसे अमीरखां व इन्द्रराज को बहुत बडी धनराशि रिश्वत के रूप मे देकर वह मारवाड़ की सीमा से बाहर निकल कर 6 अक्टूबर, 1807 ई. को जयपुर पहुंचा।[64]

बीकानेर और शाहपुरा के शासक तो पहले ही घेरा उठाकर अपने-अपने राज्यों को लौट गये थे। अब ठाकुर सवाईसिंह भी निस्सहाय स्थिति में धोकलसिंह को साथ लेकर जोधपुर से नागौर की तरफ प्रस्थान कर गया। उसने अपना डेरा नागौर में स्थापित किया। चंडावल, पाली, हरसोलाव, बगड़ी, खींवसर आदि के ठाकुर नागौर मे उसके साथ ठहरे हुए थे। वे यहां अपना भावी कार्यक्रम बनाने के लिए मन्त्रणा कर रहे थे। नागौर के अतिरिक्त मारवाड़ में सभी जगह अब महाराजा मानसिंह का पुनः आधिपत्य स्थापित हो चुका था।

महाराजा मानसिंह के इस भारी संकट को मिटाने में इन्द्रराज सिंघवी और अमीरखां ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। विजयी होकर जब वे जोधपुर लौटे तब वहां महाराजा मानसिंह द्वारा उनका भव्य स्वागत किया गया। 24 अक्टूबर, 1807 ई. को महाराजा ने अमीरखां को नवाब की पदवी से विभूषित किया। उसे अपने पास मसनद पर बैठाकर भाई जैसा व्यवहार किया और फिर पगडी बदलने की रस्म का आयोजन किया गया। नावां का परगना उसे सेना के खर्च के लिए जागीर मे दिया गया। इन्द्रराज सिंघवी को फौज बख्शी के पद पर नियुक्त कर खिलअत, जागीर आदि देकर उसे सम्मानित किया।[65]

नागौर पर अभी भी ठाकुर सवाईसिंह और धोकलसिंह का अधिकार था। उनके पास लगभग पन्द्रह हजार सैनिक थे। ये महाराजा मानसिंह के लिए भविष्य में पुनः संकट का कारण बन सकते थे। अतः मानसिंह ने अपने कट्टर शत्रु सवाईसिंह को समाप्त करने के लिए अमीरखां से एक गुप्त समझौता किया (जनवरी 1808 ई.) जिसके अनुसार नवाब को चार लाख पचास हजार रुपये मासिक सेना व्यय के रूप में और उसके पुत्र तथा सम्बन्धियों को जागीर देने का वचन दिया। अमीरखा की एक ब्रिगेड़ को 13 लाख वार्षिक पर महाराजा ने अपने यहां स्थायी रूप से रखने

का भी निर्णय लिया। अमीरखां ने अब महाराजा से बनावटी झगड़ा प्रारम्भ किया और वह मारवाड़ के गांवों को लूटने लगा। इससे सवाईसिंह को विश्वास हो गया कि महाराजा और अमीरखां के बीच मनमुटाव हो गया है। अमीरखां ने नागौर के निकट मूंडवा में जाकर अपना डेरा लगाया। इसके पश्चात् उसने ठाकुर सवाईसिंह को कहलाया कि यदि वह चाहे तो धौकलसिंह को जोधपुर की गद्दी पर बैठाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में मन्त्रणा करने के लिए अमीरखां नागौर पहुंचा। वहां तारकीन दरगाह पर अमीरखां और ठाकुर सवाईसिंह के बीच बातचीत हुई। अमीरखां ने कुरान को बीच में रख शपथ खाकर ठाकुर सवाईसिंह के प्रति निष्ठा और विश्वास प्रदर्शित किया। ठाकुर अमीरखां के भुलावे में आ गया। उसने धौकलसिंह को जोधपुर की गद्दी पर बैठाने पर अमीरखां को चालीस लाख रुपये देना स्वीकार कर लिया। अमीरखां के निमन्त्रण पर वह अपने कुछ साथियों और एक हजार सैनिकों के साथ नवाब से मिलने मूंडवा गया जहां अमीरखां ने धोखे से उसे मय साथियों के मरवा दिया और उसके सैनिकों पर आक्रमण कर उन्हें तितर-बितर कर दिया। जैसे ही इस घटना की सूचना नागौर पहुंची, धौकलसिंह अपने सहयोगियों के साथ बीकानेर की तरफ पलायन कर गया। नागौर पर पुनः महाराजा मानसिंह का अधिकार हो गया।[66]

अमीरखां ने मानसिंह का बताया हुआ काम पूरा कर दिया। इस प्रकार ठाकुर सवाईसिंह का अन्त हो जाने पर महाराजा मानसिंह का मारवाड़ के सिंहासन पर अधिकार सुदृढ़ हो गया। सवाईसिंह एक कुशल राजनीतिज्ञ, साहसी सेनानायक, कर्मठ षड्यन्त्रकारी और योग्य नेता था। वह अपने लक्ष्य से किंचित् मात्र भी विचलित नहीं हुआ। उसका मूल उद्देश्य धौकलसिंह को जोधपुर के सिंहासन पर आसीन करना था, क्योंकि वह उसे महाराजा भीमसिंह का न्यायोचित उत्तराधिकारी मानता था। उसने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया। यह दुर्भाग्य की बात थी कि उसका मानसिंह से टकराव हो गया जिससे उसकी सेवाएं राज्य की उन्नति व उसके कल्याण के लिए उपयोग मे नही ली जा सकी। यद्यपि सवाईसिंह महाराजा मानसिंह का कट्टर शत्रु था तथापि वह उसकी प्रखर बुद्धि और सैनिक-प्रतिभा से अत्यधिक प्रभावित था। उसने ठाकुर की मृत्यु पर एक दोहे की रचना की थी जिसमें उसकी प्रशसा की गई है। यदि सवाईसिंह अमीरखां के कुचक्र व षड्यन्त्र का शिकार नही बनता तो मानसिंह के लिए वह सदैव एक बहुत बड़ा सिरदर्द बना रहता। उसके मरने पर मानसिंह विरोधी गुट का स्वतः ही विघटन हो गया।[67]

15 मई, 1808 ई. को अमीरखां नागौर से जोधपुर लौटा। महाराजा मानसिंह ने उसका भव्य स्वागत किया और उसे बहु-प्रकार में सम्मानित किया गया। जितनी धनराशि उसे देना निश्चित हुआ था, उसकी आधी रकम तो तुरन्त

चुका दी गई और शेष बहुत शीघ्र चुका देने का वचन दिया गया। इसके अतिरिक्त मानसिंह ने परबतसर, मारोठ, डीडवाना, सांभर, नावा और कोलिया आदि के परगने उसके निजी खर्चे के लिए नियत कर दिये। यद्यपि महाराजा ने अमीरखां के माध्यम से अपने उद्देश्य की पूर्ति कर ली थी तथापि अनजाने ही उसने अमीरखां को अपने राज्य में बहुत शक्तिशाली बना दिया था जो भविष्य मे स्वय उसके लिए तथा मारवाड़ के लिए भी घातक सिद्ध हुआ।[68]

मारवाड़ मे अपनी स्थिति को सुदृढ बनाकर महाराजा मानसिंह ने अब अपने विरुद्ध सैनिक अभियान मे भाग लेने वालों को दंडित करने की कार्यवाही आरम्भ की। सर्वप्रथम उसने बीकानेर की तरफ ध्यान दिया। महाराजा ने 20 हजार सैनिकों के साथ इन्द्रराज सिंघवी को बीकानेर पर आक्रमण करने के आदेश दिये। सांडवा, उदासर और गजनेर स्थानों पर जोधपुर और बीकानेर की सेनाओ के बीच घमासान युद्ध हुए जिनमें बहुत बडी संख्या मे दोनों तरफ के सैनिक धराशाही हुए। अन्ततोगत्वा बीकानेर नगर का घेरा डाला गया जो तीन महीने तक चलता रहा। फिर महाराजा सूरतसिंह ने विवश होकर जोधपुर फौज के सेनानायक इन्द्रराज सिंघवी के साथ 18 नवम्बर, 1808 ई. को सन्धि कर ली। सन्धि की निम्नलिखित धाराए थी :—

1. महाराजा सूरतसिंह ने युद्ध-खर्चे के रूप में 3 लाख 60 हजार रुपये देना स्वीकार किया।
2. फलौदी का परगना, जिस पर महाराजा सूरतसिंह ने धौकलसिंह को मदद देने के बदले में अधिकार कर लिया था, जोधपुर को लौटा दिया गया।
3. बीकानेर का पांचू गांव मानसिंह के गुरु आयसजी देवनाथ को भेंट स्वरूप दिया गया।
4. गिगोली के युद्ध मे जोधपुर-शिविर का जो सामान बीकानेर की फौज ने लूट लिया था, वापस लौटाया।
5. इसके अतिरिक्त महाराजा सूरतसिंह ने वचन दिया कि भविष्य में जोधपुर के विद्रोही सरदारों व आदमियों को बीकानेर के क्षेत्र में आश्रय नहीं देगा।

इस प्रकार सन्धि कर इन्द्रराज सिंघवी बीकानेर से मार्च, 1808 ई. में जोधपुर लौट आया।[69]

अमीरखां महाराजा मानसिंह का कृपा-पात्र बना हुआ था, और वह जोधपुर मे बड़े सम्मान के साथ रह रहा था। लेकिन जून 1810 ई. मे वह जोधपुर से जयपुर की ओर प्रस्थान कर गया। उसने जयपुर राज्य के गांवों को लूटना आरम्भ किया। उसकी विध्वसकारी गतिविधियो से आंतकित होकर महाराजा जगतसिंह ने

अपना वकील महाराजा मानसिंह के पास भेजा। उसने महाराजा से आग्रह किया कि वह दोनों राज्यों के बीच शांति-समझौते के लिए वार्ता करने हेतु अपने दूत जयपुर भेजे। महाराजा ने जयपुर महाराजा द्वारा भेजे गये इस सन्देश का स्वागत किया। उसने सिंघवी फतहराज, मेहता सूरजमल और आसोप तथा निवाज के ठाकुरों को सन्धि-वार्ता के लिए जयपुर रवाना किया। कुछ दिनों तक वार्ता चलती रही, फिर मई, 1810 ई. में दोनों राज्यों के बीच परस्पर मित्रता की सन्धि हो गई। सन्धि की शर्तें इस प्रकार थी :—

1. जगतसिंह गिंगोली के लूट का सामान जोधपुर को वापस लौटाये।
2. जगतसिंह धौकलसिंह का पक्ष न ले और जोधपुर के बागी सरदारों को जयपुर राज्य मे प्रश्रय न दे।
3. मानसिंह और जगतसिंह दोनों ही कृष्णाकुमारी के साथ विवाह करने का विचार त्याग दें।
4. अंग्रेजों और मराठों से राजनीतिक व्यवहार मे दोनों एक-सी नीति का अनुसरण करेंगे।
5. दोनों राज्य अपने सीमा-सम्बन्धी झगड़ों को शांतिपूर्ण तरीकों से निपटायेंगे।
6. जयपुर महाराजा अमीर खां को फौज के खर्च के लिए कुछ धनराशि देगा।

इस प्रकार एक वर्ष से दोनों राज्यों मे चल रहे संघर्ष का अन्त हुआ। जिससे दोनों राज्यों मे बड़ी बरबादी हुई थी।[70]

यद्यपि महाराणा भीमसिंह ने जोधपुर और जयपुर के बीच हुए युद्ध मे भाग नही लिया था तथापि महाराजा मानसिंह उसे अपना शत्रु मानता था, क्योंकि उसने अपनी पुत्री कृष्णाकुमारी की सगाई महाराजा जगतसिंह के साथ कर दी थी। अतः मानसिंह के मन में महाराणा के विरुद्ध प्रतिशोध की प्रबल भावना थी। जयपुर-जोधपुर मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर अमीरखां ने महाराजा मानसिंह को सुझाया कि जब तक कृष्णाकुमारी जीवित रहेगी तब तक जोधपुर-जयपुर मैत्री-सन्धि सम्भवतः स्थायी नही रह सकेगी; इसलिए जैसे भी हो सके उसे मरवा दिया जाना ही ठीक रहेगा। मानसिंह ने इस सुझाव को स्वीकार कर लिया और इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए अमीरखां को उदयपुर जाने को कहा।

जुलाई, 1810 ई. में अमीरखां तीस-चालीस हजार सेना के साथ उदयपुर पहुंचा और उसने अजीतसिंह चूंडावत के माध्यम से महाराणा के पास सन्देश भिजवाया कि वह कृष्णाकुमारी का विवाह महाराजा मानसिंह के साथ कर दे अन्यथा उसकी हत्या कर दी जाये। यदि ऐसा नही किया गया तो वह (अमीरखां) मेवाड़ को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। मेवाड़ की स्थिति इतनी कमजोर थी कि महाराणा

अमीरखां को अप्रसन्न करने का साहस नहीं कर सकता था। अतः निष्ठुर पठान सरदार की धमकी से भयभीत होकर महाराणा उस सुकोमल, निरपराध अबला राजकुमारी को मरवा देने के लिए सहमत हो गया। जब उसे मारने का जघन्य कृत्य करने को कोई तैयार नहीं हुआ, तब कृष्णाकुमारी को जहर का प्याला दिया गया, जिसे उसने सहर्ष पिता का आदेश मान कर पी लिया और अपनी जीवन-लीला समाप्त कर ली (21 जुलाई, 1810 ई.)। जब इस दुःखद हत्या का चार दिनों बाद संग्रामसिंह शक्तावत को पता चला तो वह उदयपुर पहुंचा और उसने अजीतसिंह चूंडावत को आड़े हाथों लिया और कहा-"तूने अपने बेदाग वंश पर इतना गहरा दाग लगा दिया है कि उसे अब कोई सिसोदिया मिटा नहीं सकता। बाप्पा रावल के वंश का नाश अब निकट है और यह दुर्घटना उस नाश का लक्षण है।" वस्तुतः मेवाड़ की कितनी दयनीय स्थिति हो गई थी, इसका कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। वहां के महाराणा और सामन्तों का घोर नैतिक पतन हो चुका था। यद्यपि निर्दोष कृष्णाकुमारी को विषपान करवाने का अपयश बर्बर अमीरखां को दिया जाता है तथापि यह कुकृत्य वीर राजपूत जाति के नाम पर, विशेषकर सिसोदिया वंश के लिए एक स्थायी कलंक के रूप में सदैव बना रहेगा। इस प्रकार कृष्णाकुमारी की जीवन-लीला समाप्त होने पर राजस्थान के दो प्रमुख राज्यों के बीच दीर्घकालीन व परम्परागत वैमनस्य का अन्त हो गया और अमीरखां जोधपुर लौट आया।[71]

यह ऊपर बताया जा चुका है कि जोधपुर और जयपुर के शासकों के बीच पारस्परिक मैत्री-सन्धि हो गई थी। इस सन्धि को परिपुष्ट करने के लिए इन दोनों राजघरानों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया गया। पूर्वनिर्णय के अनुसार 3 सितम्बर, 1813 ई. को मानसिंह ने महाराजा जगतसिंह की बहिन से विवाह किया और फिर दूसरे दिन महाराजा मानसिंह की पुत्री का विवाह महाराजा जगतसिंह के साथ बड़े हर्षोल्लास के वातावरण में सम्पन्न हुआ। राजस्थान के कई राजा व उनके प्रतिनिधि इस अवसर पर वहां उपस्थित थे। बीकानेर के शासक सूरतसिंह से महाराजा मानसिंह की किशनगढ़ जाते समय नागौर में भेंट हुई जिसके फलस्वरूप उनके बीच दीर्घकाल से चल रही कटुता का अन्त हो गया। इस तरह एक बार राजस्थान के सभी राज्यों में मेल हो गया। वे एक दूसरे के प्रति मित्रता का व्यवहार करने लगे थे।[72]

मारवाड़ में महाराजा मानसिंह के विरुद्ध जो तूफान उठा था, वह अब शांत हो चुका था। लगभग सभी सामन्तों ने मारवाड़ में उनकी सत्ता को स्वीकार कर लिया था, किन्तु यह सब होते हुए भी मारवाड़ में शान्ति स्थापित नहीं हो सकी। जयपुर के साथ लड़े गये दीर्घकालीन युद्ध के कारण मारवाड़ के शासक, सामन्त और सामान्य जन-समुदाय सभी को बड़ी क्षति उठानी पड़ी थी। राज्य की आर्थिक स्थिति बिल्कुल बिगड़ गई थी। राजकोष रिक्त हो गया था। यहां तक कि महा-

राजा और सामन्तों को अपने कीमती जवाहरात और आभूषणों के मोह से भी विमुक्त होना पड़ा था। स्थिति इतनी दयनीय थी कि निकट भविष्य में इसके सुधरने की कोई आशा नही थी। संकटमय स्थिति में जिन्होंने महाराजा मानसिंह को सहायता प्रदान की और स्वामीभक्ति पालन किया था, उन्हें इनाम के तौर पर महाराजा ने बड़ी-बड़ी जागीरें दी थीं। इस कारण से खालसा भूमि की आय मे कमी आने लगी। उधर राजकीय प्रशासन में खर्च भी अधिक होने लगा था। महाराजा मानसिंह को अब सामन्ती सेना पर विश्वास नही रहा। अतः उसने स्वयं अपने व राज्य की सुरक्षा के लिए वेतनभोगी सेना का गठन किया जिस पर उसे प्रति वर्ष ढाई लाख रुपये अतिरिक्त खर्च करने पड़ रहे थे। इसका भी राज्य की वित्तीय स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।[73]

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, महाराजा ने अमीरखां को बहुत बडी धनराशि दी थी और साथ में जागीर भी। मारवाड़ में उसका प्रभाव बहुत बढ़ गया था। वस्तुतः वह मारवाड़ का पंच (विवाचक) बन गया था। महाराजा मानसिंह अब यह अनुभव करने लगा था कि वह अपने ही राज्य में शक्तिहीन है। राज्य में अनेक परस्पर विरोधी गुट तैयार हो गये थे और सर्वत्र षड्यन्त्रो का बोलवाला था। अमीरखां को जिस गुट से धन प्राप्त होने की आशा होती थी, वह उसी के पक्ष में हो जाता था। अमीरखां की धन-पिपासा कभी शान्त होने वाली नही थी। महाराजा मानसिंह को अमीरखां की धन-लोलुपता की पूर्ति के लिए अपने सामन्तो और रय्यत पर नये-नये कर लगा कर अन्यायपूर्ण तरीकों से धन एकत्र करना पड़ रहा था। परिणामस्वरूप राज्य में सर्वत्र असन्तोष का वातावरण व्याप्त था।[74]

यद्यपि महाराजा मानसिंह ने धौकलसिंह के पक्षपातियों को कुचल दिया था और मारवाड़ में उसकी सत्ता को सभी ने स्वीकार कर लिया था तथापि धौकलसिंह अभी भी जीवित था। वह अभी भी अपने आपको मारवाड़ के सिंहासन का दावेदार मानता था। महाराजा मानसिंह को उसकी तरफ से मारवाड़ में पुन. शांति-भंग होने की आशंका बनी रहती थी। वह मानसिंह के लिए सदैव सिर-दर्द बना रहा।[75]

मारवाड़ के कुछ कुचक्री और षड्यन्त्रकारी सामन्तों को छोड़कर, अन्य सामन्त किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अपनी जागीरों में निष्क्रिय रूप से निवास करने लगे थे। राज्य में कानून और शान्ति की व्यवस्था दिन प्रति दिन बिगड़ती जा रही थी। देश का व्यापार-वाणिज्य चौपट होता जा रहा था। मारवाड़-क्षेत्र में व्यापारी वर्ग के लिए आवागमन के मार्ग सुरक्षित नही थे। वहां कुछ कुख्यात सामन्तों ने तो लूट-खसोट को ही जीवन-यापन का साधन बना लिया था। पहले मारवाड़ के विभिन्न क्षेत्रो में मेलो का आयोजन किया जाता था जहां बड़ी संख्या में व्यापारी एकत्र होते थे और वस्तुओ का आदान-प्रदान व क्रय-विक्रय हुआ करता था। वे मेले

प्राय: अब बन्द हो गये थे। यदि यदा-कदा कही मेले लगते भी थे, वहां व्यापारियों की उपस्थिति बहुत कम होने लगी थी। राज्य की आय का यह स्रोत भी शनैः-शनैः कम होता जा रहा था।[76]

मारवाड़ की भाँति राजस्थान के अन्य रजवाड़ों की स्थिति भी किसी प्रकार कम शोचनीय नही थी। मराठा राज्य की केन्द्रीय शक्ति प्रायः लुप्त हो गई थी। राजस्थान की राजनीति पर होल्कर और सिन्धिया हावी थे, परन्तु उनकी आपसी फूट और प्रतिस्पर्द्धा से राजस्थान प्रदेश की बड़ी क्षति हो रही थी। इन सरदारों के सेनापतियों में भी कशमकश चलती रहती थी। वे अपने सैनिको के साथ राजस्थान के राजाओ से धन वसूल करने के लिए इधर-उधर विचरण करते रहते थे और जब कभी उन्हें प्रस्तावित धनराशि प्राप्त नही होती थी, वे उन राज्यों के गांवों को लूटना आरम्भ कर देते थे। सार्वभौम सत्ता के अभाव में राजस्थान के सभी राज्यों में सामन्ती वर्ग अनेक गुटों मे विभाजित था और वह उच्छृंखल और स्वेच्छाचारी बनता जा रहा था। वह अपने स्वामी की सत्ता को चुनौती देने में तनिक भी हिचक का अनुभव नही करता था। राजस्थान के राजाओ की स्थिति वस्तुतः बड़ी दयनीय थी। अपने सामन्तो की विद्रोही प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखने के लिए उन्हें स्थायी वेतन भोगी सेना रखनी पड़ रही थी। लेकिन राजस्थान के राजा इतने दरिद्र हो गये थे और उनकी आय के साधन इतने सीमित थे कि वे अपने सैनिकों को समय पर वेतन नही दे पाते थे, इसलिए सैनिक भी विद्रोह करते रहते थे और गांवों को लूटने लग जाते थे। इन परिस्थितियों मे राजस्थान के राजा बड़े दुःखी व संतप्त थे। वे किसी सार्वभौम सत्ता के अधीन रहने के लिए आतुर हो रहे थे। इन संकटमय परिस्थितियों के कारण ही राजस्थान के राजाओ ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ 1817–1818 ई. मे सन्धियां की और उसके संरक्षण को सहर्ष स्वीकार कर लिया। इन परिस्थितियों का आगे सविस्तर विवरण देने का प्रयास किया जायेगा।

(ग) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ की जाने वाली सन्धियों के पूर्व की परिस्थितियां :—

सन् 1803 ई. का वर्ष राजस्थान के इतिहास में ही नहीं, भारतवर्ष के इतिहास में भी क्रान्तिकारी परिवर्तनो का वर्ष रहा है। पेशवा और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बीच बसई की सन्धि की पुष्टि 10 मार्च, 1803 ई. को गवर्नर जनरल लार्ड वेलेजली द्वारा कर दी गई थी। तब पेशवा बाजीराव को पूना मे अपने पद पर पुनः प्रतिष्ठित कर दिया गया था; परन्तु वह अब अग्रेजों के हाथ की कठपुतली बन चुका था। मराठा सरदार सिन्धिया और भोसले ने पेशवा के साथ ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा की गई बसई की सन्धि का अनुमोदन नही किया। अतः अगस्त 1803 ई. के आरम्भ मे दक्षिण में दौलतराव सिन्धिया तथा रघुजी भोंसले के

साथ अंग्रेजों का युद्ध छिड़ गया। गवर्नर जनरल लार्ड वेलेजली ने अंग्रेजी सेना के मुख्य सेनापति लार्ड लेक को उत्तरी भारत में सिन्धिया के अधीन प्रदेशों पर अधिकार करने के आदेश दिये। तदनुसार लेक ने अपनी विशाल सेना के साथ सिन्धिया द्वारा शासित क्षेत्रों पर आक्रमण कर दिया और अलीगढ़, दिल्ली तथा आगरा परगनों पर अधिकार कर लिया। 1 नवम्बर, 1803 ई. को उसने राजस्थान के उत्तर-पूर्वी सीमा पर स्थित लासवाड़ी के रणक्षेत्र में सिन्धिया की फौज को निर्णयात्मक रूप से पराजित कर दिया। राजस्थान में सिन्धिया के प्रभाव व महत्त्व को कम करने की दृष्टि से ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने राजस्थान के प्रमुख दो राज्यों–जयपुर और जोधपुर—के साथ सन्धि कर उन्हें अपने आश्रय में रखना चाहा। ऐसा करने पर ये आश्रित राज्य सिन्धिया और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राज्यों के बीच अन्तःस्थ राज्य के रूप में अच्छी भूमिका निभा सकते थे। भरतपुर का जाट राज्य और अलवर (माचेड़ी) का राज्य दिल्ली और आगरा के निकट पड़ते थे, अतः इनके साथ भी संरक्षात्मक सन्धि करना ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लिए आवश्यक हो गया था।[77]

सिन्धिया के आधिपत्य से मुक्त होने के उद्देश्य से जयपुर और जोधपुर के राजाओं ने पहिले भी कई बार अंग्रेजो के साथ सन्धि करने के प्रयास किये थे। सर्व प्रथम 1776 ई. में जयपुर के महाराजा पृथ्वीसिंह ने अपने वकील को गवर्नर जनरल से मिलने के लिए कलकत्ता भेजा था। वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने का इच्छुक था। महादजी सिन्धिया द्वारा जयपुर राज्य पर किये गये आक्रमणों से आंतकित होकर महाराजा सवाई प्रतापसिंह ने मराठों के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने मन्त्री दोलतराम हल्दिया को लखनऊ—स्थित अंग्रेजी पदाधिकारियों से बातचीत करने के लिए भेजा था। तत्पश्चात् एक बार पुनः महाराजा ने अपने पदाधिकारी फ्रांसीसी कप्तान पिल्ले के माध्यम से अंग्रेजों के साथ सन्धि करने का प्रयास किया था। जयपुर–नरेश के ये सभी प्रयास असफल रहे, क्योंकि कम्पनी-सरकार अभी देशी राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति का अनुसरण कर रही थी। इसी कारण से जोधपुर के महाराजा विजयसिंह द्वारा ईस्ट इण्डिया कम्पनी से सन्धि करने के प्रयत्न भी असफल रहे थे।[78]

सन् 1803 ई. में मराठों के साथ युद्ध आरम्भ हो जाने से स्थिति में परिवर्तन आया। अब कम्पनी–सरकार इन राजपूत राजाओं से सन्धि करने के लिए उत्सुक थी। गवर्नर जनरल लार्ड वेलेजली के आदेशानुसार लार्ड लेक ने जयपुर और जोधपुर राजाओं के पास प्रस्तावित सन्धि का मसविदा भेजा और उन्हें इस पर हस्ताक्षर करने को कहा गया। इस प्रस्तावित सन्धि में सात अनुच्छेद थे जिनमें निर्दिष्ट था कि दोनों पक्षों में परस्पर मैत्री रहेगी, एक के मित्र व शत्रु दूसरे के मित्र

व शत्रु समझे जायेंगे, कम्पनी सरकार इन राज्यो के आन्तरिक मामलो में हस्तक्षेप नही करेगी और न इनसे खिराज की माग ही करेगी, आवश्यकता पड़ने पर ये मित्र-राज्य ईस्ट इण्डिया कम्पनी को अपनी सम्पूर्ण सैनिक शक्ति से सहायता करेंगे, यदि इन राज्यों का किसी अन्य राज्य से झगड़ा हो जाये तो वे अपने विवाद को कम्पनी के माध्यम से सुलझाने के लिए बाध्य होगे तथा कम्पनी द्वारा सैनिक सहायता प्राप्त होने पर कम्पनी की सेना का खर्च इन्हें वहन करना पड़ेगा। कम्पनी-सरकार ने इन राज्यों के सरक्षण का दायित्व अपने ऊपर लिया और ये राज्य कम्पनी-सरकार की बिना स्वीकृति के अपने यहां किसी यूरोपीय निवासी को नौकरी नही देने का वादा किया। लगभग इन्ही शर्तो के आधार पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अलवर और भरतपुर राज्यो के साथ सन्धिया कर ली थी (सितम्बर-नवम्बर 1803 ई.)।[79]

पहली अगस्त, 1803 ई. को जयपुर महाराजा सवाई प्रतापसिह की मृत्यु हो गई थी और उसके स्थान पर उसका लड़का जगतसिह जयपुर का राजा बना था। महाराजा जगतसिह ने 14 दिसम्बर 1803 ई. को अग्रेजी सरकार द्वारा प्रस्तावित सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये और 15 जनवरी 1804 ई. को गवर्नर जनरल ने भी इस सन्धि की पुष्टि कर दी।[80]

19 अक्टूबर, 1803 ई. को जोधपुर के महाराजा भीमसिह का देहान्त हो गया। उसके बाद उसका ही प्रतिद्वन्द्वी चचेरा भाई मानसिह जोधपुर राज्य की गद्दी पर आसीन हुआ। महाराजा मानसिह ने अग्रेजो द्वारा प्रस्तावित सन्धि की शर्तों मे अपनी स्वतन्त्रता के लिए खतरा अनुभव किया। वह स्वभावतः अग्रेजों का विरोधी व उनके प्रति शंकित था। उसने लार्ड लेक द्वारा प्रेषित सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर नही किये। इसके बदले मे उसने अपनी ओर से संशोधित सन्धि-पत्र का प्रारूप कम्पनी सरकार के विचारार्थ प्रेषित किया। उसने साभर और अजमेर प्रदेश सिंधिया से छीन कर उसे दिलाने की भी मांग की थी। इसके साथ ही मानसिह ने अग्रेज-विरोधी होल्कर के साथ भी सन्धि-वार्ता आरम्भ की। फलतः 17 जनवरी, 1804 ई. को उसने होल्कर के साथ सन्धि कर ली जिसके अनुसार उसे अजमेर और साभर मिलना प्रायः निश्चित था। तय रहा कि इनके बदले मे वह होल्कर को सैनिक सहायता देगा और उसके परिवार को जोधपुर में रखने की व्यवस्था करेगा। ऐसी स्थिति मे अब जोधपुर राज्य और कम्पनी सरकार के बीच सन्धि होना सम्भव ही नही था। मई, 1804 ई. में कम्पनी-सरकार ने जोधपुर-राज्य के साथ सन्धि नही करने की सूचना मानसिह के पास भिजवा दी।[81]

दौलतराव सिन्धिया कई स्थानों पर अग्रेजी फौज द्वारा पराजित कर दिया गया था। वह अब अधिक समय तक युद्ध करने की स्थिति मे नही था। 30 दिसम्बर, 1803 ई. को उसने सुरजीअर्जुन गांव की सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। इस सन्धि के अनुसार सिन्धिया ने राजस्थान के उन सभी सहायक शासको की, जिन्होंने

अंग्रेजों के साथ पृथक् सन्धियां कर ली थीं, स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया और उनसे खिराज वसूल नही करने का आश्वासन दिया।[82]

अभी तक होल्कर युद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ था। परन्तु वह अधिक दिनों तक युद्ध से नहीं बच सका। अक्टूबर 1803 ई. में उसने उज्जैन को लूटा। उसके बाद वह शीघ्रतापूर्वक जयपुर की ओर बढ़ा और वहा लूट-खसोट करने लगा। जयपुर, अलवर और भरतपुर राज्यों ने कम्पनी-सरकार के साथ सन्धियां कर ली थीं। अतः उनकी रक्षा करना अब कम्पनी सरकार का दायित्व हो गया था। जयपुर के विरुद्ध होल्कर का कार्य अंग्रेजों के विरुद्ध प्रत्यक्ष चुनौती थी; किन्तु उसने लार्ड लेक को आश्वासन दिया कि वह ब्रिटिश सरकार के साथ मैत्री-सम्बन्ध बनाये रखने का इच्छुक है। जयपुर-राज्य मे तो वह अपने परम्परागत अधिकारों का प्रयोग कर रहा है। वह जयपुर-राज्य से कर वसूल करने के अधिकार को छोड़ने के पक्ष में नहीं था। इसके अतिरिक्त वह जोधपुर, अलवर व नागपुर के राजाओं तथा इंगलैं को अंग्रेजों के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए उकसा रहा था। होल्कर की इन गतिविधियों से कम्पनी-सरकार पूर्णतया अवगत थी। अतः अप्रैल 1804 ई. में गवर्नर जनरल लार्ड वेलेजली के आदेशानुसार मुख्य सेनानायक लार्ड लेक ने होल्कर के विरुद्ध प्रयाण कर दिया। उसका अग्रदल कर्नल मानसन की अध्यक्षता में उससे एक मंजिल आगे था। होल्कर विवश होकर जयपुर से दक्षिण की ओर हट गया। 16 मई, 1804 ई. को रामपुरा (अलीगढ) पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। जून के अन्त में लार्ड लेक तो अपनी सेना के साथ कानपुर लौट गया और मानसन को ससैन्य बूंदी और लाखेरी के मार्गों पर अधिकार करके उनकी रक्षा करने के आदेश दिये। होल्कर भाग कर मालवा पहुंच गया। मानसन बिना सोचे समझे चम्बल नदी पार कर हिंगलाजगढ़ की तरफ से होल्कर के प्रदेश में पहुंच गया। उसने 1 जुलाई को उस दुर्ग पर अधिकार कर लिया। होल्कर मालवा में था। उसने मन्दसौर को लूटा। अब होल्कर मानसन के विरुद्ध आक्रमण करने के उद्देश्य से आगे बढ़ा। मानसन को गुजरात की तरफ से कर्नल मरे के नेतृत्व में एक सेना के पहुंचने की आशा थी। जब यह सेना ठीक समय पर उसके पास नही पहुंची तो वह घबरा गया और पीछे हटने लगा। ऐसी स्थिति में यशवन्तराव होल्कर 7 जुलाई, को बाज-गति से पहुंच मानसन की सेना पर टूट पड़ा और उसने उसे परास्त कर दिया। मानसन पराजित होकर मुकुन्दरा घाटी की ओर शीघ्रता से पीछे हट गया। उसके सहयोग मे आई हुई कोटा की एक सैनिक टुकड़ी सर्वथा नष्ट हो गयी। सेण्ट लूकास भी रणक्षेत्र में धराशाही हो गया। मानसन की बड़ी दयनीय स्थिति थी। वह अपनी बची सेना के साथ कोटा, बून्दी और रामपुरा (अलीगढ़) होता हुआ हिण्डौन-बयाना मार्ग से किसी तरह 31 अगस्त, 1804 ई. को आगरा पहुचा। होलकर भी उसका पीछा करता हुआ फतहपुर पहुचा और वहां उसने अपने डेरे

डाले। मानसन की इस दुर्दशा के कारण अंग्रेजों की बड़ी बदनामी हुई। इसके विपरीत यशवन्तराव होल्कर को नवीन स्फूर्ति प्राप्त हो गई। उसका मनोबल बहुत ऊंचा उठ गया। उसने मथुरा पर अधिकार कर लिया और फिर 8 अक्टूबर, 1804 ई. को दिल्ली पर टूट पड़ा।[83]

ऐसी स्थिति में लार्ड लेक ने अपनी सेना को पुनः संगठित कर होल्कर का पीछा किया। लेक की सेना के पहुंचने पर होल्कर दिल्ली से पीछे हट गया और यमुना पार कर डीग के किले में पहुंच गया। लेक ने डीग का घेरा डाल दिया। इस समय भरतपुर के जाट राजा रणजीतसिंह ने अंग्रेजों के साथ की गई सन्धि को भंग कर स्पष्ट रूप से होल्कर का साथ दिया। जाटों ने भारत के उद्धारकर्त्ता के रूप में होल्कर का स्वागत किया। गवर्नर जनरल और लार्ड लेक के जाट राजा को होल्कर से पृथक् करने के प्रयत्न विफल रहे। 13 दिसम्बर, 1804 ई. को भयकर हत्याकाण्ड के पश्चात् डीग पर अंग्रेजो का अधिकार हो गया। तब दोनों मित्र (होल्कर और जाट राजा) भरतपुर के सुदृढ़ दुर्ग मे जा पहुंचे। युद्ध अबाध गति से चलता रहा। 7 जनवरी, 1805 ई. को भरतपुर का घेरा डाला गया और इस पर अधिकार करने के लिए अनेक प्रयत्न किये गये, परन्तु किला हस्तगत नही किया जा सका।

जाट राजा अंग्रेजों के साथ अधिक समय तक युद्ध करने की स्थिति में नही था। अतः उसने 17 अप्रेल, 1805 ई. को अंग्रेजो के साथ सन्धि कर ली। गवर्नर जनरल ने 4 मई, 1805 ई. को इसकी पुष्टि कर दी। वह अंग्रेजों को व्यय के निमित्त 20 लाख रुपये किश्तों में देने के लिए सहमत हो गया। अंग्रेजों ने जाट राजा को युद्ध के पहले का समस्त राज्य उसी के पास रहने दिया। जब होल्कर अकेला रह गया था। उसे भगोड़ा बनना पड़ा। अमीरखां इसका पक्षपाती हो गया। जगह-जगह छुट-पुट झगड़े होते रहे।[84]

मालवा से मानसन के दुर्दशापूर्ण प्रत्यागमन और भरतपुर के किले को लेने का असफल प्रयास जैसी घटनाओं को लेकर ब्रिटिश मन्त्री मण्डल में लार्ड वेलेजली की कटु आलोचना होने लगी। कम्पनी के डायरेक्टर्स भयातुर हो गये। भारत में देशी राज्यों के प्रति अपनाई गई नीति के प्रश्न पर गवर्नर जनरल लार्ड वेलेजली का इंगलैड के अधिकारियो के साथ तीव्र मतभेद हो गया। अतः उसने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। उसके स्थान पर 30 जुलाई, 1805 ई. को कार्नवालिस ने कम्पनी का शासन-भार ग्रहण कर लिया।[85]

लार्ड कार्नवालिस देशी राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति का कट्टर अनुयायी था। वह होल्कर से युद्ध समाप्त करने तथा राजस्थान के राजाओं के साथ की गई सन्धियो को भी रद्द करने के पक्ष में था। वह स्वयं तो अपने द्वारा निर्धारित नीति को कार्यान्वित करने के लिए जीवित नहीं रहा, परन्तु उसके उत्तराधिकारी सर जार्ज बार्लो ने उसकी नीति का निष्ठा और कठोरतापूर्वक पालन किया।

22 नवम्बर, 1805 ई. को कम्पनी सरदार ने दौलतराव सिन्धिया के साथ एक नई सन्धि की जिसके अनुसार जोधपुर, उदयपुर, कोटा आदि राजस्थान के राज्यों से सन्धि नहीं करने का आश्वासन दिया। 24 दिसम्बर, 1805 ई. को कम्पनी-सरकार ने होल्कर से भी सन्धि कर ली और उसको भी ऐसा ही आश्वासन दिया तथा टोंक, रामपुरा (अलीगढ़) और लाखेरी के प्रदेश जो अंग्रेजों के अधिकार में आ गये थे, उन्हे वापस उसे लौटा दिये। लार्ड लेक द्वारा सिफारिश करने पर भी बूंदी राज्य को अंग्रेजो ने अपने संरक्षण में नहीं लिया। कम्पनी सरकार ने जयपुर के साथ की गई पारस्परिक सहायता की सन्धि भी रद्द कर दी। जयपुर राज्य की ओर से सन्धि का पूर्णरूप से पालन किया गया था। मानसन और मेजर जनरल जोन्स को होल्कर के विरुद्ध जयपुर महाराजा ने सन्धि के अनुसार सैनिक सहायता दी थी। फिर कम्पनी सरकार ने जयपुर-नरेश पर सन्धि का परिपालन न करने का दोषारोपण लगा कर सन्धि को समाप्त कर देने की घोषणा कर दी। इसे किसी प्रकार न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। कम्पनी सरकार ने बहुत सोच-विचार कर अलवर राज्य के साथ की गई सन्धि को भंग नही किया। राजस्थान के राजपूत राज्यो को सिन्धिया और होल्कर के हाथो सुपुर्द कर देने के प्रतिकूल परिणाम निकले। सम्पूर्ण प्रदेश मे भयंकर अराजकता फैल गई और कुछ ही वर्षों मे राजस्थान मराठों, पिण्डारियों व अफगान आतंककारियो के लूट-खसोट व अत्याचार के फलस्वरूप पूर्णतया बरबाद हो गया।[86] कृष्णाकुमारी के विवाह और जोधपुर राज्य के उत्तराधिकार के प्रश्नों को लेकर विनष्टकारी युद्ध हुए जिनसे सम्बन्धित राजपूत राज्यो को बड़ी क्षति उठानी पड़ी थी। इसका विवरण तो पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। अब अमीरखां व उसके अन्य साथी पिण्डारियो ने, जो धन-लोलुप होने के साथ ही नृशंस और अत्याचारी भी थे, राजस्थान की बरबादी करने मे किसी भी प्रकार की कमी नही रखी। राजस्थान के राज्यों मे आन्तरिक झगड़े सतत रूप से चल रहे थे, इन सब कारणों के फलस्वरूप राजस्थान के राजपूत राज्य अंग्रेजो का संरक्षण प्राप्त करने के लिए लालायित हो गये। आगे के पृष्ठों पर इन्हीं तथ्यों पर प्रकाश डाला जायेगा।

सन् 1805 ई. में अंग्रेजों द्वारा जयपुर राज्य के साथ की गई सन्धि को रद्द कर देने के बाद जयपुर क्षेत्र में पुनः मराठो के आक्रमण आरम्भ हो गये, परन्तु अब राजस्थान के राज्यो पर सिन्धिया का प्रभाव बहुत कम हो गया था। जोधपुर के विरुद्ध लड़े गये युद्ध मे सिन्धिया की सेना ने जयपुर-नरेश जगतसिंह की सहायता की थी और इसके बदले में मराठो को एक निश्चित धनराशि देना तय हुआ था। परन्तु इसका भुगतान करने के लिए जयपुर की सरकार तैयार नही थी। इसलिए सिन्धिया का सेनानायक बापूजी सिन्धिया अपने दल-बल के साथ जयपुर राज्य मे प्रविष्ट हुआ और लूट-खसोट करने लगा। उसने जयपुर-नरेश के समक्ष 10 लाख

रुपयों की माग प्रस्तुत की थी। जयपुर-नरेश ने उसके विरुद्ध एक राजकीय सेना भेजी जो जून, 1808 ई. में परास्त हो गई। बापूजी ने अब लूणेरा, बीजांवाड़ा, निवाई आदि किलों पर भी अधिकार कर लिया, किन्तु इस विजय का उसे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ क्योंकि उसके सेनानायकों में पारस्परिक झगड़े आरम्भ हो गये थे। महाराजा जगतसिंह ने दौलतराव के पास सन्धि-वार्ता हेतु अपने दूत भेजने का निश्चय किया। इस पर बापूजी ने युद्ध बन्द कर दिया और समझौता-सम्बन्धी बात मन्थर गति से चलती रही।[87]

राजस्थान के राज्यों से खिराज की रकम प्राप्त न होने के कारण दौलतराव सिन्धिया की आर्थिक कठिनाई दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही थी। अतएव जनवरी 1809 ई. मे वह स्वयं एक बड़ी सेना के साथ हाड़ौती के मार्ग से जयपुर राज्य की सीमा मे प्रविष्ट हुआ। जयपुर राज्य पर चढ़ी रकम का भुगतान अभी भी नहीं हो सका था। अतः सिन्धिया की फौज ने जयपुर राज्य के गांवो को लूटना आरम्भ कर दिया। रास्ते मे पड़ने वाले टूनी के किले का घेरा डाला गया जो लगभग नौ सप्ताह तक चलता रहा। अन्त मे जयपुर-नरेश ने बातचीत कर खिराज-सम्बन्धी सभी मामले तय करने के लिए सिन्धिया को कहलाया। 25 अप्रैल, 1809 ई. को वार्ता शुरू हुई। फिर समझौता हुआ जिसके अनुसार सिन्धिया को 15 लाख रुपये देना तय हुआ। 3 लाख रुपयो की प्रथम किश्त का तुरन्त भुगतान कर दिया गया। बाकी की किश्तों का मुगतान करने का वचन दिया गया। 14 मई, 1809 ई. को सिन्धिया वहां से मेवाड़ की ओर प्रस्थान कर गया।[88]

होल्कर ने भी जयपुर राज्य से धन एकत्र किया। अंग्रेजों के साथ राजघाट की सन्धि (24 दिसम्बर, 1805 ई.) निश्चित हो जाने पर यशवन्तराव होल्कर राजस्थान के मार्ग से इन्दौर पहुंचा था। रास्ते में उसने जयपुर के राजा से बल-पूर्वक 18 लाख रुपये वसूल किये थे। यशवन्तराव होल्कर अक्टूबर 1809 ई. में पागल हो गया। उसकी हालत बराबर बिगड़ती गई। अन्ततोगत्वा 27 अक्टूबर, 1811 ई. को उसका देहान्त हो गया। उसका अनौरस पुत्र मल्हारराव उसका उत्तराधिकारी बना। यशवन्तराव की मृत्यु के बाद उसकी योग्य पत्नी तुलसीबाई ने इसी अल्प-व्यस्क मल्हारराव के नाम से प्रशासन का सचालन किया। 20 दिसम्बर 1817 ई. को महीदपुर के शिविर मे तुलसीबाई की असन्तुष्ट सैनिको द्वारा हत्या कर दी गई।[89]

यशवन्तराव होल्कर के उन्माद के समय और बाद में तुलसीबाई के प्रशासन-काल में होल्कर परिवार की तरफ से पूर्णाधिकार-प्राप्त प्रतिनिधि के रूप मे अमीर-खां राजस्थान के राजाओ से कर वसूल कर रहा था। मार्च 1810 ई. में अमीरखा मालवा से पुनः राजस्थान में पहुंचा। वह अगले सात वर्ष तक (1810-1817 ई.) सम्पूर्ण राजस्थान को रौंदता रहा। राजस्थान मे सर्वत्र उसका आतंक छाया हुआ

था। उसकी नृशंस लूट-मार के कारण राजस्थान का जन-जीवन दयनीय विवशता से अभिभूत था।[90]

जयपुर-नरेश जगतसिंह राग-रंग तथा ऐश्वर्य-विलास का जीवन व्यतीत कर रहा था। वह अपनी प्रेयसी रसकपूर के प्रेम-जाल में फंसा हुआ था। वह नित्य नये उपहार व सम्मान देकर उसे प्रसन्न करने में संलग्न था। उसे राज्य-प्रशासन की ओर ध्यान देने का अवकाश ही नहीं था। राज्य-प्रशासन अत्यधिक अव्यवस्थित तथा विश्रृंखल होता जा रहा था। राज्य की आय में निरन्तर कमी होती जा रही थी। फिर भी अमीरखां द्वारा खिराज की रकम की मांग में किसी प्रकार की छूट नहीं थी। कर की धनराशि एकत्र करने के लिए अमीरखां ने स्थायी रूप से अपने एक सहकारी सेनानायक मुहम्मदशाह खां को ससैन्य जयपुर राज्य में छोड़ रखा था। खिराज की रकम समय पर प्राप्त न होने पर वह जयपुर राज्य के गांवों को लूटने व उन्हें नष्ट-भ्रष्ट करने को सदैव तत्पर रहता था। अमीरखां स्वयं भी यदा-कदा जयपुर राज्य की सीमा में पहुंच अपनी पाशविक प्रवृत्तियों का खुला प्रदर्शन किया करता था। राज्य में मन्त्री-पद प्राप्त करने के लिए षड्यन्त्रों का कुचक्र चलता रहता था जिसके परिणामस्वरूप मंत्रिमंडल में आये दिन परिवर्तन होते रहते थे। ऐसी स्थिति में अमीरखा को भी अपनी खिराज की रकम के लिए जयपुर सरकार के साथ बार-बार नया समझौता करने को बाध्य होना पड़ता था।

अमीरखां बहुत शक्तिशाली और प्रभावशाली था। 1812 ई. मे जब दूनी के चांदसिंह ने उसके सहयोगी मुहम्मदशाह खां को टोंक के पास अमीरगढ के किले मे घेर लिया तो वह स्वयं वहां पहुंचा और उसने सवाई जगतसिंह पर दबाव डाल कर जुलाई 1813 ई. मे चांदसिंह को मन्त्री-पद से हटवा दिया था। कुछ समय बाद जयपुर और जोधपुर के महाराजाओं के विवाह के अवसर पर अमीरखां वहां जब उपस्थित हुआ तब दोनों राजाओं ने उसे अपने बराबर बैठा कर सम्मानित किया। उसके साथ एक छत्रधारी शासक का सा व्यवहार किया गया।[91]

जयपुर-नरेश ने अमीरखां और उसके सेनानायकों के नृशंस अत्याचारों और उनकी धन-लोलुपता से दुःखी होकर कई बार ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ सन्धि करने के प्रयास किये थे। वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी का संरक्षण प्राप्त करने के लिए लालायित था। 1816 ई. में कम्पनी की सरकार ने जयपुर-राज्य के साथ नई सन्धि करने का मानस बना लिया था। इसी वर्ष अमीरखां ने जयपुर नगर का घेरा डाला और उस पर वह गोलाबारी करने लगा। ऐसी स्थिति मे निस्सहाय होकर जगतसिंह ने एक बार पुनः अंग्रेजो के साथ सन्धि करने का प्रयास किया। साथ ही वह अमीरखां से भी समझौता करने के प्रयत्न कर रहा था। अमीरखा को जब रेवाड़ी के पास अंग्रेजी फौज का जमाव होने की सूचना मिली तो वह तुरन्त जयपुर-नरेश के साथ समझौता कर जयपुर नगर का घेरा उठा कर चला गया। 1818 ई. में अंग्रेजो

के साथ सन्धि हो जाने पर ही जयपुर राज्य अमीरखां और बापूजी सिंधिया के अत्याचारों तथा आन्तरिक षड्यन्त्रों और कलहों से मुक्त हो सका।

सन् 1806 ई. की वर्षा ऋतु में मेवाड़ से दौलतराव सिंधिया के प्रस्थान कर जाने के बाद किसी ने भी मेवाड़ राज्य की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। कृष्णाकुमारी के विवाह के प्रश्न को लेकर जो विनष्टकारी संघर्ष हुआ, उससे मेवाड़ राज्य पृथक् ही रहा; फिर भी मेवाड़ की स्थिति दिन-प्रति-दिन बिगड़ती ही जा रही थी। महाराणा के पास सेना का पूर्ण अभाव था। वह मेवाड़ का नाममात्र का शासक रह गया था। मेवाड़ के बड़े-बड़े सामन्त स्वतन्त्र रूप से कार्य करने लगे थे। वस्तुत: मेवाड़ मे शासन-व्यवस्था जैसी कोई चीज नही रह गई थी। सर्जेराव घाटगे, अम्बाजी इंगले आदि मराठा सरदार लूट-खसोट कर बड़ी कठिनाई से निर्वाह कर रहे थे। विद्रोही सेनानायकों तथा पिंडारियों की लूट के लिए मेवाड़ खुला क्षेत्र बना हुआ था। इनके द्वारा गांव जला दिये जाते, खेती-बाड़ी नष्ट कर दी जाती और गांववासियों तथा किसानों के साथ घोर अत्याचार किया जाता था। इनके दुःख-दर्द को सुनने वाला कोई नही था।

अब स्थिति पर नियन्त्रण स्थापित करने हेतु सर्जेराव घाटगे ने मेवाड़ का सम्पूर्ण शासन अपने हाथ में ले लिया और महाराणा को निजी खर्च के लिए प्रति दिन 500 रुपये देने की व्यवस्था कर दी। यह स्थिति भी अधिक दिनों तक नहीं चल सकी, क्योंकि 26 जुलाई, 1809 ई. को सर्जेराव घाटगे की हत्या कर दी गई और उसके सहयोगी बालाराव को भी कैद कर लिया गया। एक बार फिर सर्वत्र लूट-खसोट होने लगी।

जून 1809 ई. में दौलतराव सिंधिया जहाजपुर के मार्ग से मेवाड पहुंचा। वह छः माह तक शाहपुरा के आस-पास घूमता रहा। उसने शाहपुरा के राजा से धनराशि प्राप्त करना चाहा। राजा ने 40 हजार रुपये देने का वायदा किया। सिंधिया के सैनिकों की लूट-खसोट से बचने के लिए इस क्षेत्र के सामन्त दौलतराव के शरण में उपस्थित हुए। उसने सिंधिया को कुछ धन प्राप्त हो सका था।

महाराणा बड़ी दयनीय स्थिति में था। उनसे दौलतराव से सविनय प्रार्थना की थी कि वह मेवाड़ की सुरक्षा का प्रबन्ध करे और उसे जो प्रति दिन 500 रुपये दिये जाते थे, वह धनराशि पुनः दिलाई जाने की भी व्यवस्था करे। दौलतराव सिंधिया स्वयं आर्थिक संकट से ग्रस्त था। धन के अभाव में वह अपने सैनिको को वेतन चुकाने की स्थिति में भी नही था। उसने कोटा के झाला जालिमसिंह से ऋण लेकर किसी प्रकार अपना काम चलाया। महाराणा भी यदा-कदा अपने दैनिक खर्च के लिए झाला से ऋण लेता रहता था।

सन् 1810 ई. के आरम्भ में दौलतराव मेवाड़ छोड़ अजमेर और बून्दी के मार्ग से मालवा पहुच गया। मेवाड़ के प्रशासन का कार्य बापूजी सिंधिया को सुपुर्द कर दिया गया था।[93]

सिंधिया के जाने के बाद अमीरखां मेवाड़ राज्य में आ धमका। उसने महाराणा से 11 लाख रुपये मांगे और धमकी दी कि यदि इस राशि का भुगतान उसे नहीं किया जाता है तो वह एकलिंगजी के मन्दिर को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। वह सेना के साथ उदयपुर की ओर अग्रसर हुआ। राजकीय सेना को परास्त कर दिया गया। महाराणा ने दबाव के कारण वांछित धनराशि देने का वादा किया। अमीरखां तो अब मेवाड़ से लौट गया, परन्तु उसने अपना सेनानायक जमशेदखां को मेवाड़ में धन वसूल करने के लिए छोड़ दिया। जमशेदखां के पठान सैनिकों ने उदयपुर के आस-पास के क्षेत्र को लूटना आरम्भ कर दिया। वहां की प्रजा पर बड़ी सख्तियां और अत्याचार किये गये। वह जमाना मेवाड़ के इतिहास में '...' के नाम से जाना जाता है।

दौलतराव सिंधिया द्वारा नियुक्त मेवाड़ का प्रशासक बापूजी ... और जमशेद खां के बीच मेवाड़ की आमदनी एकत्र करने के प्रश्न को लेकर संघर्ष चलता रहा। बापूजी की सिंधिया के एक अन्य सेनानायक जसवन्त भाऊ से भी कशमकश चलती रही। आमदनी के बंटवारे सम्बन्धी एक समझौता हो जाने के बाद भी *1812-13* ई. में मेवाड़ में अकाल पड़ जाने से निश्चित धनराशि वसूल नहीं की जा सकी। दौलतराव के पास खिराज की रकम नहीं पहुंच रही थी। बापूजी को सिंधिया के पास धन भेजना था। यथेष्ट धन नहीं मिलने पर उसने मेवाड़ के कुछ सरदारों, किसानों और महाजनों को कैद कर अजमेर भेज दिया जहां से तो मर गये और कई *1818* ई. में अंग्रेजों के साथ मेवाड़ की सन्धि हो जाने ... कैद रहे। इतना करने पर भी बापूजी मेवाड़ से समुचित धन नहीं वसूल कर सका।[94]

मेवाड़ की कमजोरी और दयनीय स्थिति का कोटा के झाला जालिमसिंह ने भी लाभ उठाना चाहा। वह भीलवाड़े के पूर्व की तरफ का सारा क्षेत्र कोटा राज्य में मिलाने का इच्छुक था। जहाजपुर परगने पर तो उसका पहले से ही अधिकार हो चुका था। अब कोटड़ी का परगना भी उसने हथिया लिया। देवगढ़ के ठाकुर से सांगानेर (मेवाड़) छीन लिया। फिर उसने महाराणा पर दबाव डाल कर माडलगढ़ के किले का पट्टा भी अपने नाम पर लिखवा लिया। परन्तु महाराणा के गुप्त सन्देश के कारण मांडलगढ़ के किलेदार मेहता देवीचन्द ने जालिमसिंह को किला सुपुर्द नहीं किया।[95]

मेवाड़ की इस दयनीय स्थिति व बरबादी में भी शक्तावत और चूंडावत सरदारों की विरोधपूर्ण भावना किसी भी प्रकार घटी नहीं थी। शक्तावतों के पक्षपाती प्रधान सतीदास गांधी ने पहले रावत सरदारसिंह (चावंडा का जागीरदार) की हत्या करवा दी। फिर जब चूंडावतों का राज्य मे जोर बढ़ा तो ठाकुर अजीतसिंह, रावत जवानसिंह और दुलहसिंह ने महाराणा से आज्ञा प्राप्त कर सतीदास प्रधान को कैद कर लिया और उसे मौत के घाट उतार दिया। उसका भतीजा जयचन्द

अपनी रक्षा के निमित्त उदयपुर नगर से भाग निकला, परन्तु चूंडावतों ने उसे नाई गाव के पास पकड़ कर मार डाला।

जब बापूजी सिन्धिया अमीरखां की उत्तरी भारत में बढ़ती हुई शक्ति को रोकने में प्रयत्नशील था, मेवाड़ में यशवन्तराव 'भाऊ ने बापूजी का स्थान ले लिया। उसने राजकीय सेना के सहयोग से जमशेदखां के सहयोगी दिलेरखां के विरुद्ध सैनिक अभियान किया। यद्यपि दिलेरखां को पराजित कर मेवाड़ से बाहर निकाल दिया था तथापि मेवाड़ की दुर्दशा मे किसी प्रकार की कमी नहीं आई। लुटेरे पिंडारियो का मेवाड़ में निरन्तर आगमन होता रहता था और वे निःसंकोच होकर मेवाड़ के निवासियो को लूटते रहते थे।[96]

सिन्धिया, होल्कर, अमीरखां, जमशेदखां आदि मराठों और पिंडारियों की लूट-खसोट और अत्याचार से, जिनका ऊपर वर्णन किया जा चुका है, मेवाड़ पूर्ण रूप से उजड़ चुका था। कर्नल टॉड 1806 ई. में अंग्रेजी दूत के साथ मेवाड़ आया था। उस समय मेवाड़ की स्थिति कुछ अच्छी थी। परन्तु 1818 ई. मे जब वह दुबारा आया तो उसने मेवाड़ को पूर्ण उजड़ी स्थिति में देखा। भीलवाड़ा का कस्बा जो पहले व्यापार का बड़ा केन्द्र था और जिसके नीचे 6000 गावों की आबादी थी, पूर्ण रूप से उजड़ चुका था। टॉड लिखता है कि "जहाजपुर होकर कुम्भलगढ जाते हुए मुझे एक सौ चालीस मील में दो नगरों के सिवाय और कही मनुष्यों के पैरो के चिह्न तक नही दृष्टिगत हुए। स्थान-स्थान पर बबूल के पेड़ खड़े थे और मार्गों पर घास उग रही थी। खाली गावो में चीते, सूअर आदि जंगली पशुओ ने अपने रहने के स्थान बना रखे थे। उदयपुर मे, जहां पहले 50,000 घर आबाद थे, अब केवल 3000 रह गये थे। महाराणा का केवल उदयपुर, चित्तौड़ तथा माडलगढ़ पर आधिपत्य रह गया था। वह अपनी खुद की फौज रखने की स्थिति मे नही था। उसे अपने खर्चे के लिए कोटा के जालिमसिंह झाला से रुपये उधार लेने पड़ते थे। मेवाड़ के आदिवासी मेर और भील यात्रियों को लूटते रहते थे। कोटारिये का सरदार, जिसकी जागीर की सालाना आमदनी पहले 50,000 रुपये थी, अब वह एक भी घोड़ा रखने की स्थिति मे नही था।[97]

ओझा के कथनानुसार जैत्रसिंह के समय से महाराणा राजसिंह के काल तक (लगभग 450 वर्ष) मेवाड़ के राजाओं ने मुसलमानो के साथ निरन्तर संघर्ष किया था, फिर भी मेवाड़-राज्य की शक्ति का इतना ह्रास नही हुआ था जितना कि मराठों के विरुद्ध लड़े गये 60 वर्षों के युद्धो से हुआ। यदि 1818 ई. मे अंग्रेजी सरकार के साथ संधि न होती तो मेवाड़ राज्य का नाम ही मिट जाता। अंग्रेजो के साथ सन्धि करना मेवाड़ के लिए वरदान सिद्ध हुआ।[98]

पहले यह बताया जा चुका है कि जोधपुर के महाराजा मानसिंह ने अपना उद्देश्य अमीरखा के माध्यम से पूरा किया था। अतः वह उससे बड़ा प्रभावित था।

महाराजा ने सेवा के बदले में उसे बहुत बड़ी धनराशि दी तथा उसको नावां और सांभर के परगने, जिनकी अनुमानतः 4 लाख रुपये आमदनी आंकी गई थी, निजी जागीर के रूप में दिये गये थे। महाराजा ने उसे अपना 'पगड़ी-बदल' भाई बनाया था इस तरह मानसिंह और अमीरखां के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गये। मारवाड़ में उसका वर्चस्व सर्वत्र छा गया। इन सबके होने पर भी अमीरखां की धन-लोलुपता शान्त नहीं हुई। उसकी मित्रता मारवाड़ के लिए अत्यन्त मेहंगी और विनाशकारी प्रमाणित हुई। मारवाड़ का कोष रिक्त था। फिर भी अमीरखां के प्रति वर्ष धन की मांग बढ़ती ही जाती थी। वह कभी अपने नायब मुहम्मदशाहखां को धन प्राप्ति के लिए मारवाड़ भेजता था और कभी वह स्वयं भी ससैन्य दल एकत्र करने वहा पहुंचता था। नियमित सेना-खर्च व चढ़ी रकम का जब भुगतान नहीं होता तो वह मारवाड़ के गांवों को लूटने लगता था। राज्य से रुपये वसूल करने के मामले में अमीरखां अपने मित्र महाराजा मानसिंह के साथ किसी प्रकार की रियायत नही करता था।[99]

सन् 1814 ई. मे अमीरखां के नायब मोहम्मदशाहखां ने सैनिक खर्च की धनराशि को वसूली के लिए मारवाड़ की सीमा में पहुंच गांवों को लूटना आरम्भ किया। यह देख इन्द्रराज सिंघवी ने, जो महाराजा मानसिंह का कृपापात्र था और उसके आध्यात्मिक गुरु आयसजी देवनाथ के साथ मिलकर राज्य का प्रशासन चला रहा था, तीन लाख रुपये दिलवाने का प्रबन्ध कर पठान सरदार को विदा किया। 1815 ई. में अमीरखां स्वयं 14 हजार सैनिकों के साथ मारवाड़ में आ धमका। पहले तो उसने सीमावर्ती क्षेत्र को लूटा, फिर वह जोधपुर पहुंचा। उसने शेखावत के तालाब के पास अपना डेरा डाला। जोधपुर-राज्य पर चढ़ी रकम के भुगतान के लिए उसने महाराजा पर दबाव डालना शुरू किया। महाराजा के मन्त्री भुगतान के लिए कुछ समय चाहते थे, परन्तु अमीरखां चाहता था कि रकम का भुगतान तुरन्त किया जाना चाहिए। उसने प्रस्ताव रखा कि चढ़ी धन-राशि के बदले में महाराजा नागौर और मेड़ता के परगने उसको सुपुर्द कर दे। इन्द्रराज सिंघवी इस प्रस्ताव को स्वीकार करने के पक्ष मे नहीं था।

अमीरखां को यह निश्चय हो गया कि इन्द्रराज सिंघवी और उसके प्रमुख सलाहकार आयस देवनाथ के विरोध के कारण उसे वांछित धन प्राप्त नहीं हो रहा है। उसने इन्द्रराज के विरोधी गुट के सदस्यों से बातचीत आरम्भ की। इस गुट में अखेचन्द, देवनाथ का अनुज सूरतनाथ, आऊवा, आसोप, रास आदि के ठाकुर सम्मिलित थे। अमीरखां को यह कहा गया कि यदि वह इन्द्रराज और आयस देवनाथ को मरवा देता है तो उसे चढ़ी रकम के भुगतान के साथ ही सात लाख रुपयों की अतिरिक्त धनराशि भी दी जायेगी। अमीरखां के जीवन में नैतिकता जैसी कोई चीज नही थी। धन के प्रलोभन में अमीरखां को इन दोनों का वध करवा दे

में कोई हिचकिचाहट नही हुई। उसने अपने कुछ बन्दूकधारी सैनिकों को किले में भेजा। उन्होने वहा पहुंचकर इन्द्रराज और आयसजी देवनाथ के साथ द्रव्य-प्राप्ति के लिए तर्क-वितर्क करना शुरू किया। वहां मौका देखकर इन अफगान सिपाहियो ने इन्द्रराज और देवनाथ को मार दिया (अक्टूबर 10, 1815 ई.)। यद्यपि महाराजा मानसिंह हत्यारों को पकड़ उन्हें दण्ड देने के पक्ष में था तथापि विरोधी षड्यन्त्रकारी लोगों ने, जिनमे देवानाथ का भाई भीमनाथ, महाराजा का इकलौता पुत्र छतरसिंह व उसकी माता, आऊवा, आसोप और रास के ठाकुर आदि सम्मिलित थे, महाराजा को भयातुर कर उसे ऐसा करने से रोक दिया। महाराजा मानसिंह को अपने गुरु आयसजी देवनाथ और विश्वसनीय दीवान इन्द्रराज की हत्या से गहरा आघात पहुंचा। उसने राज्य कार्यों में रुचि लेना बन्द कर दिया और वह शनैः-शनैः उन्माद की ओर अग्रसर होने लगा तथा एकान्तवासी बन गया। अमीरखां ने विरोधी गुट से नौ लाख पचास हजार रुपये वसूल किये और फिर वह दिसम्बर 1815 ई. में जयपुर की ओर प्रस्थान कर गया।

अब जोधपुर राज्य का शासन विरोधी गुट के हाथों में आ गया। अखेचन्द को दीवान बनाया गया और बख्शी का काम भंडारी चतुर्भुज को सौंपा गया। अन्य राजकीय पदों पर भी उन्हीं के पक्षपातियों को नियुक्त किया गया।

जैसे ही इस दुःखद घटना की सूचना इन्द्रराज के छोटे भाई गुलराज को मिली, वह सोजत से एक बड़ी सेना साथ जोधपुर आ पहुंचा। उसके आने से विरोधी गट के लोगो ने भाग कर अपनी रक्षा की। गुलराज महाराजा मानसिंह से मिला और उसने शासन का कार्य अपने हाथों में ले लिया। मानसिंह अभी भी राज्य के प्रति उदासीन बना रहा। गुलराज ने बापूजी सिन्धिया को आमन्त्रित किया। जोधपुर में उसकी उपस्थिति गुलराज के लिए शक्ति का सूचक बनी रही। उधर विरोधी गुट भी सक्रिय था। अखेचन्द व उसके साथी अमीरखां से सांठ-गांठ करने में प्रयत्नशील थे। बापूजी और अमीरखां दोनों ने ही मारवाड़ का पूर्ण रूप से शोषण किया। उन्होंने अपनी सेवाओ के लिए धन मांगा। अन्ततोगत्वा विरोधी गुट ने आयसजी देवनाथ के भाई भीमनाथ को अपनी ओर कर महाराजा मानसिंह पर दबाव डाला कि वह सम्पूर्ण अधिकारों के साथ छत्रसिंह को युवराज घोषित कर प्रशासन का कार्य उसे सुपुर्द कर दे। छत्रसिंह की माता भी इस षड्यन्त्र में सम्मिलित थी। गुलराज इसका विरोध कर रहा था। अवसर पाकर 4 अप्रेल, 1817 ई. को गुलराज को कैद कर लिया गया और बाद में मार दिया गया। अब तो महाराजा को विवश कर दिया गया कि राज्य का सारा कार्य वह अपने पुत्र छत्रसिंह को सौंप दे। 19 अप्रेल, 1817 ई. को महाराजा ने स्वयं अपने हाथ से छत्रसिंह को तिलक कर उसे युवराज घोषित कर दिया और राज्य के सारे अधिकार उसे हस्तांतरित करने की घोषणा कर दी। छत्रसिंह ने अखेचन्द को दीवान के पद

पर नियुक्त किया। पोकरण के ठाकुर सालिमसिंह को प्रधान बनाया गया। प्रशासन में परिवर्तन अमीरखां के प्रभाव के कारण सम्भव हुआ था। उसने छत्रसिंह से एक बड़ी धन-राशि मांगी। युवराज ने एक लाख पचास हजार रुपये देना स्वीकार कर उससे अपना पिंड छुड़ाया। इस धन-राशि के मिल जाने पर भी अमीरखा द्वारा मारवाड़ का शोषण समाप्त नहीं हुआ था। इसका अन्त तो जनवरी 1818 ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ सन्धि सम्पन्न हो जाने के बाद ही सम्भव हो सका था।[100]

बीकानेर राज्य दूर होने के कारण मराठा आक्रमणकारियों के आतंक व विध्वंस से सुरक्षित रहा। बीकानेर का महाराजा सूरतसिंह जिसका राज्याभिषेक 21 अक्टूबर, 1787 ई. को हुआ था, बड़ा वीर, नीतिकुशल और योग्य प्रशासक था। प्रारम्भ काल में वह बाह्य आक्रमणकारियों को परास्त करने तथा आन्तरिक विद्रोहों को कुचलने मे काफी सफल रहा था। उसने सिन्ध के स्वामी से खानगढ़ का किला छीन लिया (1802 ई.)। मौजगढ़ के शासक खुदाबख्श की सहायता कर उसे भावलपुर राज्य का आधा भाग दिलाने में वह सफल रहा था। इस सैनिक अभियान के कारण सिन्ध-प्रदेश मे महाराजा की धाक जम गई थी। सूरतसिंह ने चूरू के ठाकुर को नतमस्तक करवा कर उससे 21 हजार रुपये पेशकश के वसूल किये थे (1803 ई.)। दीर्घकालीन संघर्ष के बाद उसने भट्टियो से भटनेर का किला खाली करवा लिया और इस गढ़ का नाम हनुमानगढ रखा (1805 ई.)। बीकानेर के इतिहास मे उसने पहली बार दुर्दान्त और उद्दण्ड प्रवृत्ति वाले बीदावत सरदारो से चुंगी-कर वसूल किया था।[101]

जोधपुर सिंहासन के दावेदार धौकलसिंह की मदद करते समय उसने पोकरण के ठाकुर सवाईसिंह से समझौता कर 80 गावो के साथ फलोदी नगर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रही। बाह्य आक्रमणों व राज्य के सामन्तों के निरन्तर विद्रोहों के फलस्वरूप महाराजा सूरत सिंह आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से शनैः-शनैः कमजोर होने लगा था।

यह पहले बताया जा चुका है कि महाराजा सूरतसिंह को जार्ज टॉमस के विरुद्ध किये गये युद्धो में काफी धन खर्च करना पड़ा था। फिर धौकलसिंह का पक्ष लेकर जोधपुर राज्य के विरुद्ध किये गये सैनिक अभियान में भी उसे क्षति उठानी पड़ी थी। उसके पश्चात् जोधपुर की सेना ने बीकानेर पर चढ़ाई की थी। इसी समय सिन्ध, जैसलमेर, सीकर, चूरू आदि से भी अलग-अलग सेनाओं ने बीकानेर क्षेत्र पर आक्रमण किया जिससे राज्य में सर्वत्र लूट-खसोट होने लगी थी। बीकानेर चारों तरफ से शत्रुओं द्वारा आतंकित था। अन्ततोगत्वा महाराजा सूरतसिंह को जोधपुर वालों से सन्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ा था। इस सन्धि के अनुसार फलोदी का परगना जोधपुर राज्य को वापस लौटाया गया और 3 लाख रुपये युद्ध खर्च के

रूप मे भी दिये गये। सिन्ध के जीते हुए छः गढ भी महाराजा को वापस लौटाने पड़े. जिस समय जोधपुर की सेना बीकानेर का घेरा डाले पड़ी थी, उस सकटमय स्थिति के समय अंग्रेजी दूत मॉनस्टुअर्ट एल्फिन्स्टन फारस जाते हुए रास्ते मे बीकानेर ठहरा था। महाराजा ने उससे निवेदन किया था कि कम्पनी-सरकार बीकानेर राज्य को अपने संरक्षण मे ले ले, परन्तु ऐसा सम्भव नहीं हो सका था क्योंकि उस समय ऐसा करना अंग्रेजों की तत्कालीन नीति के विरुद्ध था।[102]

यद्यपि बीकानेर राज्य को कम्पनी सरकार के संरक्षण में लेने का महाराजा का प्रस्ताव तो स्वीकार नही किया गया था तथापि बीकानेर राज्य के प्रति कम्पनी-सरकार की सहानुभूति सदैव बनी रही। 1803 ई. में हरियाणा प्रदेश पर ईस्ट इन्डिया कम्पनी का आधिपत्य हो जाने पर अंग्रेजी राज्य की सीमा बीकानेर-राज्य की सीमा से जा लगी थी। सीमावर्ती क्षेत्र (सीमान्त प्रदेश) में डाकुओं व लुटेरों का वड़ा जोर था। इनका अन्त करना नितान्त आवश्यक हो गया था। अतः कम्पनी-सरकार ने बीकानेर के महाराजा सूरतसिंह से सहयोग प्राप्त कर चोर-डाकुओं का दमन कर दिया और प्रदेश में पुनः शान्ति और कानून की व्यवस्था स्थापित कर दी। अमीरवास, बलन और खेयरु के प्रदेश पहले बीकानेर राज्य के भाग थे परन्तु बाद मे जार्ज टॉमस ने इन्हे हथिया लिया था। अब ये प्रदेश हरियाणा के साथ ही ईस्ट इण्डिया सरकार के अधीन हो गये थे। महाराजा सूरतसिंह के आग्रह पर ये प्रदेश बीकानेर राज्य को सुपुर्द कर दिये गये।[103]

सन् 1809 ई. के पश्चात् बीकानेर राज्य में वहां के उद्दण्ड सामन्तों के उत्पात और विद्रोह सर्वत्र होने लगे थे। सौभाग्य से महाराजा सूरतसिंह को अमर चन्द सुराणा जैसा योग्य, वीर और नीतिकुशल मन्त्री व सेनापति मिल गया था। उसने राजकीय सेना का संगठन कर इस सेना की मदद से एक बार तो सभी विद्रोही जागीरदारो को कुचल दिया था। सर्वप्रथम उसने साडवा के विद्रोही ठाकुर जैतसिंह को बीकानेर में कैद कर लिया और फिर सांडवा ठिकाने से 80 हजार रुपये दंड के वसूल किये। 1810 ई. में राजकीय सेना ने भूकरका पर आक्रमण कर दिया। वहा का ठाकुर प्रतापसिंह भग निकला। भूकरका पर राजकीय थाना कायम कर दिया गया। अमरचन्द ने सुजानगढ़ और शेखावाटी के क्षेत्र के ठिकानेदारो से दंड के रुपये वसल किये। तत्पश्चात् युक्ति से भूकरका के ठाकुर प्रतापसिंह, सोघमुख के ठाकुर नाहरसिंह, भादरा के ठाकुर पहाड़सिंह तथा उसके पुत्र लक्ष्मणसिंह को कैद कर लिया। वे बीकानेर लाये गये जहां लक्ष्मणसिंह को तो मुक्त कर दिया गया और बाकी तीनो सरदारो को मार दिया गया। चूरू का ठाकुर शिवसिंह दीर्घकाल से विद्रोही बना हुआ था। चूरू-गढ़ का घेरा डाला गया (1814 ई.)। कुछ दिनों के बाद शिवसिंह तो मर गया और उसका लड़का पृथ्वीसिंह अपने कुटुम्ब सहित किला खाली कर जोधपुर की ओर पलायन कर गया। चूरू नगर और गढ़

पर राजकीय सेना का अधिकार हो गया। इस प्रकार अमरचन्द के सतत् प्रयत्नों से विद्रोही ठाकुरों का दमन कर दिया गया था; परन्तु जब अमरचन्द के विरोधी गुट के सदस्यों ने षड्यन्त्र कर उसकी हत्या करवा दी, तब 1815 ई. मे बीकानेर राज्य मे पुनः सरदारों के विद्रोह आरम्भ हो गये।

चूरू का भागा हुआ ठाकुर पृथ्वीसिंह चूरू के निकट सरसला गांव में आ पहुंचा। अब उसने भादरा के प्रतापसिंह, ढद्रेवा का सूरजमल, जसाणे का अनूपसिंह (सिगरोत), रावतसर का बहादुरसिंह, बिरकाली का दलपतसिंह (सिगरोत) आदि विद्रोही ठाकुरों से मिलकर, सीकर के स्थायी एवं भट्टी, जोहियों आदि की सहायता से बीकानेर राज्य में उत्पात मचाना शुरू किया। राजकीय फौज ने रावतसर ठिकाने से 20 हजार रुपये पेशकशी के ठहराये। भादरा के किले का घेरा डाला गया। ठाकुर ने बड़े साहस के साथ राजकीय सेना का सामना किया परन्तु बाद में जब पटियाला से सिक्ख सेना महाराजा की सहायता मे वहां पहुंची, तब वह किला खाली कर भाग गया। किले पर सिक्ख सेना का अधिकार हो गया। चूरू के विद्रोही ठाकुर ने सीकर और बिसाऊ की सम्मिलित सेना के साथ चूरू पर आक्रमण किया। राजकीय सेना ने डट कर उसका मुकाबला किया। तब वह रतनगढ़ आदि अन्य स्थानों को लूटता हुआ शेखावाटी में रामगढ़ की तरफ चला गया।

सन् 1816 ई. में अमीरखां के भी दो बार बीकानेर क्षेत्र पर आक्रमण हुए। इसमें पठान आक्रमणकारी को विशेष लाभ नहीं हुआ। चूरू का विद्रोही ठाकुर पृथ्वीसिंह अमीरखां के सेनानायक जमशेदखां की सहायता से एक बार फिर चूरू-क्षेत्र में पहुंचा और वहां लूट-खसोट कर धन एकत्र करने लगा। अन्ततोगत्वा 1817 ई. मे पृथ्वीसिंह ने नरहड़ के कायमखानियों और जमशेदखां की सहायता से फिर चूरू पर आक्रमण किया और इस बार उसने 23 नवम्बर, 1817 ई. को राजकीय फौज को पराजित कर चूरू नगर व किले पर अधिकार कर लिया। विद्रोही ठाकुरों के कारण बीकानेर राज्य मे चौफेर अराजकता व अशान्ति का वातावरण व्याप्त था। ऐसी स्थिति मे अंग्रेजों के साथ सन्धि होने पर ही बीकानेर के महाराजा को राहत मिली।[104]

जैसलमेर के महारावल अखैसिंह की, जिसने जैसलमेर राज्य को प्रशासनिक एवं आर्थिक दृढ़ता प्रदान की थी, मृत्यु के उपरान्त महारावल मूलराज कार्तिक बदी 5, संवत् 1819 (1762 ई.) को जैसलमेर की गद्दी पर बैठा। उसका राज्यकाल जैसलमेर के इतिहास में आतंक का काल कहा जा सकता है। उसका दीवान स्वरूप सिंह बड़ा महत्त्वाकांक्षी था। उसने अपनी चतुराई से महारावल मूलराज को वशीभूत कर लिया था। उसने अपने विरोधी भाटी सामन्तों को कुचलने व उन्हें शक्तिहीन बनाने के लिए शक्ति व षड्यन्त्रो का उपयोग किया। स्वाभिमानी भाटी सामन्त इससे उग्र हो उठे। राज्य में सर्वत्र अराजकता फैलने लगी। दीवान विरोधी सामन्तों

ने युवराज रायसिंह को अपने गुट में मिला कर उसके द्वारा खुले दरबार में महारावल मूलराज के सामने ही दीवान स्वरूपसिंह की हत्या करवा दी। महारावल मूलराज को महलों में बन्दी बना कर रखा गया और युवराज रायसिंह अपने पिता के नाम पर जैसलमेर राज्य के प्रशासन का संचालन करने लगा। मूलराज तीन महीने और चार दिन तक कारावास में रहा, परन्तु बाद में उसके समर्थकों ने झिझिणयाली के ठाकुर अनूपसिंह के पुत्र जोरावरसिंह के नेतृत्व में उसे मुक्त करवा लिया और वह अब पुनः राजसिंहासन पर बैठ राज्य-कार्य करने लगा। युवराज रायसिंह और उसके साथी भाटी सरदारों को देश निकाले के आदेश दे दिये गये।[105]

मूलराज के राज्यारोहण के समय से ही राज्य में अराजकता, अत्याचार एवं राजनैतिक अस्थिरता की स्थिति बनी हुई थी। इससे राज्य को बड़ी क्षति उठानी पड़ रही थी। राज्य के अनेक प्रदेश स्वतन्त्र हो गये या पड़ोसी राज्यों के द्वारा हड़प लिये गये। देरावर के ठाकुर ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। उसने देरावर के अतिरिक्त मुमणवाहण, वीझणोट तथा मरोर पर अधिकार कर लिया। वि.सं 1820 में नश्वर के प्रदेश को भी अपने अधीन कर लिया। केहराणो दावद पौत्र ने जैसलमेर के सीमावर्ती प्रदेशों को लूटना आरम्भ कर दिया था। दूसरी सीमा पर जोधपुर के राठौड़ नरेश ने वि. सं. 1826 में शिव, कोटड़ा तथा वि. सं. 1837 मे कोट गिराव के क्षेत्र हस्तगत कर लिए।[106]

निष्कासित युवराज और उसके भाटी सरदार राज्य की सीमा पर लूट-मार करने में लगे हुए थे। इस उपद्रव-काल में बीकानेर वालों ने संवत् 1841 में पूगल पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार जैसलमेर राज्य की सीमा संकुचित होती जा रही थी।[107]

महारावल मूलराज ने कारावास से मुक्त होने के बाद स्वरूपसिंह के स्थान पर उसके लड़के सालिमसिंह को दीवान के पद पर नियुक्त किया था। वह अपने पिता की अपेक्षा अधिक क्रूर, अत्याचारी, चतुर एव चालाक था। उसके हृदय में प्रतिहिंसा की भावना बड़ी प्रबल थी। युवराज और भाटी सरदारों के निर्वासन-काल में उसने अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली थी। उसने भी अपने पिता की भांति महारावल को चतुराई से अपने वश मे कर लिया था।[108]

राजकुमार रायसिंह और उसके साथी भाटी सरदार 12 वर्ष तक निर्वासित रहे। इसके बाद वे पुनः जैसलमेर में आ गये। सालिमसिंह ने युवराज को कैद करवा कर दूर देवादुर्ग मे रखा। सालिमसिंह अपने पितृ-हन्ताओं से बदला लेने के लिए उत्सुक था। पहले उसने जोरावरसिंह को, जो उसके रास्ते में कांटा बना हुआ था, प्रशासन से अलग कर दिया। सालिमसिंह ने फिर षड्यन्त्र कर देवादुर्ग मे आग लगवा दी जिसमें रायसिंह पत्नी सहित जल मरा। उसके दो पुत्र अभयसिंह और धौकलसिंह बच गये थे। उन्हें पहले रामगढ़ के गढ़ में रखा, फिर कुछ समय बाद इन

दोनों राजकुमारों की हत्या करवा दी गई। इस तरह राज्य में षड्यन्त्रों और राजनीतिक हत्याओं का ताता लग गया था। दीवान सालिमसिंह के कुचक्रों के परिणामस्वरूप राज्य में सर्वत्र आतंक फैल गया था।[109]

मूलराज के वास्तविक उत्तराधिकारियों की हत्या करवा देने के उपरान्त अब सालिमसिंह ने मूलराज के तृतीय पुत्र जैतसिंह के पुत्र महासिंह के तीसरे पुत्र गजसिंह को उत्तराधिकारी घोषित कर दिया (1804 ई.)। इस प्रबंध घोषणा ने भाटियों को आतंकित कर दिया। बहुत से भाटी सरदार भयभीत होकर जैसलमेर छोड़ पड़ोसी राज्यों मे चले गये। उन्होंने जैसलमेर के सीमावर्ती क्षेत्रों को लूटना आरम्भ कर दिया। इधर सालिमसिंह भी अपने विरोधियों को चुन-चुन कर मारने तथा उन्हें पीड़ित करने लगा। चारों ओर राज्य में हिंसा-प्रतिहिंसा और लूट-पाट की घटनाओं का चक्र चल रहा था। सर्वत्र अराजकता व्याप्त थी।[11]

यह वह समय था जबकि राजस्थान के राजा मराठों व पिंडारियों के आतंक से भयभीत होकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का संरक्षण प्राप्त करने को आतुर हो रहे थे। जैसलमेर राज्य को यद्यपि मराठों से तो कोई भय नही था, फिर भी आन्तरिक उपद्रवों व बाह्य आक्रमणों के फलस्वरूप विषम परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था। राज्य की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई थी और राज्य के अस्तित्व को ही खतरा उत्पन्न हो गया था। पड़ोसी राज्यों ने जैसलमेर के सीमावर्ती क्षेत्रों पर अधिकार करना आरम्भ कर दिया था। आन्तरिक उपद्रवों के कारण राज्य की शक्ति इतनी क्षीण हो गई थी कि महारावल बाह्य आक्रमणकारी का सामना करने की स्थिति मे नही था। महारावल मूलराज अपनी हीन स्थिति का अनुभव करने लगा था। उसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार कर उसके साथ सन्धि कर लेने में ही अपना हित समझा। सर्वप्रथम 1808 ई. मे कम्पनी सरकार से सन्धि करने का प्रयास किया गया था परन्तु उसे सफलता नही मिली, क्योंकि इस समय तक कम्पनी की नीति यमुना नदी के पूर्वी प्रदेशों तक ही अपनी सत्ता एवं प्रभुता बनाये रखने की थी।[111]

सन् 1813 ई. के पश्चात् कम्पनी-सरकार की नीति में परिवर्तन आने पर महारावल ने पुन: इसके साथ सन्धि करने के प्रयास चालू किये। दीवान सालिमसिंह, जो सन्धि करने के पक्ष में नही था, अवरोध उत्पन्न करता रहा; परन्तु जब उसने देखा कि सन्धि को रोकना सम्भव नही है, तब उसने प्रयत्न किया कि सन्धि मे ऐसी धाराएं जोडी जायें जिससे कोटा के झाला जालिमसिंह की भांति उसे व उसके वंशजों को जैसलमेर में दीवान का पद स्थायी रूप से प्राप्त रहे; किन्तु ऐसा सम्भव नही हो सका। 12 दिसम्बर, 1818 ई (पुष्टि 2 जनवरी, 1819) को जैसलमेर राज्य और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बीच सन्धि सम्पन्न हो गई जिससे राज्य में पुनः शांति और व्यवस्था स्थापित होने लगी। इस सन्धि के हो जाने के कुछ समय बाद महारावल मूलराज की मृत्यु हो गई (8 अक्टूबर, 1819 ई.)।[112]

गत पृष्ठों पर उल्लेख किया जा चुका है कि राजस्थान के राज्यों में आन्तरिक युद्धों और बाह्य आक्रमणों के फलस्वरूप सर्वत्र घोर अशान्ति व अव्यवस्था व्याप्त थी। राज्यों की आय के स्रोत निरन्तर अवरुद्ध होते जा रहे थे और उनकी सीमाएं भी सकुचित हो रही थी। कृषि व व्यापार दोनो प्रायः नष्ट हो चुके थे। पिंडारियों की लूट-खसोट से प्रजा उत्पीड़ित थी। मराठो और अमीरखां के अत्याचारो से राजा से रंक तक दुःखी और संतप्त थे। ऐसे विपाक्त व उच्छृंखलता के वातावरण में राजस्थान की दक्षिण-पूर्वी सीमा पर स्थित कोटा राज्य शान्त और व्यवस्थित था। यहा कृषि उन्नत स्थिति मे थी। हर जगह हरे भरे खेत दृष्टिगत होते थे और व्यापारी वर्ग भी अपना कारोबार स्वतन्त्र रूप से कर रहा था। कोटा राज्य में समृद्धि थी तथा उसकी सीमाएं भी यदा-कदा, यत्र-तत्र बढ़ती रहती थी। उस तनाव व अराजकतापूर्ण युग मे कोटा राज्य की शान्ति और समृद्धि का श्रेय एकमात्र वहा के सर्वे-सर्वा प्रधानमन्त्री झाला जालिमसिंह को था। यद्यपि वह स्वयं छत्रधारी शासक नही था तथापि उसने अर्द्ध शताब्दी से भी अधिक समय तक पूर्ण सत्ताधिकारी के रूप में कोटा राज्य पर एकछत्र शासन किया। वह विलक्षण बुद्धि का व्यक्ति था। वह वीर योद्धा, कुशल प्रशासक, उच्च कोटि का कूटनीतिज्ञ, नीति-विशारद, दूरदर्शी तथा अपने राज्य का परम हितैषी था। उसने राज्य के सभी उद्दण्ड सरदारो को कुचल कर नियन्त्रित कर दिया था। वे अब शान्ति भग करने का साहस नही कर सकते थे। उसने मराठो के प्रति साम, दाम और भेद की नीति अपना कर देश की रक्षा की थी। उसने पिंडारियो को अपने राज्य मे शरण देकर कोटा राज्य की जनता को उनकी विनष्टकारी गतिविधियों से उत्पीड़ित होने से बचा लिया था। अंग्रेजों के प्रति भी उसने सद्भावना और मित्रता का प्रदर्शन किया। संक्षेपतः, होल्कर और सिंधिया, मराठे और अंग्रेज, राजपूत व पिंडारी सभी के साथ उसका मैत्रीपूर्ण व्यवहार रहा जिससे वह अपने देश को उनके आक्रमणों से सुरक्षित रखने में सक्षम हो सका था। वह अपनी बुद्धिमता और राजनीतिक पटुता के कारण राजस्थान में सर्वत्र प्रतिष्ठित था। उसकी सलाह व सहयोग के लिए सभी अपेक्षित थे।[113] झाला जालिमसिंह सम्बन्धी विशेष जानकारी परिशिष्ट में दी गई है।

सन् 1817 ई. में गवर्नर जनरल लार्ड हेस्टिंग्ज ने पिंडारियों के दमन हेतु एक बहुत बड़ी योजना तैयार की थी। उस समय राजस्थान के समग्र राज्यों से इस कार्य के लिए सहयोग की अपेक्षा की गई थी। पिंडारियो के दमन के लिए सहयोग प्राप्त करने हेतु कम्पनी सरकार के प्रतिनिधि कर्नल टॉड ने झाला जालिमसिंह से मुलाकात की थी। उस समय यद्यपि जालिमसिंह के पिंडारियों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे, तथापि एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ होने के नाते उसने इस पिंडारी-दमन महायज्ञ में अंग्रेजों के साथ मिलकर सहर्ष आहुति देने की स्वीकृति प्रदान कर दी थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बढ़ते हुए वैभव व पराक्रम से वह अनभिज्ञ नही था। 23 नवम्बर, 1817 ई. को रांवठे नामक स्थान पर कर्नल टॉड के साथ हुई मुलाकात

के समय उसने कहा था–"मैं जानता हूं कि दस वर्ष बाद सम्पूर्ण भारतवर्ष पर कम्पनी का राज हो जाना है।" उसकी यह भविष्यवाणी दस वर्ष बाद नहीं, परन्तु बत्तीस वर्ष बाद अवश्य सत्य प्रमाणित हुई।[114]

कर्नल टॉड के कहने पर जालिमसिंह ने पिंडारियों के दमन हेतु कम्पनी सरकार को 1500 पैदल और सौ सवार तथा चार तोपें सहायता में दीं। बाद में जनरल जे. मेलकम जब दक्षिण की तरफ से अपने परिश्रान्त सैनिकों के साथ उत्तर की ओर अग्रसर हो रहा था और चारों तरफ से शत्रुओं की सेनाओं से आक्रांत था, जालिमसिंह ने उसकी सहायता की थी। वस्तुतः जालिमसिंह की प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सहायता से कम्पनी सरकार पिंडारियों के नेताओं को कैद करने में सफल रही थी। मराठा-युद्ध में भी उसके द्वारा दी गई मदद से कम्पनी सरकार को बड़ा सन्तोष हुआ था।[115]

गवर्नर जनरल लार्ड कार्नवालिस के उत्तराधिकारी जार्ज बार्लो ने जयपुर राज्य के साथ की गई सन्धि का अन्त कर दिया था और 1805–06 ई. में सिंधिया तथा होल्कर के साथ सन्धियां कीं जिनमें स्पष्ट रूप से आश्वासन दिया गया था कि चम्बल नदी के पश्चिम मे स्थित संरक्षित अलवर, भरतपुर और धौलपुर के राज्यों के अतिरिक्त अन्य किसी राजपूत राज्यो के साथ कम्पनी सरकार राजनीतिक संबंध स्थापित नही करेगी। इस प्रकार लार्ड वेलेजली द्वारा अपनाई गई नीति का यह पूर्णतया परावर्तन था। कम्पनी के प्रधान सेनापति लार्ड लेक ने जयपुर राज्य के साथ की गई सन्धि को रद्द कर देने पर रोष प्रकट किया था और उसने उत्तरी भारत में अपने राजनीतिक अधिकारो को परित्याग कर दिया था (जनवरी 1806 ई.)। परिणामतः राजस्थान के संरक्षित राज्यों के पर्यवेक्षण का कार्य दिल्ली में स्थित रेजीडेन्ट लेफ्टिनेन्ट कर्नल ओक्टरलोनी को सौंपा गया। फिर 25 जून, 1806 ई. को आरचीबाल्ड सेटन को ओक्टरलोनी के स्थान पर दिल्ली का रेजीडेन्ट नियुक्त किया गया।[116]

जार्ज बार्लो द्वारा की गई व्यवस्था से राजस्थान के राज्यों में सर्वत्र अराजकता फैल गई और सारा राजस्थान उजाड़-सा होकर पूर्णतया बरबाद हो गया। जोधपुर, उदयपुर, जयपुर, बीकानेर और कोटा के राजा आन्तरिक कलहों व मराठों, अमीरखां और पिंडारियो के आक्रमणों से उत्पीड़ित होकर अंग्रेजों सरकार से संरक्षण प्राप्त करने के लिए बार-बार दिल्ली रेजीडेण्ट सेटन से प्रार्थना करते रहे। परन्तु सेटन ने उनकी प्रार्थना पर ध्यान नहीं दिया, क्योंकि अभी तक कम्पनी सरकार देशी राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति का अनुसरण कर रही थी। इसके अतिरिक्त राजस्थान के राज्यो को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के संरक्षण में लेने का अर्थ था मराठों के साथ की गई सन्धि की अवहेलना। सेटन मराठों को, जिनके साथ मैत्री-सन्धि हो चुकी थी, नाराज करने के पक्ष मे नहीं था।[117]

सन् 1811 ई. में सेटन के स्थान पर चार्ल्स मेटकाफ को दिल्ली के रेजीडेन्ट के पद पर नियुक्त किया गया। वह जार्ज बार्लो की नीति का कटु आलोचक था। उसका मत था कि कम्पनी-सरकार राजस्थान के राज्यों को संरक्षण प्रदान करे और मराठों व अमीरखां के विध्वंसक कार्यक्रमों तथा विनष्टकारी हलचलों से उनकी रक्षा करे। उसने तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड मिन्टो को सिफारिश की थी कि कम्पनी सरकार के संरक्षण में राजस्थान के राज्यों को मिलाकर एक संघ का निर्माण कर दिया जाये। लार्ड मिन्टो ने इसे मराठो के साथ की गई सन्धि के विपरीत बताते हुए अस्वीकार कर दिया।[118]

लार्ड मिन्टो के बाद जब लार्ड हेस्टिंग्ज गवर्नर जनरल बन कर आया (1813 ई.), तब कुछ समय बाद कम्पनी सरकार की नीति में परिवर्तन आया। सभी विरोधों का दमन कर वह देश मे कम्पनी की परमोच्च सत्ता स्थापित करने के पक्ष में था। दिल्ली और आगरा पर कम्पनी का अधिकार था। अतः वह चाहता था कि कम्पनी महान् मुग़लों का स्थान ग्रहण करे और भारत में एकाकी शक्ति के रूप में शासन का संचालन करे। उस समय देश में पिंडारियो का बड़ा उत्पात था। वे शान्ति के मार्ग मे कंटक थे तथा वे पूर्ण विनाश के पात्र थे। लार्ड हेस्टिंग्ज ने पिंडारियों का अन्त करने का दृढ़ संकल्प किया। इस उद्देश्य से उसने एक विशाल योजना तैयार की जो 1816 ई. के दिसम्बर तक बन चुकी थी। 1817 ई. मे वर्षा ऋतु के समाप्त होने पर इसे कार्यान्वित करने का निर्णय लिया गया। गवर्नर जनरल ने राजस्थान के राजाओं का भी पिंडारियों के दमन के कार्य मे सहयोग देने के लिए आह्वान किया और साथ में उन्हे इस बात के लिए आगाह भी किया कि यदि उनके द्वारा इस कार्य में किसी प्रकार का विघ्न उत्पन्न किया गया तो कम्पनी सरकार को उनके साथ शत्रुओं का-सा व्यवहार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी।[119]

लार्ड वेलेजली की नीति को पुनः आधार मानकर राजस्थान के राज्यों को कम्पनी सरकार के संरक्षण में लेने हेतु गवर्नर जनरल लार्ड हेस्टिंग्ज ने दिल्ली रेजीडेन्ट चार्ल्स मेटकाफ को अधिकृत किया कि वह राजपूत राजाओं के साथ समुचित सन्धियां करने की व्यवस्था करे। मेटकाफ ने इस आशय का एक परिपत्र राजस्थान के सभी राजाओं के पास भिजवा दिया जिसमें उनको लिखा गया कि वे अपने वकीलों को सन्धि-वार्ता करने के लिए दिल्ली भेजें। दिल्ली में उसके साथ रहने वाले राजस्थान राज्यों के वकीलो के साथ तुरन्त बातचीत आरम्भ हो गई। 5 नवम्बर, 1817 ई. को दौलतराव सिन्धिया से एक नई सन्धि की गई जिसमें सिन्धिया ने राजस्थान के राज्यों से सन्धि करने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकार को स्वीकार कर लिया। होल्कर के राज्य-अधिकारियों को भी महिदपुर की पराजय के पश्चात् कम्पनी के उक्त अधिकार को स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ा था

(21 दिसम्बर, 1817 ई.)। इस प्रकार राजस्थानी राज्यों के साथ सन्धि-समझौता करने में जो एक रुकावट थी, वह समाप्त हो गई।[120]

सर्वप्रथम मेटकाफ ने पठान अमीरखां को अपने लूट-खसोट के जीवन को समाप्त करने को कहा। ऐसा करने पर कम्पनी सरकार उसे अपने संरक्षण में लेकर वह सभी क्षेत्र जो उसे होल्कर महाराजा से प्राप्त था और उस पर अब अंग्रेजों का नियन्त्रण हो गया था, दे दिया जायेगा। उसे अपनी सेना को भग करना होगा और साथ ही में तोपखाना, गोला-बारूद और अन्य एकत्र युद्ध-सामग्री को उसे अंग्रेजों को सुपुर्द करना होगा। वह अपने पास उतनी ही सेना व तोपें रखेगा जिससे उसके राज्य की आन्तरिक व्यवस्था सुचारु रूप से चल सके। आवश्यकता पड़ने पर वह इस सेना से कम्पनी सरकार की सहायता करेगा। परिस्थितियों को देखते हुए, दीर्घकाल के कठोर जीवन से मुक्ति प्राप्त कर अपने अधीन प्रदेश को एक स्वाधीन राज्य के रूप में संगठित कर उसे राजनीतिक स्थायित्व देने के लिए अमीरखां राजी हो गया। उसने मेटकाफ के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। इस समय सर्वप्रथम अमीरखां ने अंग्रेजों के संरक्षण को स्वीकार कर होल्कर घराने के प्रति अपनी नाम-मात्र की अधीनता का अन्त कर दिया। पिंडारी लुटेरों का वह नेता अब राजस्थान का एक सुप्रतिष्ठित नवाब बन गया। 15 नवम्बर, 1817 ई. को ईस्ट इण्डिया कम्पनी और टोंक के नवाब अमीरखां के बीच एक सन्धि हो गई। पिंडारियों के दमन में अमीरखां ने पूर्ण रूप से सहायता की थी। इस प्रकार राजस्थान में टोंक का एक नये राज्य के रूप में प्रादुर्भाव हुआ।[121]

मराठा शक्ति को कुचलने और पिंडारियों के आतंक को समूल नष्ट करने के उद्देश्य से राजपूत राज्यों के साथ मित्रता की सन्धियां कर उन्हें अपने संरक्षण में लेने की ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा अपनाई गई नीति के फलस्वरूप सर्वप्रथम 15 नवम्बर, 1817 ई. को करौली राज्य के साथ सन्धि की गई। फिर 26 दिसम्बर, 1817 ई. को कोटा राज्य के साथ अंग्रेजों ने सन्धि कर ली। इसके बाद एक-एक कर राजस्थान के अन्य राज्यों–जोधपुर (6 जनवरी, 1818 ई.) उदयपुर (22 जनवरी, 1818 ई.) बून्दी (10 फरवरी, 1818 ई.), बीकानेर (21 मार्च, 1818 ई.), किशनगढ़ (7 अप्रेल, 1818 ई.), जयपुर (15 अप्रेल, 1818 ई.), और जैसलमेर (2 जनवरी, 1819 ई.)—के साथ सन्धियां कर मेटकाफ ने उन्हें कम्पनी सरकार के संरक्षण में ले लिया। उधर मालवा के रेजीडेन्ट मेलकोम ने राजस्थान के अन्य तीन राज्य डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ के साथ सन्धियां कीं और उन्हें कम्पनी का संरक्षण प्रदान कर दिया गया।[122] नवम्बर 1817 ई. में रावटा के पड़ाव पर दूरदर्शी, अनुभवी कूटनीतिज्ञ झाला जालिमसिंह ने कर्नल टॉड को कहा था कि वह दिन दूर नहीं है जब सारे भारतवर्ष में एक ही सिक्का चलेगा, कम्पनी का ही सर्वत्र बोलबाला रहेगा। उसकी यह भविष्यवाणी राजस्थान में तो एक ही वर्ष में पूरी हो

गई। 1818 ई. मे सिरोही राज्य को छोड़कर, जिसके साथ 1823 ई. में सन्धि की गई थी, सारे राजस्थान पर कम्पनी का आधिपत्य स्थापित हो गया था। पिंडारियों का दमन कर उनका राजस्थान से सफाया कर दिया गया था। जसवन्तराव भाऊ जैसे उनके सहायक मराठा सेनानायको को भी राजस्थान से बाहर जाने के लिए बाध्य कर दिया गया था। सिन्धिया से की गई सन्धि के अनुसार अजमेर परगने पर भी जुलाई 1818 ई. में अंग्रेजो का अधिकार हो चुका था। इस तरह राजस्थान मे अराजकतापूर्ण काल का अन्त हुआ और सर्वत्र शान्ति स्थापित की गई। इस प्रकार 1818 ई. मे अंग्रेजों का राजस्थान में जो आधिपत्य स्थापित हुआ वह 1947 ई. में भारत के स्वाधीन होने तक अक्षुण्ण बना रहा।[123]

यहां उक्त सन्धियों की धाराओ का संक्षेप मे विश्लेषण कर लेना समीचीन ही होगा। सामान्यत. सभी राज्यों के साथ की गई सन्धियो को शाश्वत मित्रता की सन्धि का नाम दिया गया और दोनो पक्षो के बीच सहकारिता और स्वार्थ की एकता को सदैव बनाये रखने के लिए कहा गया था। एक के मित्र तथा शत्रु दोनों के मित्र और शत्रु समझे जायेंगे। ब्रिटिश कम्पनी ने इन सभी सन्धीकृत राज्यों की रक्षा करने का दायित्व अपने ऊपर ले लिया। इन राज्यों ने कम्पनी आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और यह निश्चित हुआ कि इन राज्यों के शासक कम्पनी सरकार के अधीन रहते हुए सदा सहयोग प्रदान करेंगे। वे अन्य किसी राज्य के साथ राजनीतिक सम्बन्ध नही रखेंगे और न किसी के साथ सन्धि व युद्ध करेंगे। यदि किसी पड़ौसी राज्य के साथ झगड़ा हो तो वे अपना झगड़ा कम्पनी के समक्ष मध्यस्थता के लिए प्रस्तुत करेंगे। इन सन्धियो में यह उल्लेख किया गया था कि सन्धीकृत राज्यों के शासक व उनके उत्तराधिकारी अपने राज्य के अबाधित शासक होंगे और ब्रिटिश सरकार इन राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नही करेगी। जहां तक खिराज देने का प्रश्न है, केवल वे राज्य खिराज देंगे जो पहले मराठों को खिराज दे रहे थे। इस प्रकार कोटा, बून्दी, जयपुर, उदयपुर, जोधपुर, बांसवाड़ा, डूंगरपुर और प्रतापगढ़ से ही वार्षिक कर लेने की धाराएं जोड़ी गई थी। बीकानेर और जैसलमेर राज्य मराठों के आक्रमणों की परिधि के बाहर थे और उन्होने मराठों को कभी वार्षिक कर के रूप मे धन नही दिया था, अतः इन राज्यों से कम्पनी सरकार ने वार्षिक कर के रूप मे कोई रकम न लेने का निर्णय लिया था। कोटा राज्य से वार्षिक कर के रूप में 2 लाख 44 हजार और 700 रुपये लेना तय किया गया। यह रकम अब तक मराठों को अर्थात् पेशवा, सिन्धिया, होल्कर और पंवार को दी जाने वाली राशि के आधार पर निश्चित की गई थी। बून्दी राज्य से अस्सी हजार रुपये वार्षिक कर के रूप मे लेने का निर्णय लिया गया।[124]

जयपुर राज्य के साथ मेटकाफ ने 1716 ई. के अप्रेल महीने से ही सन्धि-वार्ता करनी प्रारम्भ कर दी थी, परन्तु जयपुर राज्य द्वारा वार्षिक कर के रूप

में धनराशि देने पर सहमति न होने के कारण सन्धि-वार्ता भंग हो गई थी। 1817 ई. में पिंडारियों के दमन करने का प्रश्न आया, तब जयपुर राज्य के साथ पुनः सन्धि-वार्ता आरम्भ हुई। अन्ततः यह निर्णय लिया गया कि सन्धि के प्रथम वर्ष मे जयपुर राज्य से वार्षिक कर नहीं लिया जायेगा। बाद में दूसरे, तीसरे, चौथे, पांचवें और छठे वर्ष में क्रमशः चार लाख, पांच लाख, छः लाख, सात लाख और आठ लाख रुपये वार्षिक कर के रूप में जयपुर राज्य द्वारा देना निश्चित हुआ। इसके बाद जब तक जयपुर राज्य की आय चालीस लाख से अधिक नहीं हो जाती है तब तक आठ लाख रुपये कम्पनी को प्रति वर्ष मिलते रहेंगे। चालीस लाख रुपयों से अधिक आय पर एक रुपये पर पांच आने अतिरिक्त कर देने की व्यवस्था की गई थी।[125]

उदयपुर राज्य के साथ की गई सन्धि में पांच वर्ष तक तत्कालीन उदयपुर राज्य की आय का चतुर्थांश प्रति वर्ष कम्पनी सरकार को कर के रूप में देना निश्चय किया गया और इस अवधि के बाद हमेशा एक रुपये पर छः आने के हिसाब से प्रति-वर्ष धनराशि का भुगतान करना तय रहा।[126]

जोधपुर राज्य के साथ की गई सन्धि की छठी धारा के अन्तर्गत एक लाख आठ हजार रुपये प्रति वर्ष कर के रूप में कम्पनी सरकार को देना तय हुआ था और सन्धि की आठवीं धारा के अनुसार तय रहा कि माग करने पर अंग्रेजी सरकार की सामान्य सेवा के लिए जोधपुर राज्य को 1500 अश्वारोही प्रस्तुत करने होंगे तथा आवश्यकता पड़ने पर राज्य की आन्तरिक व्यवस्था के लिए सेना के कुछ भाग के अतिरिक्त शेष सब सेना जोधपुर महाराजा को कम्पनी सरकार की सेना मे प्रस्तुत करनी होगी।[127] अन्य राज्यों द्वारा भी अपने सामर्थ्य के अनुसार आवश्यकता पड़ने पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सैनिक सहायता देने का प्रावधान रखा गया था।

बीकानेर राज्य मे 1818 ई. की सन्धि के पूर्व कतिपय व्यक्तियों ने लूट-पाट और डकैती का व्यवसाय अपना लिया था और वे दोनो पक्षों (अंग्रेजी तथा बीकानेर राज्यों में) की शान्तिप्रिय प्रजा को कष्ट पहुंचा रहे थे। इनके अतिरिक्त बीकानेर के कुछ सामन्तों ने महाराजा की सत्ता की अवहेलना कर राज्य मे अशान्ति उत्पन्न कर दी थी। सन्धि की छठी और सातवीं धारा के अन्तर्गत प्रावधान था कि इन असामाजिक तत्त्वों व विद्रोही ठाकुरों को कुचलने के लिए बीकानेर के महाराजा द्वारा प्रार्थना करने पर कम्पनी सरकार सैनिक सहायता करेगी परन्तु कम्पनी की सेना का पूरा खर्चा बीकानेर राज्य को वहन करना होगा।[128]

कोटा राज्य व झाला जालिमसिंह ने पिंडारियो के दमन व मराठों के विरुद्ध लड़े गये युद्ध मे कम्पनी सरकार की महती सहायता की थी। अतः इस सेवा के बदले मे डीग, पचपहाड़, अहोर और गंगराड़ के परगने, जिन्हें कम्पनी ने जालिमसिंह को इजारे पर दे रखे थे, अब एक सनद के द्वारा कोटा राज्य को दे दिये गये। 26 दिसम्बर,

1817 ई. को कोटा राज्य के साथ जो सन्धि की गई थी, उसमें ग्यारह धाराएं थी। तीन महीने बाद, अर्थात् मार्च 1818 ई. में, उपर्युक्त सन्धि की शर्तों में दो शर्तें और बढ़ा दी गई जिन्हें गुप्त रखा गया। इन शर्तों के अनुसार महाराव उम्मेद सिंह और उसके उत्तराधिकारी कोटा के राजा स्वीकार किये गये और जालिम सिंह और उसके वंशज को सदैव के लिए सम्पूर्ण अधिकारयुक्त प्रधानमन्त्री बनने का, अर्थात् कोटा राज्य के वास्तविक शासक बनने का अधिकार दे दिया गया। इन धाराओं के जुड़ जाने से कोटा राज्य पर कुप्रभाव पड़ा। झाला के उत्तराधिकारियों और कोटा के महाराव के बीच राज्य की वास्तविक सत्ता की प्राप्ति हेतु संघर्ष हुआ जिसमे अत्यधिक रक्तपात हुआ। अन्ततोगत्वा 1838 ई. में झाला जालिमसिंह के उत्तराधिकारियों के लिए झालावाड़ का नया राज्य स्थापित किया गया। कोटा राज्य के 17 परगने, जिनकी वार्षिक आय 12 लाख रुपये थी, झाला जालिमसिंह के पोते मदनसिंह को सुपुर्द कर इस नये राज्य का निर्माण कर दिया गया। कोटा राज्य को इससे बड़ी क्षति उठानी पड़ी।[129]

राजस्थान के राजपूत राजा किसी सार्वभौम सत्ता के अधीन रहने के अभ्यस्त हो चुके थे। मुग़लों के पतन के बाद मराठों और पिंडारियों के निरन्तर आक्रमणों के फलस्वरूप वे त्रस्त और कुंठित होकर अंग्रेजों के साथ सन्धि करने के लिए लालायित हो उठे थे, परन्तु अंग्रेजो के साथ सन्धि हो जाने पर उन्हें कुछ ऐसी शर्तों को स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ा जिससे उनकी आशाओ पर तुषारापात हुआ और वे कुछ अंशों तक निराश भी रहे।

कम्पनी सरकार द्वारा राजस्थान के राजाओं को अपने संरक्षण में ले लेने पर वहां के शासकों ने कम्पनी सरकार के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था। सन्धि की शर्तों के अनुसार कम्पनी सरकार के अधीन रह कर उसे सहयोग देने तथा अन्य राज्यो के साथ किसी भी प्रकार के राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित न करने के लिए उन्हें बाध्य होना पड़ा था। उन्हें यह भी स्वीकार करना पड़ा था कि वे अपने सभी बाह्य झगड़े कम्पनी की मध्यस्थता से ही निपटायेंगे। इन शर्तों के कारण राजपूत राजाओ के मान व प्रतिष्ठा को ठेस पहुची थी। वे अब पूर्णतया मातहत की स्थिति मे थे। राजपूत राजाओं ने मराठा-संरक्षण को स्वीकार किया था, परन्तु उस समय उन्हें ऐसी हीनता की स्थिति का अनुभव नही हुआ था। यद्यपि मराठों के हाथों पराजित होकर उन्हे यदा-कदा अपमानित होना पड़ा था, तथापि मराठों के समय वे अधीनस्थ सहायक के रूप में कभी नही रहे—उनमे उच्चता की भावना सदैव बनी रही थी। जब कभी राजपूत राजा इन मराठों के साथ बराबरी का व्यवहार करते थे, तब वे बड़े प्रसन्न होते थे। महादजी सिंधिया जैसे शक्तिशाली मराठा सरदार ने महाराणा भीमसिंह से मिलकर अपने को धन्य माना था। मराठों का मूल उद्देश्य इन राजपूत राजाओं से चौथ व खिराज का रुपया एकत्र करना

था। उन्होंने कम्पनी सरकार की भाँति इन राजाओं द्वारा अन्य राज्यों के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार करने पर कभी प्रतिबन्ध नहीं लगाये।

निस्सन्देह जयपुर और उदयपुर राज्यों से मराठों ने अत्यधिक धनराशि एकत्र की थी, परन्तु कम्पनी सरकार ने भी सन्धि की छठी धारा के अन्तर्गत जो धनराशि प्रति वर्ष कर के रूप में लेनी निश्चित की थी, वह निश्चय ही इन राज्यों की आर्थिक क्षमता के अनुरूप नहीं थी। फिर मराठों के समय में जो रकम देय होती थी, उसका कुछ भाग भरणी (वस्तुओं) के रूप में भुगतान करने की छूट रहती थी। इस प्रकार की सुविधा ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इन राजपूत राजाओं को नहीं दी थी। सन्धि द्वारा निर्धारित रकम उन्हें ठीक निश्चित समय पर भुगतान करनी पड़ती थी। कम्पनी सरकार राज्यों की आर्थिक क्षमता व सुविधा की ओर ध्यान नहीं देती थी। जयपुर और उदयपुर के शासकों को कम्पनी सरकार से शिकायत थी कि अन्य राज्यों की तुलना में उनसे अधिक धनराशि कर के रूप में ली जाती है।

उपर्युक्त कठिनाइयों व विसंगतियों के बावजूद अंग्रेजों से संरक्षण-प्राप्त राजस्थान के राज्यों में अराजकता व लूट-खसोट का अन्त हो गया और सर्वत्र शान्ति और कानून की व्यवस्था स्थापित हो गई। अंग्रेजों के आधिपत्य से राजस्थान में युगान्तकारी परिवर्तन हुए। विदेशी सत्ता, संस्कृति तथा आचार-विचार का प्रभाव राजस्थान के जनजीवन पर शनैः-शनैः पड़ने लगा। आगे चलकर राजस्थान में राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक आदि सभी क्षेत्रों मे प्रभावशाली परिवर्तन आये जिनका अध्ययन द्वितीय भाग में यथास्थान किया जायेगा। इस काल तक राजा-महाराजा शक्ति विहीन हो चले थे। उनके प्राचीन गौरव की गरिमा गिर चुकी था।

संदर्भिका

1. सरकार, मुगल साम्राज्य का पतन, भाग 4, पृ. 59
2. वही
3. दिल्ली–येथिल मराठ्यांची राजकारने, जिल्द 1, पृ. 163
4. सरकार, पृ. 58
5. वही, पृ. 68
6. रघुवीरसिंह, पूर्व–आधुनिक राजस्थान, पृ. 218
7. वही
8. सरकार, पृ. 43; वही, पृ. 218–19

9. टॉड, भाग 1, पृ. 356 पाद टिप्पणी नं. 3; वीर विनोद, भाग 2, प्रकरण 15, पृ. 1717; ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, दूसरी जिल्द, पृ. 683-84
10. भीमविलास, पृ. 108-09
11. ओझा ने महादजी की मृत्यु की तिथि 12 जनवरी लिखी है। वह ठीक नहीं है-पृ. 684;
12. टॉड, भाग 1, पृ. 356; के. एस. गुप्ता, मेवाड़ एण्ड द मराठा रिलेशन्स, पृ. 137-38; आर. के सक्सेना, पृ. 33
13. टॉड, भाग 1, पृ. 357-58
14. सरकार, भाग 4, पृ. 118-22;
15. रघुवीरसिंह, पृ. 224
16. सरकार, भाग 4, पृ. 124-25
17. वीर विनोद, पृ. 1720-21; के. एस. गुप्ता, पृ. 145
18. टॉड, भाग 1, पृ. 358-59; ओझा, भाग 2, पृ. 686-87; के. एस. गुप्ता, पृ. 146-47
19. सरकार, भाग 4, पृ. 127-28
20. जार्ज टॉमस राजपूताने मे 'जार्ज फिरंगी' के नाम से जाना जाता था। वह आयरलैंड का निवासी था। वह 1781 ई. में एक अंग्रेजी जहाज से मद्रास पहुचा था। वह पहले कर्नाटक में पोलिगरों के साथ रहा और बाद में निजाम की सेवा मे रहा। फिर 1787 ई. मे वह दिल्ली पहुंचा। वहां उसने बेगम समरू की सेना में नौकरी कर ली। वहां उसे काफी प्रसिद्धि मिली। 1793 ई. से 1797 ई. तक वह खाडेराव की सेवा मे रहा। खांडेराव के मरने के बाद उसके उत्तराधिकारी वामनराव से अप्रसन्न होकर वह पंजाब की ओर पलायन कर गया। हरियाणा के कुछ क्षेत्र पर उसने अपना अधिकार स्थापित कर लिया और वहां पर जॉर्जगढ़ नगर का निर्माण करवाया। बाद मे उसने हिसार, हांसी और सिरसा पर अधिकार कर लिया। उससे उसकी शक्ति मे काफी वृद्धि हुई। इसके बाद फिर वामनराव मराठा के साथ मिलकर बीकानेर और जयपुर के क्षेत्र में युद्ध करता रहा। बाद में इंगले की सेवा में रह कर मेवाड़ क्षेत्र में युद्ध किये। मेवाड से बीकानेर राज्य मे होता हुआ पंजाब पहुंच गया। वहां सिक्कों से उसे कई लड़ाइयां लड़नी पड़ी। जार्जगढ़ मे अपने प्रतिस्पर्द्धी पेरों और कप्तान स्मिथ से भी उसे युद्ध करने पड़े। अन्ततोगत्वा वह जब कलकत्ते की तरफ जा रहा था, तब अगस्त 1802 ई. मे रास्ते मे उसकी मृत्यु हो गई। ओझा, भाग 2, पृ. 688; पाद टिप्पणी 2

21. सदरलैंड स्काटलैंड का निवासी था। वह 1790 ई. में द बॉय की सेना में भर्ती हुआ था। अपनी योग्यता व प्रतिभा के कारण वह ऊंचे पद पर पहुंच गया और द बॉय के अवकाश ग्रहण कर लेने के बाद 1795 ई. के अन्त में वह उसके पद पर कार्य करने लगा। 1802 ई. तक वह सिंधिया की ओर से भिन्न-भिन्न लड़ाइयां लड़ता रहा। सिंधिया के दूसरे सेनापति पैरों की प्रतिस्पर्द्धा के कारण उसने नौकरी छोड़ दी। 1803 ई. में वह अंग्रेजों के पक्ष में हो गया। मथुरा मे उसका देहान्त हुआ।
22. सरकार, भाग 4, पृ. 128–29; ओझा, भाग 2, पृ. 689-91; के. एस. गुप्ता, पृ. 151–53
23. टॉड, भाग 1, पृ. 1; वीर विनोद, पृ. 1731–32 रघुवीरसिंह के अनुसार जहाजपुर को खालसा में सम्मिलित करने के बदले में लकवा ने महाराणा से 5 लाख रुपये वसूल किये थे। वही पृ. 229
24. के. एस. गुप्ता, पृ. 154
25. वही, पृ. 157
26. टॉड, भाग 1, पृ. 361; वीर विनोद, पृ. 1733; ओझा, पृ. 691-92; के. एस. गुप्ता, पृ. 158-61
27. टॉड, भाग 1, पृ. 362-63; ओझा, पृ. 693; के. एस. गुप्ता पृ. 162-167
28. रघुवीरसिंह, पृ. 236; के. एस. गुप्ता, पृ. 169
29. टॉड, भाग 1, पृ. 364-65; वीर विनोद, पृ. 1734-35
30. ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 370-375; एम. एल. शर्मा, हिस्ट्री ऑफ द जयपुर स्टेट, पृ. 215-17
31. सरकार, भाग 4, पृ. 130-34; रघुवीरसिंह, पृ. 229-30; एम एल. शर्मा, पृ. 217-18
32. सरकार, भाग 4, पृ. 134
33. रघुवीरसिंह, पृ. 234; एम. एल. शर्मा, पृ. 224
34. सरकार, भाग 3, पृ. 207-08
35. एम. एल. शर्मा, पृ. 219-20
36. टॉड, भाग 2, पृ. 303
37. रामकर्ण आसोपा, इतिहास नीबाज, पृ. 144
38. आर. पी. व्यास, रोल ऑफ नोबीलिटी इन मारवाड़, पृ. 16
39. श्यामलदास, वीर विनोद, पृ. 859; ओझा, द हिस्ट्री ऑफ जोधपुर स्टेट, भाग 2, पृ. 710; केहरे देवो छत्रसी, दल्लो राजकंवरा मरते मोई (आत्माराम) मारिया चोटी वाला चार॥ रेऊ, भाग 1, पृ. 378
40. रेऊ, पृ. 384, पाद टिप्पणी 4

41. हकीकत बही, संख्या 17, पृ. 32-43; महाराजा विजयसिंह ने जालौर का पट्टा गुलाबराय को 1791 ई. में दिया था; पद्मजा शर्मा, जोधपुर के महाराजा मानसिंह और उनका काल, पृ. 4
42. हकीकत बही, संख्या 17, पृ. 200-210; रेऊ, भाग 1, पृ. 390-92 और 396; पद्मजा, पृ. 6-7
43. वीर विनोद, पृ. 1574 मानसिंह का राणा भीमसिंह को पत्र,
44. आर. पी. व्यास, पृ. 22-23; पद्मजा, पृ. 9-16
45. हकीकत बही, वि. सं. 1860, पृ. 78; रेऊ, भाग 1, पृ. 399; आर. पी. व्यास, पृ. 23-24
46. मारवाड़ की ख्यात, भाग 3, पृ. 31-40; टॉड भाग 2, पृ. 108; आर. पी. व्यास, पृ. 25 पद्मजा, पृ. 21 और 23
47. मारवाड़ की ख्यात, भाग 3, पृ. 41-42; वीर विनोद, पृ. 860, आर.पी. व्यास, पृ. 26
48. हकीकत बही, जोधपुर (1856-60) संख्या 8 पृ. 453; आसोपा, मारवाड़ का मूल इतिहास, पृ. 260
49 तवारीख जोधपुर बस्ता संख्या 40, किताब नं. 7, पृ. 22; पद्मजा, पृ. 26
50. आर. पी व्यास, पृ. 27
51. टॉड, भाग 2, पृ. 108; आर. पी. व्यास, पृ. 27-28
52. मारवाड़ की ख्यात, भाग 3, पृ. 90; आर. पी. व्यास, पृ. 28
53. फॉरेन पोलिटिकल, जनवरी 29, 1807 नं. 32; तवारीख जोधपुर, बस्ता नं. 40 बुक नं. 7, पृ. 44; आर. पी. व्यास, पृ. 29
54. हकीकत खाता बही, नं. 6 पृ. 474-75; वीर विनोद, पृ. 862; आर. पी. व्यास, पृ. 29-30
55. आर. पी. व्यास, पृ. 30
56. पूना रेजिडेन्सी कॉरेसपोंडेन्स, भाग 2, नं. 208; टॉड, भाग 2, पृ. 109
57. फॉरेन पोलिटिकल, फरवरी 5, 1807, नं. 92; वंश भास्कर, भाग 4, पृ. 3966; मारवाड़ की ख्यात, भाग 3, पृ. 104; आर. पी. व्यास, पृ. 31-32
58. फॉरेन पोलिटिकल, फरवरी 5, 1807, नं. 12 और 128; आर. पी. व्यास, पृ. 32
59. आर. पी. व्यास, पृ. 32-33; पद्मजा, पृ. 49-50
60. फोरेन पोलिटिकल फरवरी 12, 1807, नं. 97; हकीकत खाता बही, नं. 6; मारवाड़ की ख्यात भाग 3, पृ. 109 और 115; आर. पी. व्यास, पृ. 33-34

61. आर. पी. व्यास, पृ. 34-35
62. फॉरेन पोलिटिकल, सितम्बर 1, 1807, नं. 64
63. हकीकत खाता वही नं. 6, पृ. 477; खरीता वही नं. 9, पृ. 130; वस्ता सं. 40 फाइल नं. 13, पृ. 36; 'फागी जुध पाई फतेह लूट लियो गिवलाल'
64. रेऊ, भाग 2, पृ. 411-12; आर. पी. व्यास, पृ. 37-38; पद्मजा ने जगतसिंह का जयपुर पहुंचने की तिथि 4 अक्टूबर दी है, पृ. 61
65. हकीकत खाता बही नं. 6, पृ. 479; टॉड, भाग 2, पृ. 114; रेऊ भाग 2, पृ. 412
66. हकीकत खाता बही, नं. 6, पृ. 482; हकीकत बही, नं. 9, पृ. 101; टॉड, भाग 2, पृ. 114; शिवनाथसिंह, कुम्पावत राठौड़ों का इतिहास, पृ. 105-06 मुंडवा में मरने वाले सरदारों के सम्बन्ध मे दोहा :–
केसर, सवाई, ग्यानसी बलवंत बक्षी राम ।
राम बुलायो बैकुण्ठ में, मोटो पड़ियो काम ।।
अमीरखां ने कुरान को सामने रख कर शपथ ली थी, इस सम्बन्ध मे मारवाड़ में निम्नलिखित दोहे प्रचलित हैं :–
मीये दीधी मीरखां कमधां बीच कुराण ।
रहग्या भरोसे राम रे (नीतो) पड़ती खबर पठाण ।।
चांपावत ने चूकरी, जे पड़ जाती जाण ।
जीवत कदै ने जावतो, प्राछो अरै पठाण ।।
67. आर. पी. व्यास, पृ. 40-41 मानसिंह द्वारा रचित दोहा :–
मरुधर करगो मोडली घरतो परतों धीग ।
नर लेगो नव कोटरो सीग सवाई सीग ।।
68. रेऊ, भाग 2, पृ. 414; पद्मजा, पृ. 65
69. तवारीख जोधपुर बस्ता नं. 40, बुक नं. 7, पृ. 98; मारवाड़ री ख्यात, भाग 3, पृ. 175; दयालदास री ख्यात, भाग 2, पृ. 100-01; ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 388; रेऊ, भाग 2, पृ. 414 तवारीख राजश्री बीकानेर में तीन लाख रुपया देना लिखा है (पृ. 203) और टॉड ने 2 लाख रुपये देने का उल्लेख किया है (भाग 2, पृ. 115)
70. मारवाड री ख्यात, भाग 3, पृ. 178; आर. पी. व्यास, पृ. 42-43; पद्मजा, पृ. 69-70
71. टॉड, भाग 1, पृ. 368-69; वीर विनोद, पृ. 1738-39; ओझा, भाग 2, पृ. 697-98;
72. आर. पी. व्यास, पृ. 44
73. मारवाड़ प्रेसी, सर डी. ओक्टर लोनी मीमो तारीख, अगस्त 12, 1818; आर. पी. व्यास, पृ. 44-45

74. फॉरेन पोलिटिकल, नवम्बर 16, 1807 नं. 1; मारवाड़ री ख्यात, भाग 3, पृ. 177, 201-03; टॉड, भाग 2, पृ. 115
75. हिस्टोरिकल रेकार्ड, 236 फाइल नं. 45 जोधपुर, 1843-52
76 मारवाड़ प्रेसी, सर ओक्टर लोनी मीमो दिनांक अगस्त 12, 1818
77. रघुबीरसिंह, पृ. 235-36
78. एम. एल. शर्मा, हिस्ट्री ऑफ द जयपुर स्टेट, पृ. 229-230
79. सी. यू. एचिसन, ट्रीटीज, इन्गेजमेन्टस एण्ड सनदस, भाग 3; पृ. 102-03, 157-58, 247 और 322
80. एचिसन, पृ. 103;
81. एचिसन, पृ. 139; राधे मोहन माथुर, राजपूत स्टेट्स एण्ड ईस्ट इण्डिया कम्पनी, पृ. 9-12;
82. सरदेसाई, मराठों का नवीन इतिहास, भाग 3, पृ. 435–(हिन्दी)
83. वही, पृ. 439-44; एम. एल, शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 489-494
84. एचिसन, पृ. 259 और 275-77; सरदेसाई, पृ. 444-47 सन्धि की तिथि 10 अप्रेल दी है वह ठीक नही है;
85. सरदेसाई, पृ. 449-50;
86. एचिसन, पृ. 89-90; रघुबीरसिंह, पृ. 239-40; ए. सी. बनर्जी, द राजपूत स्टेट्स एण्ड ब्रिटिश, पैरामाउन्ट्सी, पृ. 119-122; वी. के. वशिष्ट, राजपूताना एजेंसी 1832-1858, पृ. 2-4
87. रघुबीरसिंह, पृ. 245-46
88. शर्मा, हिस्ट्री ऑफ जयपुर स्टेट, पृ. 237; आर. के. सक्सेना, पृ. 223-24
89. सरदेसाई, भाग 3, पृ. 454-456; रघुबीरसिंह, पृ. 247; सरदेसाई ने होलकर की मृत्यु 28 अक्टूबर होना लिखा है।
90. रघुबीरसिंह, पृ. 248
91. सक्सेना, पृ. 230-40;
92. ए. सी. बनर्जी, पृ. 129-30; एम. एल. शर्मा, जयपुर स्टेट, पृ. 238-39
93. रघुबीरसिंह, पृ. 251-52; द्रष्टव्य के. एस. गुप्ता, मेवाड़ एण्ड द मराठा रिलेशंस, पृ. 181-84
94. ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 699-700; रघुबीरसिंह, पृ. 253-54; द्रष्टव्य, गुप्ता, पृ. 184-194
95. ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 700
96. वही, पृ. 700–702
97. टॉड, भाग 1, पृ. 374–75, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 702–03

98. श्रोझा, वही, पृ. 703
99. रघुबीरसिंह, पृ. 256
100. वि. नाथ रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 2, पृ. 416–420, रघुबीरसिंह, पृ. 256–57; आर. पी. व्यास, पृ.47–52; पद्मजा, पृ. 84–96
101. दयालदास री ख्यात, जिल्द 2, पृ. 96–97; ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 375–79; राधेमोहन माथुर, पृ. 33
102. *एचिसन, भाग III, पृ. 301; श्रोझा, बीकानेर का राज्य, भाग 2, पृ. 382–85;* आर. पी. व्यास, पृ. 42
103. राधेमोहन माथुर, पृ. 26–33
104. दयालदास री ख्यात, जिल्द 2, पृ. 101-06; पाउलेट, गैजेटियर ऑफ द बीकानेर स्टेट, पृ. 76-78; ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 391-98
105. टॉड, एनल्स एण्ड एन्टीक्यूटीज ऑफ राजस्थान, भाग 2, पृ. 211-12; *नथमल, तवारीख जैसलमेर, पृ. 70; वीर विनोद, पृ. 1766; मांगीलाल* मयंक, जैसलमेर का इतिहास, पृ. 129-136
106. तवारीख, पृ. 70 जैसलमेर री ख्यात, पृ. 84, मयंक, पृ. 137-38
107. तवारीख, पृ. 72
108. टॉड, भाग 2, पृ. 213 द्रष्टव्य मयंक, पृ. 140, पाद टिप्पणी; कर्नल टॉड ने सालिमसिंह को जैन मतावलम्बी लिखा है जो ठीक नहीं है। वह माहेश्वरी जाति का था तथा हिन्दू धर्मानुयायी था। सुपार्श्वनाथ जैन मन्दिर की प्रशस्ति (तिथि वैशाख सुदी 3 वि. सं. 1869) में स्वरूपसिंह व सालिमसिंह का उल्लेख हुआ है तथा उन्हें श्री नारायण भक्ति तत्परमतिमहिश्वरी (पंक्ति 16 श्लोकांक 13) कहा है (जैन लेख संग्रह, भाग 3, पृ. 47)
109. टॉड, भाग 2, पृ. 214-15; तवारीख, पृ. 71; वीर विनोद, पृ. 1766-67; गहलोत, राजस्थान का इतिहास, भाग 7, पृ. 684; मयंक, पृ. 140-44
110. मयंक, पृ. 145
111. फॉरेन डिपार्टमेन्ट पोलिटिकल कन्सल्टेशन, 17 अक्टूबर, 1808, संख्या 64-65; मयंक, पृ. 146
112. एचिसन, कलेक्शन ऑफ ट्रीटीज, एंगेजमेन्ट्स एण्ड सनदस, भाग 3, पृ. 149-50
113. रघुबीरसिंह, पृ. 249-50
114. टॉड, भाग 2, पृ. 449; एम. एल. शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 514-15
115. शर्मा, वही, पृ. 517

116. वी. के. वशिष्ट, पृ. 3-4
117. वही, पृ. 4-5
118. राधामोहन माथुर, पृ. 20-22
119. एचिसन, भाग 3, पृ. 1; रघुबीरसिंह, पृ. 257-58; सक्सेना, पृ. 252-53; वी. के. वशिष्ट, पृ. 5-6
120. वी. के. वशिष्ट, पृ. 6
121. एचिसन, भाग 3, पृ. 227 और 241-43; रघुबीरसिंह, पृ. 258
122. द्रष्टव्यः एचिसन भाग 3, अलग-अलग राज्यों के साथ हुई सन्धियों का उल्लेख है।
123. रघुबीरसिंह, पृ. 267-68
124. द्रष्टव्य एचिसन भाग 3, सन्धियों की मूल धाराओं का अध्ययन किया जा सकता है; वी. के. वशिष्ट, पृ. 6-7
125. एचिसन, भाग 3, जयपुर के साथ की गई सन्धि की धारा 6, पृ. 104-05; द्रष्टव्यः ए. सी. बनर्जी, पृ. 136-148
126. वही, उदयपुर राज्य के साथ की गई सन्धि की धारा 6, पृ. 30
127. वही, जोधपुर राज्य के साथ की गई सन्धि की धारा 6 और 8, पृ. 157-61
128. वही, बीकानेर राज्य के साथ की गई सन्धि की धारा 6 और 7, पृ. 343-44
129. एचिसन, भाग 3, पृ. 359-60, 368-72; एम. एल. शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 519-522 और 534-35

अध्याय 7

भरतपुर में जाटों का अभ्युदय एवं उनकी अन्य गतिविधियां

(1707–1818 ई.)

अठारहवीं शताब्दी में जाटों द्वारा राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने के पूर्व सिन्धु नदी के तट से पंजाब, उत्तरी राजस्थान और यमुना के उत्तर की ओर चम्बल के पार ग्वालियर तक एक 'विशाल क्षेत्र' में जाटों का प्रसार हो चुका था। जाट स्वभावतः परिश्रमी होते हैं। उनमें स्वतन्त्रता की भावना सदैव प्रबल रही है। वे अन्यायपूर्ण नियन्त्रण को कभी सहन नहीं कर सकते थे। शासक-वर्ग द्वारा छेड़-छाड़ करने की स्थिति मे वे उद्दण्ड होकर हठपूर्वक युद्ध करने को तैयार हो जाते थे।[1] सत्रहवी शताब्दी के मध्य मे अपने स्वातन्त्र्य-प्रेम से प्रेरित होकर उन्होंने एक ऐसे उत्कट आन्दोलन का सूत्रपात किया जो पहले लुटेरो के रूप में और बाद में राजनीतिक शक्ति के रूप मे परिवर्तित हो गया। शाहजहां के शासन-काल के अन्तिम दिनों मे शाहजादों द्वारा लड़े गये उत्तराधिकार के युद्धों के फलस्वरूप साम्राज्य में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। इसका लाभ उठाते हुए अलीगढ़ परगने के जाटो ने नन्दराम के नेतृत्व मे संगठित होकर राज्य को कृषि-कर देना बन्द कर दिया और वे वहां लूटमार कर शाही क्षेत्र को क्षति पहुंचाने लगे थे। औरंगजेब के सम्राट् बन जाने के पश्चात् विद्रोही जाटों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की गई। अन्त में 1660 ई. में नन्दराम ने औरंगजेब के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया।[2]

कुछ समय पश्चात् मुगल सम्राट् औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता और उसके अधिकारियो की अवैध एवं बलपूर्वक मालगुजारी की वसूली के विरुद्ध जाट-कृषकों ने विद्रोह का झंडा खड़ा किया। इस समय जाटों का नेतृत्व तिलपत का जमींदर गोकुल जाट कर रहा था। 1669 ई. के पूरे वर्ष तक मथुरा और आगरा क्षेत्र मे पूर्ण रूप से अव्यवस्था फैली रही। अन्त में मुग़ल बादशाह औरंगजेब स्वयं

प्रभावित क्षेत्र में पहुंचा और शक्ति से इस जाट-आन्दोलन को उसने कुचल दिया। गोकुल जाट को कैद कर लिया और फिर उसका नृशंसता से वध करवा दिया गया। गोकुल का बलिदान व्यर्थ नहीं गया। उसकी हत्या ने जाटो के मन मे मुगलों के प्रति घृणा और रोष उत्पन्न कर दिया। गोकुल द्वारा प्रज्वलित विद्रोह की अग्नि को उन्होंने शान्त नही होने दी। 1681 ई. में एक बार फिर जाट किसानों ने मुग़ल-सत्ता के विरुद्ध शस्त्र उठाये। उन्होने आगरा क्षेत्र के फौजदार मुल्तफतखा की हत्या कर दी। अब संघर्ष आगरा क्षेत्र से हट कर अधिक सुरक्षित स्थान वर्तमान राजस्थान के भरतपुर जिले की तरफ प्रसारित हो गया। सिनसिनी ग्राम के जमीदार खानचन्द का पुत्र ब्रज अपने सजातीय जाटों को संगठित कर शाही पदाधिकारियो को तंग करने लगा। उसने थून के किले को अपना निवास स्थान बनाया था। उसने डीग के निकट आऊ के शाही थाने पर भी अधिकार कर लिया। अन्त में ब्रज अपने ग्राम सिनसिनी की मुग़ल सेना से रक्षा करता हुआ मारा गया।[3]

ब्रज के मारे जाने पर जाटों का नेतृत्व उसके पुत्र राजाराम ने किया। कुछ इतिहासकारों ने राजाराम को ब्रज के भाई भगवन्त का पुत्र स्वीकार किया है।[4] राजाराम ने शाही क्षेत्र को अत्यधिक क्षति पहुंचाई। उसने दो बार सिकन्दरा में स्थित अकबर के मकबरे को लूटने का भी प्रयास किया। दूसरे अभियान मे उसे बड़ी सफलता मिली थी। इन्हीं दिनों इमाम कुली अधरखां तुरानी अपनी सेना के साथ काबुल से औरंगजेब की सहायतार्थ दक्षिण को जा रहा था। राजाराम ने उसे लूट लिया। राजाराम की इन हलचलो से मुगल बादशाह बहुत चिन्तित हुआ और उसने अपने योग्य सेनानायक खानेजहां को राजाराम के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने के आदेश दिये। खानेजहां राजाराम को पकडने तथा उसे शान्त करने में असफल रहा। तब आमेर-नरेश रामसिंह को मथुरा का फौजदार नियुक्त किया गया और उसे जाटो के इस उपद्रव को शान्त करने के आदेश भेजे गये। रामसिंह की जल्दी ही मृत्यु हो जाने पर उसके लड़के बिशनसिंह को जाटों के दमन का कार्य सुपुर्द किया गया। बिशनसिंह नही चाहता था कि उसकी वतन-जागीर आमेर की सीमा पर जाट शक्ति का अभ्युदय हो। वहा जाटो की शक्ति में वृद्धि राजपूत जमींदारो को क्षति पहुंचने पर ही सम्भव हो सकती थी। राजपूतों मे श्रेष्ठता की भावना प्रबल थी। वे जाट शासक के अधीन रहने के अभ्यस्त नहीं थे। इसके अतिरिक्त बहुत से जाट आमेर राज्य में रणथम्भौर के आस-पास बस गये थे। उन्होंने रामसिंह के शासन-काल में एक बार विद्रोह भी किया था। इन जाटों की सिनसिनी के जाटों के साथ मैत्री थी। इन सब कारणो से बिशनसिंह ने जाटों के दमन कार्य को सहर्ष स्वीकार कर लिया था। इन्ही कारणो से मुगल बादशाह ने बिशनसिंह को जाटों को दबाने के लिए उपयुक्त समझा था। इस बीच जाट नेता राजाराम की मृत्यु हो गई। अब उसके पुत्र फतहसिंह ने जाटों का नेतृत्व संभाला परन्तु वह बिशनसिंह द्वारा

पराजित कर दिया गया और सिनसिनी पर कच्छावा-नरेश का अधिकार हो गया। जाटों ने अब फतहसिंह के नेतृत्व का परित्याग कर व्रज के एक अन्य पुत्र चूंड़ामन को अपना नेता स्वीकार किया।[5]

चूंड़ामन योग्य नेता और कुशल राजनीतिज्ञ था। उसने अपनी अभूतपूर्व संगठन क्षमता, विलक्षण बुद्धि व रण-चातुर्य से अब तक चल रहे जाट-आन्दोलन में संजीवनी का संचार किया। सही अर्थों में उसे भरतपुर राज्य का निर्माता कहा जा सकता है। कानूनगो के शब्दों में वह असफल देशभक्त और सफल विद्रोही था। यद्यपि वह राजोचित सम्मान और पदवियों से विभूषित नहीं हो पाया था तथापि मृत्यु के समय वह यथार्थतः स्वतन्त्र ही था। जाटों की हठधर्मी और मराठों की चालाकी व राजनीतिक दूरदर्शिता का उसके चरित्र में अनुपम सम्मिश्रण देखा जा सकता है।[6]

चूंड़ामन ने रसूलपुर का अपना कार्यक्षेत्र चुना। उसने राजपूतों से राहिरो तथा राजगढ़ के कस्बे छीन लिये। इसके बाद सोसेर, उज्जैन, सोगर, कासोट और अवायर की गढ़ियों की मरम्मत करवा कर उसने वहां अपने थाने कायम कर दिये। चूंड़ामन की इन गतिविधियों के कारण मुग़ल बादशाह औरंगजेब ने कच्छावा नरेश विशनसिंह को चूंड़ामन का दमन करने के आदेश भेजे। आमेर-नरेश ने युक्ति से जाटों के एक शक्तिशाली सरदार उदा को अपने पक्ष में कर लिया जिससे चूंड़ामन की सैनिक शक्ति को बड़ा आघात पहुंचा। चूंड़ामन की कुछ गढ़ियों पर भी विशन सिंह ने आधिपत्य स्थापित कर लिया। विशनसिंह की अन्दरूनी इच्छा थी कि इस जाट-क्षेत्र को आमेर राज्य के अन्तर्गत ले लिया जाय। जब मुगल बादशाह औरंगजेब को इसकी भनक पड़ी तो उसने नाराज होकर विशनसिंह को मथुरा की फौजदारी से मुक्त कर दिया।[7]

विशनसिंह के चले जाने से चूंड़ामन को पुनः इस क्षेत्र में अपना प्रभाव बढ़ाने का अवसर मिल गया। उसने शाही पदाधिकारियों को तंग करना व उन्हें लूटना आरम्भ कर दिया। 1704 ई. में एक बार फिर उसने सिनसिनी ग्राम पर अधिकार कर लिया। यद्यपि सिनसिनी पर उसका अधिक दिनों तक आधिपत्य नहीं रहा, फिर भी उसने अपनी शक्ति में आशातीत वृद्धि कर ली थी।

सन् 1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् आगरा और धौलपुर के मध्य स्थित जाजऊ स्थान पर आजम और मुअज्जम के बीच लड़े गये उत्तराधिकार युद्ध के समय चूंड़ामन ने आजम की पराजित सेना को लूट कर अतुल धन एकत्र किया था। इसके बाद नवीन सम्राट् बहादुरशाह के प्रति निष्ठावान् रहने का निश्चय कर वह उसकी सेवा में उपस्थित हो गया। बादशाह ने भी खुश होकर उसे 1500 जात और 500 सवार की मनसब प्रदान कर सम्मानित किया। उसे दिल्ली-आगरा शाही मार्ग पर नियन्त्रण रखने का दायित्व भी सौंपा।[8] बाद में चूंड़ामन ने 1708 ई

में राजपूतों के विरुद्ध लड़े गये साभर के युद्ध में मेवात के मुग़ल फौजदार सैयद हुसैन खां को सहायता देकर राजभक्ति का प्रदर्शन किया था। जयसिंह के सहयोगी अनूपसिंह के कामा क्षेत्र मे चूड़ामन ने लूट-मार कर बहुत बड़ी धनराशि एकत्र की थी। 1712 ई. मे वह बादशाह बहादुरशाह की सहायता में सिक्खों के विरुद्ध किये गये सैनिक अभियान के समय लाहौर पहुंचा था, परन्तु वहा भी उसने लूट-खसोट में ही अधिक भाग लिया। बहादुरशाह की मृत्यु के बाद वह शाहजादा अजीमुश्शान के साथ रहा। परन्तु उसकी पराजय के बाद नये सम्राट् जहांदारशाह से शंकित होकर उसने फिर अपने क्षेत्र मे पहुंचकर शाही राजमार्गों को लूटने का कार्य शुरू कर दिया। इससे राजधानी के निकट अशान्ति फैल गई। जहांदारशाह ने जाट नेता को शान्त करने के उद्देश्य से उसे क्षमा प्रदान कर उसकी पुरानी मनसब उसे पुनः प्रदान कर दी। उसे फर्रुखसियर के विरुद्ध सैनिक अभियान मे शामिल होने के लिए भी आदेश दिये। चूड़ामन अपनी सेना के साथ आगरा पहुंचा, परन्तु जब जहांदारशाह की फौज पराजित हो गई तब उसने उसकी भागती हुई सेना को ही लूटना आरम्भ कर दिया। लूट की विपुल सामग्री के साथ वह अपने निवास-स्थान थून पहुंच गया।[9]

फर्रुखसियर जब दिल्ली के सिंहासन पर बैठा तब उसने चूड़ामन को दण्ड देना चाहा। उसने आगरा के सूबेदार छबीलाराम को जाटों को कुचलने के आदेश दिये। छबीलाराम ने चूड़ामन के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की थी, परन्तु उसे विशेष सफलता नही मिली। छबीलाराम के असफल हो जाने पर बादशाह फर्रुखसियर ने खान-ए-दौरां को जाटों के दमन का कार्य सुपुर्द किया। उसे मथुरा की फौजदारी दी गई। खान-ए-दौरां ने अपने क्षेत्र में शान्ति बनाये रखने के उद्देश्य से चूड़ामन को मुगल दरबार में उपस्थित होने के लिए राजी कर लिया। 27 सितम्बर, 1713 ई. को चूड़ामन बादशाह की सेवा में उपस्थित हो गया। बादशाह ने उसे राव की उपाधि दी तथा बारापुला से सिकन्दरा तक के शाही मार्ग की राहदारी की वसूली का अधिकार दे दिया। इस प्रकार कानूनगो के शब्दो में एक भेड़िया को भेड़ों की सुरक्षा का भार सुपुर्द कर लूट को कानूनी जामा पहना दिया गया।[10]

चूड़ामन ने बादशाह की कमजोरी का लाभ उठाया। वह राहदारी के रूप मे अत्यधिक धन एकत्र करने लगा। वह बादशाह फर्रुखसियर के विरोधी गुट से, जिसका नेतृत्व सैयद भाई कर रहे थे, हाथ मिलाकर अपनी शक्ति को बढ़ाने लगा। उसने शाही मार्ग को आतंकित कर दिया। स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की आकांक्षा की पूर्ति के लिए चूड़ामन ने थून के किले का सुदृढ़ीकरण किया और अपने राज्य के विस्तार के लिए एक बार फिर अपने प्रतिद्वन्द्वी कच्छावा राजा को उसने चुनौती दी। जुलाई, 1714 ई. में उसने भोजपुर से कच्छावा फौज को खदेड़ दिया और अलवर, हिण्डौन व बयाना क्षेत्रों में अनेक स्थानों पर अपने थाने व गढ़ियां स्थापित कर लीं। उसने स्थानीय जागीरदारों को भी तंग करना आरम्भ किया।

चूड़ामन की इन विनष्टकारी गतिविधियों की शिकायत निरन्तर मुग़ल बादशाह फर्रूखसियर के पास पहुंच रही थी। अन्ततोगत्वा मुगल बादशाह ने चूड़ामन को कुचलने के लिए तथा सैयद भाइयों के विरुद्ध अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से सवाई जयसिंह को मालवा से दिल्ली बुलाया और उसे जाट-विरोधी सैनिक अभियान का सर्वोच्च दायित्व सौंपा।[11]

तीसरे अध्याय में बताया जा चुका है कि बादशाह के आदेशानुसार सवाई-जयसिंह ने एक विशाल सेना के साथ जाटों के क्षेत्र पर आक्रमण किया (1716 ई.)। कोटा और बून्दी के शासक भी उसकी सहायतार्थ पहुंचे थे। जाटों के क्षेत्र पर अधिकार करता हुआ जयसिंह चूड़ामन के सुदृढ किले थून के निकट पहुंचा और उसका घेरा डाल दिया गया जो दीर्घकाल तक चलता रहा। फिर भी जयसिंह थून के किले को हस्तगत करने में सफल नहीं हो सका। इसके कारणों पर पहले विवेचन किया जा चुका है। अन्त में वजीर सैयद कुतुबुलमुल्क के माध्यम से चूड़ामन ने मुग़ल बादशाह के साथ समझौता कर लिया जिससे जयसिंह को युद्ध बन्द करने के लिए बाध्य होना पड़ा था। इससे जयसिंह की प्रतिष्ठा को आघात पहुंचा था। चूड़ामन मुगल बादशाह फर्रूखसियर के विरोधी सैयद बन्धुओं के पक्ष में था। मुग़ल दरबार में सैयदों का उसे संरक्षण मिल जाने से वह अपने शत्रु जयसिंह की राजनीतिक चालों को विफल करने में सक्षम हो गया था। सम्राट् फर्रूखसियर को सिंहासनच्युत करने तथा नये बादशाह मोहम्मदशाह के सिंहासनारूढ़ होने तक वह सैयदों का पूर्ण पक्षपाती व सहयोगी बना रहा। उसने निष्ठा और शक्ति के साथ उनका साथ दिया। दिल्ली से ग्वालियर तक शाही मार्ग की राहदारी वसूल करने का उसे पुनः अधिकार प्राप्त हो गया था। अपने क्षेत्र के अतिरिक्त जागीर के रूप में उसे भूमि का बहुत बड़ा भाग मिला था। इस समय चूड़ामन अपनी शक्ति की चरम सीमा पर था।[12]

सितम्बर 1720 ई. में शाही शिविर में सैयद हुसैन अली की हत्या कर दी गई। उस समय चूड़ामन सैयदों के पक्ष में कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं निभा सका था। बदलती हुई परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उसने बादशाह का पक्ष लेना आरम्भ कर दिया था। नवम्बर 1720 ई. मे हसनपुर के युद्ध मे वजीर सैयद अब्दुल्ला पराजित हुआ और कैद कर लिया गया। जाट सरदार चूड़ामन अपनी सैनिक टुकड़ी के साथ रणक्षेत्र में एक बार फिर मुगल बादशाह से पलट कर सैयदों की सहायतार्थ उपस्थित हुआ था, परन्तु जब सैयद परास्त हो गये तो उसने दोनों पक्षों के शिविरों को लूटा और विपुल धनराशि के साथ वह अपने प्रदेश की ओर प्रयाण कर गया।[13] चूड़ामन जब अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र शासक की तरह आचरण करने लगा था। जिस समय सादतखां ने महाराजा अजीतसिंह के विरुद्ध सैनिक अभियान किया, उस समय चूड़ामन ने शाही फौज को तंग किया था। जाट-नेता

ने आगरा व मथुरा क्षेत्र मे लूट-मार करना आरम्भ कर दिया। उसने आगरा के सूबेदार सादतखां के नायब नीलकठ नागर को फतहपुर सीकरी के निकट पराजित किया और उसे मार दिया गया। इससे नाराज होकर मुग़ल बादशाह ने सवाई-जयसिंह को आगरा की सूबेदारी दी और उसे चूड़ामन के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने के आदेश दिये। सवाई जयसिंह भी अपने पुराने कलंक को धो डालने का बहुत उत्सुक था। उसने मुगल बादशाह के आदेशानुसार जाटों के विरुद्ध सैनिक तैयारी की। परिस्थितियां आमेर नरेश के हित में थी। जाट सरदार चूड़ामन के दो पुत्र मोहकमसिंह और जूलकरण सम्पत्ति और भूमि के बंटवारे के प्रश्न को लेकर झगड़ने लगे थे। चूड़ामन ने अपने पुत्रों को समझाने का प्रयास किया, परन्तु उसके ज्येष्ठ पुत्र मोहकमसिंह ने उसके साथ भी अभद्र व्यवहार किया जिससे खिन्न होकर उसने आत्महत्या कर ली। चूड़ामन के मर जाने से जाट-शक्ति बहुत कमजोर हो गई थी। फिर उसके उत्तराधिकारी मोहकमसिंह ने अपने प्रतिद्वन्द्वी बदनसिंह को कैद कर लिया। बदनसिंह चूड़ामन के भाई भावसिंह का पुत्र था। बाद में जाट जमींदारों के हस्तक्षेप करने पर उसे कैद से मुक्त किया गया। वह नाराज होकर जाटों के शत्रु जयसिंह के पास चला गया।[14]

अगस्त 1722 ई. में जयसिंह ने 50 हजार सैनिकों के साथ जाट-क्षेत्र पर आक्रमण किया। जाटों को पराजित करता हुआ वह थून किले के निकट पहुंच गया। बदनसिंह भी अपने सैनिकों के साथ आमेर-नरेश के साथ था। थून किले पर गोले बरसाये जाने लगे। बदनसिंह किले की कमजोरी से परिचित था; अतः इस बार जयसिंह किले पर अधिकार करने में सफल रहा। मोहकमसिंह किले से बाहर भाग निकला और वह जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह की सेवा में चला गया। जाटों के सभी किले व क्षेत्र जयसिंह के अधीन हो गये।[15]

पिछली पराजय के प्रतिशोध के वशीभूत होकर आमेर-नरेश ने थून गढ़ को पूर्ण रूप से नष्ट कर उस पर गधों से हल हुंकवा दिया ताकि वहां पर पुनः कोई राजवंश अपनी सत्ता कायम न कर सके।

जाट नेता चूड़ामन बड़ा योग्य, कार्यकुशल और अवसरवादी था। उसने अपनी सैनिक प्रतिभा व राजनीतिक चतुराई से उत्तरी भारत में जाट-शक्ति को प्रमुख शक्तियों में स्थान दिलाया था। चूड़ामन के दमन हेतु मुगल बादशाह द्वारा अपनाये गये सभी प्रयत्न असफल रहे। चूड़ामन ने खालसा क्षेत्र को भरपूर लूटा और प्रचुर मात्रा मे धन एकत्र किया था। शाही फौजदार उसकी शक्ति से भयभीत रहते थे। उसकी मृत्यु के बाद ही सवाई जयसिंह को जाट-क्षेत्र पर अधिकार करने का अवसर मिल पाया था और वह भी जाट परिवार में फूट होने के कारण सम्भव हो सका था।

थून की विजय के बाद चूड़ामन की जमींदारी बदनसिंह को प्राप्त हो गई। उसने सवाई राजा जयसिंह की अधीनता स्वीकार कर ली और कच्छावा-नरेश का

सामन्त बन गया। उसके विनम्र और शिष्ट व्यवहार से सवाई राजा जयसिंह बहुत प्रभावित था। उसने बदनसिंह के सिर पर टीका लगा कर उसे राजा की उपाधि से विभूषित किया था। परन्तु उसने शाही मान्यता के अभाव में स्वयं केवल सामन्त के रूप में ही रहना हितकर समझा। जयसिंह ने आगरा के सूबेदार की हैसियत से बदनसिंह को नगाड़े, निशान और पचरंगे झंडे के प्रयोग की अनुमति प्रदान कर दी थी। आगरा नगर की कोतवाली का कार्य भी उसे सौंपा। इनके अतिरिक्त 50–60 लाख रुपयों की आय की मथुरा, वृन्दावन, महावन, छाता और होडल परगने की जागीरें उसे प्रदान की गई। बदनसिंह ने 19 जून, 1725 ई. के समझौते के अनुसार जयसिंह को 83,000 रुपये पेशकश देना स्वीकार कर लिया था।[16]

बदनसिंह ने डीग को अपना निवास-स्थान बनाया। वहां एक सुदृढ़ गढ़ का निर्माण करवाया गया। सुन्दर महल, बाग-बगीचो आदि से नगरी को भव्य व सुरम्य बनाने का प्रयास किया गया।[17] उसने शान्तिमय नीति से ही अपनी शक्ति का विकास किया था। जयसिंह के सरक्षण मे रह कर बदनसिंह ने बड़े श्रम और धैर्य के साथ अपने जाट सरदारों की भूमि छीन ली और उन्हें सामान्य जाट किसान बना दिया गया। इसी प्रकार जाटों के गांव में पटेलों के पास जो भूमि और सम्पत्ति थी, उस पर भी बदनसिंह ने अपना प्रमुत्व स्थापित कर लिया। वह अब जाटों का एकमात्र नेता बन गया था। उसके प्रतिद्वन्द्वी मोहकमसिंह के जाट-राज्य पर अधिकार करने के सभी प्रयास असफल कर दिये गये।[18]

बदनसिंह की सबसे बड़ी उपलब्धि जाट-कच्छावों के बीच परम्परागत वैमनस्य का अन्त करना था। बदनसिंह ने जयसिंह के प्रति सदैव निष्ठा व सेवा-भाव बनाये रखा। जयसिंह ने भी बदनसिंह के महत्त्व को बढ़ाने में कोई कसर नहीं रखी। बदनसिंह प्रायः जयसिंह के दशहरा-दरबार मे अन्य कच्छावा सामन्तों की भाँति सम्मिलित होता था। जयपुर के सामन्तो व बदनसिंह मे एक अन्तर था कि जयपुर–सामन्तों के पास जयपुर-राज्य की भूमि थी, जबकि बदनसिंह को शाही क्षेत्र में भूमि प्राप्त थी। उसने राज्य के अन्य जागीरदारों की भाँति जयपुर में हवेली बना रखी थी। इस हवेली के आस-पास का क्षेत्र बदनपुरा के नाम से जाना जाता था। जयसिंह दिल्ली व आगरा जाते व वापस लौटते समय मार्ग में बदनसिंह से अवश्य मिला करता था।[19] बदनसिंह अन्य जागीरदारो की तरह आवश्यकता पड़ने पर अपनी सैनिक टुकड़ी जयसिंह की सहायतार्थ भेजा करता था। अक्टूबर 1729 ई. मे जब जयसिंह मालवा का सूबेदार था और उसे मराठो के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करनी पड़ी थी, उस समय बदनसिंह ने अपने पुत्र सूरजमल के नेतृत्व मे एक सैनिक टुकड़ी अपने स्वामी की सेवा मे भेजी थी। मांडू के पास लड़े गये युद्ध में जाटों ने भाग लिया था।[20] 1737 ई. मे सवाई जयसिंह ने नवाब निजामउलमुल्क की सहायतार्थ अपने युवराज ईश्वरीसिंह और दीवान आयामल के नेतृत्व में जो कच्छावा सेना भेजी

थी, उसमें जाट सैनिक भी सम्मिलित किये गये थे। मराठों के विरुद्ध लड़े गये भोपाल के युद्ध में इन्होने भाग लिया था।[21] मई 1741 ई. में गंगवाना के युद्ध में राठौड़ों के विरुद्ध भेजी गई कच्छावा सेना मे सूरजमल जाट सैनिकों के साथ उपस्थित हुआ था। टॉड ने इसका उल्लेख किया है जिसकी पुष्टि दस्तूर कौमवार से भी हो जाती है।[22] इस प्रकार कच्छावा-जाट मेल के कारण जाट सरदार बदनसिंह जाट-राज्य को संगठित व सुदृढ़ करने मे सक्षम हो सका था।

मुगल बादशाह बदनसिंह को डीग व उसके आस-पास के क्षेत्र का जमींदार स्वीकार कर चुका था। इसके अतिरिक्त जयसिंह की सहकारिता व मैत्री से वह अपने को सुरक्षित अनुभव करने लगा था। थून, सिनसिनी, सोघोर और अन्य किलों को पहले शाही सेना ने नष्ट कर दिया था, अब उनके स्थान पर बदनसिंह ने डीग, कुम्हेर, भरतपुर और वैर के दुर्गों का निर्माण करवाया। किलों पर तोपों का जमाव किया और गोला-बारूद भी प्रचुर मात्रा में एकत्र किया गया। उसने अपनी सेना को भी सुसंगठित व व्यवस्थित बनाने का प्रयास किया। इस प्रकार की सैनिक गतिविधियों की शिकायत बादशाह से की गई, परन्तु बदनसिंह ने वजीर कमरूद्दीन को रिश्वत देकर इन शिकायतों का निराकरण कर लिया था।[23]

जब सवाई जयसिंह आगरा का सूबेदार नियुक्त हुआ, उसे अपना प्रभाव बढाने का सुअवसर मिला। जयसिंह ने उसे दिल्ली, आगरा और जयपुर के शाही मार्गों की रक्षा का कार्य सुपुर्द किया और वहां से राहदारी वसूल करने का अधिकार भी उसे दे दिया गया। जयसिंह का नायब कीरतसिंह जिसे हिण्डौन, बयाना, मुसावर व टोडाभीम की जागीरें प्राप्त थी, बदनसिंह का मित्र था और वह बड़ा दुष्ट तथा आलसी था; इसलिए जाटों को इस क्षेत्र में अपना प्रभाव विस्तार करने का अवसर मिलता रहा। 1727 ई. में जाटो ने इस क्षेत्र मे लूट मार कर अतुल धन एकत्र किया था। बदनसिंह ने सम्पन्न व प्रभावशाली परिवारों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये थे। कामर के धनी व्यक्ति चौधरी महाराम की पुत्री से उसने विवाह किया। इसी प्रकार सहार के जमींदार की लड़की से भी शादी की। इन वैवाहिक सम्बन्धों के कारण बदनसिंह का मथुरा परगने में प्रभाव स्थापित हो गया। इनके अतिरिक्त बदनसिंह ने शाही क्षेत्र इजारे पर लेकर अपनी शक्ति का विस्तार किया था। उसने 1727 ई. मे अकबराबाद का परगना इजारे मे प्राप्त किया। फिर भुसावर और हिण्डौन के अधिकांश क्षेत्र इजारे में ले लिये। सवाई जयसिंह ने 1729 ई. मे बदनसिंह को फरीदाबाद, पलवल और मेवात की राहदारी का अधिकारी भी दिला दिया।[24]

जयपुर राज्य के अन्तर्गत मेवात प्रदेश के मेव विद्रोही हो रहे थे। 1730 ई. के बाद जयसिंह का ध्यान मालवा की तरफ लगा रहा। वह स्वयं इन विद्रोही तत्वों के विरुद्ध कोई कार्यवाही करने की स्थिति में नही था। उसने अपने जाट

सहयोगी बदनसिंह को मेवों को दबाने के लिए कहा। बदनसिंह ने मेवों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही कर उन्हें शान्त कर दिया। इस सेवा के बदले जयसिंह ने उसे सिनसिनी का क्षेत्र व मेवात में 18 लाख रुपयों की वार्षिक आय की जागीर दी।[25]

बदनसिंह शान्तिप्रिय शासक था। उसमे सैनिक प्रतिभा का अभाव था। परन्तु उसका ज्येष्ठ पुत्र सूरजमल बड़ा योग्य सेनानायक निकला। बदनसिंह के शासन-काल मे सेना का सचालन व संगठन का कार्य सूरजमल के हाथों में ही रहा। बदनसिंह अपने असाध्य नेत्र-रोग के कारण अधिक समय तक शासन का कार्य नहीं कर सका। धीरे-धीरे उसके नेत्र की ज्योति कम होने लगी और वह निष्क्रिय होने लगा। फ्रेंज गोटलियब अपनी पुस्तक 'पर्शियन हिस्ट्री ऑफ जाट्स' में लिखता है कि बीस वर्ष तक सिंहासन पर रहने के बाद बदनसिंह अन्धेपन से पीड़ित हो गया था। उस समय उसने अपने योग्यतम पुत्र सूरजमल को शासन का कार्य सौंप दिया और वह डीग के महलो मे शान्त बैठा रहता था। वह राजसभा (मजिलिस-ए-कौम) की अध्यक्षता किया करता था। सूरजमल यदा-कदा शासन सम्बन्धी विषयों पर उससे मन्त्रणा कर लिया करता था। 2 नवम्बर, 1745 ई. को उसका दूसरा पुत्र प्रतापसिंह, जिसे उसने वैर का राज्य दे रखा था, काल का ग्रास बन गया। अपने पुत्र की असामयिक मृत्यु के कारण उसे बहुत दुःख हुआ और उसने निवृत्ति का मार्ग अपना लिया। अब तो उसने शासन-संचालन के सम्पूर्ण अधिकार अपने पुत्र सूरजमल को दे दिये और वह ईश्वर-चिन्तन मे ध्यानस्थ रहने लगा। इस समय के बाद राज्य का वास्तविक संचालक सूरजमल ही था। 7 जून, 1756 ई. को डीग में बदनसिंह का देहान्त हो गया।[26]

सूरजमल के जन्म तथा उसके बाल्यकाल की जानकारी बहुत कम मिलती है। मार्च 1757 ई. में सूरजमल द्वारा अहमदशाह अब्दाली को दिए गए एक पत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि सूरजमल का जन्म 1707 ई. को हुआ था।[27] वैण्डल के अनुसार सूरजमल न तो बदनसिंह का पुत्र था और न उसके वंश से ही उसका सम्बन्ध था। वह किसी विवाहित स्त्री का औरस पुत्र था। इस स्त्री की बहिन बदनसिंह के अन्त.पुर मे थी। अपने लड़के को गोद में लिए वह अपनी बहिन से मिलने बदनसिंह के अन्तःपुर मे आई। उस समय बदनसिंह की उस पर नजर पड़ गई और उसने उसे अपनी पत्नियों में शामिल कर लिया। सूरजमल की मां का बदनसिंह पर अत्यधिक प्रभाव था। फिर सूरजमल स्वयं बड़ा योग्य व प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति था। जाट नेता भी उससे बड़े प्रभावित थे। अतः बदनसिंह ने उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया।[28]

वैण्डल के उपर्युक्त कथन की पुष्टि समकालीन ग्रन्थों से नहीं होती। इसके विपरीत अधिकांश स्थानीय व फारसी ग्रंथों में, सूरजमल को बदनसिंह का ज्येष्ठ

पुत्र होना स्वीकार किया गया है। राम पांडे ने सूरजमल को बदनसिंह के भाई रूपसिंह का पुत्र माना है। रूपसिंह का देहान्त हो जाने पर उसकी स्त्री देवकी (सूरजमल की माता) के साथ, बदनसिंह ने 'धरेजन' के रूप मे विवाह कर देवकी को प्राप्त किया था। राम पांडे ने वैण्डल के इस मत का खंडन किया है कि सूरजमल का बदनसिंह के वंश से कोई सम्बन्ध नही था। चान्दावत ने समकालीन स्याहा बकाया के आधार पर 1721 ई. मे सूरजमल को बदनसिंह का पुत्र होना बताया है और 1735 ई. तक रूपसिंह का जीवित रहने का भी प्रमाण प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त 1731 ई. मे दस्तूर, कौमवार में बदनसिंह तथा रूपसिंह की पत्नी का उल्लेख एक साथ किन्तु पृथक्-पृथक् रुप में हुआ है। सुजान चरित मे सूरजमल को रूपसिंह का भतीजा बताया है। ऐसी स्थिति राम पाडे का मत भ्रमात्मक ही माना जायेगा। अन्ततः हम यह कहेगे कि अन्य किसी सामयिक पुष्ट प्रमाण के अभाव मे सूरजमल को बदनसिंह का औरस एवं ज्येष्ठ पुत्र मानना ही उचित होगा।[29]

सूरजमल ने मांडू के युद्ध में अपने सैनिक जीवन का आरम्भ किया था। इसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। उसकी सैनिक प्रतिभा का सही प्रदर्शन अपने पिता बदनसिंह के विरोधी खेमकरण जाट के विरुद्ध किये गये युद्ध मे हुआ। खेमकरण जाट चूड़ामन का अभिन्न मित्र और बदनसिंह का कट्टर शत्रु था। वह वर्तमान भरतपुर दुर्ग के स्थान पर बनी एक कच्ची गढ़ी का स्वामी था। इस गढ़ी का निर्माण 1700 ई. में उसके पिता रूस्तम सोगरिया द्वारा करवाया गया था। 1733 ई. में सूरजमल ने एक रात्रि को साहसिक आक्रमण कर खेमकरण को पराजित कर दिया और उसे अपनी गढी को छोड़ भागने के लिए बाध्य कर दिया। बाद में षड्यन्त्र कर सूरजमल ने खेमकरण को मरवा दिया। इस तरह भरतपुर पर सूरजमल का स्थायी अधिकार हो गया। उसने भरतपुर में नवीन गढ का निर्माण करवाना शुरू किया जो ज्वाला सहाय के अनुसार आठ वर्ष मे बन कर तैयार हो गया। सूरजमल ने भरतपुर को अपनी राजधानी बनाई और वह वहां स्थायी रूप से रहने लगा। 1753 ई. में जयपुर-नरेश माधोसिंह भरतपुर किले को देखने आया, तब सूरजमल वहां निवास कर रहा था। बदनसिंह अभी भी डीग मे ही रहता था। संकटकालीन दरबार अभी भी डीग में लगते थे। परन्तु सामान्यतः जाट राजा की सभी राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र भरतपुर बन चुका था।[30] भरतपुर नगर का विकास बड़ी तेजी से होने लगा और शीघ्र ही समस्त भारतवर्ष मे जाट राजधानी के रूप मे यह प्रसिद्ध हो गया।

सूरजमल की ख्याति चतुर्दिक् फैलने लगी थी। उसकी सैनिक शक्ति से सभी प्रभावित थे। 1745 ई. में कोईल (अलीगढ़) के नवाब फतह अलीखां ने मुगल खानजाद असदखां के विरुद्ध सूरजमल से सैन्य सहायता की याचना की थी, जिसे उसने स्वीकार कर लिया। सूरजमल की सहायता से फतह अलीखां ने अपने

शत्रु को चन्दौस (1746 ई.) के युद्ध में परास्त कर दिया और वह अपनी पैतृक जागीर को सुरक्षित रखने में सफल रहा।[31]

सूरजमल ने भी अपने पिता की भाँति जयपुर-नरेश के साथ मैत्रीपूर्ण और सहयोग की नीति का अनुसरण किया था। समय-समय पर वह जयपुर-नरेश की सेवा मे उपस्थित होता था। सवाई जयसिंह द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञ (1743 ई.) में वह सम्मिलित हुआ था। जयसिंह की मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार के युद्ध में उसने ईश्वरीसिंह का पक्ष लिया था। सूरजमल ने अपने 10 हजार सैनिकों के साथ 1748 ई. मे बगरू के स्थान पर लड़े गये युद्ध में, जिसका पहले विवरण दिया जा चुका है, महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इस सेवा से प्रसन्न होकर जयपुर-नरेश ईश्वरीसिंह ने सूरजमल को राजा की उपाधि देने के लिए मुगल बादशाह से सिफारिश की थी। मुगल बादशाह ने 1750 ई. में उसे राजा की पदवी देकर सम्मानित किया। अब सूरजमल एक स्वतन्त्र जाट शासक के रूप में कार्य करने लगा था।[32] यद्यपि सूरजमल ने जयपुर-नरेश के अधीन रहकर कार्य करने की नीति का परित्याग कर दिया था तथापि वह अपने पड़ोसी राज्य के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने के पक्ष मे था। उसने जयपुर के नये राजा माधोसिंह के साथ मैत्री व सद्भावना बनाये रखने की नीति का ही अनुसरण किया।[33]

चन्दौस (1746 ई.) और बगरू (1748 ई.) के युद्धों में सूरजमल की जो भूमिका रही, उससे उसकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई थी। अब विभिन्न शासक उसकी सहायता की अपेक्षा रखने लगे थे। मुगल सत्ता का बड़ी तेजी से ह्रास हो रहा था। नादिरशाह के हमले ने तो मुगल शक्ति को चूर-चूर कर दिया था। ऐसी स्थिति में सूरजमल के नेतृत्व में जाटों की नवोदित शक्ति का सभी लोहा मानने लगे थे। सूरजमल भी अनुकूल परिस्थिति का लाभ उठाते हुए जाट राज्य की सीमा के विस्तार में संलग्न था। उसने मेवात और आगरा परगनों में स्थित खालसा भूमि और अमीरों की जागीरों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के अनेक प्रयत्न किये। उसे इस कार्य मे अभूतपूर्व सफलता भी मिली थी।

दिल्ली राजसिंहासन पर आरूढ़ होने पर अहमदशाह ने जून 1748 ई. में सफदरजंग को वजीर और सलाबतखां को मीर बख्शी के पदों पर नियुक्त किया। बादशाह ने फरीदाबाद का परगना सफदरजंग को जागीर में दिया। नये वजीर ने भरतपुर के सूरजमल और उसके समर्थक बल्लभगढ़ के बलराम को लिखा कि वे उन सभी शाही परगनों को छोड़ दें जिन पर उनका अवैध अधिकार है। जाट-शासकों ने इसकी उपेक्षा की। इस पर सूरजमल को दण्ड देने के उद्देश्य से वजीर ससैन्य नवम्बर 1749 ई. मे दिल्ली से बाहर निकला। लगभग उसी समय मीर बख्शी सलाबतखां भी अपनी फौज के साथ अजमेर व मारवाड़ की तरफ अभियान पर रवाना हुआ। ऐसा प्रतीत होता था कि वे दोनों विभिन्न दिशाओं से सूरजमल के

राज्य में प्रवेश करेंगे। सूरजमल ने डीग व कुम्हेर सहित सभी दुर्गों को सैनिक सामग्री से सुसज्जित कर मुगल मंसबदारों से युद्ध करने की पूरी तैयारी कर ली थी। परन्तु सौभाग्य से इसी समय फर्रूखाबाद के कायमखां की मृत्यु के समाचार वजीर को मिले। इस पर सूरजमल के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही स्थगित कर फर्रूखाबाद के बंगस पठानों को दण्डित करने के उद्देश्य से वह दिल्ली की ओर प्रस्थान कर गया।[34]

उधर मीर बख्शी सलाबतखां ने पटौदी में अपना शिविर लगाया। इसके बाद उसने मेवात क्षेत्र को लूटा और फिर निमरांना की गढ़ी पर अधिकार कर लिया। यह गढ़ी सूरजमल के क्षेत्र में थी। मीर बख्शी ने सूरजमल से 2 करोड़ रुपये पेशकश के मांगे। सूरजमल इतना दुर्बल नहीं था कि वह बख्शी की मांग बिना युद्ध किये स्वीकार कर लेता। उसने अपनी सेना के साथ मुग़ल सेनापति सलाबतखां को जा घेरा और 1 जनवरी, 1750 ई. को सराय शोभाचन्द के पास उसे परास्त कर दिया। बख्शी को सूरजमल के साथ सन्धि करने को बाध्य होना पड़ा। इस विजय के फलस्वरूप जाट नेता सूरजमल की ख्याति चारों ओर फैल गई। जाट सैनिकों का मनोबल बहुत ऊंचा उठ गया था और वे अपनी शक्ति का विस्तार करने के लिए प्रोत्साहित हुए। सूरजमल की शक्ति से प्रभावित होकर वजीर सफदरजंग ने उसे अपना सहयोगी बना लिया। सूरजमल भी मराठों के विरुद्ध एक शक्तिशाली मित्र की खोज में था। अतः दोनो एक-दूसरे के मित्र व सहयोगी बन गये।[35]

वजीर सफदरजंग ने, जो अवध का नवाब भी था, फर्रूखाबाद के बंगस विद्रोहियों और गंगा पार के रुहेलों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की। उस समय वजीर ने सूरजमल से सहायता देने को कहा। सूरजमल लगभग 15000 सैनिको के साथ उसकी सहायतार्थ पहुंचा। सितम्बर 1750 ई. में रामचतौनी के पास युद्ध हुआ जिसमें जाटों ने बड़े साहस और शौर्य का परिचय दिया। वे एक बार शत्रु सेना को पीछे खदेड़ने में सफल हुए थे। शत्रुओं का सेनापति रुस्तमखां रणक्षेत्र में मारा गया।[36]

जब वजीर ने 1751-52 ई. में रुहेलखण्ड पर आक्रमण किया, उस समय भी जाट सैनिकों ने उसकी सहायता की थी। वजीर ने सूरजमल को 15000 रुपये प्रतिदिन देने का आश्वासन दिया था। 18 अप्रेल, 1751 ई. को फतहगढ़ के निकट पठानों के विरुद्ध घमासान युद्ध हुआ जिसमें जाट सैनिकों का बड़ा योगदान रहा। शत्रुओं को बड़ी क्षति उठानी पड़ी और वजीर को निर्णायक विजय प्राप्त हुई। उसके सहयोगी जाटो और मराठों ने लूट से अत्यधिक लाभ उठाया।[37]

वजीर के दीर्घकाल तक दिल्ली से अनुपस्थित रहने के कारण उसके प्रतिद्वन्द्वी जावेदखां ने दिल्ली सम्राट् पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया था। उसने जाटों को भी अपनी ओर करने का प्रयास किया। जब वजीर दिल्ली पहुंचा तो इन

दोनों में सत्ता-प्राप्ति के प्रश्न को लेकर संघर्ष चालू हो गया। इस समय भी सूरजमल वजीर के पक्ष में रहा। अन्त में जावेदखां की हत्या कर दी गई। दिल्ली मे पुनः वजीर सफदरजंग का प्रभाव स्थापित हो गया। 20 अक्टूबर, 1752 ई. को कृतज्ञ वजीर ने बादशाह को प्रेरित करके बदनसिंह को राजा बनवाया और 'महेन्द्र' की पदवी से उसे विभूषित किया गया। इसके साथ ही मुगल सम्राट् ने सूरजमल को 'राजेन्द्र' की उपाधि व 'कुंवर बहादुर' का पद देकर सम्मानित किया। वजीर के प्रयत्नों से कुछ समय बाद सूरजमल को मथुरा का फौजदार नियुक्त किया गया। सूरजमल अब आगरा प्रान्त में जमुना के दोनों किनारों के क्षेत्र तथा आगरा के आस-पास के भाग का स्वामी बन गया। वह वहां से वार्षिक कर एकत्र करने लगा। यह सब उसे वजीर को सहयोग देने के फलस्वरूप पुरस्कार के रूप मे मिले थे। सरकार के शब्दों में–"जाटो के अभ्युदय मे यह पहला कदम था। यद्यपि इससे पहले भी उन्होने अतुल धन एकत्र कर लिया था, परन्तु हिन्दुस्तान के शासकों मे अभी उनको कोई स्थान प्राप्त नही हुआ था, विधिपूर्वक उन्हे सत्ता नही मिली थी। परन्तु अब उनके मुखिया को मुग़ल सम्राट् ने जयसिंह की भांति राजा बना दिया था।" सफदरजंग ने अब सूरजमल के नाम उन सभी जागीरों का शाही पट्टा करवा दिया जिन पर उसका पहले से ही आधिपत्य था।[38]

सन् 1753 ई. के आरम्भ में वजीर सफदरजंग ने कोईल (अलीगढ) के फौजदार बहादुरसिंह बड़गूजर को आदेश भेजे कि वह दुर्ग से तोपें हटा ले। उसने इस आदेश का पालन नहीं किया। इससे वजीर नाराज हुआ और उसने सूरजमल को बुलाकर मन्त्रणा कर बहादुरसिह के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने का निर्णय लिया। मुगल बादशाह की आज्ञा से सूरजमल के नेतृत्व मे एक शाही सेना उसके विरुद्ध भेजी गई। 10 फरवरी, 1753 ई. को इस सेना ने अलीगढ पर अधिकार कर लिया। बहादुरसिंह भाग कर अपने पैतृक दुर्ग घसेरा में पहुंच गया। सूरजमल और वजीर की फौजों ने घसेरा गढ़ का घेरा डाल दिया जो तीन माह तक चलता रहा। अन्त मे घमासान युद्ध हुआ जिसमें 1500 जाट सैनिक मारे गये, परन्तु सूरजमल का किले पर अधिकार हो गया (23 अप्रैल, 1753 ई.)। बहादुरसिंह और उसका पुत्र अजीतसिंह किले में बचे सभी सिपाहियों के साथ अन्तिम क्षण तक लड़ते हुए मारे गये। इसके पहले गढ में सभी स्त्रियों को मार दिया गया था। सूरजमल को इस युद्ध में भारी क्षति उठानी पड़ी थी।[39] बहादुरसिह का एक अन्य पुत्र फतहसिंह घसेरा के घेरे के समय दिल्ली में था। उसने सूरजमल के शत्रुओं के साथ मिल कर शाही फौज की मदद से अपने पैतृक गढ़ घसेरा पर जनवरा 1754 ई. मे अधिकार कर लिया।[40]

मार्च से नवम्बर 1753 ई. तक दिल्ली में गृह-युद्ध चला। राजमाता ऊधम बाई, इन्तजाम-उल्-दौला, इमाद-उल्-मुल्क गाजीउद्दीन आदि वजीर सफदरजंग

के विरोधी हो गये थे। उन्होंने सम्राट् अहमदशाह पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया था। सम्राट् ने इन्तिजाम-उल्दौला को वजीर और गाजीउद्दीन को मीर बख्शी के पदों पर नियुक्त कर दिया। इस पर सफदरजंग ने बादशाह के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। उसने राजेन्द्रगिरि गोसाईं और सूरजमल जाट को अपनी सहायतार्थ आमन्त्रित किया। दोनों पक्षों की तरफ से मराठों को अपनी ओर करने के प्रयास किये गये, परन्तु अन्त मे सम्राट् व इमाद मराठा राजदूत बापू महादेव हिंगणे के माध्यम से मराठा सहायता पाने मे सफल हो गये।[41] इस गृह-कलह के दिनों मे दिल्ली व उसके आस-पास अनेक छोटे-मोटे युद्ध हुए जिनमें सूरजमल सदैव अग्रणी रहा। सूरजमल के नेतृत्व में जाट सैनिको ने पुरानी दिल्ली मे भयंकर लूट-खसोट की जिससे दिल्लीवासी अत्यन्त संतप्त व आतंकित हो गये। इस लूट-पाट और अत्याचार को दिल्ली के निवासी बाद में दीर्घ काल तक "जाटगर्दी" के नाम से स्मरण करते रहे।[42]

धीरे-धीरे सफदरजंग की स्थिति कमजोर होने लगी। उसके बहुत से साथी उसे छोड कर बादशाह के पक्ष मे चले गये थे। अब सूरजमल जाट ही एकमात्र शक्तिशाली सरदार उसके साथ रह गया था। 12 सितम्बर, 1753 ई. को उसने भी गुप्तरूप से नये वजीर के साथ समझौता करने की बातचीत शुरू कर दी थी। बादशाह के शिविर मे भी उसके सरदार एकमत नहीं थे। वजीर इन्तिजाम और मीर बख्शी इमाद के बीच मनमुटाव होने लगा था। इमाद के विरोध के कारण ही सूरजमल और इन्तिजाम के बीच समझौता सम्भव नहीं हो सका था। इमाद की शक्ति बहुत बढ गई थी। मराठों का उसे पूर्ण सहयोग प्राप्त था। मुगल बादशाह अहमदशाह उसकी बढती हुई शक्ति से शंकित होने लगा था। उसे अपना अस्तित्व भी संकटमय प्रतीत होने लगा था। ऐसी आपत्ति-ग्रस्त स्थिति में मुगल बादशाह ने जयपुर-नरेश माधोसिह को दिल्ली आने के लिए आमन्त्रित किया। वह उसके माध्यम से गृह-युद्ध का अन्त करवाना चाहता था। माधोसिंह के प्रयत्नो से सफदरजंग और सूरजमल के साथ बादशाह का समझौता सम्भव हो सका, जिसके अनुसार सफदरजंग अपने सूबे अवध व इलाहाबाद जाने के लिए राजी हो गया। मुगल बादशाह ने सूरजमल जाट को क्षमा प्रदान की। वह अपने सरदारों के साथ अपने राज्य की ओर पलायन कर गया।[43] कुछ दिनों बाद सूरजमल का पुत्र जवाहरसिंह माधोसिंह को लेकर कामां पहुंचा। वहां बदनसिंह से उसकी भेंट हुई। तत्पश्चात् वह भरतपुर पहुंचा जहां सूरजमल ने उसका भव्य स्वागत किया। वह वहां पांच दिनों तक ठहरा। उन्होने मराठा सेना के आगमन और पारस्परिक सम्बन्धो पर विचार-विमर्श किया।[44]

सूरजमल जाट के साथ की गई सन्धि से इमाद प्रसन्न नहीं था। अतः जैसे ही गृह-युद्ध का अन्त हुआ, उसने दिल्ली के दक्षिण में जाटों के विरुद्ध सैनिक अभियान

शुरू कर दिया। उस समय उसे अपनी सेना को वेतन भुगतान करने के लिए धन की आवश्यकता थी। उसने अपने सेनानायक अकीवत महमूद के नेतृत्व में एक सेना को, जिसमें कुछ मराठा सवार भी सम्मिलित किये गये थे, 24 नवम्बर, 1753 ई. को दिल्ली से रवाना किया। फरीदाबाद तथा पलवल का भूमि-कर और शाही राजस्व की वसूली के लिए बालू जाट को पेशकश देने के लिए कहा गया। पहले तो वह युद्ध करने की तैयारी में लगा रहा, परन्तु जब अकीवत की मदद में एक और सैनिक टुकड़ी आ पहुंची तो बालू ने मुग़ल बादशाह की अधीनता स्वीकार कर ली और पेशकश के अतिरिक्त इमाद को भी कुछ धनराशि देने का वादा कर लिया।[45]

राजस्व वसूली के दौरान अकीवत को पता लगा कि पलवल क्षेत्र के किसान बालू के भय से राजस्व की रकम देने को तैयार नहीं थे। एक अमीन ने, जो बालू से नाराज था, अकीवत को सूचित किया कि जब तक वह बल्लभगढ़ पर अधिकार करके बालू को समाप्त नहीं कर देता है तब तक उसका इस परगने पर शासन स्थापित नहीं हो सकेगा। अब अकीवत बल्लभगढ़ के निकट एक गांव में पहुंचा और उसने बालू को बुला कर पेशकश की रकम के भुगतान की ताकीद की। बालू के साथ वार्तालाप करते समय गरमागरम बहस होने लगी जिससे क्रुद्ध होकर अकीवत के अंग रक्षकों ने बालू, उसके पुत्र और दीवान सहित नौ व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया (21 नवम्बर, 1753)। अब बल्लभगढ़ पर आक्रमण कर दिया गया। थोड़े समय तक युद्ध चला, परन्तु अन्त में बल्लभगढ़ पर मुग़ल सेना का अधिकार हो गया। इस प्रकार परगने पर इमाद का आधिपत्य स्थापित कर दिया गया।[46]

अकीवत अब आगे बढ़ा और उसने मितनौला और हथीन की गढ़ियों पर आक्रमण कर इन्हें अपने अधीन कर लिया। इसके बाद दिल्ली पहुंच कर उसने फरीदाबाद जिले की ओर प्रस्थान किया। इस समय खांडेराव भी अपनी सेना के साथ उसको सहयोग देने के लिए सम्मिलित हुआ था। इस बार उसके सिपाहियों के विद्रोही हो जाने से वह परगने पर अपना प्रभुत्व नहीं जमा सका था। उसने अपने स्वामी इमाद को युद्ध-स्थल पर आने की प्रार्थना की। उस पर वह (इमाद) स्वयं दिल्ली से बल्लभगढ़ गया।

खांडेराव ने होडल पर (पलवल से 17 मील दक्षिण में) अपना डेरा डाला और वहां से अपने सैनिकों को जाट-गावों को लूटने के लिए चौफेर भेजा। एक सेना बरसाना और नन्दगांव पहुंच गई। सूरजमल के लड़के जवाहरसिंह ने युद्ध किया, परन्तु वह परास्त हो गया और भाग निकला। वहां मराठों के थाने स्थापित हो गये। इसके बाद बालू के भाई से गंगूला गांव छीन लिया। पलवल होता हुआ होडल पहुंच इमाद ने भी खाण्डेराव से सम्पर्क स्थापित कर लिया।

यह पहले बताया जा चुका है कि इमाद की सहायता से बहादुरसिंह के लड़के फतहसिंह ने अपने पैतृक गढ़ घसेरा पर अधिकार कर लिया था। इसी प्रकार इमाद

के अफसरों ने कोईल (अलीगढ़) और जलेसर से भी जाटों को मार भगाया। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जमुना के दोनो तटों के गाव अब इमाद के हाथ मे आ गये और दक्षिण मे उसका शासन मथुरा और आगरा तक स्थापित हो गया।[47]

सफदरजंग के विद्रोह के समय मुगल बादशाह ने पेशवा से सहायता के लिए प्रार्थना की थी। पेशवा ने उसे सहयोग देना स्वीकार कर लिया था। दिल्ली में स्थित मराठा प्रतिनिधि की तरफ से भी पेशवा के पास बराबर पत्र आ रहे थे जिसमें एक सशक्त मराठा सेना उत्तर में भेजने का आग्रह किया गया था। राजस्थान के राजाओं से भी चौथ की चढी रकम वसूल करनी थी। अतः पेशवा ने अपने अनुज रघुनाथराव के नेतृत्व में एक विशाल मराठा सेना उत्तर की ओर भेजी। नर्मदा पर मल्हारराव होल्कर भी उससे आ मिला। यह सेना मालवा को पार कर मुकन्दरा के दर्रे से राजस्थान में प्रविष्ट हुई और 1753 ई. के अक्टूबर के अन्त तक जयपुर राज्य में जा पहुंची। इस समय तक दिल्ली में गृह-युद्ध समाप्त हो गया था। सफदरजंग अवध की ओर चला गया था। इसके बाद मराठा सेना की सहायता से जिसका नेतृत्व खांडेराव कर रहा था, जाटो के क्षेत्र पर आक्रमण कर उनके बहुत से किले छीन लिए गये थे जिसका विवरण ऊपर किया जा चुका है। मराठा सेनानायक ने जयपुर राज्य से 12 लाख रुपये वसूल किये और अब वह जाट राजा सूरजमल से भी धन प्राप्त करने के उद्देश्य से उसके क्षेत्र की ओर अग्रसर हुआ। मराठा जाटो से नाराज थे क्योंकि सूरजमल ने जयपुर नरेश माधोसिंह से सांठ-गांठ की थी। इसके अतिरिक्त दिल्ली मे गृह-युद्ध के समय मराठे और जाट-विरोधी गुटों के साथ रह कर एक-दूसरे से लड़े थे। आगरा प्रदेश पर इन दोनों की गृद्ध-दृष्टि लगी हुई थी। मराठे जाटो को कुचलना चाहते थे। इन सब कारणो से मराठे राजस्थान के अन्य राजाओ की भांति जाट राजा से भी चौथ के रूप मे धनराशि प्राप्त करने की आकांक्षा रखते थे। जाट राजा सूरजमल मराठों के विरुद्ध लड़ने का इच्छुक नहीं था। उसने अपने प्रतिनिधि रूपराम को मराठों के शिविर मे समझौता करने के लिए भेजा था। जाट राजा मुग़ल बादशाह को दिये जा रहे कर के अतिरिक्त मराठो को 4 लाख रुपयों से बढ़ते-बढ़ते 40 लाख रुपयों तक देने के लिए राजी हो गया था, परन्तु मराठों ने 2 करोड़ रुपयों की मांग की। जाट इतनी बड़ी रकम देने के लिए तैयार नही हुए। अतः युद्ध आरम्भ हो गया।[48]

मराठा सेना जब जाटों के दुर्ग भरतपुर, डीग और कुम्हेर पहुंची, तो दुर्गों का प्राचीरों पर स्थित तोपों ने गोले उगलने आरम्भ कर दिये जिससे मराठा सेना को पीछे हटने के लिए बाध्य होना पड़ा। कुम्हेर के निकट खुले मैदान में मराठों और जाटों के बीच घमासान युद्ध हुआ जिसमे दोनो पक्षो को बड़ी क्षति पहुंची थी। इसके बाद सूरजमल अपनी सेना के साथ कुम्हेर के दुर्ग मे बन्द हो गया। मराठों ने कुम्हेर

के किले का घेरा डाला जो लगभग चार महीनों तक चलता रहा। मराठों की मदद में हरगोविन्द नाटाणी के नेतृत्व में जयपुर की सेना भी उपस्थित थी। कुछ समय बाद हाडोल से मल्हारराव का पुत्र खांडेराव भी अपनी सेना के साथ वहां पहुंच गया। उसके सहयोगी मुगल मीर बख्शी इमाद को भी वहां आने के लिए आमन्त्रित किया गया। इतनी विशाल सेना के एकत्र होने पर भी मराठे जाटों के इस किले को फतह नहीं कर सके। दीर्घकाल तक घेरा चलता रहा, परन्तु विजय के आसार नजर नहीं आ रहे थे। मराठों के पास बड़ी तोपें नहीं थीं। मुगल बादशाह से बड़ी तोपें प्राप्त करने का प्रयास भी किया गया, परन्तु तोपें उपलब्ध नहीं हो सकी थी। इसी बीच 17 मार्च, 1754 ई. को जब खांडेराव अपनी सेना का निरीक्षण करता हुआ किले के निकट पहुंच गया तो वह जाट तोपों का शिकार बन गया और उसकी वहीं मृत्यु हो गई।[49]

मल्हारराव को अपने पुत्र की मृत्यु से गहरा आघात लगा तथा उसने प्रतिज्ञा की कि वह जाटों का पूर्ण रूप से उन्मूलन करके ही रहेगा। मराठों ने बड़े वेग से जाटों पर प्रहार करना शुरू किया। बड़ी तोपें मंगवाने के लिए संदेश भेजे गये। सूरजमल को अपना भविष्य धुंधला प्रतीत होने लगा, परन्तु ऐसे संकट में उसकी चतुर पत्नी हासिया ने उसे सलाह दी कि वह जयप्पा सिंधिया के साथ सम्बन्ध स्थापित करे। वह सिंधिया और होलकर के बीच मतभेद तथा आपसी प्रतिस्पर्द्धा से अवगत थी। उसने मराठा शिविर में फूट डालने के उद्देश्य से जयप्पा सिंधिया को उपहार, धन आदि देकर प्रसन्न करने का प्रयास किया। यहां तक कि सूरजमल की पगड़ी उसके पास भेजी गई और उससे संरक्षण प्राप्त करने के प्रयत्न किये गये। जयप्पा ने सूरजमल की सहायता करने का निर्णय लिया और वह रघुनाथराव से मिला। उसने उसे सलाह दी कि वह सूरजमल से खण्डणी वसूल कर जाट-विरोधी अभियान समाप्त कर दे। इसी में मराठों का हित है। जाटों से युद्ध कर अपनी शक्ति क्षीण न करे। रघुनाथराव उसके इस मत से सहमत हो गया। इस प्रकार मल्हारराव को निष्क्रिय बना दिया गया और अन्त में 18 मई, 1754 ई. को मराठों और जाटों के बीच समझौता हो गया। सूरजमल ने तीन साल में तीस लाख रुपये मराठों को देना स्वीकार कर लिया। इसके अतिरिक्त पेशकश के रूप में बादशाह को दी जाने वाली दो करोड़ रुपये की राशि को अब बादशाह को न देकर मराठों और इमाद को देना निश्चित हुआ। इस समझौते के अनुसार कुम्हेर का घेरा हटा लिया गया और सूरजमल को राहत मिली। कुछ समय बाद इमाद ने मराठों के सहयोग से मुगल सम्राट् अहमदशाह को सिंहासन-च्युत कर दिया (2 जून, 1754 ई.)। अब नये बादशाह आलमगीर द्वितीय का इमाद स्वयं वजीर बन गया। मराठों का दिल्ली पर वर्चस्व स्थापित हो गया। सूरजमल का राजनीतिक शत्रु इमाद वजीर का पद प्राप्त करके अधिक शक्तिशाली बन गया।[50]

इमाद द्वारा नये बादशाह को सिंहासनारूढ़ करवाने की प्रक्रिया के फलस्वरूप दिल्ली का शासन-प्रबन्ध अस्त-व्यस्त हो गया था और राजधानी के आस-पास पुनः लूट-खसोट का वातावरण व्याप्त हो गया। इस लूट-पाट मे सूरजमल जाट ने भी भाग लिया। 1754 ई. के उत्तरार्द्ध मे मराठा सेनानायक रघुनाथराव ने दिल्ली के चारो ओर के प्रदेशो पर और उसके उत्तरी क्षेत्र पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। अब वह अनुभव करने लगा था कि मराठों का उत्तरी भारत में स्थायी रूप से आधिपत्य तभी सम्भव हो सकता है जबकि वे या तो जाटो को शक्तिहीन कर अपने अधीन करें अथवा उन्हें अपना मित्र बना लें। कुम्हेर के घेरे की असफलता को ध्यान मे रखते हुए उसने जाटो के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लेना ही नीति-संगत समझा। जाट नेता सूरजमल भी इमाद द्वारा छीने गये अपने क्षेत्र पुनः प्राप्त करने का इच्छुक था। यह तभी सम्भव हो सकता था जब जाटो का मराठों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध हो। अतः सूरजमल भी मराठा मैत्री के लिए उत्सुक था। फलतः अगस्त, 1754 ई. में जाट-मराठा समझौता सम्पन्न हो गया। इस समझौते के अनुसार जाट-शासक इस बात के लिए राजी हो गया कि मराठो की लड़ाइयों में वह उनका विरोध नही करेगा और जब भी मराठा सेना उत्तर की तरफ आयेगी तो जाट शासक उसका प्रतिरोध नही करेगा। उस समय आगरा प्रान्त का बहुत-सा भाग मराठों के अधीन था। रघुनाथराव ने सूरजमल को अनुमति प्रदान कर दी कि वह इस प्रदेश पर अधिकार कर ले।[51]

इसके पश्चात् अब नये सिरे से दिल्ली के दक्षिण मे और आगरा के पश्चिम मे जाट शक्ति का प्रसार होने लगा। उन्होने होडल, पलवल (27 सितम्बर, 1754 ई.), बल्लभगढ़, घसेरा (नवम्बर 1755 ई.) और अलवर दुर्ग पर (23 मार्च, 1756 ई.) अधिकार कर लिया। इस पर वजीर इमाद ने अपने सेनानायक नजीबखां को जाटों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने के आदेश दिये। कुछ समय तक युद्ध चला परन्तु बाद मे खालसा दीवान नागरमल के बीच मे पड़ने पर 26 जुलाई, 1755 ई. को सन्धि हो गई। इस सन्धि की निम्नलिखित शर्तें थीं :—

1— सूरजमल के पास अलीगढ़ के वे प्रदेश बने रहेंगे जिन पर उसने पहले ही अधिकार कर रखा था।

2— इन प्रदेशों के राजस्व के रूप मे 26 लाख रुपये देने होंगे। जावेदखां और सफदरजंग के काल में सूरजमल को कुछ जागीरें दी गई थीं, पर उन पर उसको कब्जा नही दिया गया था। अतः इसकी क्षति के 18 लाख रुपये उक्त धनराशि मे से घटा दिये गये।

3— शेष आठ लाख की रकम में से 2 लाख रुपये तुरन्त भुगतान कर दिये जायेंगे और बाकी राशि पचास हजार रुपये प्रति मास के हिसाब से शाही कोष मे जमा करवा दी जायेगी।

4— सूरजमल सिकन्दराबाद का गढ़ खाली कर देगा।

इस प्रकार कुम्हेर के घेरे के एक वर्ष के भीतर ही जाट शासक की स्थिति पुनः सुदृढ़ हो गई। उसने अपने दो प्रमुख शत्रुओं (इमाद और मराठा) से अलग-अलग सन्धियां कर ली थी। सूरजमल अपनी जागीरों को पुनः प्राप्त करने और उनके लिए शाही मान्यता हासिल करने मे सफल रहा। अब वह पहले की तरह फिर आत्मविश्वास के साथ अपने राज्य के विस्तार व उसके सुदृढ़ीकरण में व्यस्त हो गया।[52]

7 जून, 1756 ई. को बदनसिंह की मृत्यु हो गई। वह बहुत पहले से अन्धा हो चुका था और नाममात्र का शासक रह गया था। अतः उसकी मृत्यु से शासन में कोई अन्तर नहीं आया परन्तु सूरजमल के पुत्र जवाहरसिंह ने विद्रोह कर दिया जिससे राज्य मे कुछ समय के लिए संकट उत्पन्न हो गया। जवाहरसिंह बड़ा साहसी व रणकुशल व्यक्ति था, परन्तु उसमें आत्मसंयम जैसी कोई बात नही थी। वह अपने पिता के समान मितव्ययी नहीं था। मुगल अमीरों की भाँति वह शान-शौकत और रंगरेलियो का जीवन व्यतीत करने के लिए लालायित रहता था। सूरजमल को वह अपने स्वतन्त्र जीवन के लिए बाधक समझता था। जवाहरसिंह के चाटुकार उसे अधिक खर्च करने के लिए प्रेरित करते रहते थे। जब सूरजमल ने उसके इन सलाहकारों को हटाना चाहा तो जवाहरसिंह ने विद्रोह कर दिया और डीग दुर्ग में अपने पिता के विरुद्ध वह युद्ध करने की तैयारी मे जुट गया। सूरजमल के लिए अब अपने पुत्र के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प ही नही रह गया था। युद्ध मे जवाहरसिंह घायल हो गया और कैद कर लिया गया। उसके जीवित रहने की कम आशा रह गई थी। ऐसी स्थिति में सूरजमल के मन मे अपने पुत्र के प्रति वात्सल्य जाग्रत हुआ। वह अपने योग्य पुत्र को खोना नही चाहता था। जवाहरसिंह के घावों का उपचार करवाया गया। यद्यपि उसकी एक भुजा और एक टांग सदैव के लिए कमजोर हो गई थी, फिर भी वह स्वस्थ हो गया और पिता तथा पुत्र के बीच पुनः मेल हो गया।[53]

जनवरी 1757 से मार्च 1761 तक का समय जाट राजा सूरजमल के लिए बड़े संकट व चिन्ता का काल था, क्योंकि इस काल में अहमदशाह अब्दाली के दो आक्रमण हुए और दिल्ली पर उसका आधिपत्य स्थापित हो गया था। इस काल में जाट क्षेत्र पर आक्रमण होने की सम्भावना निरन्तर बनी रही। शाह द्वारा सूरजमल को खिराज की रकम जमा करवाने के लिए कहा गया था तथा उस पर दबाव डाला जा रहा था कि वह तुरन्त दिल्ली दरबार में अफगान सरदार की सहायतार्थ उपस्थित हो। सूरजमल को बार-बार धमकी दी जाती थी कि यदि वह खिराज के रूप में एक बड़ी धनराशि देने की व्यवस्था नहीं करता है तो अब्दाली उसके क्षेत्र पर आक्रमण करेगा। सूरजमल ने इस संकट-काल मे बड़े धैर्य, युक्ति व राजनीतिक सूझ-बूझ से काम किया और वह अपने राज्य को विदेशी आक्रमण से सुरक्षित रखने में सक्षम हुआ।

उसने अफगान सरदार के साथ टालमटोल की नीति का अनुसरण किया। एक तरफ उसने अफगान सरदार के साथ सन्धि करने के लिए अपने दूत भेजे और जाट क्षेत्र पर सैनिक कार्यवाही मे विलम्ब करवाने के अभिप्राय से अफगान मन्त्रियों को वह घूस के रूप में कुछ धन राशी भेजता रहा; दूसरी तरफ वह अपने किलों में युद्ध-सामग्री जुटाने में लगा रहा। वस्तुतः वह वक्त टालने की धुन में था।[54]

जब मराठा सेनानायक अन्ताजी माणकेश्वर ने सूरजमल से विदेशी आक्रमणकारी के विरुद्ध मराठों की सहायता करने का आग्रह किया, तब उसने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि वह अहमदशाह की अधीनता स्वीकार करने के पक्ष मे तो नहीं है परन्तु वह यह भी नहीं चाहता कि जाट मराठों की अपर्याप्त सेना का साथ दें और अफगान सेना से लोहा लें। यदि दक्षिण से मराठों की बड़ी सेना आती है तो वह शाह के विरुद्ध मराठो की मदद करेगा।[55]

मराठा सेना दक्षिण से समय पर नही पहुंची। फरवरी 1757 ई. में अब्दाली ने जाट-शासित क्षेत्र पर आक्रमण किया। दो दिनों के कड़े सघर्ष के बाद वल्लभगढ़ पर अब्दाली-सेना का अधिकार हो गया। सूरजमल का पुत्र जवाहरसिंह अपने कुछ साथियों के साथ किले से बाहर निकल गया। इसके बाद अब्दाली की सेना मथुरा पहुंची। जाटों ने मथुरा की रक्षा के लिए अद्भुत शौर्य व साहस का परिचय दिया था परन्तु वे इस धार्मिक नगरी की रक्षा करने मे असफल रहे। मथुरा पर शाह का अधिकार हो गया। हजारों हिन्दुओं को मौत के घाट उतार दिया गया। उनके खून से जमुना नदी का पानी लाल हो गया। दिल्ली से आगरा तक का सारा क्षेत्र क्षत-विक्षत कर दिया गया। भयकर लूट और नृशंस हत्याओं के कारण समस्त क्षेत्र आतंकित था। इस बीच प्रकृति ने अपना प्रकोप दिखाया। भीषण गर्मी के कारण सर्वत्र पानी की कमी का अनुभव होने लगा। कत्ले-आम के कारण लाशों के ढेर लग गये। उनकी सड़न के कारण सम्पूर्ण वातावरण दूषित हो गया था। अब्दाली के सैनिक शिविर में भयंकर रूप से हैजा फैल गया। प्रति दिन अब्दाली की सेना के सिपाही व घोड़े बड़ी संख्या में मरने लगे। सैनिको में घबराहट उत्पन्न हो गई।[56]

सूरजमल अभी भी अब्दाली के शिविर में जाने के लिए टालमटोल कर रहा था। इस बीच उसने डीग, कुम्हेर और भरतपुर की किलाबन्दी बड़ी सुदृढ़ता के साथ कर ली थी। महामारी के प्रकोप के कारण भयभीत होकर अब्दाली ने दिल्ली के मार्ग से अपने देश लौट जाने का निर्णय ले लिया था। अब्दाली ने सूरजमल के पास एक बार फिर अपना दूत भेजा और खिराज की रकम की वसूली के लिए दबाव डाला। सूरजमल ने सात लाख रुपये देने के लिए मात्र वादा किया। उसने कहलाया कि रकम का भुगतान अब्दाली के दिल्ली पहुंचने पर ही सम्भव हो सकेगा।[57] इस प्रकार वह अब्दाली को थपथपी देता रहा और सैनिक तैयारियां भी करता रहा।

अब्दाली का दिल्ली से अपने देश के लिए प्रस्थान कर जाने की जैसे ही सूरजमल को सूचना मिली, उसने शाह के दूतों को जो उसके पास खिराज की रकम वसूल करने हेतु ठहरे हुए थे, खाली हाथ दिल्ली लौटने के लिए बाध्य कर दिया। इस प्रकार दक्षिण से मराठा सेना पहुंचने तक प्रतीक्षा करने की सूरजमल की नीति सफल रही।

अब्दाली के आक्रमण के कारण एक बात स्पष्ट हो गई कि जाट राजा सूरजमल विदेशी आक्रमणकारी के विरुद्ध किये जाने वाले युद्ध में अपने देशी शत्रु मराठों को सहयोग देने के पक्ष में था। साथ ही मराठों ने भी सूरजमल की सैनिक शक्ति व उसकी राजनीतिक सूझ-बूझ की सराहना की। स्वयं पेशवा ने अपने सरदारों को हिदायत प्रसारित कर दी थी कि वे जाट राजा सूरजमल से शत्रुता मोल न लें। ऐसी परिस्थिति में जाट-मराठा समझौता होना सम्भव हो गया था।

जब मराठे 1757–59 ई. में रघुनाथ दादा और दत्ताजी सिन्धिया के नेतृत्व में उत्तर भारत में आये, तब सूरजमल ने शान्त रहने में ही बुद्धिमत्ता समझी। अब्दाली के लौटने के शीघ्र बाद सूरजमल ने अपने प्रदेश पर पुनः अधिकार कर लिया। मराठों के कार्यों में भी उसने कोई रुकावट उत्पन्न नहीं की। मराठों के दबाव में आकर उसने मराठों की सहायता के लिए कुछ हजार सैनिक भेजे थे।[58]

अब्दाली के चले जाने के बाद गाजीउद्दीन इमाद-उल्-मुल्क ने मराठों के सहयोग से अपने प्रतिद्वन्द्वी नजीबउद्दौला को हटाकर पुनः वजीर का पद प्राप्त कर लिया था। मराठों ने अब्दाली के सभी प्रशासकों को मार भगाया और पंजाब तक फिर से मराठों का प्रभुत्व स्थापित कर दिया।

मुगल सम्राट् आलमगीर द्वितीय इमाद के उद्दण्ड व निरंकुश व्यवहार से दुःखी था। उसने अहमदशाह अब्दाली को गुप्त पत्र भेजे जिनमें आग्रह किया गया था कि वह इमाद के चंगुल से उसे मुक्त कराये और उसके स्थान पर नजीब को वजीर के पद पर आसीन करे। अहमदशाह ने एक बार फिर भारत के विरुद्ध सैनिक अभियान किया। उसने सरहिन्द तक समस्त पंजाब क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। मराठों को वहां से मार भगाया। अब्दाली के इस आक्रमण की खबर सुन कर इमाद ने 19 नवम्बर, 1759 ई को सम्राट् आलमगीर द्वितीय की हत्या करवा दी। उसने कामबख्श के पौत्र मुहि-उल्-मिल्लत को शाहजहां द्वितीय के नाम से मुगल सम्राट् घोषित कर दिया।[59] सम्राट् की हत्या से अब्दाली बड़ा क्रुद्ध हुआ। वह शीघ्रता से दिल्ली की ओर अग्रसर हुआ। वह विद्रोहियों को दण्ड देना चाहता था।

मराठा सेनानायक दत्ताजी सिन्धिया अब्दाली की प्रगति को रोकने के लिए प्रयत्नशील था। परन्तु जनवरी 1760 ई. में रुहेलों के साथ बरारी घाट के स्थान

पर लड़े गये युद्ध में वह मारा गया। मराठों के विनाश का समाचार सुन कर इमाद दिल्ली से भरतपुर चला गया जहां जाट राजा सूरजमल ने उसे बड़े सम्मान के साथ संरक्षण प्रदान किया।[60] मराठा सरदारों ने भी अपने बाल-बच्चों को जाट राजा के संरक्षण में भेज दिये थे।

अब्दाली बेरोकटोक सम्राट् हीन और मन्त्रीहीन राजधानी के निकट पहुंच गया। दिल्ली का प्रशासन अस्थायी तौर पर याकूबखान को सुपुर्द कर 14 जनवरी, 1760 ई. को वह खिस्रावाद पहुंच गया। वहां से उसने सूरजमल और राजपूताने के राजाओं को पत्र लिखे कि वे खिराज दें और उसकी सेवा मे उपस्थित हो।[61] सूरजमल ने स्पष्ट परन्तु राजनीतिक उत्तर भेजा—"आप पहले मराठों को दिल्ली से निकाल कर हमको पूर्ण विश्वास दिलावें कि वहां पर आपका पूर्ण अधिकार हो गया है, तब मैं इस सम्बन्ध में आवश्यकता पड़ने पर रकम का भुगतान करूंगा।"[62] इस उत्तर से खिन्न होकर अब्दाली ने शेरगढ़ के रास्ते डीग पहुंच कर किले पर आक्रमण कर दिया। उसने यह आक्रमण पूरी तत्परता से नही किया था। अभी भी उसे आशा थी कि वह सूरजमल को मराठों से विमुख कर अपना सहयोगी बना लेगा। डीग का घेरा उठाकर वह होल्कर पर आक्रमण करने के उद्देश्य से मेवात व रेवाड़ी की तरफ पलायन कर गया। 4 मार्च को होल्कर अफगानों से बुरी तरह पराजित हुआ। वह भाग कर आगरा पहुंचा। 25 मार्च को अब्दाली की सेना ने जाटों के सुदृढ़ किले रामगढ़ (अलीगढ़) का घेरा डाला। जाट शासक दुर्जनसाल ने कुछ दिनों के संघर्ष के पश्चात् 9 अप्रेल, 1760 ई. को आत्मसमर्पण कर दिया।[63] रामगढ़ पर अधिकार कर लेने के पश्चात् अब्दाली ने सूरजमल से दो करोड़ रुपये मांगे और डीग के किले पर आक्रमण करने की धमकी भी दी। सूरजमल ने पुनः टालमटोल की नीति का ही अनुसरण किया। उसने अपना दूत अब्दाली से बातचीत करने के लिए भेजा। 45 लाख रुपये खिराज देना तय हुआ। वस्तुतः अब्दाली को कुछ भी देने को सूरजमल तैयार नहीं था।[64] उधर होल्कर जाट राजा पर अब्दाली के विरुद्ध संघर्ष में उसका साथ देने के लिए दबाव डाल रहा था। सूरजमल होल्कर की कमजोर स्थिति से भली प्रकार परिचित था। अतः दक्षिण से मराठा सेना के आने के पूर्व वह मराठों को सहयोग देने की खुली घोषणा करना नीति-संगत नही समझता था। इस प्रकार वह समय व्यतीत करने की नीति का पालन कर रहा था।

सूरजमल की स्थिति बड़ी सुदृढ़ थी। अफगान सरदार व मराठा दोनों ही उसकी सहायता को लालायित थे। एक बार फिर अब्दाली ने सूरजमल और इमाद का समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से नये शान्ति-प्रस्तावों के साथ हाफिज रहमत को दूत बनाकर भेजा। 21 मई को सूरजमल, इमाद और हाफिज रहमत के बीच मथुरा में वार्तालाप आरम्भ हुआ। सूरजमल ने विदेशी शत्रु मुकाबले देशी शत्रु

का पक्ष ग्रहण करना उचित समझा। उसने इमाद को मराठों की सहायता से वजीर के पद को दिलाने का वादा किया। अतः उसे अब्दाली के खेमे में जाने से रोका। 8 जून को सूरजमल को दक्षिण से सदाशिवराव भाऊ के नेतृत्व में मराठा सेना के धौलपुर के निकट पहुंचने की सूचना मिली। उसने तुरन्त अब्दाली के दूत को लौटा दिया।[65]

धौलपुर पहुंचने पर भाऊ ने होलकर को एक पत्र देकर सूरजमल को लाने के लिए भेजा। होलकर और सिन्धिया द्वारा पूर्ण आश्वासन दिये जाने के बाद सूरजमल ने भाऊ से 30 जून को मुलाकात की। भाऊ ने जाट राजा सूरजमल का बड़ा स्वागत किया। सूरजमल अपने 8000 जाट सिपाहियों सहित भाऊ की सेना में सम्मिलित हो गया। इमाद भी उसके साथ था। वे अब आगरा पहुंचे और फिर मथुरा के मार्ग से दिल्ली पहुंच गये। इमाद की मदद से दिल्ली पर मराठों का अधिकार हो गया (3 अगस्त, 1760 ई.)।[66]

होलकर और सिंधिया द्वारा दिये गये आश्वासन पर सूरजमल ने मराठों को सहायता देना स्वीकार कर लिया था, परन्तु भाऊ की अदूरदर्शिता, अविश्वास और उसके दम्भी व हठी स्वभाव के कारण जाट राजा और भाऊ के बीच मतभेद प्रारम्भ से ही उत्पन्न होने लगे थे। भाऊ सूरजमल को एक सामान्य जमींदार समझता था और होलकर के साथ उसकी मित्रता को सन्देह तथा ईर्ष्या की दृष्टि से देखता था। रणनीति के मामले मे दोनों के मत भिन्न थे। सूरजमल ने भाऊ को गुरिल्ला युद्ध करने की सलाह दी थी जबकि भाऊ खुले मैदान मे युद्ध करने के पक्ष में था। दिल्ली पर मराठों का आधिपत्य स्थापित हो जाने पर भाऊ ने किले को अपने नियन्त्रण में ले लिया। वहां जाटों का बन्दोबस्त था। उन्हें हटा कर उसने अपने आदमी नियुक्त कर दिये। इमाद और सूरजमल ने भाऊ को किले का प्रबन्ध उन्हें सुपुर्द करने के लिए कहा परन्तु उसने ऐसा नहीं किया और उनके सम्बन्ध में कुछ गलत व अनर्गल शब्दों का प्रयोग भी किया जिससे इन दोनों सहयोगियों को भारी ठेस पहुंची। भाऊ ने सूरजमल के मना करने पर भी दीवाने आम की चांदी की छत तुड़वा दी और उसे गलवा कर 9-10 लाख रुपये प्राप्त कर लिये। जाट सरदार इससे बड़ा खिन्न हुआ। भाऊ ने इमाद को वजीर के पद पर नियुक्त नहीं किया। सूरजमल इमाद को वजीर-पद दिलाने के लिए वचनबद्ध था। ऐसे अनेक कारण थे जिससे जाट राजा ने रुष्ट होकर मराठा पक्ष का परित्याग कर दिया और वह अपनी राजधानी भरतपुर आ गया।[67]

सूरजमल का दिल्ली छोड़ कर चला जाना मराठा शक्ति के लिए बड़ा आघात था। भाऊ का उसके प्रति दुराग्रह तथा अपमानजनक व्यवहार नीतिसंगत नहीं कहा जा सकता। कीने इसका विश्लेषण करते हुए लिखता है, "सूरजमल ने 1760 ई. में मुस्लिम गठबन्धन का प्रतिरोध करने हेतु मराठों का पक्ष लिया था। अगर

उसकी विवेक-संगत सलाह का सम्मान किया जाता तो यह प्रतिरोध अधिक कारगर होता और हिन्दुस्थान का इतिहास ही कुछ भिन्न होता; किन्तु हिन्दुओं का दम्भी नेता भाऊ सूरजमल को एक तुच्छ जमींदार समझता था। वह व्यापक दृष्टिकोण अपनाने का अभ्यस्त नहीं था और इसीलिए वह अपने दुर्भाग्य की ओर ही बढ़ता रहा।"[68]

मराठा पक्ष का परित्याग करने पर भी सूरजमल की सहानुभूति मराठों के प्रति बनी रहीं। उसने मराठों के हितों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की। अब्दाली द्वारा किये गये आग्रह पर भी वह उसके पक्ष में नहीं गया। मराठा सैनिकों ने जब वेतन के लिए उपद्रव किया तब सूरजमल ने एक बड़ी धन-राशि गोविन्द पन्त के हाथ भाऊ के पास भेजी थी।[69] पानीपत की पराजय के बाद मराठों को जाट राजा ने अपने राज्य में शरण दी थी। भागते हुए मराठा सैनिकों को यथासम्भव सहायता दी गई थी। मराठा स्त्रियों के प्रति जाट रानी किशोरी ने बड़ी उदारता का व्यवहार किया। सदाशिवराव भाऊ की पत्नी को डीग पहुंचने पर सब प्रकार की सुविधा व सान्त्वना दी गई थी। उसे अपने रक्षकों के साथ दक्षिण में पहुंचाने की व्यवस्था की गई। बाजीराव के भाई शमशेर बहादुर के घावों का उपचार करवाया गया और उसकी मृत्यु हो जाने पर उसकी स्मृति में डीग में एक छतरी का निर्माण करवाया गया था।[70]

सूरजमल की मराठों के प्रति अपनाई गई उदार नीति को अब्दाली ने अपने प्रति शत्रुता का व्यवहार समझा। दिल्ली की व्यवस्था करने के बाद उसने सूरजमल को उपस्थित होकर पेशकश देने के लिए धमकी भरा पत्र भेजा। जाट राजा ने समय व्यतीत करने की दृष्टि से अपने वकील मजलिसराय को अब्दाली के पास सन्धि-वार्ता के लिए भेजा। सम्राट् शाहआलम की माता जीनत महल ने, जो सूरजमल से नाराज थी, अब्दाली को कहा कि सूरजमल को जब तक बलपूर्वक विवश नही किया जाता, तब तक उससे एक कौड़ी भी प्राप्त करने की आशा करना व्यर्थ होगा। इस सलाह से सहमति प्रकट करते हुए अब्दाली ने जाट राजा के विरुद्ध सैनिक अभियान प्रारम्भ किया; परन्तु जैसे ही उसकी सेना मथुरा के निकट पहुंची, अफगान सैनिकों ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। उन्होंने स्वदेश लौट चलने की तीव्र इच्छा प्रकट की। उन्हें अपने देश को छोड़े 16 महीने हो गये थे। अब्दाली के इस भारत-विरोधी अभियान में सैनिकों को दिल्ली व अन्य स्थानों पर लूट से कोई विशेष प्राप्ति नहीं हुई थी। इसके अतिरिक्त वे जाटों के शक्तिशाली दुर्गों की ख्याति से अवगत थे। उनमे एकत्र रसद भण्डार एवं उनकी शत्रुओं के विरुद्ध सैन्य प्रतिरोध की क्षमता की चर्चा सर्वत्र की जाती थी। फलतः वे जाटों के विरुद्ध संघर्ष करने के पक्ष मे नहीं थे। उनके दबाव के कारण अब्दाली को विवश होकर अफगानिस्तान लौटने का तुरन्त निर्णय लेना पड़ा। 13 मार्च से सेना लौटने लगी और 20 मार्च, 1761 ई. को अफगान सेना दिल्ली से बाहर निकल अपने देश की ओर चल पड़ी।[71]

सूरजमल ने इन चार वर्षों के घोर संकट काल में धैर्य, कूटनीति, साहस और सूझबूझ से कार्य कर अपने राज्य को सुरक्षित रखा। इसमें उसके मन्त्री रूपराम कटारा का भी बड़ा योगदान रहा। मराठा-अफगान संघर्ष में तटस्थता का रुख अपना कर जाट राजा पानीपत के विनाश से जाट सेना को सुरक्षित रखने में सफल रहा जिसके फलस्वरूप इस युद्ध के बाद, जबकि अन्य सभी शक्तियों का ह्रास हुआ, जाट-शक्ति में आशातीत वृद्धि हुई। उत्तरी भारत में अब जाट सेना सर्वश्रेष्ठ मानी जाने लगी थी। जाट राजा का राजकोष भी भरपूर था। अन्य नरेश न्यूनाधिक क्षतिग्रस्त हो चुके थे।

अहमदशाह अब्दाली के लौट जाने पर सूरजमल को अपने राज्य-विस्तार व अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति करने का अच्छा अवसर मिल गया। इस समय मुगल साम्राज्य का सर्वाधिक सम्पन्न नगर आगरा था। आगरा दुर्ग अफगान सैनिकों की लूट का शिकार नहीं बना था। मराठों के आघातों से भी वह सुरक्षित रहा था। यहां का किलेदार सीधा सम्राट् के ही अधीन था। सूरजमल ने सर्वप्रथम आगरा पर अधिकार करना चाहा। उसने आगरा पर कब्जा करने के लिए एक विशाल सेना भेजी। आगरा के किलेदार ने मात्र 400 सिपाहियों के साथ प्रबल प्रतिरोध किया। कुछ दिनों बाद सूरजमल स्वयं आगरा पहुंचा। उसने दुर्ग-रक्षकों के परिवार के लोगों को, जो आगरा नगर में रह रहे थे, कैद कर लिया। अन्त में एक लाख रुपये की घूस और पांच गांवों का वचन मिलने पर किलेदार ने दरवाजा खोल दिया। इस प्रकार एक महीने के घेरे के बाद 12 जून, 1761 ई. को आगरा के किले पर सूरजमल जाट का अधिकार हो गया। यहां से सूरजमल को 50 लाख रुपये की सम्पत्ति प्राप्त हुई और तोपें, गोला-बारूद आदि भी विपुल मात्रा में हाथ लगे जिन्हें जाट राजा ने भरतपुर और डीग के दुर्गों में भेज दिए।[72] इस प्रकार मुगलों की द्वितीय राजधानी आगरा पर जाट राजा सूरजमल का आधिपत्य स्थापित हो गया।

राज्य विस्तार की योजना के अन्तर्गत जाट सेना ने शीघ्र ही दोआब में अलीगढ़ (कोईल), जलेसर और बुलन्दशहर के कई परगनों पर अधिकार कर लिया। ये पहले मराठों के परगने थे जिन पर अब्दाली ने (मार्च 1760 ई.) अधिकार कर लिया था। इसके बाद आगरा जिले में भदौरिया राजपूतों को और माडू के ताल्लुकेदार पोराच राजपूत सरदार को भी नतमस्तक किया। मुरसान के स्वतन्त्र जाट जमींदार पुहुपसिंह को भी नहीं छोड़ा, जो अब तक उसका समर्थक रहा था। जाट सेनाएं मेवात पर विजय-पताका फहराती हुई वर्तमान हरियाणा प्रदेश में प्रवेश कर गईं। वहां रेवाड़ी तथा झम-झर पर अधिकार करती हुई जाट सेनाएं दिल्ली से 20 मील दूर सराय बसन्त तक पहुंच गईं।[73]

सूरजमल की इन विस्तारवादी हलचलों से भयभीत होकर नजीब ने जाट राजा से समझौता करना चाहा। वार्ता आरम्भ हुई। नजीब के दूत

7 अक्टूबर, 1761 ई. को सूरजमल से दनकौर मे मिले। पांच दिनों तक वार्ता चलती रही। परिणामस्वरूप यह तय किया गया कि सूरजमल ने जो इलाका हाल ही में जीत लिया है, वह उसी के अधीन रहेगा। सूरजमल ने मुग़ल सम्राट् को वार्षिक कर देने का आश्वासन दिया। इसके बाद भी दूतों का आदान-प्रदान होता रहा। अन्त में सूरजमल नजीब से भेंट-वार्ता के लिए सहमत हुआ।[74]

इसी बीच अब्दाली का दूत दिल्ली पहुंचा और उसने अन्य विषयों के अतिरिक्त जाट राजा से कर वसूली के प्रश्न पर भी विचार-विमर्श किया। उसने यह भी प्रकट किया कि दुर्रानी की एक सेना शीघ्र ही भारत मे आने वाली है और शाह भी उसके पीछे आ रहा है। यदि जाट राजा वार्षिक कर का भुगतान नही करता है तो अब्दाली जाटों को दण्डित करने स्वयं पुनः आयेगा। इस मामले को लेकर नजीब और सूरजमल के बीच दनकौर घाट पर मुलाकात हुई। परन्तु मैत्री-समझौते के अतिरिक्त इस भेंटवार्ता में किसी राजनीतिक मामले पर कोई स्थायी निर्णय नही हुआ। अब्दाली को भेजे जाने वाले खिराज में जाटों के हिस्से सम्बन्धी मसले पर सूरजमल ने स्पष्ट रूप से अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत नहीं किया।[75]

सन् 1762 ई. में अब्दाली पंजाब में ठहरा रहा। इस कारण से सूरजमल भी शान्त बैठा रहा। परन्तु जैसे ही अब्दाली अपने देश को लौटा, 1763 ई. में सूरजमल पुनः सक्रिय हो गया। मेवात में जाट राजा अपने राज्य की सुरक्षा के लिए चौकसी रखना चाहता था। यहां डाकुओं का बड़ा आतंक था। इन डाकुओं को नजीब का सफाया करने हेतु अभियान शुरू किया, तब उसका नजीब के साथ युद्ध होना स्वाभाविक ही था। सूरजमल के पुत्र जवाहरसिंह ने फर्रुखनगर के शासक मुसावीखां के विरुद्ध सैनिक अभियान शुरू किया। वह बलूची डाकुओं को अपने यहां शरण दिया करता था। जवाहरसिंह ने फर्रुखनगर पर चढ़ाई कर दी। रास्ते में सब गांवों को लूटता हुआ वह किले के निकट पहुंच गया और उसने इसका घेरा डाल दिया। प्रारम्भ में उसे सफलता नही मिली परन्तु बाद में सूरजमल भी अपने पुत्र की सहायतार्थ वहां पहुंच गया। तोपों की मार के सामने बलूची सरदार अधिक समय तक टिक नहीं सके। उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया। 12 दिसम्बर, 1763 ई. को फर्रुखनगर के किले पर जाटों का अधिकार हो गया। बलूची सरदार मुसावीखां को कैद कर भरतपुर किले में डाल दिया गया। जाटों द्वारा किये गये इस सैनिक अभियान के समय नजीब रुग्ण अवस्था में नजीबाबाद में निवास कर रहा था। जैसे ही उसे इसकी सूचना मिली, वह जाटों से युद्ध करने के उद्देश्य से वहां से रवाना हुआ; परन्तु उसके दिल्ली पहुंचने के पहले ही फर्रुखनगर का पतन हो चुका था। नजीब ने सूरजमल से मेल करने व अपने सहयोगी बलूची सरदार मुसावीखां को मुक्त करवाने के भरसक प्रयत्न किये परन्तु वह सफल नही हुआ। जाट राजा ने नजीब से युद्ध करने का पक्का निश्चय कर रखा था। वह अपने रास्ते के कांटे को उखाड़ फेंकने को आतुर था। अतः दोनो तरफ युद्ध की तैयारियां होने लगी।[76]

सूरजमल ने, फर्रुखनगर की रक्षार्थ कुछ सैनिक वहां छोड़ कर, एक विशाल सेना के साथ दोआब की तरफ कूच किया। हिंडौन नदी (यमुना की सहायक) के पश्चिमी तट पर उसने डेरा लगा दिया और आसपास के क्षेत्र को लूटना चालू कर दिया। नजीब भी अपनी सेना के साथ हिंडौन नदी के पास पहुंचा। दोनों सेनाओं के बीच गोलाबारी आरम्भ हो गई। दोनों तरफ के अनेक सिपाही हताहत हुए। सूरजमल स्वयं नदी के एक नाले को पार करते समय अफगान लोगों की घात में आ गया। रूहेले बन्दूकचियों ने, जो झाड़ियों में छिपे बैठे थे, गोलियों की बौछार से जाट राजा सूरजमल और उसके कतिपय साथियों को मार डाला। रूहेले जब झाड़ियों से बाहर आये, तो उन्होंने सूरजमल को पहिचान लिया। उसका सिर धड़ से पृथक् कर दिया गया। जब जाट सैनिकों को सूरजमल की मृत्यु का समाचार मिला, तब वे रात्रि को रणक्षेत्र से भाग निकले।[77]

इस प्रकार सूरजमल लगभग पचपन वर्ष की आयु में 25 दिसम्बर, 1763 ई. को, जब वह शक्ति व गौरव के सर्वोच्च शिखर पर था, काल का ग्रास बन गया। सूरजमल का शरीर मोटा व गठीला था। उसके चेहरे से तेज टपकता था। उसने 20 वर्ष तक जाट राज्य का उपभोग किया। पहले बदनसिंह के प्रतिनिधि के रूप में और फिर स्वतन्त्र शासक के रूप में। उसके पांच पुत्र थे। नाहरसिंह, जिसे वह अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था, जाट पत्नी से उत्पन्न हुआ था। जवाहरसिंह और रत्नसिंह गोरी जाति की स्त्री से पैदा हुए थे। नवलसिंह और रणजीतसिंह दो और पुत्र थे। उसकी पटरानी हांसिया निःसन्तान थी। परन्तु उसने जवाहरसिंह को गोद ले लिया था।

सूरजमल व्यवहार में बड़ा मृदुल और शिष्ट था। वह बुद्धिमान, कूटनीतिज्ञ, शूरवीर, शिष्ट और सभ्य था। यद्यपि इमाद उसका कट्टर शत्रु रह चुका था, फिर भी जब वह उसके शरण में आया, तो उसने उसे सम्मानपूर्वक अपने यहां रखा और उसे वजीर बनाने के लिए वह सदैव प्रयत्नशील रहा। लोग उसके सद्व्यवहार की प्रशंसा करते थे परन्तु साथ ही उससे डरते भी थे। उसने जाट जमींदारों को, जिन्होंने मात्र लूट के मामले में ख्याति अर्जित की थी, संगठित कर एक सुव्यवस्थित और सुसंगठित राज्य की स्थापना की जिसकी कीर्ति चौफेर फैल चुकी थी। उसका राज्य धन-धान्य से सम्पन्न था। उसकी शक्ति का समकालीन सभी शासक लोहा मानते थे। सूरजमल की मृत्यु के समय भरतपुर के जाट राज्य में आगरा, धौलपुर, अलवर, मैनपुरी, हाथरस, अलीगढ़, एटा, मेरठ, रोहतक, फर्रुखनगर, मेवात, रेवाड़ी, गुड़गांव और मथुरा के जिले सम्मिलित थे। पूर्व में गंगा नदी और दक्षिण में चम्बल नदी तक उसके राज्य की सीमा थी। उत्तरी सीमा दिल्ली के निकट बल्लभगढ़ तक थी। पूर्व से पश्चिम में जाट राज्य का फैलाव दो सौ मील तथा उत्तर से दक्षिण तक एक सौ चालीस मील था।[78] उसने अपने सात वर्ष के शासन में पूर्वजों

के कोष में छः करोड़ रुपये और जोड़ दिये थे। सूरजमल ने विशाल कोष के अतिरिक्त अपने उत्तराधिकारी के लिए लगभग 5000 घोड़े, 60 हाथी, 15000 सवार, 25000 पैदल (दुर्ग सेना के अतिरिक्त), 300 तोपें और काफी लड़ाई का सामान छोड़ा था। उसके शासन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि कृषि का कार्य भी सुचारु रूप से संचालित था। उसकी सेना में विदेशी सैनिक नहीं थे। उसने अपने जाट भाइयों के बलबूते पर ही राज्य-सीमा का विस्तार किया था। वे शान्ति के समय खेती करते और युद्ध में सैनिक का कार्य करते थे। वे जितने अच्छे योद्धा थे, उतने ही कुशल व परिश्रमी किसान भी।[79]

सूरजमल यद्यपि स्वयं बहुत शिक्षित नही था, फिर भी उसे शिक्षा व साहित्य के प्रति असीम अनुराग था। स्थापत्य कला में भी उसकी बड़ी रुचि थी। उसके काल में साहित्य व स्थापत्य की प्रगति का विवरण अन्तिम अध्याय में यथास्थान पर किया जायेगा।

अन्त में हम यह ही कहेंगे कि सूरजमल न केवल एक उच्च कोटि का नीतिज्ञ, वीर और कुशल प्रवन्धक ही था, बल्कि वह विद्वानों का आश्रयदाता, कला और संस्कृति का पोषक, धर्मनिष्ठ, शरणागतों का रक्षक और सहिष्णु था। उसमे मानवीय सभी गुण विद्यमान थे। वह वस्तुतः भरतपुर में जाट-राज्य का संस्थापक था।

सूरजमल की अकस्मात् मृत्यु हो जाने पर उसकी फौज हिंडन से जल्दी-जल्दी कूच करती हुई डीग पहुंची। जाट जाति के मुख्य उत्तराधिकार के प्रश्न को हल करने के लिए एकत्र हुए। सूरजमल नाहरसिंह को उत्तराधिकारी घोषित करना चाहता था। उसके आधार पर नाहरसिंह ने जाट राजगद्दी प्राप्त करने के लिए अपना दावा प्रस्तुत किया। दरवारी लोग जवाहरसिंह को पसन्द नही करते थे क्योंकि उसमें आत्मसंयम का अभाव था। उसने अपने अभद्र व्यवहार से उन्हे रुष्ट कर रखा था। अतः दरवारी भी नाहरसिंह के पक्ष मे थे, परन्तु उस समय स्वर्गीय सूरजमल की मृत्यु का बदला लेने का प्रमुख प्रश्न था। जवाहरसिंह ने सन्देश भेजा जिसमें जाट सरदारो को अपने स्वामी को छोड़ने के लिए धिक्कारा और उनको इस बात के लिए भर्त्सना की कि वे उसके पिता के घातक नजीब को पहले दडित न कर उत्तराधिकारी की नियुक्ति मे अपना समय व्यतीत कर रहे हैं। उसने कहलाया कि वह अकेला ही अपनी सीमित शक्ति से पहले पिता के हत्यारे को दडित करने जायेगा। इसके बाद ही वह विचार करेगा कि जाट गद्दी का यथार्थ में कौन अधिकारी है। ऐसे दिलेर की उस समय आवश्यकता थी। नाहरसिंह स्वभावतः भीरू और कायर था। उसमें जवाहरसिंह के समान साहस और उत्साह नहीं था। नाहरसिंह के पक्ष वाले हतोत्साहित हो गये। जवाहरसिंह के प्रति लोगों का झुकाव बढ़ने लगा। नाहरसिंह को अब जाट सिंहासन मिलने की आशा धुंधली प्रतीत होने

लगी। अतः वह डीग से भाग कर कुम्हेर चला गया और वहां से अपनी सम्पत्ति एकत्र कर परिवार के सदस्यों तथा अपने कतिपय सहयोगियों के साथ धौलपुर की तरफ पलायन कर गया। ऐसी परिस्थिति में सूरजमल के साले व प्रधान मन्त्री बलराम ने जवाहरसिंह को सूरजमल का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। जवाहरसिंह फर्रुखनगर से डीग पहुंच गया और उसने शासन का कार्यभार सम्भाल लिया।[80]

यद्यपि जवाहरसिंह जाट राजगद्दी पर आरूढ़ हो चुका था तथापि परिस्थितियां उसके अनुकूल नही थी। राज्य के कई उच्च पदाधिकारियो ने राजकीय आय-व्यय का हिसाब देने और शेष द्रव्य को लौटाने से इन्कार कर दिया। जवाहरसिंह को अभी सत्ता प्राप्त ही हुई थी, इसलिए वह उनके विरुद्ध कठोर कार्यवाही करने की स्थिति मे नही था। नाहरसिंह के पक्षपाती जाट-सामन्त शासन के प्रति उदासीन होकर अपनी-अपनी जागीरों मे चले गये थे। नाहरसिंह स्वयं धौलपुर मे बैठा अपने भाई को सिंहासन-च्युत करने के लिए षड्यन्त्र रचने में संलग्न था। प्रधानमन्त्री बलराम ने भरतपुर के गढ के द्वार बन्द कर दिये। जवाहरसिंह उसमें प्रवेश नही ले सका, और न वहां का खजाना ही उसके हाथ लगा। वैर के शासक बहादुरसिंह (चचेरा भाई) ने जवाहर को अपना राजा स्वीकार नही किया। वह एक स्वतन्त्र शासक बनने के लिए प्रयत्नशील था। जवाहरसिंह ने जब नजीब के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने का जाट सामन्तों के समक्ष प्रस्ताव रखा, तब उन्होंने इसका अनुमोदन नहीं किया और न उसे उनसे धन ही प्राप्त हुआ। नजीब के विरुद्ध युद्ध करना जवाहर के लिए व्यक्तिगत प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया था। उसने राजमाता किशोरी (हांसिया) से, जिसका वह दत्तक पुत्र था, धन की मांग की। उसने युद्ध-संचालन के लिए एक बड़ी धनराशि की व्यवस्था कर दी। इससे उत्साहित होकर उसने अपने पुराने सेनानायकों को कह दिया कि यदि वे उसका साथ नहीं देते हैं तो वह रुपया देकर विदेशी सैनिकों की सहायता लेगा। अतः उन लोगों को अनिच्छुक होते हुए भी उसका साथ देने के लिए बाध्य होना पड़ा।[81]

जवाहरसिंह ने नजीब के विरुद्ध युद्ध करने की व्यापक तैयारियां कीं। सर्वप्रथम उसने सेना के चढे वेतन का भुगतान कर दिया जिससे उसके सैनिक सन्तुष्ट हो गये। तत्पश्चात् उसने अपने विश्वसनीय राजदूत रूपराम कोठारी के माध्यम से मल्हारराव होल्कर से एक समझौता किया जिसके अनुसार 22 लाख रुपये देने पर वह 20,000 सैनिकों सहित जवाहरसिंह की मदद करने का वचन दिया। जब नजीब को इस सैनिक तैयारी का पता चला तो उसने जाट राजा को युद्ध न करने का सन्देश भेजा। उसने जवाहरसिंह को कहलाया कि 'जो कुछ आपके पिता के भाग्य मे लिखा था, वह हो गया। यदि मेरे साथ लड़ कर आप उन्हें जीवित कर सकते हों तो लड़ें। मैंने आपके राज्य का कोई हिस्सा नहीं दबाया है। फिर आप व्यर्थ ही

मुझसे लड़ाई क्यों मोल लेते हैं ? हार-जीत तो भगवान के हाथ मे है; किन्तु जवाहर के लिए अपने पिता के हत्यारे को दण्ड देना आत्मसम्मान का प्रश्न बन गया था। अतः युद्ध प्रारम्भ हो गया।[82]

सूरजमल के मारे जाने के बाद रुहेलों ने मध्य दोआब में स्थित जाटों के चार थानों पर अधिकार कर लिया था। जवाहर ने उन पर फिर से जाटों का आधिपत्य स्थापित कर दिया और बल्लभगढ़ के दुर्ग को मुख्य सैनिक अड्डा बना कर दिल्ली पर आक्रमण करने हेतु कूच किया। आवश्यक धन देकर जवाहर ने 15 हजार सिक्ख सेना को भी आमन्त्रित किया। मल्हारराव के नेतृत्व मे मराठा फौज भी दिल्ली के निकट पहुंच गई। पहली लड़ाई 15 नवम्बर, 1764 ई. को हुई जिसमें यद्यपि दोनों पक्षों के एक-एक हजार आदमी मारे गये, परन्तु विजय जाटों के हाथ लगी। अफगान सेना भाग कर दिल्ली नगर में चली गई। जवाहर और होल्कर की सेनाओं ने जमुना को पार कर शाहदरा को लूटा और रुहेलों की खाइयों के सामने अपना डेरा डाल दिया। जवाहरसिंह दिल्ली पर अधिकार नहीं कर सका क्योंकि उसके सहयोगी मल्हार ने उसे उस समय पर मदद नहीं की। वस्तुतः मल्हार नहीं चाहता था कि नजीब पराजित हो और दिल्ली पर जवाहर का अधिकार हो जाये। होल्कर तो जाटों से अधिकाधिक धन प्राप्त करने व उनकी शक्ति को कम करने के पक्ष में था ही। लगभग तीन महीनों तक छुट-पुट लड़ाइयां चलती रही।

जनवरी 1765 ई. के आरम्भ में 12–15 हजार सिक्ख सेना जाटों के के सहयोग के लिए दिल्ली के निकट आ पहुंची। जाट राजा उनसे मिला और उनकी उचित-अनुचित सभी मांगों को जवाहर ने स्वीकार कर लिया। फिर जाट-सिक्ख सैनिकों ने मिलकर 25 जनवरी, 1765 ई. को सब्जीमण्डी के निकट एक पहाड़ी पर नजीब की सेना से एक घमासान लड़ाई लड़ी। दोनों पक्षों को भारी क्षति उठानी पड़ी परन्तु इस युद्ध का भी परिणाम पहले की भांति अनिर्णीत ही रहा।

कुछ समय बाद लगभग दस सहस्र नागा संन्यासी इलाहाबाद की तरफ से यहां आये। जवाहर ने उन्हें वेतन देकर अपनी सेना मे सम्मिलित कर लिया। उन्होंने दिल्ली के दक्षिण में बाहर के मोहल्लों मे नजीब की सेना से युद्ध किया परन्तु पराजित होकर उनको पीछे हटना पड़ा।[83]

इमाद-उल्-मुल्क भी, जो जाटों के संरक्षण में था, दो रंगीचाल चल रहा था। मल्हार और इमाद दोनों मिल कर नजीब के साथ पत्र-व्यवहार कर रहे थे। सैयद नूरुद्दीन हुसैन ने नजीबुद्दौला की जीवनी में इस सम्बन्ध मे विस्तृत जानकारी दी है।[84] सूरजमल के पुराने सैनिक अधिकारी भी चुपके-चुपके इन विश्वासघाती सहयोगियों से सांठ-गांठ कर रहे थे और वे चाहते थे कि जवाहर विजयी न हो। नजीब के सैनिक अन्नाभाव के कारण बड़ी दयनीय स्थिति मे थे। यदि यह घेरा

कुछ समय तक और चलता रहता तो जाट राजा की विजय सुनिश्चित थी; परन्तु जाट खेमे में आपसी मतभेदों के कारण ऐसा सम्भव नहीं हो सका। मल्हार, इमाद, सिक्ख और नागाओं पर जवाहर का विश्वास नहीं रहा। जब उसके स्वयं के सेनापति उसका विरोध करने लगे और उनमें शिथिलता के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे, तब तो जवाहर का साहस टूट गया। 4 फरवरी, 1765 ई. को सन्धि-वार्ता आरम्भ हुई और जल्दी ही सन्धि हो गई। 9 फरवरी को मल्हार और जवाहरसिंह से नजीब मिला। उनमें मेल हो गया। इसी प्रकार इमाद और नजीब मे मित्रता हो गई। 16 फरवरी, 1765 ई. को जवाहरसिंह कोई एक करोड़ साठ लाख रुपये बरबाद करने के बाद अपने राज्य की तरफ पलायन कर गया। अपने सहयोगियों के विश्वासघात के कारण उसे सफलता नहीं मिली। जिस दिन सिक्खों को मालूम हुआ कि अब्दाली लाहौर के निकट पहुंच गया है, वे जवाहर से बिना स्वीकृति लिए तुरन्त उधर की ओर कूच कर गये।[85]

जवाहरसिंह खिन्न मन से दिल्ली-अभियान को समाप्त कर अपने राज्य में चला आया था। उसे इमाद और मल्हार से घृणा हो गई थी और अपने सरदारों के प्रति भी उसे बड़ा आक्रोश था। उसने मल्हार राव को 22 लाख रुपयों में से केवल 10 लाख रुपयों का भुगतान किया। इमाद को डीग से रवाना कर दिया। सेना में जाटों के वर्चस्व को समाप्त करने की दृष्टि से जवाहर ने अपनी सेना में विदेशी सिपाहियों की भर्ती शुरू कर दी। विशेषतः उसने समरू (जून 1765 ई.) और रेने मेडक (जुलाई 1767) की बटालियनों को अपनी सेवा में रखा। इन विदेशी सैनिकों की मदद से जवाहर ने अपने पिता के समय के प्रतिष्ठित जाट सेनानायकों को, जिनमें प्रधानमन्त्री बलराम भी एक था, एक साथ कैद कर लिया। बलराम और कई अन्य जाट सरदारों ने अपमान से बचने के लिए कैदखाने में ही आत्महत्या कर ली। कुछ अन्य सरदारों ने अपना सब कुछ अर्पण करके अपने प्राण बचाये और दूसरे लोग पिटते-पिटते मर गये परन्तु अपनी सम्पत्ति देने के लिए राजी नहीं हुए। तोपखाने के भूतपूर्व सेनापति मोहनराम ने अतुल धन संग्रहीत किया था। उसे अनेकानेक प्रकार से कठोर व निर्मम यातनाएं दी गईं जिससे वह और उसका पुत्र कारागृह में ही मृत्यु को प्राप्त हो गये, परन्तु उन्होंने जवाहर को एक कौड़ी भी दण्डस्वरूप नहीं दी। वैर के जागीरदार बहादुरसिंह (चचेरा भाई) ने एक स्वतन्त्र शासक की तरह कार्य करना शुरू कर दिया था। जवाहर ने वैर के गढ़ पर आक्रमण कर दिया (अगस्त, 1765 ई.)। तीन महीने तक बहादुरसिंह प्रतिरोध करता रहा, परन्तु अन्त में वह पराजित हुआ और कैद कर लिया गया। वैर के दुर्ग पर जवाहर का अधिकार हो गया।

जवाहरसिंह की इन गतिविधियों से उसके जाट कुटुम्बी डर गये। वे उसके प्रति कटु हो गये। उनमें अपने राजा के प्रति द्वेष व घृणा उत्पन्न हो गई।

नजीबुद्दौला के विरुद्ध युद्ध में जवाहर को बहुत बड़ी राशि खर्च करनी पड़ी थी। उसकी पूर्ति उसने अपने विरोधी जाट सेनापतियों व पदाधिकारियों से जबरन् धन एकत्र कर करनी चाही। इस धन-हरण अभियान से जवाहर केवल 15-20 लाख रुपये वसूल कर सका। इससे युद्ध की हानि की पूर्ति तो नहीं हो सकी, परन्तु उसकी इस विवेकहीन नीति के कारण उसकी मृत्यु के बाद जाट राज्य का विघटन अवश्य होने लगा।[86]

जवाहर के प्रतिद्वन्द्वी नाहरसिंह ने आत्म-रक्षार्थ धौलपुर के गढ़ को सुदृढ़ किया और मल्हारराव होल्कर की सहायता से भरतपुर की गद्दी प्राप्त करने का वह प्रयत्न करने लगा। उसने जवाहरसिंह के विरोधी सरदारों के समक्ष सूरजमल का पूर्णरूपेण औरस उत्तराधिकारी होने का दावा प्रस्तुत किया। होल्कर उस समय गोहद के जाट राणा छत्रसाल के विरुद्ध जिसको जवाहर का सहयोग प्राप्त था, सैनिक अभियान में व्यस्त था। होल्कर को जाट राज्य में उत्तराधिकार के लिए संघर्ष के फलस्वरूप बहुत बड़ी धनराशि मिलने की आशा थी।[87] उसने सुल्तानजी लम्भाटे, मकाजी लम्भाटे और सन्ताजी बाबले के नेतृत्व में एक मराठा सेना जाट-क्षेत्र को लूटने के लिए भेजी। इस सेना ने धौलपुर से डीग और आगरा तक के जाट गावों को लूटा। जवाहरसिंह ने सात हजार वेतन-भोगी सिक्ख सैनिकों की सहायता से धौलपुर के निकट मराठा सेना का मुकाबला किया (13-14 मार्च, 1766 ई.)। मराठा सेना परास्त हुई और भागने लगी। जाट सेना ने इसका पीछा किया और इसे बड़ी क्षति पहुंचाई। कतिपय मराठा सेनानायकों को कैद कर लिया। इस तरह धौलपुर पर भी जवाहर का अधिकार हो गया।

अब गोहद का राणा जवाहर से आ मिला। उन दोनों ने मिलकर मल्हार के विरुद्ध सैनिक अभियान की योजना बनाई और मराठा क्षेत्र को लूटना आरम्भ कर दिया। सिक्ख सैनिकों ने मालवा में आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। अतः जवाहर को होल्कर के विरुद्ध युद्ध करने के कार्यक्रम को स्थगित करना पड़ा। नाहरसिंह को अपनी जागीर से हाथ धोना पड़ा। मराठों का सहयोग भी अब उसे प्राप्त नहीं हो सका। वह पहले जयपुर गया और फिर शाहपुरा में उसने शरण ली। कुछ समय के बाद (दिसम्बर 1766 ई.) निराश होकर उसने आत्महत्या कर ली। इस प्रकार जवाहर के प्रतिद्वन्द्वी का अन्त हो गया और मराठों को परास्त करने से जवाहर की प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। मराठों की पराजय से पेशवा बड़ा चिंतित हुआ। उसने रघुनाथराव दादा के नेतृत्व में एक मराठा सेना उत्तर में भेजी।

रघुनाथराव मालवा पहुंचा जहां भांडेर के पास होल्कर और सिंधिया भी उसकी सेवा में उपस्थित हो गये (24 अप्रेल, 1766 ई.)। जिस समय गोहद को जीतने की योजना बनाई जा रही थी, उस समय 26 मई, 1766 ई. को मल्हारराव होल्कर का देहान्त हो गया। महादजी सिंधिया भी रघुनाथराव के व्यवहार से रुष्ट

था। अतः गोहद के विरुद्ध किया गया सैनिक अभियान असफल ही रहा। गोहद के राणा को जवाहर का समर्थन प्राप्त था। रघुनाथराव ने जवाहर के भी धन की मांग की और उसके विरुद्ध सेना भेज दी। 2 नवम्बर, 1766 ई. को जवाहर डीग से धौलपुर की ओर रवाना हुआ ताकि वह मराठा सेना को अपनी सीमा के बाहर ही रोक सके। 8 दिसम्बर, 1766 ई. को वह धौलपुर पहुंच गया और मराठों के विरुद्ध मोर्चे की तैयारी करने लगा। इसके साथ-साथ मराठों से सन्धि-वार्ता भी चल रही थी। इसी समय अहमदशाह अब्दाली ने एक बार फिर भारत की ओर प्रस्थान किया। इसकी सूचना मिलने पर जाट और मराठा दोनों ही भयभीत हो गये। उन दोनों के लिए वह खतरा था। इसके अतिरिक्त जवाहर की सेना के गुसाईं सेनापति गुप्त रूप से मराठों के साथ पत्र-व्यवहार कर रहे थे। ऐसी स्थिति में जवाहर ने मराठों के साथ समझौता कर लेना ही हितकर समझा। सन्धि के लिए अनुकूल वातावरण बनाने के लिए जवाहर ने मल्हार के सैनिक अधिकारियों को कैद से मुक्त कर दिया (15 दिसम्बर, 1766 ई.)। जैसे ही उसे पता चला कि उसके गुसाईं सेनानायक गुप्त रूप से मराठों के साथ पत्र-व्यवहार कर रहे हैं, उसने अचानक गुसाइयों के डेरे पर हमला बोल दिया। इस हमले में गुसाइयों के 600 सैनिक मारे गये। परन्तु इनके नेता उमरावगीर, अनूपगीर और मिरजागीर अपने कुछ साथियों के साथ बच कर निकल भागे। वे मराठा शिविर में चले गये। पहले रघुनाथराव के डेरे पर जाकर जवाहर का उससे वार्ता करने का निर्णय लिया गया था। अब जवाहर ने वहां जाना उचित नहीं समझा। उसे आशंका थी कि कहीं भागे हुए नागा, गुसाईं उस पर अचानक आक्रमण न कर दें। अतः वह धौलपुर से अपनी राजधानी की ओर पलायन कर गया। उधर रघुनाथराव भी करौली की ओर कूच कर गया। जवाहर ने भरतपुर में स्थित गुसाईं परिवार वालों से तीस लाख रुपये वसूल किये।[88]

अब्दाली के आक्रमण से भयभीत होकर जवाहर और मराठों के बीच एक प्रकार से युद्ध-विराम-सन्धि हो गई थी किन्तु इससे जाट-मराठा संघर्ष की इतिश्री नहीं हुई थी। जून 1767 ई. में अब्दाली पंजाब से अपने देश को लौट गया। रघुनाथराव अपनी सेना सहित दक्षिण की ओर कूच कर चुका था। जवाहर के प्रतिद्वन्द्वी नाहरसिंह का देहान्त हो गया था। उसके विश्वासघाती गुसाईं सैनिकों का सफाया कर दिया गया था। इन परिस्थितियों में जवाहर ने पुनः मराठा-विरोधी अभियान चालू कर दिया। जून 1767 ई. मे जवाहर ने मराठा-क्षेत्र के गांवो को लूटना आरम्भ किया और वहां वह अपने थाने स्थापित करने लगा। रामपुरा क्षेत्र मे लूट-पाट कर वहां से मराठों को मार भगाया। जुलाई महीने मे जवाहर ने अटेर और भिंड के राजाओं से खड़नी वसूल की। वे अभी तक मराठो को कर दिया करते थे। इन सफलताओं से प्रोत्साहित होकर जाट राजा ने कालपी क्षेत्र पर भी आक्रमण कर दिया। वहा का मराठा अधिकारी बालाजी गोविन्द खेर भाग कर

अपने मित्र बुन्देलखण्ड के राजा के पास चला गया। कालपी के समस्त क्षेत्र पर जवाहर का अधिकार स्थापित हो गया। तत्पश्चात् जाट शासक समथर पहुंचा। वहां के राजा ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। जवाहर ने दतिया के राजा से कर वसूल किया। अगस्त 1767 ई. में वह नरवर के घाट तक पहुंच गया। फिर वहां से लौट कर उसने जिगनी का मराठा थाना जीत लिया। गोहद और पिछौर के शासकों को उसने आश्वासन दिया कि यदि दक्षिण से मराठों की कोई बड़ी सेना नहीं आती है तो वह उन्हें अक्टूबर माह में मराठों से मुक्त कर देगा। मराठा सन्देशवाहक ने सूचित किया था कि "भदोर, कछावाधार, तंवरधार, सिकरवार, इण्डरोली और खतौली सब हमारे हाथ से निकल गये है, केवल एक छोटा सा प्रदेश बच गया है, परन्तु वह भी बेचिराग हो गया है। अब हमारे हाथ मे केवल ग्वालियर और झांसी हैं। शेष सब जाटो के राज्य मे है।"[89]

जवाहर की इन मराठा विरोधी गतिविधियों से पूना-स्थित पेशवा चिन्तित होने लगा। उसने अपने उत्तरी राज्य की रक्षा के लिए जाट राजा से समझौता कर लेना ही हितकर समझा। जवाहर भी मराठो के साथ सन्धि करने के लिए तैयार हो गया। पेशवा के आदेशानुसार 1767 ई. के सितम्बर महीने के आरम्भ में जाट-मराठा सन्धि सम्पन्न हुई। इसके अनुसार जिगनी, जतलवार, तवरधार और सिकरवार के मराठा क्षेत्र जवाहरसिंह को सुपुर्द कर दिये गये। जवाहरसिंह चम्बल पार कर अपनी राजधानी भरतपुर लौट आया। इसके बाद वह मराठों को उत्तरी भारत से बाहर निकालने के लिए एक बृहद् संघ के निर्माण मे जुटा रहा।[90]

सन् 1764 ई. मे बक्सर के स्थान पर मसीर कासिम, उसका सहयोगी अवध का नवाब शुजाउद्दौला और दिल्ली से निष्कासित मुगल सम्राट् शाह आलम अंग्रेजों से परास्त हो गये थे। मीर कासिम भाग कर रुहेलखण्ड जा पहुंचा और वहां रुहेलों मे मिलकर अंग्रेजो के विरुद्ध अभियान करने की योजना बनाने लगा। उसने अहमदशाह अब्दाली से भी सम्पर्क किया। नजीबुद्दौला जाटो व सिक्खो का दमन करने हेतु अब्दाली को बार-बार आमन्त्रित कर रहा था। ऐसी परिस्थिति में अंग्रेज गवर्नर रावर्ट क्लाइव भी चिंतित था। उसने जाट राजा जवाहरसिंह से समझौता करना चाहा। अंग्रेज व जाट दोनो ही अहमदशाह को भारत से बाहर रखने और मराठों का दमन करने के पक्ष में थे। अंग्रेजों ने अवध के नवाब के माध्यम से जाट राजा जवाहरसिंह के, साथ अब्दाली के विरुद्ध प्रतिरक्षात्मक सन्धि करने के लिए पत्र-व्यवहार किया। जवाहरसिंह भी अंग्रेजो से समझौता करने का इच्छुक था क्योंकि ऐसा करने पर वह अब्दाली से सफलतापूर्वक युद्ध कर सकता था, बगाल मे शांति कायम रह सकती थी तथा भारत की व्यवस्था यथावत् रखी जा सकती थी। इसके अतिरिक्त जवाहरसिंह शाह आलम को दिल्ली के सिहासन पर आरूढ कर गाजीउद्दीन को उसका वजीर घोषित करने के पक्ष में था। रणथम्भौर के किले को

जवाहरसिंह अपने अधिकार में लेने का इच्छुक था। बंगाल के गवर्नर ने इन सब बातों पर विचार-विमर्श करने हेतु जवाहरसिंह के वकील को बनारस आने के लिए आमन्त्रित किया था। इस पर जाट राजा ने अपने राजदूत पेड्रोडी सिल्वा को वहां भेजने का निर्णय लिया। परन्तु 1767 ई. में अंग्रेजों का दक्षिणी भारत में हैदरअली से संघर्ष आरम्भ हो गया, इसलिए प्रस्तावित वार्ता सम्भव नहीं हो सकी। बाद में फिर जवाहरसिंह ने अपने वकील पेड्रोडी सिल्वा और पादरी वेंडल को गवर्नर से बातचीत करने के लिए कलकत्ता रवाना किया, परन्तु किन्हीं कारणों से वे आगरा से आगे नहीं जा सके। उपर्युक्त विवरण से यह तो स्पष्ट है कि जवाहरसिंह की शक्ति से अंग्रेज प्रभावित थे और वे उससे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के इच्छुक थे।[91]

अब जवाहरसिंह ने मारवाड़ के महाराजा विजयसिंह से मिलकर मराठा विरोधी एक संघ का निर्माण करना चाहा। इस संघ को मूर्त रूप देने के उद्देश्य से उसने पुष्कर की यात्रा की और महाराजा विजयसिंह को पुष्कर में मिलने के लिए कहलाया। 6 दिसम्बर, 1767 ई. को विजयसिंह ने पवित्र पुष्कर के तट पर जाट राजा जवाहरसिंह का स्वागत किया। दोनों नरेशों ने अपनी मित्रता को सुदृढ़ बनाने के अभिप्राय से अपनी-अपनी पगड़ियां बदली और एक-दूसरे को उपहार आदि प्रस्तुत किये। विजयसिंह ने जयपुर-नरेश माधोसिंह को पुष्कर आने के लिए आमन्त्रित किया और उससे आग्रह किया कि वह मराठा विरोधी संघ में सम्मिलित हो जाये; परन्तु माधोसिंह इसके लिए राजी नहीं हुआ। वह जाट राजा जवाहरसिंह को बराबरी का सम्मान देना पसन्द नहीं करता था। माधोसिंह के मन में जाट राज्य व जवाहरसिंह के प्रति पहले से ही नाराजगी थी। प्रथम तो माधोसिंह जाट राज्य को राजनीतिक इकाई के रूप में स्वीकार नहीं करता था। सवाई जयसिंह द्वारा ही यह क्षेत्र जाटों को दिया गया था या मुगल बादशाह से प्राप्त करवाया गया था। जाट राज्य का संस्थापक बदनसिंह अपने को जयपुर-नरेश का मात्र जागीरदार समझता था। सूरजमल के समय में यद्यपि जाट राज्य की सीमा का दूर-दूर तक विस्तार हो गया था फिर भी वह अपने पिता की भांति कछवाहा राजघराने के प्रति वफादार बना रहा। परन्तु जवाहरसिंह एक राजा का पुत्र था और वह माधोसिंह के साथ बराबरी का दावा करता था। उसने 'महाराजा सवाई' व 'भारतेन्द्र' की उपाधि ली थी। उसने अपने राज्याभिषेक के समय माधोसिंह द्वारा भेजे गये टीके को स्वीकार नहीं किया था।

द्वितीय, जयपुर के उत्तराधिकार संघर्ष में सूरजमल ने माधोसिंह के विरुद्ध ईश्वरीसिंह का साथ दिया था, इसलिए माधोसिंह के सिंहासनारूढ़ होने पर सूरजमल के साथ उसके सम्बन्ध विशेष मैत्रीपूर्ण नहीं रहे।

तृतीय, 1756 ई. में जवाहरसिंह ने अपने पिता सूरजमल के आदेशानुसार

जयपुर राज्य के अधीन अलवर क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था। इस कारण से माधोसिंह के मन में जवाहरसिंह के विरुद्ध रोष व आक्रोश था।

चतुर्थ, जयपुर राज्य के विद्रोही माचेड़ी के सरदार प्रतापसिंह नरूका को जाट राज्य में शरण प्राप्त थी। इस कारण से भी माधोसिंह जाटों से खुश नहीं था।

पंचम, जाट राज्य की सीमा जयपुर-राज्य से लगी हुई थी। वहां सीमा सम्बन्धी झगड़े निरन्तर चलते रहते थे। बढ़ती हुई जाट शक्ति जयपुर राज्य के लिए खतरा बन गई थी।

षष्ठ, माधोसिंह ने जवाहरसिंह के प्रतिद्वन्द्वी नाहरसिंह को अपने यहां शरण दी थी। उसके मरणोपरान्त उसकी सुन्दर विधवा को जवाहरसिंह द्वारा मांग करने पर भी माधोसिंह ने उसके सुपुर्द नहीं किया था। इससे कामुक जाट नरेश और माधोसिंह के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध नहीं थे।

सप्तम, जवाहरसिंह की जयपुर राज्य में से होकर पुष्कर-यात्रा के समय माधोसिंह ने उससे कहलाया था कि वह अपने साथ थोड़े से सैनिक लेकर आये। परन्तु मदोन्मत्त जाट-नरेश इसके विरुद्ध अपने यूरोपीय सेनानायक सोम्बर (समरू) और रेने मादे की बटालियनों से युक्त एक बहुत बड़ी सेना के साथ पुष्कर पहुंचा था। रास्ते में यत्र-तत्र जयपुर राज्य के गांवों को लूटने की घटनाएं भी हुई थीं।

ऐसी स्थिति में माधोसिंह का जाट राजा के साथ मिलकर मराठा विरोधी संघ मे सम्मिलित होना सम्भव नहीं था। उसने किसान के लड़के व जयपुर के सेवक को अपना भाई बनाने और राजनीतिक समकक्ष-पद देने के लिए विजयसिंह को फटकारा। उसने महाराजा की इस कार्य के लिए निन्दा की और इसे राठौडों की प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं बताया। जवाहरसिंह ने इसे अपना अपमान समझा। वह उत्तेजित हो गया। दोनों पक्षों ने युद्ध करने की ठान ली थी। पुष्कर से लौटते समय जब जाट राजा जवाहरसिंह नारनौल से 23 मील दक्षिण-पश्चिम में मावंडा स्थान पर पहुंचा, कच्छावा सेना ने उस पर आक्रमण कर दिया। मावंडा जाट राज्य की सीमा के पास जयपुर राज्य का अन्तिम थाना था। 14 दिसम्बर, 1767 को युद्ध हुआ। पहले कच्छावा सेना को कुछ पीछे हटना पड़ा; परन्तु अन्ततोगत्वा विजय कच्छावों के हाथ लगी। समरू और मादे के बटालियनो ने शत्रु का डट कर मुकाबला किया और जाट-नरेश जवाहरसिंह को सुरक्षित स्थान पर पहुंचाने में उन्होंने बड़ा योगदान किया। दोनों पक्षों के लगभग पांच हजार सैनिक धराशायी हुए। यद्यपि राजपूतों को बड़ी क्षति उठानी पड़ी थी तथापि विजयश्री उन्हीं के साथ रही। शत्रुओं के युद्ध का सामान जिसमें तोपें भी थी, राजपूतों के हाथ लगी। 29 फरवरी, 1768 ई. को एक बार कामां के स्थान पर पुनः जाटों और कच्छावों के बीच युद्ध हुआ। इस बार भी जाट पराजित हुए। जवाहरसिंह के किराये पर

आये हुए सिक्ख सैनिक क्षतिग्रस्त होकर पीछे हट गये। जाट प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा। अब जाट शक्ति का ह्रास आरम्भ हो गया। हाल ही में जीते हुए चम्बल पार के प्रदेश जाटों के आधिपत्य से मुक्त हो गये। जाट राज्य मे जवाहरसिंह के विरोधी तत्वों ने अपना सिर उठाना शुरू कर दिया।[92]

माधोसिंह अब अंग्रेज, मराठा, जयपुर, रुहेला और अवध की सम्मिलित सैनिक शक्ति के साथ जाट राजा से आगरा छीन वहां मुगल सम्राट् शाह आलम का प्रभुत्व स्थापित करने की योजना बनाने लगा। परन्तु इस सम्बन्ध में अंग्रेजों के उदास रहने के कारण उसे सफलता नहीं मिली। जवाहरसिंह को सांस लेने का अवसर मिला।[93]

जवाहरसिंह अभी भी हतोत्साह नहीं हुआ था। उसने अपनी सेना का पुनः संगठन किया। वेतनभोगा सिक्ख सैनिकों की भरती की गई। उसने मराठा अधिकार क्षेत्र पर फिर से आक्रमण आरम्भ किया। उसने दानशाह के नेतृत्व में एक सेना मराठा क्षेत्र मे भेजी। मराठा सेनानायक बालाजी गोविन्द पराजित हुआ। भाग कर उसने कोटेरा में शरण ली। यूरोपीय सेनापति रेने मादे के नेतृत्व में जाट सेना ने एक पड़ोसी राजपूत सरदार के किले पर अधिकार कर लिया। जाट सेना को गति प्रदान करने के उद्देश्य से जाट राजा स्वयं कुछ समय के लिए भिण्ड पहुचा। सिक्ख सेनापति दानशाह और जवाहरसिंह का अनुज रतनसिंह भी अपनी सेनाओं के साथ जुलाई 1768 ई. में भिण्ड में जाट सेना से आ मिले। जवाहरसिंह तो वहां से लौट आया था परन्तु उसके सेनानायक मध्यप्रदेश में आगे बढ़ने की योजना बनाने मे लगे रहे। इसी बीच अगस्त 1768 ई. में जाट राजा जवाहरसिंह की किसी ने हत्या कर दी। जवाहरसिंह की मृत्यु का समाचार सुनते ही उसके द्वारा मनोनीत उत्तराधिकारी उसका भाई रतनसिंह तुरन्त डीग पहुंचा। भिण्ड क्षेत्र में जाट सेना की प्रगति अवरुद्ध हो गई। जाट सेना में सर्वत्र शिथिलता आ गई।[94]

जवाहरसिंह अपने पिता की भांति वीर, साहसी, निर्भीक और कठोर शासक था। कठिन से कठिन परिस्थितियों में वह अपने धैर्य और संतुलन को बनाये रखता था। उसका अधिकांश जीवन युद्धों में ही व्यस्त रहा। सेना का नेतृत्व वह स्वयं किया करता था। उसने अपने विरोधी सरदारों का दमन किया तथा अपने प्रतिद्वन्द्वी भाई नाहरसिंह को राज्य से बाहर जाने के लिए बाध्य कर दिया।

आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं से लोहा लेने तथा राज्य में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए उसने अपनी सेना को यूरोपीय ढंग से संगठित और सुशिक्षित किया। उसकी सेना में समरू और रेने मादे जैसे योग्य सेनानायक नियुक्त थे।

उक्त गुणों के साथ-साथ उसके चरित्र और स्वभाव मे कई दोष भी थे। वह अपने पिता के विपरीत फिजूलखर्ची, विलासी और कामुक था। वह अपने भाई

नाहरसिंह की सुन्दर स्त्री पर आसक्त था। उसके विधवा होने पर उसे अपने हरम में रखने के उद्देश्य से ही उसने जयपुर-नरेश माधोसिंह से उसकी मांग की थी। यह मांग ही उसके सर्वनाश का कारण बनी। उसमें कूटनीति और दूरदर्शिता का भी अभाव था।

कानूनगो के मतानुसार उसके मित्र उसे योग्य राजा, साहसी सेनानायक, चतुर प्रशासक और उदार व्यक्ति मानते थे जबकि उसके शत्रु उसे जिद्दी, खूंखार, अत्याचारी, विश्वासघाती और कपटी के रूप में आंकते थे।[95] उत्तरी भारत के राजनैतिक क्षितिज पर जवाहरसिंह धूमकेतु की भांति अवतरित हुआ और कुछ समय तक अपनी चमक दिखाकर वह सहसा अन्धकारमय निराशाजनक रात्रि में विलीन हो गया। उसकी मृत्यु के बाद जाट राज्य का पतन आरम्भ हो गया।

जवाहरसिंह के मरणोपरान्त जाटों का गौरवमय इतिहास धूमिल होने लगा था। उनकी महत्ता, शक्ति व राज्यश्री क्षीण होने लगी थी। जवाहरसिंह के काल में *राजसत्ता का मूल बिन्दु स्वयं राजा बन गया था। इस प्रकार की व्यवस्था तभी* सफल हो सकती थी जबकि राजा सुयोग्य और सबल हो। परन्तु दुर्भाग्य से जवाहर का उत्तराधिकारी उसका अनुज रतनसिंह भीरू, अयोग्य और विलासी था। इमाद-उल-सादत के लेखक के अनुसार उसने दस महीने और तेरह दिनों तक राज्य किया था। वह चार हजार नर्तकियों से घिरा वृन्दावन में निवास करता था जहां 8 अप्रेल, 1769 ई. को गुसाईं रूपानन्द ने उसकी हत्या कर दी।[96]

वृन्दावन में रतनसिंह के आकस्मिक निधन के पश्चात् उसके लड़के केसरीसिंह को, जो मात्र डेढ़ वर्ष का था, राजा घोषित कर दिया गया और जाट सेनापति दानशाह को उसका संरक्षक नियुक्त किया गया। प्रशासन का सारा कार्य संरक्षक के सुपुर्द कर दिया गया। रतनसिंह के भाई नवलसिंह और रणजीतसिंह इस व्यवस्था से प्रसन्न नहीं थे। उन्होने यह प्रचार किया कि दानशाह स्वयं राजगद्दी हड़प कर निरंकुश सत्ता प्राप्त करना चाहता है। जैसे ही अवसर मिला उन्होंने दानशाह का संरक्षण अन्त कर दिया। फिर भी इससे जाट-राज्य मे शान्ति स्थापित नही की जा सकी। वे दोनों भाई राजसत्ता प्राप्त करने के लिए अधीर थे। नवलसिंह ने आयु में बड़े होने के कारण संरक्षक का पद प्राप्त कर लिया। रेने मादे व जाट सेना ने उसका पक्ष लिया। रणजीतसिंह अपने को अधिक योग्य समझता था। उसने अपने भाई के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। कुछ उच्छृंखल जाट-सामन्तों ने उसका साथ दिया। इनके अतिरिक्त रणजीतसिंह ने सिक्ख सैनिकों को किराये पर रख लिया और कुम्हेरगढ़ में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली। इस प्रकार जाट राज्य में गृह-युद्ध का सूत्रपात हुआ जिससे जाट शक्ति का ह्रास हुआ।

रेने मादे व जाट सेना ने कुम्हेर का घेरा डाला। वहां युद्ध हुआ जिसमें सिक्खों की हार हुई (15 फरवरी, 1770 ई.), परन्तु मराठों के आगमन के भय के

कारण नवलसिंह ने सिक्खों को एक बड़ी धनराशि देकर उन्हें जाट राज्य को छोड़ कर चले जाने के लिए राजी कर लिया।[97]

जिस समय सूरजमल के पुत्रों में संघर्ष चल रहा था, मराठा फौज करौली में ठहरी हुई थी। जाटों के गृह-युद्ध से मराठे लाभ उठाना चाहते थे। वे उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में थे। जैसे ही सिक्ख सैनिक पराजित होकर जाट क्षेत्र से प्रयाण कर गये, मराठे जाट राज्य में प्रविष्ट हो गये और उन्होंने भरतपुर के आस-पास के क्षेत्र को लूटना आरम्भ कर दिया। उन्होंने रणजीतसिंह को अपने भाई के विरुद्ध संघर्ष चालू रखने के लिए उत्तेजित किया। नवलसिंह अपनी सेना के साथ डीग की प्राचीर के नीचे ही ठहरा हुआ था। उसने अभी यह निश्चय नहीं किया था कि वह मराठों से युद्ध करे अथवा उन्हें धन देकर खरीदे। मराठे जम कर जाटों से युद्ध करने के पक्ष में नहीं थे, क्योंकि जाट सेना का संचालन समरू और रैने मादे जैसे योग्य सेनानायक कर रहे थे। इस प्रकार एक महीने तक युद्ध नहीं हुआ। अब मराठों के पास खाद्य-सामग्री की कमी होने लगी। उन्होंने जाट शक्ति को कुचलने के लिए नजीबुद्दौला को आमन्त्रित किया। रुहेला सरदार तो ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में ही था। वह अपनी एक विशाल सेना के साथ दोआब में सिकन्दराबाद तक आ पहुंचा। मराठा सेनानायक तुकोजी होलकर और जयराम रुहेला सरदार से मिलने हेतु दोआब की ओर चल पड़े। जैसे ही नवलसिंह को मराठा फौज का दोआब की ओर प्रस्थान करने का समाचार मिला, वह अपनी सेना के साथ डीग से रवाना हुआ और मराठा फौज के निकट जा पहुंचा। उसने युद्ध के लिए कोई योजना नहीं बनाई थी। वह एक अच्छा सेनानायक भी नहीं था। समरू और रैने मादे तुरन्त युद्ध करने के पक्ष में नहीं थे, परन्तु उनके विपरीत दानशाह और नागा साधुओं के कप्तान गुसाई बालानन्द मराठों से युद्ध करने के लिए आतुर थे। उनके प्रभाव में आकर नवलसिंह ने मराठा फौज पर आक्रमण करने के आदेश दे दिये। 6 अप्रेल, 1770 ई. के सौंख के निकट घमासान युद्ध हुआ। जाट बिना योजना से लड़ रहे थे फिर भी वे डट कर लड़े। परन्तु जब कमजोर दिल स्वयं नवलसिंह रणभूमि छोड़कर भाग गया, तब जाट सेना पराजित होकर भाग निकली। जाट सेना को बड़ी क्षति पहुंची। दो हजार जाट सिपाही धराशायी हुए और पांच हजार सैनिक घायल हुए। उनकी चालीस तोपें रणक्षेत्र में रह गईं। केवल दो हलकी तोपें समरू मुश्किल से घसीट कर वापस ला सका। किसी भी युद्ध में इससे अधिक जाट सरदार काम नहीं आये थे।[98]

सौंख के युद्ध के पश्चात् मराठे मथुरा पहुंच गये। वहां से दोआब पर हमला करने की योजना बनाने लगे। जाट शक्ति को पूर्ण रूप से समाप्त करने के उद्देश्य से, उन्होंने नजीब से सांठ-गांठ की। गाजीउद्दीन जो जवाहरसिंह के व्यवहार से खिन्न होकर भरतपुर से पलायन कर गया था, अब जाट-विरोधी गुट में सम्मिलित हो-

गया। दिल्ली में निष्कासित मुगल सम्राट् को भी दिल्ली लौट आने का आग्रह किया गया परन्तु बंगाल के गवर्नर वारेन हेस्टिंग्ज के विरोध के कारण वह जाट-विरोधी अभियान में सम्मिलित नहीं हुआ। अब मराठा और रुहेलों की सेनाओं ने मिलकर दोआब में जाट अधिकृत क्षेत्रों पर अधिकार करना आरम्भ कर दिया। शिकोहाबाद, सादाबाद, कोईल (अलीगढ़) व अन्य जाट क्षेत्रों पर शत्रुओं का अधिकार हो गया। नवलसिंह का पतन सुनिश्चित था। परन्तु शत्रुदल में मतैक्य नहीं रहा जिससे उसका बचाव हो गया। मराठे दो दलों में विभाजित थे। तुकोजी होल्कर और रामचन्द्र गणेश एक दल का नेतृत्व कर रहे थे, जबकि दूसरे गुट के प्रमुख नेता विसाजी पण्डित और महादजी सिन्धिया थे। उनमें भारी मतभेद था। तुकोजी नजीब का मित्र था जबकि महादजी का उस पर तनिक भी विश्वास नहीं था। गाजीउद्दीन का गुट में सम्मिलित होना नजीब और मुगल सम्राट् को पसन्द नहीं था, परन्तु महादजी इसका पक्षपाती था। नवलसिंह ने शत्रुदल के आन्तरिक कलह का पूरा-पूरा लाभ उठाया। उसने नजीब से गुप्त सन्धि-वार्ता चालू की। जब मराठों को नजीब की मराठा-विरोधी हलचलों का पता लगा तो उन्होंने तुरन्त नवलसिंह से शान्ति समझौता कर लिया (8 सितम्बर, 1770 ई.)। इस सन्धि के अनुसार जाटों से 65 लाख रुपये क्षतिपूर्ति के रूप में लेना निश्चित हुआ। इस रकम का भुगतान तीन वर्ष की अवधि में किया जाना था। नवलसिंह मराठों को प्रति वर्ष 11 लाख रुपये खण्डनी के रूप में देगा। रणजीतसिंह के लिए निश्चय हुआ कि उसको पच्चीस लाख रुपये वार्षिक आय की जागीर दी जायेगी।[99]

उपर्युक्त घटनाओं से जाट राज्य की बड़ी दुर्दशा हुई। जाट राज्य क्षत-विक्षत होने लगा। जाट सामन्त उपद्रवी व उच्छृंखल बन गया था। जाट सेना का मनोबल व नैतिक स्तर गिर चुका था। जाट खजाना रिक्त था और राज्य के आय-स्रोत अवरुद्ध होते जा रहे थे। नवलसिंह, जो अब वस्तुतः जाट राजा बन चुका था, अनेक आपत्तियों से ग्रस्त था। मुगल बादशाह शाहआलम द्वितीय नवम्बर 1771 ई. में पुनः दिल्ली लौट आया था और मुगल प्रशासन का कार्य मिर्जा नजफखां को सुपुर्द कर दिया गया था। सूरजमल ने दोआब और हरियाणा के मुसलमान जागीरदारों और मेवात के शेखजादों को परास्त कर अपने राज्य की सीमा का विस्तार किया था। अब अपनी जागीरों से निरस्त वे मुसलमान अपनी भूमि पुनः प्राप्त करने के लिए मुगल बादशाह पर दबाव डाल रहे थे। शाही क्षेत्र के एक बहुत बड़े भूखण्ड पर जाटों ने अधिकार कर रखा था। अतः नजफखां जाटों से इस शाही क्षेत्र को मुक्त करवाने के लिए सैनिक तैयारी में संलग्न था। नवलसिंह को विश्वास था कि मराठे जाबिताखां (नजीबुद्दौला का पुत्र) के विरुद्ध किये जा रहे सैनिक अभियान के समाप्त हो जाने के पश्चात् जाट क्षेत्र पर आक्रमण करेंगे।

सितम्बर 1772 में मराठों ने जाबिताखां से समझौता कर लिया। इसी समय जाट राजा का विश्वासी और योग्य फ्रेंच सेनानायक रेने मादे उसे छोड़ मुग़ल सम्राट् शाहआलम द्वितीय की सेवा में चला गया। इस कारण से सामरिक दृष्टि से नवलसिंह की स्थिति बड़ी कमजोर हो गई थी। परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए मराठों ने जाटसीमा में प्रवेश किया और जाटों के गांवों को लूटना प्रारम्भ कर दिया। जाट सेना में खुले मैदान में युद्ध करने की क्षमता नहीं थी। उसने अपने किलों में शरण ली। मुगल बादशाह ने मराठों के विरुद्ध जाट राजा की मदद नहीं की। इस बीच नजफखां के पास एक शक्तिशाली व सुसगठित फौज तैयार हो गई थी। मराठे भी इससे भयभीत थे। उन्होने जाट राजा से कुछ धन प्राप्त कर उनसे समझौता कर लेने मे ही अपना हित समझा। नवलसिंह की भी यह धारणा बन चुकी थी कि मुग़ल बादशाह की रुचि मराठों के नियन्त्रण से मुक्त होने की बजाय जाट-शक्ति को कुचलने में अधिक थी। जाट राजा भी नजफखां की सैनिक शक्ति को नष्ट करने का इच्छुक था। ऐसी स्थिति में मराठों और जाटों के बीच समझौता हो गया। मराठों ने अब नजफखां के विरुद्ध एक प्रबल गुट बना लिया।[100]

नवम्बर 1772 ई. में मराठों, रुहेला सरदार जाबिताखां और जाट राजा की सम्मिलित सेना ने जो अनुमानतः एक लाख के लगभग थी, दिल्ली पर आक्रमण कर दिया। नजफखा की सेना ने शत्रुओं का डट कर मुकाबला किया, परन्तु उसका राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी हसामुद्दीन मराठों से मिल गया और उसने मुगल बादशाह के मन मे यह बात बैठा दी कि इस आपत्ति का मूल कारण नजफ है। उसे पदच्युत करने पर मराठों से समझौता हो जायेगा और संकट का निवारण हो जायेगा। मुगल बादशाह ने नजफ व उसके सभी तूरानी व ईरानी पदाधिकारियों को सेवा से मुक्त कर उन्हें दिल्ली से बाहर चले जाने के आदेश प्रसारित कर दिये। मराठों से समझौता हो गया। उन्हे 9 लाख शाही खजाने से और 9 लाख हसामुद्दीन की तरफ से प्राप्त हो गये। जाटों को मात्र इससे सन्तोष कर लेना पड़ा कि उन्हें शाही क्षेत्र से लूट का सामान मिला तथा कुछ खोये प्रदेशों पर उनका पुनः अधिकार हो गया।[101] परन्तु जाटों पर अभी भी संकट के बादल मंडरा रहे थे।

नजफखां का पतन क्षणिक प्रमाणित हुआ। तीन महीनों के बाद नजफखां (मई 1773 ई.) मुगल बादशाह का फिर से विश्वासी प्रशासक बन गया। 30 अगस्त, 1773 ई. को पेशवा नारायणराव की हत्या हो चुकी थी। इसके पश्चात् पूना-सरकार आन्तरिक और बाह्य युद्धों में उलझी रही। इस कारण से अगले 11 वर्षों तक मराठे चम्बल से उत्तर की ओर आगे नहीं बढ़ सके। अब चम्बल के उत्तरी क्षेत्र में दिल्ली-सरकार और जाट शासक के बीच में ही संघर्ष चलता रहा। सितम्बर 1773 ई. में नजफखां ने जाटों के विरुद्ध सैनिक अभियान शुरू किया। जाट राजा ने भी सिक्ख सैनिको की सेवाएं लीं और मुगल फौज का

मुकाबला किया। दोग्राब मे जाट सेना ने, जिसका नेतृत्व दानशाह और अलीगढ के सूबेदार चन्दू गूजर कर रहे थे, आरम्भ में कुछ सफलताएं प्राप्त की; परन्तु बाद में उन्हें क्षति-ग्रस्त होकर लौटना पड़ा। चन्दू गूजर मारा गया। दानशाह ने स्वयं आहत होकर युद्ध-स्थल छोड़ दिया। जाट सेना बिखर कर भाग गई। इस युद्ध में तीन हजार से भी अधिक जाट सैनिक मौत के घाट उतार दिये गये। विजेताओं ने जाट सेना का सामान लूट लिया। अब दोग्राब मे जाटों का आधिपत्य समाप्त हो गया।[102]

एक मुगल सेना दिल्ली से प्रयाण करके (24 सितम्बर, 1773 ई.) बारापुला पहुंची और उसने मैदान गढ़ी पर, जो दिल्ली से 13 मील दूरी पर जाटों का सैनिक अड्डा था, अधिकार कर लिया। कुछ समय के बाद एक जाट सेना ने फरूखनगर से आगे बढ़कर हरसारू की गढी पर आक्रमण किया परन्तु मुगल सेनापति नजफकुलीखां ने 5 अक्टूबर को उसे परास्त कर दिया।

अब नजफखां स्वयं दिल्ली से रवाना होकर बारापुल और बदरपुर के मार्ग से बल्लभगढ़ पहुंचा। यहां बल्लभगढ़ के पदच्युत अजीत और हीरासिंह, इस शर्त पर कि विजय प्राप्त होने पर बल्लभगढ़ का प्रदेश उन्हें दे दिया जायेगा, नजफखां से आ मिले। इस प्रकार जाट पदाधिकारियों का शत्रुओ से मिल जाना नवलसिंह के लिए बड़ा घातक प्रमाणित हुआ। कुछ समय तक यत्र-तत्र छुट-पुट झड़पें होती रहीं। अन्त में 30 अक्टूबर, 1773 ई. को बरसाना के स्थान पर जमकर युद्ध हुआ। जयश्री मुगलों के हाथ लगी। विजेताओं के 2300 आदमी मारे गये या घायल हुए और जाट सेना के 2000 सैनिक काम आये। जाटो का समस्त तोपखाना, उनके हाथी, घोड़े और ऊंट, उनका खजाना व युद्ध का अन्य सामान मुगलो के हाथ लगे। जाट शक्ति का पूर्ण ह्रास हो गया था। बरसाने के नगर को लूटने के बाद मुगल सेना ने कोटवान नगर पर आक्रमण कर दिया। नगर की रक्षा नवलसिंह का श्वसुर सीताराम कर रहा था। उन्नीस दिनो के घेरे के बाद नगर शत्रुओं के अधीन हो गया। सीताराम नगर से चुपके से बाहर निकल भागा।[103]

नवलसिंह की विपत्तियों का अभी अन्त नहीं हुआ था। अब नजफखां अपनी सेना के साथ 11 दिसम्बर को आगरा पहुंचा। नगर पर उसका अधिकार हो गया। फिर कुछ विरोध के बाद 18 फरवरी, 1774 को आगरे के किले पर भी उसका आधिपत्य स्थापित हो गया। जाटों की क्षति का कोई पार नही था। बल्लभगढ़ और फरूखनगर के दुर्ग जाटों के हाथ से निकल गये थे। सबसे बुरी बात यह हुई कि सोम्बर (समरू) ने जाट सेवा से मुक्ति प्राप्त कर ली। वह अपनी सधी हुई पलटनों व तोपखाने के साथ 20 मई, 1774 को मुगल सम्राट् से जा मिला।[104] इसके अतिरिक्त माचेडी के जागीरदार रावराजा प्रतापसिंह ने, जो बड़ा महत्त्वाकांक्षी था, जाट शासकों की कमजोरी का पूरा-पूरा लाभ उठाया। उसने जाट अधिकृत मेवात

के सभी परगनों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। 25 नवम्बर, 1775 ई. को अलवर पर भी उसका अधिकार हो गया, जिसके नाम पर एक नये स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली गई। प्रतापसिंह के उत्तराधिकारी बखतावरसिंह और बनैसिंह के काल में अलवर राज्य की सीमा का और भी विस्तार हुआ। इस प्रकार दिल्ली के दक्षिण के अधिकतर प्रदेश अब भरतपुर जाट राज्य की सीमा के अन्तर्गत नहीं रहे।[105]

यद्यपि राजनीतिक क्षेत्र मे नवलसिंह का कोई सहयोगी नहीं था और उसकी सेना भी क्षतिग्रस्त हो चुकी थी, फिर भी नजफखां की अनुपस्थिति का लाभ उठाते हुए, अपने खोये प्रदेशों को हस्तगत करने के उद्देश्य से वह अपनी सेना के साथ डीग के बाहर निकला। उसने नजफखां द्वारा नियुक्त पदाधिकारियों को पदच्युत कर भगा दिया। यहां तक कि उसने दिल्ली पर आक्रमण करने की भी धमकी दी। नवलसिंह के इस उत्तेजनापूर्ण आचरण से नाराज होकर नजफखां ने रुहेला सरदार जाबिताखा के विरुद्ध चल रहे संघर्ष को स्थगित कर पहले जाटों की शक्ति का अन्त करने के उद्देश्य से सैनिक कार्यवाही आरम्भ कर दी। जाट सेना ने भाग कर सोखेर के किले में शरण ली। यह किला कामां, जो जयपुर राज्य मे था, के उत्तर में आठ मील की दूरी पर स्थित था। मुगल फौज ने सोखेर का घेरा डाल दिया।[106]

नजफखां की बढ़ती हुई शक्ति से जयपुर राजा का भयभीत होना स्वाभाविक था। जाट शक्ति के अन्त हो जाने के बाद यह निश्चित था कि मुग़ल बादशाह जयपुर के राजा से वार्षिक कर वसूल करने हेतु सैनिक बल का प्रयोग करेगा। अतः कच्छावों ने जाटों से अपने पुराने वैर को भुलाकर उन्हें सहयोग देने का निर्णय लिया। जयपुर सरकार ने कामां के आमिल को आदेश दिया कि वह सोखेर में घिरे जाट सैनिकों को रसद पहुंचाने की व्यवस्था करे। सोखेर का घेरा कई दिनों तक चलता रहा। अन्त में मुग़लों ने जाटो को पहुंचने वाली रसद को रोकने की दृष्टि से कामां पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया। इस घटना के बाद तो जयपुर राज्य ने प्रत्यक्ष रूप से जाटों की सहायता करना आरम्भ कर दिया। एक राजपूत सेना जिसमें मराठा सैनिक भी थे, जाटो की मदद में पहुंची। राजपूत, मराठा और जाटों ने मिलकर शाही फौज का मुकाबला किया। कई स्थानो पर झड़पें हुई जिनमे दोनों पक्षों को क्षति उठानी पड़ी।[107]

मुग़ल सेनानायक नजफकुलीखां ने अपने सहयोगी मुल्ला रहीमदाद को कामां प्रदेश देने का वादा किया था; परन्तु कामां पर मुगलों का अधिकार हो जाने के पश्चात् गढ़ को समरू के सुपुर्द कर दिया। इस पर रहीमदाद नाराज होकर अपने सैनिको के साथ मुगल पक्ष का परित्याग कर जाटो के शिविर में चला गया, जहां उसका स्वागत हुआ। जाट और मुगल सेनाओं के बीच यत्र-तत्र झड़पें होती रही। अन्त में 18 मई, 1775 ई. को जमकर एक युद्ध हुआ जिसमे मुग़लों की विजय हुई। जाट सेना डीग के किले मे चली गई। राजपूत और मराठा सैनिक भी

हतोत्साह होकर पीछे हट गये। इस बीच सोम्बर की कूटनीति सफल हुई। उसने जयपुर राज्य से एक पृथक् सन्धि कर ली जिसके अनुसार कामां प्रदेश राजपूतों को लौटा दिया गया। राजपूतों ने जाटों की मदद करना बन्द कर दिया। इसके अतिरिक्त जयपुर नरेश ने शाही सरकार को सात लाख तत्काल और ग्यारह लाख प्रति वर्ष देने का वचन दिया। राजपूतों के अलग हो जाने और नवलसिंह की अयोग्यता व उसकी बीमारी के कारण जाट सेना का मनोबल निरन्तर गिरता जा रहा था। ऐसी विषम स्थिति में 11 अगस्त, 1775 ई. को नवलसिंह का डीग के किले में देहान्त हो गया।[108]

नवलसिंह के मरते ही रुहेला सरदार रहीमदादखां ने, जो उस समय डीग की दुर्ग-प्राचीर के नीचे ही डेरा डाले हुए था, धोखे से डीग नगर पर अधिकार कर लिया। उसने नाबालिक केसरीसिंह को गद्दी पर बैठाया और स्वयं को उसका संरक्षक घोषित कर दिया। राजधानी में जो कुछ सामान और राजसम्पत्ति थी, उस पर कब्जा कर लिया गया। नवलसिंह के लोगों को पदच्युत कर दिया गया।

जब यह समाचार रणजीतसिंह को कुम्हेर में मिला तो उसने तुरन्त एक जाट सेना एकत्र की जिसमें मराठा और नागा सैनिकों को भी सम्मिलित किया गया। इस सेना के साथ वह डीग के किले में प्रविष्ट हो गया और रुहेलों को वहां से मार भगाया। रहीमदादखां दिल्ली की ओर प्रस्थान कर गया। अब रणजीतसिंह और बालक केसरीसिंह के समर्थकों के बीच कशमकश चली, परन्तु अन्त मे जाट राज्य के समक्ष उपस्थित संकट को ध्यान मे रखते हुए रणजीतसिंह को जाट राजा स्वीकार कर लिया गया। जवालासहाय के अनुसार इस बीच केसरीसिंह की चेचक से मृत्यु हो गयी।[109]

रणजीतसिंह गद्दी पर आसीन होते ही मुगलों से अपना खोया हुआ क्षेत्र प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो गया। जाटों ने आगरा और मथुरा के क्षेत्रों में लूट-पाट प्रारम्भ की। मिर्जा नजफखां आगरा और मथुरा के बीच फरह में डेरे डाले हुए था। वर्ष के अन्त में उसने दल-बल के साथ डीग की तरफ कूच किया और उस दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। दीर्घकाल तक किले का घेरा पड़ा रहा। किले में प्रवेश प्राप्त करने के लिए मुगलों ने कई बार प्रयास किया परन्तु वे असफल रहे, नजफखां अनेक कठिनाईयों के बावजूद वहां घेरा डाले रहा क्योंकि डीग का किला उसकी प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया था। अन्ततः उसने अपनी युद्ध-विधि में परिवर्तन किया। पहले तो उसने घेरा डाला था, अब उसने किले में खाद्य सामग्री पहुंचने के सभी मार्ग अवरुद्ध कर दिये। दुर्ग के अन्दर अन्नाभाव होने लगा। वहां भयंकर अकाल की स्थिति हो गई। प्रति दिन सौ आदमियों से भी अधिक की मृत्यु होने लगी। ऐसी स्थिति मे जाट सैनिको के झुंड के झुंड रात्रि में दुर्ग के बाहर निकलने लगे। 29 अप्रेल, 1776 ई. की रात में रणजीतसिंह स्वयं अपने कुछ साथियों के

साथ किले से निकल कर कुम्हेर की ओर प्रयाण कर गया। डीग के किले पर नजफखां का अधिकार हो गया। बहुत से शस्त्र, तोपें और गोला-बारूद के अतिरिक्त मिर्जा नजफ को दुर्ग में गड़ा हुआ द्रव्य भी प्राप्त हुआ।[110] किले की व्यवस्था करने के पश्चात् नजफखां दिल्ली लौट गया और 1777 ई. के मध्य तक अपने अन्य विरोधियों को कुचलने में व्यस्त रहा।

इस बीच जाट राजा रणजीतसिंह ने माचेड़ी के सरदार प्रतापसिंह और अम्बाजी इंगले (मराठा कप्तान) के किराये के सैनिकों के सहयोग से डीग के किले पर पुनः अधिकार करने का एक असफल प्रयास किया था। आगरा पर भी आक्रमण करना चाहा। इसके पहले उसने फरह नामक स्थान पर धावा बोल दिया। वहां मुगल तहसीलदार को मार डाला और नगर को लूट लिया। उसने आगरा तक के क्षेत्र को बरबाद कर दिया। रणजीतसिंह की इन मुगल विरोधी गतिविधियों को सदैव के लिए समाप्त करने के उद्देश्य से नजफखां एक बार फिर 25 नवम्बर, 1777 ई. को दिल्ली से रवाना हुआ। विद्रोहियों को कुचलता हुआ वह रणजीतसिंह के आवास कुम्हेर नगर के पास पहुंचा गया। जाटों के इस प्रसिद्ध दुर्ग कुम्हेर को उसने कुछ ही दिनों में जीत लिया। रणजीतसिंह और उसकी माता रानी किशोरी ने भाग कर भरतपुर के किले में शरण ली। नजफखां ने भरतपुर के किले का भी घेरा डाल दिया। दो मास में जाटों ने घुटने टेक दिये। रानी किशोरी स्वयं मुगल सेनापति नजफ़खां से मिली और उसने अपने पति के खानदान की इज्जत को बनाये रखने की प्रार्थना की। मिर्जा नजफ ने शत्रु को मित्र बनाने की नीति का अनुसरण किया। उसने रणजीतसिंह के पास 7 लाख रुपये वार्षिक आय की जागीर के साथ भरतपुर का किला रहने दिया। इसके अतिरिक्त कुम्हेर का किला और कुछ गांव रानी किशोरी के निर्वाह के लिए दिये गये (फरवरी, 1778 ई.)। इस प्रकार जाट राज्य का अस्तित्व तो बना रहा, परन्तु अब यह एक बहुत छोटी-सी रियासत के रूप में रह गया था। कुछ समय बाद नजफखां की मृत्यु हो गई (6 अप्रैल, 1782 ई.) जिससे दिल्ली दरबार में एक बार फिर व्यवस्था बिगड़ गई। इसका लाभ उठा कर जाट राजा रणजीतसिंह ने अपने राज्य की सीमा में कुछ विस्तार कर लिया।[111]

रणजीतसिंह को 1784 ई. में एक बार फिर भारी संकट का अनुभव करना पड़ा था। मराठा सरदार महादजी सिन्धिया ने ग्वालियर किले पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के बाद दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। जाट राजा रणजीतसिंह महादजी सिन्धिया के प्रतिद्वन्द्वी मोहम्मद बेग हमदानी का कृपापात्र था। महादजी के मित्र मिर्जा शफी मोहम्मद की हत्या में सम्भवतः रणजीतसिंह का भी हाथ था। अतः महादजी ने सारे जाट-राज्य पर अधिकार कर लिया। रानी किशोरी ने महादजी सिन्धिया से प्रार्थना कर एक बार फिर जाट राज्य को नष्ट होने से बचाया। जनवरी

1785 ई. में रानी किशोरी और रणजीतसिंह महादजी से तरसी के स्थान पर मिले। सिन्धिया जाट राज्य को समाप्त करने के पक्ष में नहीं था। उसने 11 परगने, जिनकी वार्षिक आय अनुमानतः 10 लाख रुपये थी, रणजीतसिंह को लौटा दिये। रणजीतसिंह ने महादजी द्वारा हमदानी के विरुद्ध की गई कार्यवाही में सहायता की थी। इसके बाद जयपुर राज्य और इस्माईल बेग के विरुद्ध हुई लड़ाइयों में भी रणजीतसिंह महादजी के साथ रहा। रणजीतसिंह द्वारा की गई सेवाओं से प्रभावित होकर महादजी ने डीग का किला जाट राजा को लौटा दिया। नजफखां ने इस किले को जाटों से छीन लिया था।[112]

जून 1788 और दिसम्बर 1788 ई. क्रमशः इस्माईल बेग और गुलाम कादिर के विरुद्ध लड़े गये युद्धों में भी महादजी सिन्धिया के प्रति रणजीतसिंह की [illegible] .03 ई. तक सिन्धिया परिवार के साथ जाट राजा [illegible] सौहार्दपूर्ण रहे। सिन्धिया के सेनानायक द बॉय और [illegible] राज्य में सच्चाई के साथ पालन किया जाता रहा। इसी [illegible] 3 अतिरिक्त परगने रणजीतसिंह को दे दिये थे।[113]

[illegible] 1803 ई. में देश की राजनीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन आये। भारत [illegible]सासियों के प्रभाव को समाप्त करने तथा देश मे ईस्ट इन्डिया कम्पनी की सत्ता को सर्वोच्च स्थान दिलाने के उद्देश्य से गवर्नर जनरल लार्ड वेलेजली ने 'सहायक सन्धि प्रथा' की नीति को अपनाया। मराठों ने इस नीति का समर्थन नहीं किया। परिणामतः मराठों और अंग्रेजों के बीच अगस्त 1803 ई. में युद्ध आरम्भ हो गया। अंग्रेजी सेनानायक जनरल लेक ने सिन्धिया के अधीन अलीगढ़ के किले पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया। इस बदलती हुई परिस्थिति मे जाट राजा रणजीतसिंह, लगभग दो दशक से सिन्धिया के साथ चल रही मैत्री का परित्याग कर अंग्रेजों के साथ समझौता करने के लिए प्रयत्नशील हो गया। उसके वकील दयाशंकर और फौजदार शिवसिंह जनरल लेक से अलीगढ़ के शिविर मे मिले।

14 सितम्बर को अंग्रेजों ने दिल्ली में प्रवेश करके गढ़ पर अपना झंडा फहरा दिया तथा मुगल सम्राट् को अपने नियन्त्रण में ले लिया। दिल्ली को कर्नल आक्टरलोनी के अधिकार में छोड़ कर 24 सितम्बर को लेक ने आगरा की ओर प्रयाण किया। बयाना के निकट कानावर गांव में स्वयं जाट राजा रणजीतसिंह ने जनरल लेक से मुलाकात की और भावी सन्धि की रूपरेखा तैयार की। फलतः 29 सितम्बर, 1803 ई. को अंग्रेजों और जाट राजा के बीच पारस्परिक सहयोग की सन्धि हो गई। जाट राजा रणजीतसिंह ने 5000 घुड़सवार अंग्रेजो की सहायतार्थ आगरा भेजे। उत्तरी भारत के शासकों में सर्वप्रथम भरतपुर के जाट राजा ने ही ब्रिटिश सरकार के साथ मैत्री की थी।[114]

इस सन्धि से जाट राज्य को बड़ा लाभ हुआ था। दो लाख रुपये वार्षिक कर के रूप में जो मराठों को दिये जाते थे, उससे अब जाट राजा मुक्त हो गया। जाट राज्य की सुरक्षा का दायित्व ब्रिटिश सरकार ने ले लिया था। इसके अतिरिक्त किशनगढ़, कठूमर, रेवाड़ी, गोकुल और सहर के प्रदेश भी अंग्रेजों ने जाट शासक रणजीतसिंह के सुपुर्द कर दिये थे।

दिसम्बर के अन्त तक भोंसले और सिन्धिया ने ईस्ट इन्डिया कम्पनी द्वारा प्रस्तावित सन्धियों पर हस्ताक्षर कर दिये। अब यशवन्तराव होल्कर ही एक ऐसा मराठा सरदार बचा था जिसका वर्चस्व अभी भी सर्वत्र छाया हुआ था। अक्टूबर में जब भोंसले और शिन्दे बरार क्षेत्र में अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्षरत थे, तब होल्कर ने उज्जैन को लूट लिया तथा परम्परागत कर-संग्रह करता हुआ शीघ्रतापूर्वक वह जयपुर राज्य की सीमा पर आ धमका। उसने जयपुर राज्य से वार्षिक कर की मांग की तथा आक्रमण करने की धमकी भी दी। जयपुर राज्य अंग्रेजों के साथ 'सहायक सन्धि' कर चुका था; अतः जयपुर के विरुद्ध होल्कर का कार्य अंग्रेजों के विरुद्ध सीधी चुनौती थी। जनरल लेक द्वारा कड़ी चेतावनी देने के बाद भी जब होल्कर जयपुर राज्य में अपने परम्परागत चौथ के अधिकार को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुआ, तो अप्रेल 1804 ई. में होल्कर के साथ अंग्रेजों का युद्ध आरम्भ हो गया।[115]

कोटा के निकट मुकन्दरा की घाटी में कर्नल मान्सन की जो दुर्दशा हुई, उससे अंग्रेजों की शक्ति को बडा आघात पहुंचा था और यशवन्तराव होल्कर को नवीन स्फूर्ति प्राप्त हो गई थी। उसने अपनी विशाल सेना के साथ उत्तर की ओर प्रयाण किया। मथुरा पर उसका अधिकार हो गया और आठ अक्टूबर, 1804 ई. को उसने दिल्ली पर आक्रमण कर दिया। होल्कर की इन महत्त्वपूर्ण सैनिक उपलब्धियों से जाट राजा रणजीतसिंह बड़ा प्रभावित हुआ। पिछले एक वर्ष से अंग्रेजों के साथ उसकी मैत्री थी, परन्तु अब उसका झुकाव अंग्रेजों के विरुद्ध होल्कर के पक्ष में होने लगा था। इसके कई कारण थे। रणजीतसिंह को यह भय होने लगा था कि ब्रिटिश सरकार उसके राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करेगी। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों की धार्मिक गतिविधियों से जाट राजा शंकित था। फिर होल्कर ने बार-बार अपने प्रतिनिधि जाट राजा के पास भेजे और उससे अंग्रेज-विरोधी इस अभियान में सम्मिलित होने का आह्वान किया था। उसे पुरानी जाट-मराठा दोस्ती की याद दिलवाई गई। जोधपुर के महाराजा मानसिंह का वकील चन्दनलाल होल्कर से बातचीत करने मथुरा जाते समय जाट राजधानी भरतपुर में ठहरा था। उसने रणजीतसिंह को सूचित किया कि महाराजा मानसिंह फिरंगियों के विरुद्ध होल्कर को मदद करने के पक्ष में है। इससे प्रोत्साहित होकर रणजीतसिंह ने भी होल्कर को मदद देने का निश्चय किया था।

उपर्युक्त सभी कारण विशेष महत्त्व के नहीं माने जा सकते। रणजीतसिंह द्वारा मराठों को सहयोग देने का मूल कारण यह था कि होल्कर ने रणजीतसिंह को कुछ नये परगने देने की बात कही थी। नई भूमि के प्रलोभन में आकर ही जाट राजा रणजीतसिंह ने होल्कर को मदद देने का निर्णय लिया था।[116]

जनरल लेक का अपनी सेना के साथ समय पर दिल्ली पहुंच जाने से होल्कर दिल्ली पर अधिकार करने में असफल रहा। दिल्ली से लौटते समय होल्कर को जनरल लेक ने फर्रूखाबाद नामक स्थान पर पराजित किया था। इसके बाद होल्कर भाग कर डीग पहुंचा। जनरल लेक भी उसका पीछा करता हुआ डीग के निकट आ धमका। रणजीतसिंह ने अपने लड़के लक्ष्मणसिंह और दीवान रायसिंह के नेतृत्व में तीन बटालियनें होल्कर की सहायतार्थ डीग भेजीं। अंग्रेजों के साथ की गई मित्रता की सन्धि का परित्याग कर दिया गया। जनरल लेक ने डीग को घेर लिया। कई दिनों तक गोला-बारी चलती रही जिससे अपार जन-हानि हुई थी। 23 दिसम्बर, 1804 ई को अंग्रेजों ने जोरदार आक्रमण कर किले की दीवारों को भेद दिया था। 24 दिसम्बर को रणजीतसिंह की सेना और मराठे डीग को छोड़कर भरतपुर के अभेद्य किले में प्रविष्ट हो गये और युद्ध की तैयारी में जुट गये। राजा अन्दर से गढ़ की रक्षा कर रहा था तथा होल्कर बाहर से घेरा डालने वालों को तंग कर रहा था। लार्ड लेक ने 2 जनवरी, 1805 ई. को लगभग 10 हजार सेना के साथ भरतपुर के किले के निकट अपने शिविर कायम किये और उस उग्र व भयंकर संघर्ष का आरम्भ हुआ जिसका भारत के इतिहास मे एक विशिष्ट स्थान है। 7 जनवरी, 1805 ई को भरतपुर का घेरा डाला गया। कई दिनों के घेरे के बावजूद अंग्रेज भरतपुर किले में नहीं घुस सके। दुर्ग पर अधिकार करने के लिए कई बार सुनियोजित आक्रमण हुए, परन्तु सभी निरर्थक प्रमाणित हुए और अंग्रेजों को भारी हानि उठानी पड़ी। यद्यपि जनरल लेक भरतपुर के किले पर अधिकार करने में असफल रहा था तथापि उसने रणजीतसिंह के सहयोगी यशवन्तराव होल्कर और अमीरखां को दबाने मे सफलता प्राप्त कर ली। तीन महीने के कठोर घेरे के फलस्वरूप जाट राजा रणजीतसिंह के साधन क्षीण हो चुके थे। वह अब अधिक दिनों तक युद्ध करने की स्थिति में नही था। उसने क्षमा-याचना करते हुए अंग्रेजों के साथ सन्धि करने की प्रार्थना की। अंग्रेजों के साधन भी सीमित हो चुके थे और एक तिहाई अफसर और सैनिक मारे जा चुके थे। सिंधिया की गतिविधियों से भी अंग्रेजों के लिए खतरा उत्पन्न हो गया था। अतः 10 अप्रेल, 1805 ई. को रणजीतसिंह के साथ अंग्रेजों ने एक पृथक् सन्धि कर ली। जाट राजा ने युद्ध के खर्च के रूप में अंग्रेजों को 20 लाख रुपये किश्तो मे देना स्वीकार कर लिया था। अंग्रेज राजा के पास युद्ध के पहले का समस्त राज्य रहने देने को सहमत हो गये। सन्धि की शर्तों का सही तौर से पालन हो, इसके लिए जाट राजा को अपने लड़के को अंग्रेजी

सेनापति के पास रखना पड़ा। यह भी तय रहा कि जाट राजा अपनी शक्ति के अनुसार आवश्यकता पड़ने पर अंग्रेजों की मदद करेगा व अंग्रेजो के शत्रुओं के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखेगा। अंग्रेजों ने भरतपुर राज्य की सुरक्षा की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली। 2 मई, 1905 ई. को गवर्नर जनरल ने इस सन्धि की पुष्टि कर दी। सन्धि के कुछ समय बाद ही जाट राजा रणजीतसिंह की मृत्यु हो गई। उसका लड़का रणधीरसिंह भरतपुर का राजा घोषित हुआ। उसका राज्यकाल 1805 ई. से 1823 ई. तक रहा। इस काल में पहले 1815 ई. तक जाट राजा के अंग्रेजों के साथ सम्बन्ध कुछ कटु रहे परन्तु बाद में 1815 से 1823 ई. तक उनके बीच बड़े मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बने रहे।[117]

सन् 1805 से 1815 ई. तक जाट राजा और अंग्रेजों के बीच मनमुटाव वैर-भाव की स्थिति बनी रही। इसका मूल कारण यह था कि भरतपुर राज्य के कुछ नागरिक और उच्छृंखल जमींदार कम्पनी प्रशासित क्षेत्र में लूट-खसोट कर भरतपुर राज्य की सीमा में घुस जाते थे। भरतपुर का शासक उन्हें अपने यहाँ आश्रय दिया करता था। ब्रिटिश रेजीडेन्ट चार्ल्स मेटकाफ के बार-बार कहने पर भी इन अपराधियों के विरुद्ध जाट-प्रशासन ने कोई कार्यवाही नहीं की। इसके अतिरिक्त अंग्रेज रेजीडेन्ट को यह भी शिकायत थी कि जाट शासक रणधीरसिंह पठान अमीरखां, जयपुर के महाराजा और माचेड़ी के राव से सांठ-गांठ कर अंग्रेज विरोधी गुट बनाने में सक्रिय है। जाट-शासक की ब्रिटिश विरोधी गतिविधियों पर निगरानी रखने के उद्देश्य से एक अंग्रेज प्रतिनिधि को भरतपुर में नियुक्त किया गया किन्तु जाट शासक ने उसे राजधानी में प्रविष्ट तक नहीं होने दिया और न उसके रहने की व्यवस्था ही की। इस पर कम्पनी सरकार ने दिल्ली में स्थित भरतपुर राज्य के वकील को बरखास्त कर अपनी नाराजगी का प्रदर्शन किया। राजनीतिक सम्बन्ध विच्छेद करने की धमकी भी दी। इस पर जाट शासक भयभीत हो गया। 1814 ई. में जाट शासक रणधीरसिंह ने गवर्नर हेस्टिंग्ज से फतहपुर सीकरी में मुलाकात की और क्षमायाचना की। जाट शासक ने भविष्य में सन्धि के प्रति निष्ठावान् रहने का आश्वासन दिया। इसके बाद (1814 ई.) जाट शासक और कम्पनी सरकार के सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण व मित्रवत् रहे। नेपाल-युद्ध, पिंडारियों के दमन और मराठों के विरुद्ध की गई सैनिक कार्यवाही के समय जाट राजा रणधीरसिंह ने स्वामिभक्ति का परिचय दिया था।[118]

संदर्भिका

1. यदुनाथ सरकार, मुगल साम्राज्य का पतन, भाग 2, पृ. 260-61
2. पी. सी. चान्दावत, महाराजा सूरजमल और उनका युग, पृ. 19–20

3. वही, पृ. 22-23; राम पांडे, भरतपुर (1826 ई. तक), पृ. 5
4. द्रष्टव्य: पाद् टिप्पणी 4 पी. सी. चान्दावत, पृ. 23-28
5. राम पाण्डे, पृ. 6-11;
6. कालिकारंजन कानूनगो, हिस्ट्री ऑफ जाट्स एम. सी. सरकार एण्ड सन्स कलकत्ता (1925 ई.) पृ. 45, उद्धृत चान्दावत, पृ. 28-29
7. वी. एल. पानगड़िया, राजस्थान का इतिहास, पृ. 259-60
8. विलियम इर्विन, लैटर मुगलस्, पृ. 322; सतीशचन्द्र, पार्टीज एण्ड पालिटिक्स एण्ड द मुगल कोर्ट, पृ. 112
9. चान्दावत, पृ. 31-32; राम पाडे, पृ. 14-15
10. इर्विन, पृ. 323; कानूनगो, पृ. 51; चान्दावत, पृ. 33
11. इर्विन, पृ. 323–24
12. चान्दावत, पृ. 37-38
13. खाफीखां, 2, पृ. 921; सियार-उल-मुताखिरीन, 1 पृ. 291; कानूनगो, पृ. 55; चान्दावत, पृ. 37-38
14. वी. सी. भटनागर, सवाई जयसिंह, पृ. 102-03
15. खाफीखां भाग 2, पृ. 945; चान्दावत, पृ. 40-41
16. कपटद्वार दस्तावेज, संख्या 1406; चान्दावत, पृ. 44-45
17. सरकार, भाग 2, पृ. 267
18. वही
19. दस्तूर कौमवार, जिल्द 7, पृ. 440-44
20. सूदन कृत सुजान चरित, पृ. 7; भटनागर, पृ. 130-31
21. चान्दावत, पृ. 50, द्रष्टव्य: पाद टिप्पणी नं. 5
22. दस्तूर कौमवार, जि. 7, पृ. 458; टॉड, भाग 2, पृ. 85
23. सरकार, भाग 2, पृ. 267
24. चान्दावत, पृ. 48-49
25. वही, पृ. 49; राम पांडे, पृ. 33
26. दस्तूर कौमवार, जि. 7, पृ. 481; सुजान चरित, पृ. 7-10; ज्वाला सहाय; वाकया-ए-राजस्थान, पृ. 76; सरकार भाग 2, पृ. 269; चान्दावत, पृ. 51-52,
27. गण्डासिंह, अहमदशाह दुर्रानी, पृ. 181-83
28. सरकार, भाग 2, 269
29. दस्तूर कौमवार, जि. 7 पृ. 535 और 548; सुजान चरित पृ. 67; राम पाडे, पृ. 46 द्रष्टव्य: राम पाडे के लेख-राजस्थान हिस्ट्री प्रोसिडिंग, जयपुर अधिवेशन, पृ. 91-93; चान्दावत, पृ. 57-58
30. ज्वाला सहाय, 20 और 31; कानूनगो, पृ. 65-66; राम पांडे, पृ. 46; चान्दावत, पृ.58-59

31. सुजान चरित पृ. 10–26; राम पांडे, पृ. 48
32. चान्दावत, पृ. 61-63
33. सुजान चरित, पृ. 7
34. हरचरनदास, चहार–गुलजार–ए–शुजाई (इलियट द्वारा उद्धृत जि. 8 पृ. 158; तारीखे ग्रहमदशाही, पृ. 22; चान्दावत द्वारा उद्धृत पृ. 69
35. सरकार, भाग 2, पृ. 270; चान्दावत, पृ. 69-72; राम पांडे, पृ. 50-51
36. सुजान चरित, पृ. 73-86 और 93-96
37. सियार-उल-मुतखिरीन भाग 3, पृ. 305-07; सुजान चरित 100-03
38. सरकार, भाग 2, पृ. 270-71; राम पांडे, पृ. 53; चान्दावत, पृ. 81-84
39. तारीख-ए-ग्रहमदशाही, पृ. 47 ए, 52 बी उद्धृत सरकार भाग 2, पृ. 271; चान्दावत, पृ. 84-87
40. सरकार, भाग 1, पृ. 279; चान्दावत, पृ. 102
41. हिंगणे दफ्तर, 2, पत्र 23; तारीखे ग्रहमदशाही, पृ. 48 ब
42. सुजान चरित, पृ. 163-79; कानूनगो, पृ. 85
43. तारीखे ग्रहमदशाही, पृ. 84
44. दस्तूर कौमवार, जि. 7, पृ. 567; सुजान चरित, पृ. 222-23
45. तारीखे ग्रहमदशाही, पृ. 89 ग्र-90 ब; सरकार, भाग 1, पृ. 278
46. तारीखे ग्रहमदशाही, पृ. 91 ब; चान्दावत, पृ. 99
47. सरकार, भाग 1, पृ. 279; चान्दावत, पृ. 100-102
48. सरकार, भाग 1, पृ. 279-80 और 282-83; चान्दावत, पृ. 110-111
49. वही, पृ. 283; सरदेसाई, भाग 2, पृ. 377 (अंग्रेजी); चान्दावत, पृ. 111-114; नटवरसिंह, महाराजा सूरजमल, पृ. 75; यदुनाथ सरकार के आधार पर खाडेराव की मृत्यु 15 मार्च दी है।
50. तारीखे ग्रहमदशाही, पृ. 128 (ग्र); चान्दावत, पृ. 115-118; द्रष्टव्य: नटवरसिंह, कुम्हेर का घेरा, पृ. 69-78
51. चान्दावत, पृ. 118–119
52. चान्दावत द्वारा उद्धृत-तारीखे आलमगीर सानी, पृ. 58
53. सरकार, भाग 2, पृ. 273-74; द्रष्टव्य पाद टिप्पणी, पृ. 274; सूरजमल यह बात नहीं भूल सकता था कि वह एक किसान का पुत्र था और जवाहर भी यह नहीं भुला सकता था कि वह राजा का पुत्र था। ऐसी स्थिति में पिता और पुत्र की प्रकृति में भिन्नता होना स्वाभाविक ही था।
54. सरकार, भाग 2, पृ. 71 और 274–75; चान्दावत, पृ. 147
55. चान्दावत, पृ. 138-39
56. तारीखे आलमगीर सानी, पृ. 109 (ब) एवं 114 (ब); कानूनगो, हिस्ट्री ऑफ जाट्स, पृ. 54-57 (1982)
57. पेशवा दफ्तर, 21 पत्र 3 भाऊ बखर (पृ. 38) के आधार पर कानूनगो में

10 लाख रुपये देने के समझौते का उल्लेख किया है, पृ. 58 (1982)
58. सरकार, भाग 2, पृ. 275
59. वही, पृ. 132
60 तारीखे मुजफ्फरी, पृ. 177; कानूनगो पृ. 61 (1982) की यह मान्यता सही नहीं प्रतीत होती कि बरारी घाट की घटना के पूर्व ही वजीर जाट दुर्ग में पहुंच गया था। द्रष्टव्य: चान्दावत, पृ. 160, पाद टिप्पणी 2
61. सरकार, भाग 2, पृ. 140; गण्डासिंह, दुर्रानी, पृ. 233
62. पेशवा दफ्तर, 21 पत्र 186
63. चान्दावत, पृ. 163-64
64. राम पाडे, पृ. 69
65. चान्दावत, पृ. 166
66. सरकार, भाग 2, पृ. 158
67. सरकार, भाग 2, पृ. 158-160; कानूनगो, पृ. 69-73 (1982); राम पाण्डे, पृ. 70-71; चान्दावत, पृ. 177-184;
68. एच. जी. कीने, फाल ऑफ द मुगल एम्पायर, पृ. 83
69. ग्रान्ट डफ, 2 पृ. 146
70. मीरात-ए-अहमदी, पृ. 908 और 917; भाऊ बखर पृ. 161-62 चान्दावत का कथन है कि काशीराज द्वारा एवम् भाऊ बखर में भूल से डीग में शमशेर बहादुर की छतरी निर्माण करवाने का उल्लेख हुआ है। यह छतरी वर्तमान में बयाना के किले के भीतर विद्यमान है। द्रष्टव्य, पृ. 187, पाद टिप्पणी 4
71. सरकार, भाग 2, पृ. 234-35; गण्डासिंह, दुर्रानी, पृ. 263-64; चान्दावत पृ. 189-190
72. सरकार, भाग 2, पृ. 276 किले पर अधिकार होने की तिथि 22 जून दी है; परन्तु दिल्ली क्रानिकल्स पृ. 124 पर 12 जून तिथि दी है।
73. सरकार, भाग 2, पृ. 276-77; चान्दावत, पृ. 201-202
74. पेशवा दफ्तर 21 पत्र 90
75. सरकार, भाग 2, पृ. 277
76. चान्दावत, पृ. 212-13
77. सरकार, भाग 2, पृ. 281 सरकार ने वैण्डल के आधार पर ऐसा लिखा है। सियार-उल-मुताखिरीन, बयान-ए-वाकया और वाकया-ए-शाह आलम सानी में सूरजमल की मृत्यु सम्बन्धी विवरण में कुछ भिन्नता है। द्रष्टव्य: कानूनगो, पृ. 83-84 (1982)
78. कानूनगो, पृ. 90
79. सरकार, भाग 2, पृ. 281-283; कानूनगो, पृ. 86, 90 और 91
80. वैण्डल, पृ. 95; सरकार, भाग 2, पृ. 284; कानूनगो, पृ. 94

81. वैण्डल, पृ. 97; सरकार, भाग 2, पृ. 285; मनोहरसिंह राणावत, भरतपुर महाराजा जवाहरसिंह जाट, पृ. 39-40
82. सिलेक्शन्स फ्राम पेशवा दफ्तर, जिल्द 29, पृ. 58; सरकार, भाग 2, पृ. 285
83. कानूनगो, पृ. 93-95; राणावत, पृ. 41-48
84. नजीबुद्दौला-सैय्यद नूरूद्दीन हुसैन कृत, अब्दुर्रशीद कृत अंग्रेजी अनुवाद, अलीगढ़, पृ. 90
85. सरकार, भाग 2, पृ. 290-91; राणावत, पृ. 48-49
86. वैण्डल, पृ. 103-04, सिलेक्शन्स फ्राम पेशवा दफ्तर, जिल्द 29, पृ. 165; सरकार, भाग 2, पृ. 291-92; कानूनगो, पृ 96 99
87. सिलेक्शन्स फ्राम पेशवा दफ्तर, जिल्द 29, पृ. 177; वैण्डल, पृ. 105-06
88. सरकार, भाग 2, पृ. 292-295; राणावत, पृ. 60-65 कैलेण्डर आफ पर्शियन कारेसपोण्डेन्स, जिल्द 2, पृ. 12 बी, वैण्डल, पृ 105-06 सिलेक्शन्स फ्राम पेशवा दफ्तर, जिल्द 29, पृ. 117, 126-27, 204 और 158, चहार गुलजारे शुजाई, पृ. 473 बी-474 ए, काले अखबारात दादा के गोहद युद्ध के लिए और 1767 में अब्दाली के आक्रमण के समय जवाहर की नीति के लिए द्रष्टव्य।
89. सरकार, भाग 2, पृ. 295
90. सिलेक्शन्स फ्राम पेशवा दफ्तर, जिल्द 29, पृ. 149-152, 185 और 215; राणावत, पृ. 65-68
91. कानूनगो, पृ. 106, पाद टिप्पणी 1
92. सरकार, भाग 2, पृ. 296-98; राणावत, पृ. 78-86; मावंडा का युद्ध द्रष्टव्य: वैण्डल, पृ. 108; वंश भास्कर, पृ. 3720-27; चाहर गुलजारे शुजाई, पृ. 49 ए, सिलेक्शन्स फ्राम पेशवा दफ्तर, जिल्द 29, पृ. 192
93. सरकार, भाग 2, पृ. 298-99
94. राणावत, पृ. 86-90, रेने मादे जवाहर की सेवा में था उसने अपने संस्मरण में लिखा है कि जब जवाहरसिंह हाथियों की लड़ाई देख रहा था, उस समय किसी व्यक्ति ने उसकी हत्या कर दी। सुदूर बगाल में राजा शितावराय को भी सूचना मिली थी कि हाथियों की लड़ाई देखते समय जवाहरसिंह की हत्या कर दी गई। कैलेण्डर ऑफ पर्शियन कारेसपोण्डेन्स, जिल्द 2, पृ. 1100
95. कानूनगो, पृ. 118
96. वही, पृ. 120-121; सरकार, भाग 3, पृ. 3
97. सरकार, भाग 3, पृ. 3-4; कानूनगो, पृ. 122
98. कैलेण्डर ऑफ पर्शियन कारेसपोण्डेन्स, भाग 3, पृ. 184

99. सिलेक्शन्स फ्राम पेशवा दफ्तर, भाग 29, पृ. 262 और 246; भाग 17, पृ 214; कानूनगो, पृ. 126
100. कानूनगो, पृ. 132-33
101. वही, पृ. 133
102. सरकार, भाग 3, पृ. 59-60
103. इबरतनामा, भाग 1, पृ. 240-242, चहार गुलजारे शुजाई, पृ. 493 बी, सरकार, भाग 3, पृ. 65
104. कैलेण्डर ऑफ पर्शियन कारेसपोण्डेन्स, भाग 4, पृ. 1184
105. कानूनगो, पृ. 166, पाद टिप्पणी 1
106. वही, पृ. 145-47
107. सरकार, भाग 3, पृ. 72-73
108. वही, पृ. 72
109. कानूनगो, पृ. 150-153; राम पांडे, पृ. 122-123
110. सरकार, भाग 3, पृ. 78-80
111. वही, पृ. 102 और 140, कानूनगो, पृ. 169-71 राम पांडे ने दिल्ली अखबारात के आधार पर आठ लाख की जागीर का उल्लेख किया है (पृ. 129 और 133)
112. राम पांडे, पृ. 136-38
113. वही, पृ. 139
114. सरदेसाई, तृतीय खण्ड, 430-31, राम पांडे, पृ. 141-42
115. सरदेसाई, तृतीय खण्ड, पृ. 433-37 और 438-41
116. राम पांडे, पृ. 143-44
117. सरदेसाई, तृतीय खण्ड, पृ. 444-47, राम पांडे; 147-54
118. राम पांडे, पृ. 157-64

———

अध्याय 8

राजस्थान में सामन्ती व्यवस्था

मध्यकालीन राजस्थान के जन-जीवन में सामन्ती प्रथा का एक विशिष्ट स्थान रहा है। राजस्थान के राजपूत राज्यों मे सामन्त-व्यवस्था का उद्‌भव वहां के शासकों की कुलीय परम्परा से हुआ था। राज्य केवल शासक की सम्पत्ति नहीं था, अपितु कुलीय सामन्तों की सामूहिक धरोहर। राज्य की स्थापना के साथ ही सामन्तों का अस्तित्व प्रारम्भ हो गया था। राजा इन सामन्तों के सहयोग से ही राज्य की स्थापना व इसकी सीमा में विस्तार करने में सक्षम हुआ था। अतः वे सभी अपने को इसका भागीदार समझते थे। उनकी दृष्टि मे राजा अपने कुल का प्रधान था। वे अपने को उसके अधीन नहीं, बल्कि उसका सहयोगी समझते थे। उनका राजा के साथ सम्बन्ध बन्धुत्व व रक्त का था, स्वामी और सेवक का नही। शासक और सामन्त के मध्य भाई-बन्धु के इस सम्बन्ध के कारण शासक की स्थिति बराबर वालों में प्रथम के समान थी। सामन्त घरेलू और राजनैतिक सभी मामलो में सामाजिक समानता का दावा करते थे। जोधपुर के महाराजा मानसिंह (1803–1843 ई.) के काल मे बहुत से सामन्तो को अपनी जागीरों से निष्कासित कर दिया गया था। वे पड़ौसी राज्यों में बैठे रहे और अंग्रेजी रेजिडेन्ट को उन्होंने अपनी जागीरें दिलवाने के लिए प्रार्थना-पत्र भेजा था जिसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया था कि "राजा मानसिंह और हम सब एक ही राठौड़ राजा के वंशज हैं। जब राजा हमारी सेवाएं स्वीकार करता है तो वह हमारा स्वामी है अन्यथा हम सभी उसके भाई-बन्धु हैं। अतः मारवाड़ भूमि पर हमारा समाधिकार है।" इसी पत्र में उन्होंने आगे लिखा था कि "महाराजा मानसिंह के पूर्वज पीढ़ी-दर-पीढ़ी मारवाड़ में शासन करते आये हैं और हमारे पूर्वज उनके मन्त्री तथा सलाहकार के रूप मे रहे हैं। राज्य के सभी महत्वपूर्ण कार्य सामन्तों की सामूहिक कार्यवाही द्वारा ही सम्पन्न होते थे।"[1] इसी प्रकार मेवाड़ के प्रमुख ठिकाने देवगढ़ के ठाकुर गोकुलदास (द्वितीय) के विरुद्ध ठिकाने के उप-सामन्तों द्वारा राणा को प्रेषित एक विरोध-पत्र में स्पष्ट लिखा था कि जिस प्रकार ठाकुर का राणा के साथ पारिवारिक सम्बन्ध है, उसी प्रकार उनका

अपने ठाकुर के साथ पारिवारिक सम्बन्ध है। हम सबको अपने-अपने क्षेत्रों में भाई-बंट का अधिकार है।[2] उक्त उदाहरणों से राजस्थान की सामन्ती प्रथा के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

राज्य के महत्त्वपूर्ण और विश्वसनीय पदों पर सामान्यतः स्वकुलीय सामन्तो की ही नियुक्ति की जाती थी। एक ही कुल के सदस्य होने के कारण तथा स्वामी-धर्म के सिद्धान्त से उत्प्रेरित होकर वे राजा की सेवा करने के लिए सदैव तत्पर रहते थे। युद्ध के समय सामन्त राजा की सहायता करते थे, उनमें यह भावना निहित थी कि वे अपने पैतृक सम्पत्ति की सामूहिक रूप से रक्षा करने हेतु ऐसा कर रहे हैं।[3]

राजा की ओर से अपने भाई-बेटों को जीवन-यापन हेतु भूमि दे दी जाती थी जो उनकी वंशानुगत जागीर के रूप में अक्षुण्ण रहती थी। राजा अपने सामन्तों को 'भाई जी' और 'काका जी' आदि आदर सूचक शब्दों से सम्बोधित करते थे। इसी प्रकार सामन्त राजा को 'बापजी' कह कर सम्बोधित करने में गर्व का अनुभव करते थे, क्योंकि राजा उनके वंश का मुखिया था और वह कुल का प्रतिनिधित्व करता था।[4]

स्वकुलीय सामन्त जो अपनी-अपनी खांप के 'पाटवी' थे, अपने अधीन क्षेत्र में एकाधिकार शासक के रूप में आचरण करते थे। वे रावत, राव, रावराजा जैसी सम्मानसूचक पदवियां धारण करते थे। सामान्यतः वे 'ठाकुर' कहलाते थे। सामन्त कई खांपों में विभाजित थे। प्रत्येक खांप का एक मुखिया या पाटवी होता था। ठाकुर भी अपने भाई-बेटों को जीवन-निर्वाह के लिए अपनी जागीर में से भूमि वितरित करता था। ठाकुर अपने उप-सामन्तों की मदद से, जिन्हें 'छुट-भाई' की संज्ञा दी गई थी, अपनी जागीर में शान्ति व सुव्यवस्था कायम रखने सम्बन्धी कर्तव्यों का पालन करता था। ये छुट-भाई अपने 'पाटवी' के प्रति पूर्ण निष्ठावान् होते थे। ठिकाने की जमीयत (बिरादरी की सेना) इन्हीं छुट-भाइयों की सैनिक टुकड़ियों से बनी होती थी और राज्य के विभिन्न ठिकानेदारों की सैनिक टुकड़ियों को मिलाकर राजकीय सेना का गठन होता था जिसका प्रयोग देश की रक्षार्थ व उसकी सीमा-विस्तार हेतु किया जाता था। धीरे-धीरे राज्य में एक ही खांप के कई स्वतन्त्र ठिकाने स्थापित हो गये थे, फिर भी वे सभी अपने 'पाटवी' (प्रथम) ठिकानेदार को ही अपना नेता मानते थे और उसके प्रति उनकी निष्ठा बनी रहती थी। ठिकानों के सैनिक अपने ठाकुर को ही सर्वस्व मानते थे। राजा के प्रति उनकी कोई जिम्मेवारी नहीं थी। यदि उनसे प्रश्न पूछा जाता था कि उनकी सेवाएं किसके प्रति हैं—राजा या ठाकुर के? उनका उत्तर यह ही होता था कि 'राज का मालिक वे, पाट का मालिक थे राजा राज्य का स्वामी है परन्तु मेरे मालिक तो ठाकुर ही है। उसका दायित्व व उसकी वफादारी अपने ठाकुर तक ही सीमित थी। सुमेल-गिररी के युद्ध

में (जनवरी 1544 ई) राव मालदेव के चले जाने के बाद बहुत से ठाकुर भी रणक्षेत्र से पलायन कर गये थे। उनके साथ उनके सैनिक भी भाग निकले, परन्तु जिनके स्वामी वहां डटे रहे, उनके सैनिक भी वहां उपस्थित रहे। राव मालदेव के प्रति उनका कोई विशेष दायित्व नहीं था। इस प्रकार उस समय राजपूत राज्य एक शिथिल संघ-व्यवस्था के रूप में था जिसमें अनेक स्वतन्त्र व अर्द्ध-स्वतन्त्र प्रशासनिक इकाइयों का जमघट था।[5]

राजस्थान के राज्यों में स्वकुलीय सामन्तों के अतिरिक्त अन्य समकक्ष राजपूत सामन्त भी होते थे। उनका राजा के साथ स्वामी और सेवक का सम्बन्ध होता था। ऐसे सामन्तों का अस्तित्व व सम्मान राजा की कृपा पर ही निर्भर था। ऐसी स्थिति में इन सामन्तों का राजा के प्रति वफादार रहना स्वाभाविक था। इनमें से कुछ राजपूत सामन्त तो वे थे, जिनका विभिन्न क्षेत्रों पर किसी विशिष्ट राजपूत राजघराने के आधिपत्य स्थापित होने के पहले से ही अधिकार था। कम शक्तिशाली होने के कारण उन्होंने नवोदित शासक का सामन्त बनना स्वीकार कर लिया। उनकी भूमि पहले की भांति उन्हीं के पास बनी रही। वे नवोदित शासक को कुछ रकम कर के रूप में दे देते थे और समय-समय पर शासक की सेवा में भी उपस्थित होते थे। मारवाड़ में भाटी, तंवर, चौहान, जाड़ेचा आदि इस श्रेणी के सामन्त थे। बीकानेर राज्य में सांखला, भाटी, निरवाण आदि राजपूत ठिकानेदारों की गणना भी इसी प्रकार के सामन्तों में की जाती थी। समकक्ष राजपूत सामन्तों के राजकीय कुल से शादी-सम्बन्ध भी होते थे। ऐसे सामन्तों को 'गनायत' के नाम से सम्बोधित किया जाता था। कुछ परदेशी राजपूतों ने अपनी विशिष्ट सेवाओं के लिए विभिन्न राज्यों में सामन्त-पद प्राप्त कर लिया था। उदाहरण के रूप में मेवाड़ के झाला, राठौड़ परमार आदि सामन्तों का उल्लेख किया जा सकता है। ऐसे समकक्ष राजपूत सामन्तों के कारण राज्य में शक्ति-संतुलन भी बना रहता था।[6]

कर्नल टॉड ने राजस्थान की सामन्ती प्रणाली की तुलना मध्ययुगीन यूरोपीय सामन्ती पद्धति से की है। इस सम्बन्ध में डा. जी. एन. शर्मा का मत है कि इसमें कोई सन्देह नहीं कि यहां की सामन्त-पद्धति और यूरोप की सामन्त-प्रणाली में कई साम्यताएं हैं, परन्तु राजस्थानी सामन्त-प्रथा एक प्रकार की सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था का रूप है जिसमें नेता के रूप में एक राजा रहता है और उसके साथ उसी के वशंज या अन्य जाति के वंशज उसके साथी और सहयोगी बने रहते हैं। जबकि यूरोप में एक स्वामी के साथी ऐसे आश्रित के रूप में रहते थे जिनकी कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं थी। यहां एक प्रकार से राजा के सामन्त उसी या समकक्ष वंश के होने से राज्य के बराबरी के हिस्सेदार होते थे।[7] यहां यूरोप और राजस्थान में प्रचलित सामन्ती व्यवस्था पर कुछ विस्तारपूर्वक विचार करना समीचीन ही होगा।

राजस्थानी सामन्ती प्रथा व यूरोपीय सामन्ती प्रथा में अनेक विषमताएं स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती हैं। सर्वप्रथम तो इस प्रथा का दोनों स्थानों पर विभिन्न

परिस्थितियों में उदय होना है। रोमन साम्राज्य के पराभव काल मे और पतन के समय यूरोप में सर्वत्र अराजकता व अशान्ति फैल गई। सरकार अपनी प्रजा की जान व माल की सुरक्षा प्रदान करने के प्राथमिक कर्तव्य का पालन करने मे असमर्थ थी। फलतः यूरोपीय समाज के लिए अपरिहार्य हो गया था कि आन्तरिक सुरक्षा हेतु कोई उपाय निकाले। यूरोप मे सामन्त-प्रथा का उदय इसी युक्ति के फलस्वरूप हुआ। टॉड व गिबन प्रभति विद्वानों ने भी स्वीकार किया है कि यूरोप मे सामन्ती प्रथा का जन्म बर्बरतापूर्ण वातावरण के फलस्वरूप हुआ था। स्थानीय जन-धन की रक्षा का दायित्व सामन्तों पर डाला गया। सामन्तों को अपने क्षेत्र में अमन व चैन रखने के लिए अनेक अधिकार दिये गये; जैसे सिक्कों का प्रचलन करवाना, निजी तौर पर युद्ध लड़ना, सामन्ती कर के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार के कर न देना, अपने क्षेत्र के लिए कानून बनाना व न्याय करना आदि। यूरोप में सामन्त और राजा के बीच एक सौदेबाजी थी। उनका सम्बन्ध स्वामी और सेवक का था। इसका आधार पारस्परिक सुरक्षा व सेवाएं थी। राजस्थान मे सामन्ती प्रथा के अभ्युदय के लिए ऐसी परिस्थितियां नही थी। राजा और सामन्त का सम्बन्ध रक्त और बन्धुत्व का था; इसलिए प्रत्येक सामन्त अपनी पैतृक सम्पत्ति का दावा करता था और उस सम्पत्ति का हिस्सा उसे जागीर के रूप मे मिलता था। वे अपने मुखिया के साथ सामाजिक समानता की अपेक्षा करते थे। वे राजा को अपना नेता मानते थे। यूरोप में सामन्त भूस्वामी के रूप में था और उसे व्यापक अधिकार प्राप्त थे, जबकि राजस्थान में इसके विपरीत सामन्त को राज्य कुल का सदस्य होने के नाते भूमि का उपभोग करने का अधिकार प्राप्त था। राजस्थान में सामन्ती प्रथा राजा की क्षीणता से विकसित नहीं हुई, जैसा कि यूरोप में हुआ था। यूरोप के सामन्तों की भाँति राजस्थान में सिक्को को ढलवाने, अपने क्षेत्र के लिए स्वतन्त्र रूप से कानून बनाने, न्याय करने आदि जैसे व्यापक अधिकार उन्हें कभी भी प्राप्त नही थे। सामन्त लोग युद्ध में राजा की सहायता करते थे। उसके पीछे भी यह विचार निहित था कि वे अपनी पैतृक सम्पत्ति की सामूहिक रूप से रक्षा करने हेतु ऐसा कर रहे हैं।

द्वितीय विषमता इस बात में है कि यूरोप में भूमि राजा की मानी जाती थी। जमीन का स्वामित्व राजा का था। उसके विपरीत राजस्थान में भारत के अन्य भागों की तरह भूमि का स्वामी किसान था राजा या उसका सामन्त तो भूमि की उपज का भाग लेने का अधिकारी था। राजा के पास भूमि के सम्बन्ध मे मात्र उपभोक्ता का अधिकार था, स्वामित्व का अधिकार नही। राजा जागीरदार को अपने अधिकार का हस्तान्तरण उतना ही कर सकता था जितना कि उसका अधिकार था, इससे अधिक नही।

राजस्थान में सामान्यतः न्याय का कार्य तो ग्राम पंचायत या जाति पंचायत के हाथ में था। यह व्यवस्था राजस्थान के सामन्ती युग मे विद्यमान थी; और इन

पंचायतों के कार्यों मे सामन्त वर्ग कभी भी हस्तक्षेप नहीं करता था। यूरोप में इस प्रकार की संस्था कभी नहीं रही। वहां सामन्त के पास न्याय-सम्बन्धी सभी अधिकार प्राप्त थे। राजस्थान में 19 वी शताब्दी में कुछ सामन्तों को न्याय-सम्बन्धी अधिकार मिले, वे भी आंशिक रूप मे ही। यूरोपीय सामन्ती प्रथा के अन्तर्गत पंचायत जैसी संस्थाओं का होना सम्भव ही नही था। यूरोपीय सामन्ती प्रथा जो प्रजातान्त्रिक सिद्धांतों से मेल नहीं खाती थी, वहां पंचायतों का लोकतान्त्रिकता के प्रतीक के रूप में होना असम्भव था।

यूरोप मे जमीन जोतने वाला बेगारीदास या अर्द्धदास था, जबकि राजस्थान में इस प्रकार की कृषिदासता (सर्फ) जैसी किसानों की स्थिति कभी नहीं हुई।

यूरोप में सामन्त अपने स्वामी की मदद में युद्ध करने जाता था। यह उसका दायित्व था और एक प्रकार से यह उनके आपसी समझौते का परिणाम था। राजस्थान मे जागीरदार राजा को युद्ध में सैनिक सहायता देता था क्योंकि उसका उससे व्यक्तिगत व रक्त का सम्बन्ध था। राज्य उनकी सामूहिक धरोहर था जिसकी रक्षा करना उनका कर्त्तव्य था।

अन्त में, हम यह भी देखते हैं कि यूरोप में जब राजसत्ता का उदय हुआ, यानी राजा जब शक्तिशाली व प्रभुसत्ता सम्पन्न हो गया तो सामन्तों का पतन हुआ और शनैः-शनैः सामन्ती प्रथा पूर्णतः लोप हो गई। राजस्थान में राजा और सामन्तों की संस्थाएं साथ-साथ अन्त तक चलती रहीं। अतः यह स्वीकार करना तर्कसंगत ही होगा कि यूरोप और राजस्थान में सामन्ती प्रथा का अभ्युदय भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में हुआ और उनके विकास में भी कोई विशेष समता नही रही। राजस्थान में सामन्ती प्रथा का विकास सामाजिक व नैतिक कारणों से हुआ, राजनीतिक आवश्यकता के कारण नही।[8] कर्नल टॉड ने जिन मुद्दों को लेकर यूरोप और राजस्थान की सामन्ती व्यवस्था मे साम्य बताने का प्रयास किया है वह युक्तियुक्त नही है। खड्गबन्दी के समय सामन्त द्वारा दी जाने वाली धनराशि (नजराना) वैध उत्तराधिकारी के अभाव मे जागीर का राजगमन किये जाने, सामन्त को अपने स्वामित्व का हस्तान्तरण करने, राजपरिवार में विवाह के अवसर पर दी जाने वाली 'न्योत' (धनराशि), सामन्ती कर और अवयस्क सामन्त के रक्षापद की स्थिति को लेकर टॉड द्वारा जो इन दोनों व्यवस्थाओं में समानताएं प्रदर्शित की गई हैं, वे मात्र संयोगवश हैं, सामन्ती प्रथा के आवश्यक लक्षणों के रूप में नहीं। इसलिए यह मानना ठीक ही होगा कि यूरोप की सामन्त-व्यवस्था राजस्थान की सामन्त-व्यवस्था से मेल नहीं खाती।[9] टॉड ने जिस समय इस प्रथा को देखा था, उस समय राजस्थान के सामन्त निर्बल हो चुके थे और उस समय उनकी स्थिति बहुत कुछ राज्य के आश्रित के रूप मे थी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि राजस्थान के राजपूत राज्यों में कुलीय सामन्त प्रारम्भ से ही बड़े शक्तिशाली थे। राज्य के कार्य, व्यवस्था और प्रबन्ध में

उनकी साझेदारी रहती थी। सामन्तों की इच्छा के विपरीत शासक के लिए सामन्यतः कोई भी महत्त्वपूर्ण निर्णय लेना सम्भव नहीं था। उत्तराधिकारी के मामले में भी सामन्तों का दखल रहता था। मारवाड़ के सामन्त तो इतने शक्तिशाली थे कि उन्होने शासक के निर्णय के विरुद्ध भी कदम उठाया था। राव सूजा ने अपने पौत्र वीरम को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था, परन्तु सामन्तों ने वीरम को सिंहासन के योग्य नही समझा तथा वीरम के स्थान पर उसके भाई गांगा को गद्दी प्रदान कर दी थी। इस तरह का उदाहरण राव जोधा के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी (ज्येष्ठ पुत्र) जोगा को गद्दी न देकर सातल को सिंहासन पर आरूढ़ करना है। इस सम्बन्ध में मारवाड़ में तो एक कहावत प्रचलित थी - 'रिड़मलां थापिया जिके राजा' - अर्थात् राव रणमल के पुत्रों व वंशजों की सहमति से ही मारवाड़ के राजसिंहासन पर कोई आसीन हो सकेगा।[10]

राजस्थान के राज्यों के कुल क्षेत्र का लगभग 80 प्रतिशत भूभाग स्वकुलीय व अधीनस्थ सामन्तों के अधिकार में था। राज्य के उपजाऊ भाग पर भी इनका स्वामित्व था। इस तथ्य ने आने वाले समय में शासक-सामन्त सम्बन्धों पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला था। शासक की महत्त्वाकांक्षाओं तथा राज्य के बढ़ते हुए उत्तरदायित्वों के कारण जब शासकों ने खालसा भूमि में वृद्धि करने का प्रयास किया, तब राजा और सामन्तो के बीच तनाव का वातावरण बनने लगा। वस्तुतः राजाओं और सामन्तो के पारस्परिक विरोधी हितों के फलस्वरूप यदा-कदा उनके बीच आपसी मतभेद होना स्वाभाविक था। सामन्त राज्य में स्वकुलीय व्यवस्था को अक्षुण्ण रखने के पक्ष में थे जबकि शासक अपनी शक्तियों व प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील थे। वे शासकीय नेतृत्व के अधीन सामन्ती व्यवस्था को संगठित करना चाहते थे।[11]

मारवाड़ में राव गांगा के काल में सामन्तों की शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई थी। वे सामान्यतः स्वतन्त्र शासक की भांति व्यवहार करने लगे थे। राव मालदेव ने इनकी शक्ति को क्षीण करने के प्रयास किये, परन्तु उसे इस कार्य में पूर्ण सफलता नहीं मिली। वीरम से मालदेव ने मेड़ता व अजमेर छीन लिये थे जिसका परिणाम उसे सुमेल गिररी के रणक्षेत्र में भुगतना पड़ा था। मारवाड़ में सामन्तों के शक्तिशाली होने पर भी उनमें स्वामिभक्ति की भावना प्रबल थी, इसलिए मारवाड़ में शान्ति व्यवस्था सामान्यतः बनी रही। ऐसे बहुत कम अवसर आये जब सामन्तों ने विपत्ति के समय अपने स्वामी का साथ न दिया हो।[12]

राजस्थान में मुगलों का आधिपत्य स्थापित हो जाने पर राजपूत राज्यों की सामन्त-व्यवस्था में परिवर्तन आने लगा था। अब सामन्तों का अपने राजाओं के साथ सम्बन्ध भाई-बन्धु का न रहकर स्वामी और सेवक का होने लगा था। मेवाड़ ने मुगलों की अधीनता स्वीकार नही की थी और राणा प्रताप तथा उसका उत्तरा-

धिकारी राणा अमरसिंह मुगलों से दीर्घकाल तक निरन्तर युद्ध करते रहे। मेवाड़ के सामन्त जो पहले मारवाड़ और कुछ अन्य राज्यों के सामन्तों की तुलना में कम शक्तिशाली थे, अब अधिक शक्तिशाली हो गये क्योंकि युद्ध-काल में राणा की शक्ति का आधार सामन्त ही थे। सामन्तों के सहयोग से ही राणा शाही सेना का मुकाबला करने में सक्षम हो सका था। मुगलों के साथ समझौता होने के बाद भी राणा मुगल दरबार में उपस्थित नही होता था। मुगल-राजनीति में राणा अन्य रजवाड़ों की तुलना में पीछे रह गया था। मेवाड़ के मुगलों—सम्पर्क में आने के पहले सामन्तों के मुख्य गांवो के अलावा अन्य गांवों मे समय-समय पर अदला-बदली होती रहती थी जिससे उनका अपने क्षेत्र में स्थायी प्रभाव स्थापित नही हो पाता था। अब दीर्घकालीन युद्ध के समय और बाद में भी सामन्तों के गांवों मे हेरा-फेरी करना राणा के लिए सम्भव नही हो सका था। अतः एक स्थायी क्षेत्र पर सामन्तों का अधिकार बना रहा जिससे वे अधिक शक्तिशाली बने। दरबार में प्रथम श्रेणी के सामन्तो की बैठक राज्य के उत्तराधिकारी युवराज से भी आगे लगती थी।[13]

मेवाड़ राज्य के अतिरिक्त अन्य सभी राज्यों में सामन्तों की शक्ति कम हो गई। अब राज्य में अव्यवस्था, चोरी, डकैती आदि को रोकने के लिए राजा मुगल सेना की सहायता प्राप्त कर सकता था। यदि सामन्त सिर उठाता तो राजा मुगल सेना की मदद से उसे कुचल देने की स्थिति में था। मारवाड़ के मोटे राजा उदयसिंह ने अकबर बादशाह की अधीनता स्वीकार कर ली थी। उसने उन सभी सामन्तों को दण्ड दिया जिन्होंने उसके प्रतिद्वन्द्वी भाई चन्द्रसेन का साथ दिया था। मुगल सेवा में रत रहने की वजह से राजाओं के अधिकारों और पदों में वृद्धि हो गई और सामन्त धीरे-धीरे पूर्ण रूप से राजाओं के आश्रित होने लगे। राजपूत नरेशों ने व्यवस्थित तरीके से उनके अस्तित्व को सैनिक सहयोगियों के रूप में बदलना आरम्भ कर दिया। सैनिक सहयोग देने की एवज में उन्हें जागीरें दी जाने लगीं। प्रदत्त जागीर की आय के अनुसार सामन्तों से राजा सैनिक सहायता प्राप्त करने लगा। सामन्तों द्वारा दी जाने वाली सैनिक सहायता मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित की जा सकती है—युद्धकालीन सेवा और शान्तिकालीन सेवा। युद्ध के समय सामन्त को अपने-आप या जिलायत आदि की सेना के साथ राजा की सेवा में उपस्थित होना पड़ता था। शान्तिकाल में वह अपने सवार और पैदल परगने के हाकिम के पास नियमित रूप से भेजता था, जिनकी मदद से हाकिम परगने में शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने मे सक्षम होता था।

सैनिक सेवा के सम्बन्ध में कुछ हेर-फेर के साथ सामान्यतः सभी राज्यों में एक से नियम थे। उदाहरणार्थ, मारवाड़ मे सामन्त 1000 रुपये की रेख पर एक घुड़सवार, 750 रुपये पर एक शुतर सवार और 500 रुपये पर एक पैदल सिपाही राजकीय सेवा के लिए प्रस्तुत करता था।[14] मेवाड़ में प्रत्येक सामन्त के लिए प्रति

1000 रुपये की आय पर दो घुड़सवार और चार पैदल सिपाहियों से तीन महीने तक राज्य की सेवा करने का प्रावधान था।[15] जयपुर राज्य में सामन्त प्रति पांच सौ रुपये की आय पर एक सवार और एक हजार की आय पर एक सवार और एक पैदल राजकीय सेवा के लिए भेजने को बाध्य था।[16] बीकानेर राज्य में मारवाड़ की भांति चाकरी के सैनिक निर्धारित करने हेतु रेख-प्रथा प्रचलित नहीं थी। समकालीन स्रोतों से इसके सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रणाली की जानकारी नहीं मिलती, फिर भी ऐसा देखा गया है कि जागीर की 1000 'जमा' पर एक घुड़सवार (जाबता असवार) या कम से कम एक गाव के पीछे एक जाबता असवार को राजकीय सेवा के लिए प्रस्तुत करने का नियम था।[17] जैसलमेर में जागीरदारों को अपनी जागीर से आय बहुत कम होती थी। अतः उन्हें चाकरी के लिए सैनिक नहीं देने पड़ते थे। यदि उनसे सैनिक सेवा ली जाती तो राजा को उनके सैनिकों को वेतन देना पड़ता था।[18]

सामन्तों की आश्रित स्थिति में धीरे-धीरे उन पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे। जागीरदार को रेख, हुकमनामा (उत्तराधिकार शुल्क), न्योत आदि के रूप मे राजा को बहुत बड़ी धनराशि देनी पड़ती थी। मुगल परिपाटी के अनुकूल राजस्थानी सामन्तों की जागीर की उपज का अनुमान निर्धारित किया गया, जिसे 'रेख' कहते थे। रेख के आधार पर ही सामन्तों से राजकीय रकम की वसूली तथा सेवा प्राप्त की जाती थी। मारवाड़ मे रेख शब्द का प्रयोग 'पट्टा रेख' और 'भरतु रेख' के रूप में किया जाता था। 'पट्टा रेख' का तात्पर्य जागीर की उस अनुमानित वार्षिक आय से था जिसका शासक द्वारा प्रदान किये गये जागीर पट्टे में उल्लेख किया जाता था। 'भरतु रेख' वह रकम थी जो जागीरदार 'पट्टा रेख' के आधार पर राज्य खजाने मे जमा करवाता था।[19] महाराजा सूरसिंह (1595-1619 ई.) के काल में सर्वप्रथम जागीरदारों के पट्टो में उनको दिये गये गाव की रेख (आमदनी) दर्ज की जाने लगी। मुगल काल मे व उसके पहले जागीरदार लोग राज्य-रक्षा या राज्य-सीमा मे वृद्धि हेतु महाराजा की तरफ से युद्ध मे भाग लेते थे। अतः उन्हें इस चाकरी (सेवा) के अतिरिक्त कोई अन्य कर नहीं देना पड़ता था। मुगलों के पतन के बाद मराठों के निरन्तर आक्रमणों से महाराजाओं को इस बात के लिए बाध्य कर दिया कि वे मराठों की धन-लोलुपता को शान्त करने के लिए जागीरदारों से धन एकत्र करे। 1755 ई. मे महाराजा विजयसिंह ने एक हजार की आमदनी पर उनसे तीन सौ रुपये के दर से 'मतालबा' नामक कर लेना आरम्भ किया। यही कर बाद मे 'रेख' के नाम से पुकारा जाने लगा। उसके अभी कोई निश्चित नियम नही थे। प्रति 1000 रुपयो की आय की जागीर पर 150 रु. से 500 रु. तक रेख के रूप में राज्य की ओर से वसूली की गई थी। महाराजा मानसिंह के लिए तो यह प्रसिद्ध है 'मान लगाई महीपति रेखा ऊपर रेख'। ऐसी स्थिति में

राजा और सामंतों के बीच तनाव उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। अंग्रेजों के सम्पर्क में आने पर ही इस सम्बन्ध में निश्चित नियम बन सके थे।[20]

नये सामन्त को उत्तराधिकार-शुल्क राजा को देना पड़ता था। जैसे ही जागीरदार की मृत्यु के समाचार प्राप्त होते थे, सरकार की तरफ से एक पदाधिकारी और कुछ सवार जागीर-जब्ती के लिए भेज दिये जाते थे। नये सामन्त को तुरन्त उत्तराधिकारी-शुल्क की रकम बातचीत कर निश्चित करनी पड़ती थी। इसे अलग अलग राज्यों में हुक्मनामा, तेशकशी, कैद खालसा, तलवार बन्धाई, नजराना आदि विभिन्न नामों से पुकारा जाता था। मारवाड़ में सर्वप्रथम मुग़ल प्रद्धति के अनुसार मोटा राजा उदयसिंह (*1583-1595 ई.*) द्वारा नये सामन्तों से उत्तराधिकार-शुल्क लेने की प्रथा चालू की गई थी। उस समय यह शुल्क 'पेशकशी' के नाम से लिया जाता था। इस शुल्क की वसूली के पश्चात् ठिकाने के उत्तराधिकारी के नाम नया पट्टा प्रदान कर दिया जाता था। महाराजा सूरसिंह ने (1595-1619 ई.) पेशकशी की दर जागीर की रेख (वार्षिक आय) के बराबर निश्चित कर दी। महाराजा अजीतसिंह (1619-24 ई.) के काल में इसका नाम हुक्मनामा पड़ गया। इसी समय मारवाड़ में जागीरदारों से 'तागीरात' नाम का एक नया कर भी वसूल किया जाने लगा। हुक्मनामा और तागीरात के अभाव में सामन्त-पद की स्वीकृति नहीं *मानी जाती थी। महाराजा विजयसिंह (1752-1793 ई.)* के समय में मराठों के निरन्तर आक्रमणों के कारण राज्य की आर्थिक स्थिति बहुत खराब थी। महाराजा ने हुक्मनामा की रकम जागीर की आय से दुगनी तक वसूल की और इसके साथ मुत्सद्दी खर्च के रूप में अतिरिक्त धनराशि भी एकत्र की। महाराजा मानसिंह (1803-1843 ई.) के समय में तो हुक्मनामा की रकम की दर में और भी अधिक वृद्धि की गई। इस प्रकार स्वेच्छाचारितापूर्वक हुक्मनामा की रकम की जो वसूली की जा रही थी उसने सामन्तों के मन में राजा के प्रति रोष उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था।[21]

रेख और हुक्मनामा की रकम की वसूली के अतिरिक्त मारवाड़ में अनेक अन्य करों की उगाही भी सामन्तों से की जाती थी; जैसे, राज्याभिषेक के अवसर पर शासक को नजराना, शासक एवं युवराज की प्रथम शादी के समय भेंट और राजकुमारी (बाई जी लाल) के विवाह के उपलक्ष में 'न्योत' के रूप में प्रति *1000* रुपये की रेख पर सामन्तों से क्रमशः 25 रुपये, 100 रुपये और 40 रुपये के हिसाब से रकम वसूल की जाती थी। विभिन्न समय पर अलग-अलग शासकों द्वारा उक्त दरों में हेर-फेर भी कर दिया जाता था।[22] उदयपुर में राज्याभिषेक के समय बड़े-बड़े सामन्तों को 500 रुपये अन्य सामन्तों को एक हजार की रेख पर 20 रुपये के हिसाब से नजराना देने के लिए बाध्य किया जाता था। इस अवसर पर बड़े सामन्तों से एक या दो घोड़ों की भेंट भी अपेक्षित थी। शासक और युवराज की

शादी पर उदयपुर में सामन्तों से राजतिलक की दर से ही रकम वसूल करने की व्यवस्था थी। बाई जी लाल के विवाह पर मेवाड़ी सामन्त प्रति 1000 की रेख पर 150 रुपये न्योत के दिया करता था। कुछ सामन्तों से इस अवसर पर घोड़ों की भी मांग की जाती थी। उदयपुर में महाराणाओं के तीर्थ-यात्रा जाने पर सामन्त प्रति 1000 रुपये रेख पर 75 रुपये के हिसाब से धनराशि भेंट-स्वरूप प्रस्तुत करता था। राजस्थान के अन्य राज्यों में भी कुछ हेर-फेर के साथ सामन्तों द्वारा इस प्रकार के कर देने की व्यवस्था थी।[23]

राजपूताने में मुगल-सत्ता स्थापित हो जाने के पश्चात् वहां राजपूत शासकों और उनके सामन्तों के आपसी सम्बन्धों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आये। अब राजस्थानी शासक अपने सामन्तों की शक्ति की अपेक्षा मुगल-सम्राट् के आश्रय पर अधिक निर्भर हो गया था। अतः सामन्तों का अपने राज्य में महत्त्व कम हो गया था। राजपूत राजाओं ने भी मुगल-सम्राट् का अनुकरण करते हुये सामन्तों को नियन्त्रित करने के प्रयास किये। मुगलों की मंसबदारी-प्रथा से प्रेरणा लेकर राजपूत राजाओं ने भी अपने सामन्तों को पद और प्रतिष्ठा के आधार पर विभिन्न श्रेणियों में विभाजित कर दिया। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि दोनो प्रथाएं साम्य रखती है व एक-सी हैं। साम्य इसी अर्थ में है कि जागीरदारों के दर्जे निश्चित करने से उनकी जागीर की आय और उनके पद और प्रतिष्ठा का निर्धारण हो गया था। मारवाड़ के जागीरदार कई श्रेणियों में विभाजित हो गये थे। इनमें चार मुख्य थे—राजवी, सरदार, मुत्सद्दी और गनायत।

राजा के छोटे भाई व निकट के सम्बन्धी जिन्हें अपने निर्वाह के लिए जागीर दी जाती थी, राजवी कहलाते थे। उन्हें तीन पीढ़ी तक रेख, चाकरी, हुक्मनामा आदि की रकम राज्य खजाने में जमा नही करवानी पड़ती थी। तीन पीढ़ी के बाद ये राजवी भी सामान्य जागीरदारों की श्रेणी में आ जाते थे।

सरदारों को चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी के सरदार सिरायत कहलाते थे। प्रारम्भ में ऐसे सामन्तों की संख्या मात्र आठ थी।[24] परन्तु बाद में इनकी संख्या 12 तक पहुँच गई। इन सिरे के सरदारों का दरबार में बैठने का स्थान राजा के पास सबसे आगे रहता था। वे दो मिसलों में (पंक्तियों में) महाराजा के दाईं और बाईं ओर निश्चित स्थान पर बैठते थे। राव रणमल के वंशज दाईं मिसल और जोधा के वंशज बाईं मिसल के सरदार थे। दाहिनी पंक्ति में शीर्ष स्थान भर आऊवा के चांपावत ठाकुर को और बाईं पंक्ति में प्रथम स्थान पर रीया के ठाकुर (मेड़तिया) को बैठने का अधिकार दिया गया था। सिरायत के सरदारों को दोहरी ताजीम प्राप्त थी। दोहरी ताजीम से तात्पर्य यह है कि जब सरदार राजा के समक्ष उपस्थित होता था तब उसकी उपस्थिति के और प्रस्थान करते समय महाराजा खड़े होकर उसका अभिवादन ग्रहण करते थे। इकहरी

ताजीमी सरदार के लिए राजा केवल आने पर ही उसका अभिवादन ग्रहण करता था। इसके अतिरिक्त कुछ सरदारों को बांह-पसाव और हाथ के कुरब का सम्मान प्राप्त था। जिस सरदार को बांह-पसाव का सम्मान प्राप्त था वह महाराजा के समक्ष उपस्थित होता और अपनी तलवार उनके पैरों के पास रखकर घुटने या अचकन के पल्ले को छूता तब महाराजा उसके कंधों पर हाथ रख देता था। इसी प्रकार जिसे हाथ का कुरब प्राप्त था महाराजा उसके कंधे पर हाथ लगाकर अपने हाथ को अपनी छाती तक ले जाता था। ये ताजीमें भी इकहरी और दोहरी दोनों प्रकार की होती थी। इस प्रकार का सम्मान या कुरब सामन्तों को बहुत बड़ी राजकीय सेवा करने पर ही प्रदान किया जाता था। मारवाड़ में चंडावल के ठाकुर ने महाराजा विजयसिंह से निवेदन किया कि उसे हाथ का कुरब इनायत किया जावे। इसके बदले में वह महाराजा को चालीस-पचास हजार रुपये नजर करने को तैयार था। परन्तु महाराजा ने इस धनराशि को लेना स्वीकार नहीं किया और ठाकुर को कहलाया कि कुरब सिर साटे मिलता है, दाम साटे नहीं।[25] इस प्रकार की ताजीमें व कुरब लगभग सभी राजपूत राज्यों मे सरदारों को देने की प्रथा थी।

गनायत के ठिकाने उन जागीरदारो के थे जिन्हें जागीर या तो राजघराने से शादी-सम्बन्ध के कारण मिली थी या वे राठौड़ों का राज्य स्थापित होने से पहले से ही मारवाड़ के किसी क्षेत्र के स्वामी थे। राठौड़ों का राज्य स्थापित हो जाने पर इन्होंने भी राठौड़ों के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था। ऐसे ठिकाने भाटी, कछावा, हाडा, चौहान, सिसोदिया, तंवर, जाड़ेचा, झाला आदि राजपूतों के थे।[26] मुतसद्दी जागीरदार भी मारवाड़ में थे। उन्हें राज्य-प्रशासन में कार्य करने के एवज में जागीर प्राप्त थी, उनकी जागीरें उनके सेवा-काल तक ही रहती थी। कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जिनकी जागीरें वंशानुगता थीं।

मारवाड़ में एक परम्परागत रीति चली आ रही थी वह यह कि किसी नरेश के स्वर्गगामी होने पर सहानुभूति प्रदर्शित करने हेतु, जैसे साधारण व्यक्ति के घर पर सम्बन्धी और मित्र वर्ग की स्त्रियां जाती हैं। सरदारों और मुतसद्दियों की स्त्रियां रोती हुई किले पर पहुंचती थी। महाराजा सूरसिंह के समय इस प्रथा का अन्त कर दिया गया। इससे यह स्पष्ट है कि मुगलो के सम्पर्क में आने के पहिले महाराजा और सामन्तों के बीच भाईबन्धु का सम्बन्ध था।[27]

मुगलो के प्रभाव के फलस्वरूप ही ताजीम कुरब व सिरोपाव के नियम बनने लगे थे। सिरायतों व अन्य सरदारों को ताजीम, कुरब, बांहपसाव, हाथ का कुरब आदि से सम्मानित किया जाता था। सिरायत के सरदार महाराजा द्वारा भेजे गये खास रुक्कों, —जिनमें ठाकुरो को सम्मान सूचक शब्दों से सम्बोधित किया जाता था— के पहुंचने पर ही राजधानी मे उपस्थित होते थे। लौटते समय उन्हें महाराजा से स्वीकृति प्राप्त करनी पड़ती थी। इसके लिए वे किले पर महाराजा के समक्ष उपस्थित होते थे जहां उन्हें सीख सिरोपाव प्राप्त होता था।[28]

मारवाड़ के प्रशासन में सर्वोच्च स्थान राजा का होता था और उसके नीचे प्रधान की नियुक्ति की जाती थी। प्रधानगी का पद पहले कूपावतों (आसोप के ठाकुर) और बाद में चांपावतों के पास रहा। चांपावतों मे आऊवा और पोकरण के ठाकुरों को ही प्रधान के पद पर नियुक्त किया जाता था। प्रधान को गांवों के दान-पत्रों व जागीरों के पट्टों पर हस्ताक्षर करने का अधिकार था। उन्हें प्रधानगी के लिए वेतन-स्वरूप दो ऊधारे (अतिरिक्त) के गांव दिये जाते थे। उत्सवों और सवारी के अवसरों पर प्रधान महाराजा के ठीक पीछे हाथी पर सवार रहता था और चवर किया करता था।[29]

मारवाड़ में नये राजा के राजतिलक के समय तिलक करने का अधिकार बगड़ी के जैतावत ठाकुर को था। वह अपने अंगुठे को तलवार से चीर कर रक्त से टीका किया करता था। राजतिलक के अवसर पर पूर्व पुरुषों (पुरखों) की नामावली पढ़ी जाती थी। वह राज्य का पोलपात (वंश-कर्मज्ञ) पढ़ा करता था। जोधपुर में मुंधियाड़ के बारहठ ठाकुर को राजतिलक के समय वंशावली की उद्घोषणा करने का अधिकार प्राप्त था।[30]

होली, दीपावली, दशहरा, रक्षा बन्धन, अक्षय तृतीया और राजा के जन्म-दिवस पर दरबार लगते थे जिनमे सभी सरदार आमन्त्रित किये जाते थे।[31] सिरायत के ठाकुरों की मृत्यु पर उनके सम्मान में राजकीय शोक रखा जाता था। मारवाड़ में जोधपुर के किले पर एक टक नौबत व शहनाई का बजना बन्द रखा जाता था।[32]

मेवाड़ :—

मेवाड़ में महाराणा अमरसिंह द्वितीय (1698-1710 ई.) के शासनकाल में सामन्ती प्रथा को समाप्त कर दिया गया। अब जागीर बदलने की प्रथा को समाप्त कर दिया गया। महाराणा अमरसिंह द्वितीय के काल में यह नियम बन गया कि जब तक ठाकुर निष्ठापूर्वक राजकीय सेवा करता रहेगा, तब तक उसकी जागीर के गांवों में परिवर्तन नहीं किया जायेगा।[33]

मेवाड़ में सामन्तों को सोलह, बत्तीस और गोल की तीन श्रेणियों में विभाजित कर दिया गया। मेवाड़ में यह व्यवस्था 'अमरशाही रेख' के नाम से जानी जाती है। इस व्यवस्था मे महाराणा का स्थान सर्वोच्च था। उसकी अधीनता में दो राजा, सोलह उमराव, बत्तीस सामन्त और कई सौ तृतीय श्रेणी के जागीरदार होते थे। इस सामन्ती व्यवस्था में बेनेड़ा और शाहपुरा का एक विशिष्ट स्थान था। यहां के शासक राजा कहलाते थे और उन्हें प्रथम श्रेणी के सरदारों मे उच्च स्थान प्राप्त था। वे अनेक विशेष अधिकारों से सम्मानित थे। इसी प्रकार सलूम्बर के ठाकुर (रावत) का भी प्रथम श्रेणी के सरदारों में महत्वपूर्ण स्थान था। सलूम्बर का ठाकुर महाराणा की अनुपस्थिति में राजधानी का प्रशासन चलाता था। राजमहल की रक्षा का दायित्व उसी को सुपुर्द किया जाता था। उसे राज्य में प्रधान का पद

वंशानुगत रूप से प्राप्त था। राज्य की ओर से किसी व्यक्ति को जब भी जागीर के लिए 'पट्टा-इनायत' होना था, उस पर सलूम्बर ठाकुर की शाख रहती थी। नये महाराणा का सिंहासनारोहण सलूम्बर के ठाकुर की सहमति से होता था। उसे नये महाराणा की कमर में 'तलवार' बांधने का विशेष अधिकार प्राप्त था। इसके अलावा युद्ध के समय हरावल में रहने का भी उसे अधिकार था। जब सलूम्बर ठाकुर की मृत्यु हो जाती थी तो महाराणा स्वयं मातमपुर्सी के लिए सलूम्बर पहुंचता था।[35] वेदला के ठाकुर (राव) का भी विशेष महत्त्व था। जब भी नया महाराणा गद्दी पर आसीन होता था, उसके शोक-निवारण का दस्तूर वेदला के राव द्वारा सम्पन्न किया जाता था। वेदलाराव और उत्तराधिकारी राजकुमार स्वर्गीय महाराजा की दाह-क्रिया में सम्मिलित नहीं होते थे।[36] महाराणा के राज्याभिषेक के अवसर पर ऊन्दरी गांव का गमेती भी लरांजे (भोमिया सरदार) अपने अंगूठे को चीर कर रक्त से उसके ललाट पर टीका किया करता था। यह प्रथा महाराणा राजसिंह (द्वितीय) (1756-61) के समय में बन्द कर दी गई।[37] मेवाड़ में बागोर, करजली, शिवरती के सामन्तों का महाराणा के साथ नजदीक का सम्बन्ध था। संग्रामसिंह द्वितीय (1710-34 ई.) के तीन पुत्रों के वंशजों की जागीरें थीं। अतः महाराणा के निःसन्तान होने पर इन्हीं ठिकानों से किसी बालक को गोद लेने की परम्परा थी।[38]

प्रथम श्रेणी के सरदार 'सोलह' होते थे जिनको सामान्यतः 'उमराव' कहते थे। अमरसिंह द्वितीय के काल में इनकी संख्या 16 थी जिनमें तीन झाला, तीन चौहान, चार चूंडावत, दो शक्तावत, दो राठौड़, एक सारंगदेव तथा एक पंवार वंश के राजपूत सरदार थे। परवर्तीकाल में इनकी संख्या बढ़कर 21 हो गई थी। 19 वीं शताब्दी के अन्त तक तो इनकी संख्या 24 तक पहुंच गई थी। ये उमराव 'ताज़ीम', 'बांहपसाव', 'हाथ का कुरब' आदि से सम्मानित थे। दरबार में ठाकुरों के बैठने के लिए स्थान निश्चित थे। महाराणा के दाहिने हाथ की बैठक को 'बड़ी ओल' तथा बायीं तरफ की बैठक को 'कंवरों की ओल' कहा जाता था। उमरावों को बड़ी ओल में सबसे आगे बैठने का स्थान दिया जाता था। इनके बाद युवराज बैठता था। फिर 'बत्तीस' और गोल के सामन्त अपनी श्रेणी में पद व प्रतिष्ठा के अनुसार बैठते थे।[39]

युद्ध के अवसर पर या विजयदशमी, होली, दीपावली, गणगौर आदि त्यौहारों के समय पर सामन्तों को राजधानी में आने के लिए आमन्त्रित किया जाता था। उमराव खास रुक्कों के पहुंचने पर राजधानी में उपस्थित होते थे। त्यौहार की समाप्ति पर जब सामन्त अपनी जागीरों को लौटते थे, तब उन्हें महाराणा से स्वीकृति प्राप्त करनी पड़ती थी। महाराणा इन्हें आज्ञा देते हुए 'सीख का बीड़ा' प्रदान करता था तथा उमरावों को नियमित रूप से सीख सिरोपाव देता था।[40]

राजपूताने के लगभग सभी राजपूत राज्यों में सामन्तों को अपने पाटवी पुत्र (ज्येष्ठ पुत्र) और अपनी पुत्रियों के विवाह के अवसर पर अपने राजाओं से सिरोपाव व न्योत की धनराशि प्राप्त करने का अधिकार था। सिरायत व प्रथम श्रेणी के सामन्तों को न्यायालयों मे उपस्थित होने से मुक्त रखा गया था। बहुत से सामन्तो को शरण का अधिकार भी प्राप्त था। इन सामन्तों को अपने क्षेत्र में दीवानी व फौजदारी सम्बन्धी मामलों को सुनने व दण्ड देने का अधिकार था, परन्तु उन्हें मृत्यु-दण्ड देने की अनुमति नही थी। कुछ हेर-फेर के साथ सभी रजवाड़ों में इसी प्रकार की व्यवस्था रहती थी।

मेवाड़ के सामन्तों को राणा के पास चाकरी के लिए उपस्थित होना पड़ता था। इसके अतिरिक्त सामन्तों का कर्तव्य था कि वे छटून्द, तलवार-बंधाई, नजराना आदि की रकम नियमानुसार राज्य के खजाने मे जमा करवायें। सामन्त सामान्यतः अपनी जागीर की वार्षिक आय का छठा हिस्सा छटून्द के रूप में राज्य को देता था। छटून्द की दर को लेकर अनेक बार मेवाड़ में बखेड़ा खड़ा हो जाता था।

मेवाड़ में सामन्तों को उत्तराधिकार-कर भी देना पड़ता था। इसे 'कैद' या 'तलवार बन्धाई' के नाम से पुकारते थे। सामन्त की मृत्यु हो जाने पर उसकी जागीर पर जब्ती बैठा दी जाती थी। तलवार बन्धाई या कैद की रकम के तय हो जाने व इस रकम को राज्य-खजाने में जमा करवा दिये जाने पर महाराणा की तरफ से भेजी गई जब्ती उठा ली जाती थी। मेवाड़ में 'तलवार बन्धाई' की धनराशि जागीर की वार्षिक आय के बराबर होती थी। बाद में (1854 ई.) यह रकम जागीर की वार्षिक आय का तीन चौथाई भाग के रूप में ली जाने लगी थी।[41]

मेवाड़ में आमेट, भीडर, गोगुन्दा, देवगढ़, बनेड़ा, शाहपुरा आदि के कतिपय सामन्त 'तलवार बन्धाई' की रकम देने से मुक्त थे। परन्तु जागीर की वार्षिक आय की 8 प्रतिशत रकम अपनी गद्दीनशीनी के अवसर पर उन्हें महाराणा को नजराने के रूप मे देनी पड़ती थी।[42] इसके अतिरिक्त त्यौहारों के समय जब सामन्त राजधानी में एकत्र होते थे, तब भी वे महाराणा को नजराना प्रस्तुत करते थे।

किसी सामन्त के अपराधी हो जाने पर राणा उससे दण्ड के रूप में बड़ी धनराशि वसूल किया करता था। इसके अलावा सामन्तों को गनीम बराड़ (युद्ध के अवसर पर लिया जाने वाला कर), घरगुन्ती बराड़ (घर का कर), हल बराड़ (कृषि कर), न्योत बराड़ (विवाह का कर) आदि के रूप में भी महाराणा को एक बड़ी धनराशि देनी पड़ती थी।[43]

इस प्रकार मेवाड़ के सामन्तों के कुछ विशेष अधिकार थे जिनका वे उपभोग करते थे तथा इसके साथ उन्हें अपने स्वामी (राणा) के प्रति कुछ कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन भी करना पड़ता था। एक तरफ राणा सामन्तो के अधिकारों का सम्मान करता था, तो दूसरी तरफ सामन्त भी अपने स्वामी के प्रति परम्परागत

कर्त्तव्यों का पालन करते थे। दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष की मनमानी के फलस्वरूप सामन्त-व्यवस्था चरमराने लगती थी और सामन्तों और राणा के बीच तनावपूर्ण वातावरण उत्पन्न हो जाता था।

बीकानेर :

मुगलों के साथ सम्पर्क स्थापित हो जाने के पश्चात् बीकानेर राज्य में केन्द्रीयकरण की शक्तियां दृढ़ होने लगीं। महाराजा रायसिंह (1574–1612 ई.) ने सामन्तों को सहयोगी न समझकर उन्हें अपने अधीनस्थ माना। उसने बीकानेर में सर्वप्रथम पट्टा-प्रणाली आरम्भ की जिसके माध्यम से सामन्तों द्वारा राज्य प्रति की जाने वाली सेवाओं तथा उनके दायित्वों व अधिकारों को निश्चित कर उन्हें नियन्त्रित करने का प्रयास किया गया। इस प्रकार बीकानेर में सामन्ती प्रथा के स्वरूप में परिवर्तन आने लगा। इस नई व्यवस्था का विरोध करने वाले सभी सामन्तों का दमन कर दिया गया। उन्हें निश्चित शर्तों के आधार पर राजकीय सेवा करने के लिए बाध्य किया गया। प्रत्येक सामन्त को अब राजा के आश्रित रहकर ही कार्य करना होता था। दरबार में सामन्तों के बैठने के लिए स्थान निश्चित कर दिये गये। उन्हें ताजीम, कुरब आदि से सम्मानित कर विभिन्न श्रेणियों में विभाजित कर दिया गया। धीरे-धीरे सामन्त अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खोने लगे और वे अब राजा के चाकर के रूप में रह गये थे। यहां हमें ध्यान रखना होगा कि राजपूत राज्यों में दरबार में बैठने की व्यवस्था मुगल-दरबार की भाँति पद व दायित्व को आधार मान कर नहीं की गई थी। यहां उनके लिए कुलीय परम्पराओं तथा विभिन्न खापों की राजकीय सेवाओं व मर्यादाओं के अनुसार श्रेणियों में विभाजित होकर दरबार में बैठने का प्रावधान था। शक्ति-संतुलन स्थापित करने की दृष्टि से राजपूत जाति के अन्य सामन्तों को प्रोत्साहन दिया जाता था और मुत्सद्दी वर्ग को भी काफी महत्त्व दिया जाने लगा था; फिर भी स्वकुलीय सामन्तों का वर्चस्व दरबार में परम्परागत रूप से बना रहा। बीकानेर, मारवाड़ और किशनगढ़ के राठौड़ राज्यों में सिरायत के सभी सामन्त राठौड़ वंश से ही सम्बन्धित थे। मुग़ल काल में क्योंकि शासक की शक्ति में वृद्धि हो गई थी; अतः सामन्तों की स्थिति में अन्तर आ गया था, परन्तु मूल ढाँचे में परिवर्तन नहीं हुआ था। इसीलिए, मुगलों के पतन के पश्चात् 18 वीं शताब्दी में सामन्त पुनः राजा की शक्ति को चुनौती देने में सक्षम हो सके।[44]

बीकानेर शासकों द्वारा सामन्तों की शक्ति को कम करने के उद्देश्य से राज्य में काधल और बीदा के प्रमुख वंशजों के ठिकानों को तोड़कर उनके छुट-भाइयों के स्वतन्त्र ठिकाने स्थापित किये गये जिससे पुराने ठिकानों की संगठित शक्ति को आघात पहुंचा। शक्ति-संतुलित सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए काधलोत ठिकानों के क्षेत्र में बीदावतों के ठिकाने कायम किये गये। इसके साथ ही खालसा

भूमि में वृद्धि की गई। आर्थिक दृष्टि से सामन्तों को कमजोर बनाने, उन पर अंकुश रखने तथा शासक की शक्ति में वृद्धि करने के उद्देश्य से सामन्तों पर विभिन्न प्रकार के कर लगाये गये और उनसे एक बहुत बड़ी धनराशि एकत्र की जाने लगी। पहले उनसे केवल पेशकश व 'खेड खरच' के रूप में धनराशि ली जाती थी, अब हुवूब, रुखवाली भाछ व घोड़ा-रेख आदि के रूप में अनेक नये कर प्रति वर्ष लिये जाने लगे। उनके भूमि तथा न्याय सम्बन्धी अधिकार सीमित कर दिये गये तथा जकात आदि से होने वाली आय पर भी प्रतिबन्ध लगाये जाने लगे। इस प्रकार बीकानेर राज्य में सामन्तों को नियन्त्रित करने का प्रयास किया गया। अब राजा द्वारा प्रदत्त पट्टों मे उल्लिखित अधिकारों का ही सामन्त उपभोग कर सकता था।[45]

बीकानेर राज्य में सामन्त मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित थे—(i) राव बीका के वंशज (ii) राव बीका के भाई और चाचा के वंशज और (iii) स्थानीय-परदेशी अधीनस्थ सामन्त। प्रथम दो वर्ग की जागीरें सामान्यतः वंशानुगत थी। ये आसामीदार चाकर पट्टायत कहलाते थे। परदेशी ठाकुर जिनमें भाटी व सांखले प्रमुख थे, इसी श्रेणी में आते थे। ये बीकानेर प्रदेश में राठौड़ों के आगमन के पहिले से ही विद्यमान थे। इन्होंने राठौड़ों की अधीनता स्वीकार कर ली। राठौड़ शासकों ने इन्हें अपने क्षेत्र में अधिकारों का उपभोग करने की स्वीकृति दे दी थी। आसामीदार चाकर पट्टायत को अपनी वंशानुगत जागीर पर अधिकार बनाये रखने के लिए शासक से पट्टा प्राप्त करना आवश्यक होता था। पट्टेदार को पट्टों मे उल्लिखित सैनिक व असैनिक चाकरी करनी पड़ती थी। प्रत्येक नये पट्टायत को पट्टा-प्राप्ति के अवसर पर शासक को एक निर्धारित रकम पेशकशी के रूप में देनी पड़ती थी। इस धनराशि का निर्धारण किन्हीं निश्चित नियमो के आधार पर नही होता था। शासक परिस्थितियों के अनुकूल स्वेच्छाचारिता से इस रकम की वसूली करता था। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यह राशि पट्टे की कुल आय के तिहाई भाग के रूप मे ली जाने लगी थी। पट्टायत को पेशकशी की रकम के भुगतान के अतिरिक्त अपने पट्टे के क्षेत्र के निवासियों से राज कर्मचारियों द्वारा 'घुआं भाछ' (गृह कर), 'रुखवाली भाछ' (सुरक्षा कर), 'नौता' (विवाह उत्सव पर आमन्त्रण कर), 'हवूब' (विविध) 'धान की चौथाई' (जमा किये अनाज पर चौथाई कर) आदि कर वसूल किये जाने में सहयोग प्रदान करना पड़ता था। पट्टे मे उल्लिखित शर्तें के अनुसार उन्हें राजकीय सेवा हेतु असवार प्रस्तुत करने पड़ते थे। महाराजा सूरतसिंह ने 1794 ई० मे पट्टायतों के असवारों को सेवा के बदले मे 'घोड़ा रेख' के नाम से धनराशि एकत्रित करना आरम्भ कर दिया था। इसकी दर प्रति असवार 100 रुपये थी। उसने जागीरी क्षेत्र में निवास करने वाले निवासियो से 2 रुपये प्रति घर के हिसाब से सुरक्षा के नाम पर 'रुखवाली भाछ' लागू किया। 1800 ई० 'घोड़ा रेख' की दर प्रति असवार 200 रुपये तथा 'रुखवाली भाछ' की दर 10 रुपये प्रति घर कर दी गई। अन्त मे 'घोड़ा रेख' और 'रुखवाली भाछ' को मिलाकर पट्टे की आय का

¾ भाग के रूप में लेना निश्चित कर दिया गया। इसे अब 'दरबारी रकम' के नाम से पुकारा जाने लगा।[46]

साधारण चाकर पट्टायत वे जागीरदार थे जिन्हें सेवा करने के बदले में पट्टे प्रदान किये जाते थे। इन पट्टायतों के अपने क्षेत्र में कोई वंशानुगत अधिकार नहीं थे। अपनी स्थिति बनाये रखने के लिए वे शासक की कृपा पर आश्रित थे।[47]

यह ऊपर बताया जा चुका है कि बीकानेर राज्य में पट्टा व्यवस्था के लागू होने पर सामन्तों के अधिकारों को बहुत सीमित कर दिया गया था। वस्तुतः वे अब राज्य के चाकर बन गये थे। आसामीदार चाकर पट्टायत भी जब्ती के दायरे से बाहर नहीं थे। सामान्यतः शासक ठिकाने में उनके अधिकारों को सम्मान देता था। वे अपने क्षेत्र में मुख्य न्यायाधीश की हैसियत से अपराधियों को दण्ड देते थे, परन्तु उन्हें मृत्यु दण्ड देने का अधिकार नहीं था। उन्हें जकात वसूली का अधिकार था, परन्तु यह शासक की इच्छा पर निर्भर था। चाकर पट्टेदारों को जकात वसूली का अधिकार नहीं होता था। आसामीदार चाकर पट्टेदार अपने क्षेत्र में *'सांसण'* की भूमि तथा अपने छुट-भाइयों को गांव प्रदान कर सकता था। कुछ ठाकुरों को *'सारणा'* का अधिकार भी प्राप्त था। पट्टेदारों को अपने अपराधों के लिए न्यायालय में उपस्थित होना नहीं पड़ता था। सामन्तों को गोद लेने का अधिकार था, परन्तु इसके लिए शासक से पूर्वअनुमति लेना आवश्यक था। पट्टेदारों को अपने क्षेत्र में भू-राजस्व एकत्र करने व उसकी दर निश्चित करने का अधिकार था। चाकर पट्टादार इस सम्बन्ध में दीवान द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करता था।

महाराजा की अनुपस्थिति में किसी विश्वसनीय ठाकुर को राजधानी व गढ़ की सुरक्षा का भार सौंपा जाता था। दशहरा और महाराजा के जन्म दिवस के पर्व पर ठाकुरों का दरबार में उपस्थित होना आवश्यक था। राज्य प्रशासन में ठाकुरों को स्थान दिया जाता था। श्रंगोत बीका ठाकुर पृथ्वीराज व कुशलसिंह को मंत्रिमण्डल में मुसाहिब के पद पर नियुक्त किया गया था। मुख्य सेनापति का पद भी कभी-कभी किसी योग्य ठाकुर को दिया जाता था। महाराजा की अल्पव्यस्कता के समय प्रशासन का कार्य चलाने के लिए किसी ठाकुर की नियुक्ति होती थी।[48]

मुगलों के सम्पर्क में आने के बाद शासकों का इन ठिकानों में हस्तक्षेप बढ़ने लगा था—विशेषकर उत्तराधिकार के मामलों में शासक स्वेच्छाचारिता से आचरण करता था। छोटे ठिकानों में तो हस्तक्षेप होता ही रहता था, परन्तु धीरे-धीरे राज्य के 'सिरायत' व अन्य बड़े ठिकानों में भी शासकों का दखल दिन-प्रति-दिन बढ़ने लगा था। बीकानेर राज्य में महाजन और भूकरका (बीकावत), रावतसर (कांधलोत) और बीदासर (बीदावत), सिरायतों के ठिकाने कहलाते थे। महाराजा अनूपसिंह ने 1685 ई० से 1691 ई० के बीच महाजन में एक के बाद एक चार ठाकुरों को नियुक्त किया। इसी प्रकार इसने रावतसर के ठिकाने में भी हस्तक्षेप किया था।

महाराजा गजसिंह और महाराजा सूरतसिंह के काल में क्रमशः चूरू और सीधमुख के बड़े ठिकानो मे भी केन्द्र-शक्ति का खुला हस्तक्षेप रहा। ठिकानो व उनके गांवों को जब्त करने, नये-नये कर लगाने तथा ठिकानेदारो के परम्परागत अधिकारो को समाप्त करने आदि शासकीय कार्यवाही से सामन्त वर्ग असन्तुष्ट व खिन्न रहने लगा था और धीरे-धीरे सामन्तो का एक बहुत बड़ा वर्ग शासक के विरुद्ध हो गया। राज्य में अराजकता व संघर्ष का वातावरण उत्पन्न हो गया। ऐसी स्थिति मे बीकानेर राज्य ने 1818 ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ सन्धि की थी। तभी राज्य में शाति व सुरक्षा पुनः स्थापित की जा सकी थी।[49]

जयपुर

जयपुर में प्राथमिक रूप से जागीरदारों का विभाजन 'बारह कोटड़ी' पर आधारित था। कच्छावा राजा पृथ्वीराज के 17 पुत्र थे जिनमें 12 पुत्रों के नाम से स्थायी जागीरें चली जो 'बारह कोटड़ी' कहलाई। वे चतुरभुजोत कल्याणोत, नाथावत, बलभदरोत, खंगारोत, सुलतानोत, पंचाणोत, गोगावत, कुम्भावत, शिवबिरमणोत और बनवीरपोत थे। धीरे-धीरे प्रत्येक कोटड़ी अनेक जागीरों में विभाजित हो गई थी। इनके अतिरिक्त शेखावतो, राजावतों, नरूको और बांकावतों के ठिकाने भी थे जिनका जयपुर राज्य में बड़ा महत्त्व था। राजपूत सरदार मकान या झोंपड़ी के बदले कोटड़ी शब्द को अधिक सम्मानसूचक मानते थे। भारमल के समय से ही जागीरदारों को कोटड़ी कहा जाने लगा था।[50]

शेखावत ठाकुर शेखाजी के वंशज थे। शेखाजी आमेर के शासक उदयकरण (राज्यारोहण 1389 ई०) के तीसरे पुत्र बलोजी के पौत्र थे। इन ठाकुरों का क्षेत्र शेखावाटी के नाम से प्रसिद्ध है।[51] यहां के ठाकुरों को सीमित-आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। कर्नल ब्रूक ने अपनी पुस्तक हिस्ट्री ऑफ जयपुर में (1868 ई०) इन ठाकुरो की स्थिति मारवाड़ में मालानी के ठाकुरों के समकक्ष बताई है।[52] मालानी प्रदेश का नाम मल्लीनाथ के नाम पर ही पड़ा था। मालानी के ठाकुर नाम मात्र की एक निश्चित धनराशि जोधपुर दरबार को देते थे। आवश्यकता पड़ने पर मालानी के ठाकुर भी महाराजा की सेवा मे उपस्थित होते थे।[53] इसी प्रकार शेखावाटी के सामन्तों को सीमित आंतरिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। मेजर थोरेसबे ने पोलीटिकल एजेंट जयपुर में ए० जी० जी० सूथरलैंड को लिखा था कि शेखावाटी के ठाकुर एक प्रकार से करदराज्य हैं। इनमे सामंतीय लक्षण कम हैं। इन्हें महाराजा द्वारा पट्टे के रूप मे जागीरें नही मिली हुई थीं। इनके पूर्वजों ने स्वयं भूमि विजय की थी। बाद मे उन्होंने शक्तिशाली मूल शाखा की अधीनता स्वीकार कर ली और वार्षिक कर देना स्वीकार कर लिया था। मारवाड़ में मालानी के ठाकुरों की भी लगभग यही स्थिति थी। कर्नल टॉड के अनुसार शेखावाटी के सरदार तीन लाख पचास हजार कर के रूप मे देते थे। यह उनके आमदनी का लगभग सातवां भाग था।[54]

जयपुर के सरदारों में राजावतों का सबसे अधिक महत्त्व था। उनका जयपुर महाराजा से सर्वाधिक निकट का सम्बन्ध था। 1818 ई० में राजावतों के 16 ठिकाने थे। नरुको के 6 और बांकावतों के 4 ठिकाने थे। ये सभी जागीरदार कच्छावा राजवंश से ही निकले हुए थे इसलिए उनको भाई-बेटे कहा जाता था।[55]

जयपुर राज्य में सामंत बड़े तौर पर दो श्रेणियों मे विभाजित थे—ताजीमी और खास चौकी। ताजीमी सरदार जब दरबार में महाराजा को नजर करता था, तब महाराजा स्वयं खड़े होकर नजर स्वीकार करता था। ऐसे सरदारों को पैर में सोना पहनने का अधिकार होता था। इस श्रेणी के सरदारों में सभी वंशों के, अर्थात् कच्छावा, राठौड़, तंवर, भाटी, सिसोदिया आदि थे। उनको खास रुक्का भेजकर आवश्यकता होने पर दरबार, द्वारा बुलाया जाता था तथा सिरोपाव देकर उनको सीख (रवानगी) दी जाती थी।

जयपुर राज्य मे राजपूत जागीरदार ठाकुर कहलाते थे। इनमें से कइयों को राव, राजा, रावल, रावराजा, रावत आदि पदवियों से विभूषित किया गया था। ये पदवियां कुछ को वंशानुगत थीं तथा कुछ को व्यक्तिगत रूप में प्रदान की गई थीं। अपने क्षेत्र में उन्हें जान-माल की हिफाजत करनी पड़ती थी। ठिकानों में से निकलने वाले व्यापारियों, बंजारो आदि को सुरक्षा प्रदान करना भी उनका कर्तव्य था। आवश्यकता पड़ने पर उन्हें निश्चित सवारों के साथ महाराजा की सेवा में उपस्थित होना पड़ता था। बांकीदास की ख्यात से पता चलता है कि आमेर की किलेदारी सात उमरावों में बंटी हुई थी। सप्ताह में बारी-बारी से प्रतिदिन एक उमराव को किले का बन्दोबस्त करने के लिए नियुक्त किया गया था।[55] (ए) जब भी राजदरबारों का आयोजन होता था, ये ठाकुर उसमें सम्मिलित होने के लिए राजधानी में पहुंचते थे। चाकरी में कोई त्रुटि अथवा कमी होने पर उनको दण्ड दिया जा सकता था। ठाकुर राज्य को प्रति वर्ष निश्चित धनराशि देते थे और मृत्यु हो जाने पर उसके उत्तराधिकारी को नजराना देने के लिए बाध्य होना पड़ता था। यह ठिकाने के राजस्व का सातवां भाग होता था। नजराना जमा करवाने पर ही उन्हें राज्य की ओर से ठिकाने का पट्टा प्राप्त होता था। महाराजा को ठिकाना जब्त करने का अधिकार भी था।[56]

राजस्थान के अन्य राज्यों की भांति जयपुर राज्य में भी कच्छावों के अतिरिक्त अन्य राजपूत जागीरदार भी थे। इनमें भाटी, चौहान, राठौड़, तंवर, सिसोदिया, बड़गूजर, चन्द्रावत आदि मुख्य थे। इन्हें चाकरी व कोई विशिष्ट सेवाओं के कारण पट्टे प्रदान किये गये थे। ये सामंत पूर्ण रूप से शासक के आश्रित थे। इनका जयपुर के शासक के साथ स्वामी और सेवक का सम्बन्ध था, भाई-बेटों का नहीं।[57]

जैसलमेर

जैसलमेर राज्य के राजनीतिक जीवन में सामंतवादी प्रथा का एक विशिष्ट स्थान रहा। जैसलमेर राज्य की स्थापना के पूर्व तथा उसके उपरांत

दीर्घकाल तक एक बहुत बड़े क्षेत्र पर भाटियों का अधिकार बना रहा। इस विस्तृत क्षेत्र की रक्षा एवं व्यवस्था के लिए रोहरी, मारोठ, मुमणवाहण, देरावर, बरसलपुर, घुटारू आदि स्थानों पर उन्होने रक्षात्मक दुर्गों का निर्माण किया। इन स्थानो पर शासक परिवार अथवा अन्य विश्वसनीय गैर-भाटी राजपूतों की नियुक्ति कर दी गई थी। ये लोग अपने-अपने क्षेत्र की रखवाली तथा वहां प्रशासन का संचालन करते थे। वे एक प्रकार से उन क्षेत्रों के अर्द्ध-स्वतंत्र शासक बन गये। ये लोग अपने रावल को सैनिक सहायता देने के लिए सदैव तत्पर रहते थे। इस प्रकार जैसलमेर मे सामंती प्रथा का सूत्रपात हुआ। आरम्भ मे इसका कोई व्यवस्थित स्वरूप नही था। 'जैसलमेर ख्याति' के अनुसार हरराज के शासन-काल मे डावी व जीवणी (बायी तथा दायीं) मिशलो का निर्माण हुआ। बीकमपुर के वरसिंघ भाटिया तथा वरसलपुर के खीया भाटियो की दरबार मे जीवणी मिशल का दर्जा दिया गया और वाड़मेर के बाड़मेरा राठौड़ों व कोटड़ा के कोटड़िया राठौड़ो को डावी मिशल मे रखा गया। इन चारों को राज्य का श्रेष्ठ उमराव माना गया। इनके अतिरिक्त सोढा, खाबड़िया भाटिया तथा सीहड़ भाटिया राज्य के स्तम्भ कहलाते थे।[58]

कालान्तर मे परिस्थितियों के अनुसार धीरे-धीरे सामंतों के वर्गीकरण में परिवर्तन आया और सामंती प्रथा व्यवस्थित होने लगी। इन सामंतों में से राज-परिवार के निकट सम्बन्धियो को राजवी तथा दूर के सम्बन्धियों को रावलोत कहा गया। राजस्थान के अन्य राज्यों के समान यहां पर भी बड़े-बड़े सरदारों को ताजीम दी जाती थी। यह ताजीम (राजकीय सम्मान) इकेवड़ी (इकहरा-सम्मान) व दोवड़ी (दोहरा सम्मान) होती थी।

सरदारो और शासक के पारस्परिक सम्बन्ध भी स्पष्ट एवं स्थिर हो गये थे। जैसलमेर राज्य में सामन्तों पर उनके ग्रामो के उत्पादन के आधार पर कोई रेख अथवा अन्य कर लागू नहीं थे। जब भी सामंत हुकूमत या राजधानी मे सेवारत रहता था तो उसे राज्य की ओर से वेतन दिया जाता था। जब एक जागीरदार की मृत्यु हो जाती तो उसके उत्तराधिकारी से कमर बंधाई (उत्तराधिकार शुल्क) के रूप में कोई कर नही लिया जाता था। इसके विपरीत ऐसे अवसर पर उत्तराधिकारी को रावल की तरफ से सिरोपाव दिया जाता था। इस सिरोपाव में एक ऊंट व पांच रुपये दिये जाते थे। इसके उपरान्त जब रावल मातमपुर्सी के लिए जागीरदार के यहां जाता, तब राजवी श्रेणी के सरदार एक घोड़ा, एक ऊंट, एक थान, एक मोहर तथा पांच रुपये नजर करते थे तथा अन्य सरदार थान व रुपये ही नजर न्यौछावर करते थे। जैसलमेर में सैनिक सेवा ली जाती थी। सैनिक सेवा के अवसर पर ये लोग शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर उपस्थित होते थे। उस समय भी उनको राज्य की ओर से उनकी हैसियत के अनुसार पेटिया (राशन आदि) तथा अफीम दी जाती थी। जैसलमेर के गांवो में उत्पादन के अभाव में आमदनी बहुत कम होती थी;

इसीलिये सामंतों को उपर्युक्त छूट दी जाती थी और सेवारत होने पर वेतन का पाटिया भी दिया जाता था।[60]

जैसलमेर के सामंतों के अधिकार बहुत सीमित थे। उन्हें अपने क्षेत्र में कुवें खुदवाने व नई फसल बोने के लिए भी महारावल से अनुमति प्राप्त करनी पड़ती थी। एक वर्ष माडली के ठाकुर धनजी ने गेहूं की कृषि करवा ली। इस पर उसका सारा गेहूं जब्त करवा लिया गया। नरसिंह भाटियों की जागीरों के अतिरिक्त शेष जागीरदारो मे यह प्रथा प्रचलित थी कि जागीर क्षेत्र से होने वाली आय सभी भाई परस्पर बांट लेते थे। लेकिन महारावल वैरीसाल ने यह प्रथा बन्द कर दी। फिर भी किसी न किसी रूप मे बंटवारा होता रहा। यह माना जाता रहा कि पाटवी का पद मात्र राज्य से वेतन एवं ताजीम प्राप्त करने के लिए ही होता है।[61]

वर्षा की कमी के कारण जैसलमेर में प्रायः सियालू (शीतकालीन) फसल नहीं होती थी। भूमि-कर के रूप मे यहा के जागीरदारों को बहुत कम आय होती थी। फिर भी ये जागीरदार राजपूतों तथा सिपाहियों (सिन्धी मुसलमानों) से कोई भूमि-कर (हासल-मुकाता) नहीं लिया करते थे। सरदारों के विवाह के अवसर पर अथवा उनके यहां कोई भी मृत्यु हो जाने पर क्रमशः न्यौता तथा सांड-बारस रस्म के रूप मे कुछ देते थे। जागीरदार लोग विशेष अवसर पर रावल को घोड़ा नजर करते थे। ये अवसर थे—राज्याभिषेक, राजा या राजकुमार का विवाह, राजकुमारी का विवाह-रावल के जागीर गांव में आगमन के समय वस्तुतः घोड़ा नही दिया जाता था बल्कि उसकी हैसियत के अनुसार घोड़े की निर्धारित धनराशि जमा कराई जाती थी।[62]

आरम्भ में सामंतों मे अपने स्वामी-शासक के प्रति जो भक्ति-भावना रही, वह आगे चलकर क्षीण होने लगी। जब मुगलों का पतन हो गया तब अन्य राज्यों की भांति जैसलमेर मे भी केन्द्र की शक्ति कमजोर हो गई। इसी कारण से राज्य के सामंतो में विद्रोही प्रवृत्ति व असहयोग की भावना परिलक्षित होती है। इस प्रकार की गतिविधिया राजस्थान के अन्य रजवाड़ों—जोधपुर, बीकानेर, मेवाड़ आदि में भी दृष्टिगत होने लगती हैं। आलोच्य काल में इन सामंतो में राजनीतिक उलझनें उत्पन्न करने तथा स्थानीय राजनीति में अपना वर्चस्व स्थापित करने की आकांक्षा जागृत होने लगती है। इस प्रकार की स्थिति अन्य राज्यों में भी रही। इन सबका अन्त ब्रिटिश सरकार के साथ मैत्री-सन्धियों के होने के बाद ही सम्भव हो सका था। इस प्रकार जैसलमेर की सामंती व्यवस्था के अन्य राजपूत रियासतों से भिन्न होते हुए भी परवर्ती काल में उसमें अन्य राजपूत रियासतों की सामंती व्यवस्था के लक्षण दृष्टिगत होते हैं।[63]

कोटा

कोटा में सेवा के अनुसार जागीरदारो का पद निर्धारित होता था। कोटा के जागीरदार प्रमुखतः दो श्रेणियों में विभाजित थे—देश के जागीरदार और

दरबार के जागीरदार, देश के जागीरदार वे थे, जिन्हें राजकीय सेवा करने के बदले में जागीरें दी गई थी। इनमें वैसे अन्य राजपूत जागीरदार भी थे, परन्तु अधिकांशत: हाड़ा राजपूत ही थे। प्रत्येक जागीरदार को अपनी क्षमता के अनुसार घुड़सवार और पैदल सैनिक रखने पड़ते थे। उन्हें महाराव के आदेशानुसार अपने सैनिकों राजकीय सेवा के लिए उपस्थित करना पड़ता था। जागीरदारों का दूसरा वर्ग वह था जिनका महाराव के साथ निकट व दूर का सम्बन्ध था।[64] कोटा नरेश के निकट के कुटुम्बी राजवी कहलाते थे और अन्य सरदार अमीर-उमराव के नाम से सम्बोधित किये जाते थे। कोटरा, बमूल्य, सांगोद, आमली, खेरला, अन्ता तथा मुंडली के जागीरदार किशोरसिंघोत परिवार के थे। इनसे कुछ कम दर्जे में मोहन-सिंघोत घराने के सरदार थे। इनका मुखिया पलायत का ठाकुर था। इन सभी को 'आपजी' कहा जाता था। इन्हीं घरानो से राज्य गद्दी के लिए गोद लेने की प्रथा थी।[65]

कोटा राज्य के ताजीमी सरदारों की संख्या 36 थी। कोटा में 8 जागीरें उन हाड़ा राजपूतों की थी जिन्हें कोटड़ी या कोटड़ियात कहते थे। ये वे जागीरें थीं जो रणथम्भोर के किले से संलग्न थीं। इन्हीं के कारण माधोसिंह के काल में जयपुर और कोटा राज्यों के बीच झटवाड़ा स्थान पर युद्ध हुआ था।

झाला जालिमसिंह ने कोटा राज्य में अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाये रखने के लिए झाला राजपूतो को जागीरें दी जिससे कोटा राज्य में झाला जागीरदारों का एक पृथक् वर्ग बन गया। इनके पास कुल 49 गांव थे और इनकी वार्षिक आय 93,740 रुपये आंकी गई थी। इनके अतिरिक्त 18वीं शताब्दी के अन्त तक कुछ अन्य राजपूतों को भी जागीरें प्रदान की गईं। इनमें अधिकांशत: सिसोदिया राजपूतों थे। वे मेवाड़ से आये थे और झाला जालिमसिंह के सहयोगी थे। राजपूतों के अलावा कुछ मुसलमान सामंत भी थे।[66] एक मुसलमान सामंत अनवरखां की जागीर 52 हजार वार्षिक आय की थी।[67]

कोटा राज्य में मराठों को भी जागीरें दी गई थीं। 1782 ई० मे दक्षिणी पंडितों को 71 गांव जागीर में प्राप्त थे। ये गांव 39 जागीरदारों में विभक्त थे। मराठा जागीरदार राजा को किसी प्रकार की सेवा अर्पित नहीं करता था किन्तु राजपूत जागीरदारो की भाँति ही मराठा जागीरदारों की राज्य में प्रतिष्ठा थी। महाराव के जन्म-दिन तथा अन्य राजकीय त्यौहारों पर इन्हें सिरोपाव आदि से सम्मानित किया जाता था। इनकी जागीरों के गांवों से भेंट, बेगार, जामदारी और न्यौता कर नही लिये जाते थे। कभी-कभी विशेष कार्य के लिए मराठा सरदार को भी राजकीय सेना का नायक बना कर भेजा जाता था। तांतियाजी नामक एक दक्षिणी जागीरदार को राजकीय सेना देकर गोपुर, इन्द्रगढ़, करवाड़ और सावोली की ओर भेजा गया था। मराठों के पतन के साथ ही कोटा राज्य के मराठा जागीर-दारो का महत्व समाप्त हो गया। इसके बाद मात्र सारोल का मराठा ठिकाना कुछ महत्व का बना रहा।[68]

कोटा राज्य में जागीरदारों का वर्ग विशेष सुविधाओं से युक्त था। उनके सहयोग पर ही कोटा महाराव व झाला जालिमसिंह की सत्ता आधारित थी। कालान्तर में झाला जालिमसिंह के निरंकुश व तानाशाही व्यवहार से खिन्न होकर कतिपय हाड़ा जागीरदारों ने उसका विरोध किया था। परन्तु उसने इन विरोधी सामंतों को कुचल दिया व उनको शक्तिहीन बना दिया।[69] अपनी शक्ति को संतुलित रखने हेतु ही उसने नये जागीरदारों को नियुक्त किया था। कोटा राज्य में जागीरदारों से प्राप्त सैनिकों की कुल संख्या 4261 घुड़सवार और 3035 पैदल थी। इनके अतिरिक्त झाला जालिमसिंह के पास 15000 सैनिकों की एक स्थायी सेना भी थी।[70]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि राजस्थान के राज्यों के सामंतों के अधिकारों में समयानुकूल उतार-चढाव आता रहा। 18वीं शताब्दी के आरम्भ में उत्तर-पूर्वी राजस्थान के सामंत काफी निर्बल हो गये थे, परन्तु उनकी तुलना में राजस्थान के दक्षिण-पश्चिम भाग के सामंतो की स्थिति सबल थी। इसका मूल कारण यह था कि उत्तर-पूर्व मे दक्षिण-पश्चिम की अपेक्षा मुगलों का प्रभाव अधिक रहा। इसके अतिरिक्त उत्तर की अपेक्षा दक्षिण मे राजपूतों की जनसख्या भी अधिक थी। अतः उनका स्थानीय प्रभाव बना रहना स्वाभाविक था।[71]

कोटा, बून्दी, भरतपुर और धौलपुर के शासक अधिक शक्तिशाली व स्वेच्छाचारी रहे। उन्होंने अपने सामंतों को नियन्त्रित रखा। अतः वहां के सामंतों के अधिकार सीमित रहे। इसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि कोटा राज्य में झाला जालिमसिंह ने सामंतों को शक्तिहीन बना दिया था। भरतपुर राज्य की स्थापना के समय से ही राजा की शक्ति सर्वोच्च रही। बदनसिंह ने सभी प्रभावशाली व शक्ति-सम्पन्न जाट सरदारों को कमजोर कर दिया था। स्वजातीय जाट सरदारों को खुश करने की नीति से उन्हें मजलिस-ए-कौम का सदस्य बनाकर सम्मानित तो कर दिया था, परन्तु आर्थिक व राजनीतिक दृष्टि से उनका राज्य में कोई विशेष महत्त्व नही रखा। यहाँ तक कि उसने अपने निकट के सम्बन्धियों को भी अधिक शक्तिशाली नहीं होने दिया। वे ठाकुर अवश्य कहलाते थे, परन्तु उनके पास कुल 27 गांव थे जिनकी वार्षिक आय 40,000 रुपयों से अधिक नही थी। बदनसिंह के अनेक लडके थे जिनमें तीस को जागीरों में गांव दिये जाने की जानकारी मिलती है। इन्ही में से कालान्तर मे भरतपुर राज्य के 'सोलाह कोटरी' के ठाकुर कहलाये, इनके पास भारत स्वतंत्र होने पर जागीर उन्मूलन के समय तक जागीरें थीं।[72]

जाट शासक जवाहरसिंह ने तो स्वजातीय जागीरदारो को पूर्णरूप से कमजोर बना दिया था। उसने विदेशी सेना के बल पर सभी विरोधी स्वजनों को बन्दी बनाने व उनका दमन करने का अभियान चालू किया था। बदनसिंह के पौत्र व प्रतापसिंह के पुत्र बहादुरसिंह से वैर का गढ़ हस्तगत कर उसे कारागृह मे डाल दिया था। बाद में अप्रैल 1766 ई. में अपने भाई रतनसिंह की पुत्रोत्पत्ति के अवसर पर उसे मुक्त

किया गया। तब वैर के कुछ परगने उसे जागीर में दिये गये थे। अब वह जीर्ण-शीर्ण स्थिति मे था। 1872 ई. में उसके वंशज शमशेरसिंह के पास मात्र दो गांव जागीर में थे जिनकी वार्षिक आय चार हजार थी। इस प्रकार भरतपुर में जागीरदार कमजोर थे।[73]

मुगलों के निर्बल होने पर युद्ध की स्थिति में परिवर्तन आने लगा था। अब राजस्थान के सरदारों की वह प्राचीन क्रियाशीलता और कर्त्तव्य-परायणता शिथिल होने लगी। मराठों के निरन्तर आक्रमण ने अराजकता का वातावरण उपस्थित कर दिया था। राजपूत सरदारों ने भी इस अव्यवस्थित स्थिति का निजी लाभ उठाना चाहा। जिस साहस, ओज और शौर्य के लिए इनकी प्रतिष्ठा बनी हुई थी, उसमें ह्रास दिखाई देने लगा। अंग्रेजों के आगमन पर तो वे बिल्कुल निष्क्रिय होते चले गये।

राजस्थान की सामंत-व्यवस्था में 'ग्रासिओ' और 'भोमियों' का भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा। ग्रासिया ठाकुर वे भूमिपति (भूस्वामी) थे जिनको राज्य की निश्चित सैनिक सेवा करने के उपलक्ष में शासक की ओर से पट्टा व सनद द्वारा भूमि की उपज का उपभोग करने का अधिकार प्रदान किया गया था। ग्रास यानी जीवन-निर्वाह हेतु उन्हें यह अधिकार प्राप्त था। यदि इस पट्टे का उपभोक्ता सेवाच्युत हो जाता, किसी प्रकार की ढिलाई करता या शासक की आज्ञा का उल्लंघन करता तो उसका पट्टा रद्द कर दिया जाता था। पट्टे की पुनः प्राप्ति के लिए भोक्ता को शासक को नजराना प्रस्तुत करना पड़ता था। टॉड ने मेवाड़ के ग्रासिया ठाकुरों का उल्लेख किया है।[74]

भोमिया जागीरदार वे थे जिन्हें सीमांत क्षेत्र की सुरक्षा अथवा गांव की सुरक्षा अथवा राज्य की अन्य विशिष्ट सेवा हेतु किये गये बलिदान के उपलक्ष में भूमिखंड प्रदान किये गये थे। 'भोम' की भूमि इसके प्राप्तकर्त्ता 'भोमिया' के लिए वंशानुगत अधिकार से युक्त तथा हासल व लाग से मुक्त होती थी। उन्हें 'भोम बराड़' या 'भोम बाब' के रूप में नाममात्र की वार्षिक रकम राज्य खजाने में जमा करवानी पड़ती थी। इसके अतिरिक्त उनके लिए कोई अन्य कर देय नहीं था। भोमिया व उसके वंशज 'भोम' की आय के अधिकारी होते थे। कभी-कभी भोम के साथ कुछ अन्य विशेष अधिकार भी जुड़े रहते थे, जैसे, गांव में प्रतिमन अनाज की उपज में से एक सेर अनाज अथवा विवाह पर पेटिया व पत्तल भोमियों को दिया जाता था। सामान्यतः भोमिया के देवलोक होने पर उसकी 'भोम' उसके पुत्रों में समान रूप से बंट जाती थी। इस प्रकार से कुछ समय बाद भोमियों के पास बहुत छोटे भूमिखण्ड 'भोम' के रूप में रह जाते थे। अतः उनके निर्वाह के लिए उपर्युक्त विशेष अधिकार भोमियों को दिये गये थे।[75]

बीकानेर राज्य में 'भोम' की भूमि साधारणतया भाटी, भट्टी, जोहिया

आदि को, जो राठौड़ों के आगमन के पूर्व इस क्षेत्र के प्रशासकीय-अधिकारी थे, भूमि पर उनके अधिकार को मान्यता देने व उनकी प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए प्रदान की गई थी। मारवाड़ में भी इसी प्रकार की व्यवस्था थी। सांचोर क्षेत्र के चौहानों के पास इसी प्रकार की पट्टेदारी थी। राठौड़ों द्वारा मारवाड़ पर विजय प्राप्त करने के पहले से ही उनके पास भूमिखण्ड थे। वे फौज बल, या खिचड़ी लाग और कहीं-कहीं हुकूमत लाग के अतिरिक्त 'हुक्मनामा', 'रेख' आदि सभी करो से मुक्त थे। राजद्रोह या कोई संगीन अपराध पर ही इनकी भूमि जब्त की जा सकती थी। बीकानेर में बीका, बीदावत में कांधलोत राठौड़ों को भी 'भोम' भूमि प्रदान की गई थी क्योंकि वे राज्य के संस्थापक बीका, बीदा व कांधल के वंशज थे।[76]

मेवाड़ में भोमिया जागीरदार छोटे और बड़े, दोनों दर्जे के थे। ओगना, पानरवा, जवास आदि के भोमिया जागीरदार मेवाड़ में बड़े प्रभावशाली व शक्तिशाली थे। वे अपनी 'भोम' की रक्षा हेतु पर्याप्त संख्या में सैनिक एकत्र कर लेते थे। युद्ध के समय भोमिया सहर्ष शासक को अपनी सेवायें अर्पित करते थे। युद्ध अथवा अभियान के समय उन्हें पेटिया या भोजन सरकार की तरफ से मिलता था। छोटे भोमियों को लगान से मुक्त भूमि प्राप्त थी और वे उसके बदले में एक परगने से दूसरे परगने में डाक पहुंचाने का कार्य करते थे। इसके अतिरिक्त राजकीय अधिकारियों को दौरे के समय सुविधायें प्रदान करने अथवा राजकीय खजाने को हिफाजत से गांवों से परगने तक पहुंचाने का दायित्व भी वे निभाते थे। वे गांव की सुरक्षा व राहगीरों व गांव से गुजरने वाले व्यापारी वर्ग आदि की सुरक्षा के प्रति भी कर्त्तव्यनिष्ठ होते थे।[77]

उपर्युक्त सामन्ती व्यवस्था के विश्लेषण से यह प्रकट होता है कि रजवाड़ों की शासन-व्यवस्था में सामन्तो का बड़ा योगदान रहता था। राजा का मूल कर्त्तव्य अपने देश की सुरक्षा बनाये रखना होता था। सामन्तो को इस कार्य में हाथ बटाना पड़ता था। इस महती सेवा के बदले में सामन्त अपने अधीन भूमि का उपभोग करने के लिए स्वतन्त्र होते थे। उनके कर्त्तव्यो व अधिकारो पर विहंगम दृष्टिपात करने से ऐसा विदित होता है कि वे राज्य की प्रगति के लिए बाधक थे। परन्तु वस्तुतः इनकी सेवाएं कई अर्थों में शासक के लिए वरदान सिद्ध हुई थी। जब राज्य पर संकट आता था तो वे अपने अनुयायियों, भाइयों और जिलायतो के साथ उपस्थित होते और शासक के लिए मर मिटने को उद्यत रहते थे। वार्षिक कर के रूप मे धनराशि का भुगतान कर वे राज्य की वित्तीय स्थिति को सुदृढ़ करते थे। शान्ति काल में उत्सवों और त्योंहारो में सम्मिलित होकर दरबार की शोभा बढ़ाते थे। यदि वे अपने अधिकारों का दुरुपयोग करते, तो उन्हें जागीरों से पदच्युत कर दिया जाता था या दण्ड के रूप मे बहुत बड़ी धनराशि राज्य कोष में जमा करवाने के लिए उन्हे बाध्य किया जाता था। मेवाड़ मे महाराणा अमरसिंह प्रथम और मारवाड़ में

महाराजा अजीतसिंह के काल में सामन्तों को नियन्त्रित करने व राज्य में शक्ति-सन्तुलन बनाये रखने के लिए सामन्ती व्यवस्था को नियमित करने का प्रयास किया गया था। कालान्तर में मारवाड़, बीकानेर और उदयपुर राज्य के सामन्तों ने अपने अधिकारों का दुरुपयोग करना आरम्भ किया, इसलिए समय-समय पर उनको नियंत्रित करने के लिए राज्य द्वारा उनके विरुद्ध कार्यवाही की गई। परन्तु निर्बल शासकों के समय सामन्तों के उद्दण्ड व्यवहार से राज्य में अराजकता व अशान्ति की स्थिति बन जाती थी। इसके अतिरिक्त राज्यों में उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर संघर्ष, मराठों के निरन्तर आक्रमणों व हस्तक्षेप और दिल्ली में केन्द्र-शक्ति के क्षीण व विलुप्त होने के कारण राजस्थान के सामन्त अपने निजी स्वार्थों में डूबे गैर-जिम्मेदार तरीके से व्यवहार करने लगे थे जिससे राज्यों को क्षति पहुंचना स्वाभाविक था। राजस्थान के विभिन्न राज्यों में सामन्तों की उच्छृंखलता व अराजकता का विवरण पहले छठे अध्याय में सविस्तर दिया जा चुका है।

अन्ततः निष्कर्ष में हम कहेंगे कि राजस्थान की सामन्ती व्यवस्था आपसी साझेदारी थी और उसका स्वरूप एक प्रकार से सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विशेषताओं से युक्त था। इस प्रथा में निजी रूप से भूमि से लाभ और राज्य की सैनिक सेवा सम्मिलित थी। सामन्त और शासक का सम्बन्ध पूर्ण रूप से आश्रितों का न होकर समकक्ष आज्ञाकारी सहयोगियों का था। ये विशेषताएं ही उसके चिर स्थायित्व का प्रमुख कारण रहीं। डा. गोपीनाथ ने अपनी पुस्तक 'सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान' में इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि इस प्रकार की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था कुछ सामाजिक और आर्थिक तत्वों के कारण विकसित हुई थी; इसीलिए वह व्यवस्था दीर्घकाल तक जीवित रह सकी।[78]

आगे चलकर इस व्यवस्था में अनेक बुराइयां आ गई थी। उत्तराधिकार के नियम की विशेषता से भूमि का निरन्तर विभाजन होता गया जिससे उत्तरोत्तर भूमि अनेक छोटी-छोटी इकाइयों में परिवर्तित होने लगी। ऐसी स्थिति में बड़े से बड़े सामन्त की भूमि भी कई भागों में बंट कर छिन्न-भिन्न हो गई। मेके के शब्दों में "सूर्य और चन्द्र के लाल तथा अग्नि पुत्रों ने अपनी वीरोचित और साहसी परम्पराओं को विस्मरण कर, शौर्य के स्थान पर शराब और व्यभिचार के व्यसन को अंगीकार कर लिया।" वे कर्ज में डूब गये और उनका घोर पतन हुआ। सामन्ती व्यवस्था के सभी दोषों के बावजूद यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि अपने युग में इसकी एक उपयोगिता थी। इस व्यवस्था में स्वामिभक्त और देशभक्त सामन्त हँसते-हँसते अपने प्राण न्यौछावर कर देते थे। अल्प काल में शासक बड़ी आसानी से इस व्यवस्था के अन्तर्गत विशाल सैनिक दल खड़ा कर सकता था। 1790 ई. में मेड़ता के युद्ध में मारवाड़ के शासक विजयसिंह ने मराठा सेनानायक द बॉय से अपने देश की रक्षा करने हेतु तुरन्त 36,000 सैनिक युद्ध स्थल पर एकत्र कर लिये थे। यह भी उस

समय जबाक कुछ ।इना पहिले पाटन के युद्ध में वे लड़ चुके थे। मेवाड़ में एक लोकोक्ति प्रसिद्ध थी—'सीराणे सूती जमियते'। इसका अर्थ था कि सामन्तों की सेना सदैव देश की सेवा के लिए तैयार रहती थी।[79] राजनीतिक दृष्टि से इस व्यवस्था को दोषपूर्ण माना जा सकता है, परन्तु इसे इन्कार नहीं किया जा सकता कि एक युग में राजस्थान के अस्तित्व व स्वरूप के लिए इसका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।[80] इस संस्था में विकृति ब्रिटिश सत्तावादी नीति के कारण आई जिसके फलस्वरूप नरेशों व सामन्तों में एक प्रकार की दरार पड़ गई। इस स्थिति का लाभ अंग्रेजो ने समय-समय पर उठाया।

संदर्भिका

1. मारवाड़ से निष्कासित ठाकुरों द्वारा पोलीटिकल एजेन्ट को दिये गये पत्र; श्रावण सुदी 2, वि. सं. 1878 (अगस्त 1821 ई.) कर्नल टॉड द्वारा अनुवादित पृ. 159-60 भाग I पर उद्घृत, ए. सी. बनर्जी, राजपूत स्टडीज, पृ. 134-35
2. वही पृ. 160-62
3. खास रुक्का परवाना बही नं. 2, पृ. 110-ख्यास धर्म धणा सू बन्दगी करों छो-म्हाने थको भरोसो छै-जायगा थांरे भरोसे छे।
4. जी. एन. शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ. 86, आर. पी. व्यास, रोल ऑफ नोबिलिटी इन मारवाड़ पृ. 8
5. टॉड, भाग I पृ. 127, आर. पी. व्यास, मारवाड़ में सामन्ती प्रथा परम्परा, भाग 49-50, पृ. 79
6. आर. पी. व्यास, पृ. 7-8, जी. एस. एल. देवड़ा, राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था, पृ. 72-73
7. जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 472
8. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य है, पी. सरन, स्टडीज इन मेडीवल इण्डियन हिस्ट्री में प्रकाशित लेख 'द फ्यूडल सिस्टम ऑफ राजपूताना' पृ. 3-21
9. टॉड, भाग, पृ. 128-33
10. (i) मारवाड़ की ख्यात, भाग 1, पृ. 41 और 51
    (ii) आर. पी. व्यास, पृ. 9-10
11. देवड़ा, पृ. 50
12. (i) मारवाड़ रो परगनो री विगत भाग 1, पृ. 63
    (ii) टॉड, भाग 2, पृ. 21,
    (iii) रामकरण आसोपा, हिस्ट्री ऑफ द राठौड़्स, पृ. 32-33
    (iv) परम्परा भाग, 30-40, पृ. 49, भाग 49-50, पृ. 79,
13. आर. पी. व्यास, पृ. 11, जे. के. ओझा, मेवाड़ का इतिहास, पृ. 260

14. मुंशी हरदयाल, तवारीख जागीरदारान राज मारवाड़, पृ. 7
15. एचीसन, भाग 3, पृ. 20, 28 और 30
16. जोधपुर रिकार्ड्स ट्रिब्यूट डिपार्टमेन्ट, खण्ड 1, फाइल नं. सी 4/6, उद्धृत, शर्मा-व्यास, राजस्थान का इतिहास पृ. 267 और 579
17. देवडा, पृ. 77-79
18. लक्ष्मीचन्द तवारीख जैसलमेर, पृ. 100
19. आर. पी. व्यास, पृ. 187
20. (i) हरदयाल, मारवाड़ की प्रथम प्रशासन सम्बन्धी रिपोर्ट,
(ii) रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 2, पृ. 627
21. आर. पी. व्यास, पृ. 186
22. (i) हकीकत बही, नं. 39, पृ. 553
(ii) ब्यावरी बही नं. 3, पृ. 2
(iii) मारवाड़ प्रेसी, पृ. 150
(iv) आर. पी. व्यास, पृ. 179-80
23. प्रकाश व्यास, मेवाड़ राज्य का इतिहास, पृ. 261-62 मेहता संग्रामसिंह कलेक्शन का हवाला (नं. 1063) देते हुए व्यास लिखता है-महाराणा के पुत्र, पुत्रियों व बहिन की शादी पर जो नजराना लिया जाता था, उसे 'न्योत बराड' भी कहा जाता था। प्रारम्भ मे यह जागीर की वार्षिक आय का दसवां भाग होता था, इसलिए इसे 'दशोद' भी कहते थे।
24. (i) रिया, खैरवा, रायपुर, आहुआ, आसोप बगड़ी, कणाणो खीवसर आठों विशाल अनोप (बद्रीदान)
(ii) टॉड, भाग 2, पृ. 135
25. (i) हरदयाल, तवारीख जागीरदारान, पृ. 4–6
(ii) आर. पी. व्यास, पृ. 171–73
26. आर. पी. व्यास, पृ. 174, पाद टिप्पणी 2
27. आसोपा, मारवाड़ का संक्षिप्त इतिहास, पृ. 340
28. (i) आर. पी. व्यास, पृ. 176-78
(ii) आसोपा, आसोप का इतिहास, पृ. 154, 166 और 168
29. (i) वाल्टर गजेटियर ऑफ मारवाड़, पृ. 85
(ii) परम्परा, भाग, 49–50, पृ. 82, मारवाड़ में सामन्ती प्रथा-एक अध्ययन, व्यास, आर. पी.
30. आसोपा, मारवाड़ का मूल इतिहास, पृ. 260
31. (i) हकीकत बही, नं. 44, पृ. 324
(ii) आर. पी. व्यास, पृ. 177-78
32. आसोपा, आसोप का इतिहास, पृ. 218

33. जे. के. ओझा, मेवाड़ का इतिहास, पृ. 256
34. वीर विनोद भाग 2, पृ. 789-90
35. प्रकाश व्यास, पृ. 244-45
36. वही, पृ. 245
37. (i) टॉड, भाग 1, पृ 259
(ii) व्यास, आर. पी. महाराणा राजसिंह, पृ. 20, पाद टिप्पणी 18
38. प्रकाश व्यास, पृ. 247
39. वीर विनोद, भाग 1, पृ. 130, 142 महाराणा फतहसिंह ने युवराज की बैठक उमरावों से ऊपर निश्चित कर दी थी।
40. प्रकाश व्यास, पृ. 249-252
41. वही
42. मेहता संग्रामसिंह कलेक्शन, हवाला नं. 27
43. टॉड, प्रथम भाग, पृ. 170
44. जी. एस. एल. देवड़ा, राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था (1574-1818 ई.) पृ. 51-52
45. वही, पृ. 53-56
46. वही, पृ. 75-81
47. वही, पृ. 87-88
48.(a) वही, पृ. 91-93
48. वही, पृ. 57, 62 और 68
49. वही, पृ. 83-87
50. (i) बांकीदास की ख्यात, पृ. 127 (ii) टॉड, भाग 2, पृ. 285,
51. वही, टॉड पृ. 313-14
52. सी. यू-विल्स रिपोर्ट, पृ. 54, अ.क, पृ. 11
53. आर. पी. व्यास, पृ. 6-7
54. टॉड, भाग 2, पृ. 346
55. वही, पृ. 353
55. (अ) बांकीदास की ख्यात, पृ. 127
56. वी. एस. भटनागर, सवाई जयसिंह, पृ. 194-95
57. टॉड भाग 2, पृ. 353
58. जैसलमेर की ख्यात, पृ. 72; मांगीलाल, मयंक, जैसलमेर राज्य का इतिहास, पृ. 209
59. लक्ष्मीचन्द, तवारीख, पृ. 123 यहाँ रावलोत सरदारों का संक्षिप्त परिचय दिया है। जगदीशसिंह गहलोत, रा. ई., भाग 1, पृ. 688

60. लक्ष्मीचन्द, तवारीख, पृ. 109
61. मांगीलाल, पृ. 210-11
62. वही
63. वही, पृ. 211-12
64. (i) डा. आर. पी. शास्त्री, झाला जालिमसिंह, पृ. 350
(ii) जी. सी. शर्मा, एडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम आफ द राजपूत, पृ. 45
65. टॉड, भाग 2, पृ 409-10; शर्मा कोटा राज्य का इतिहास भाग 2 पृ. 412-13 राव रत्न के द्वितीय पुत्र माधोसिंह के काल से कोटा राज्य की स्थापना हुई थी। उसके पांच पुत्र थे–मुकन्दसिंह, मोहनसिंह और जूंझारसिंह कनीराम और किशोरसिंह। मुकन्दसिंह और उसके बाद उसका पुत्र जगतसिंह (1658-83) कोटा शासक बने। अन्य चार लड़कों के पृथक् ठिकाने बने। वे क्रमशः पलायता, कोटरा, कोयला और सागोद थे। जगतसिंह के निःसन्तान मरने से ठिकाना कोयला से पेमसिंह को कोटा का शासक बनाया गया, परन्तु अयोग्य प्रमाणित होने पर माधोसिंह के सबसे छोटे पुत्र किशोरसिंह को कोटा राज्य की गद्दी प्राप्त हुई। दुर्जनसाल (1723-56) के कोई पुत्र नहीं था। अतः अन्ता के जागीरदार (किशोरसिंघोत) अजीतसिंह कोटा राज्य का अधिकारी बना।
66. आर. पी. शास्त्री, पृ. 350-51
67. शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 549-50
68. वही, पृ. 533
69. (i) टॉड, भाग 2, पृ. 424 (ii) वही, पृ. 508-11,
70. जी. सी. शर्मा, पृ. 45
71. जी. एन. शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ. 88
72. राम पाण्डे, भरतपुर अपटू 1826, पृ. 39-40
73. मनोहरसिंह, भरतपुर महाराजा जवाहरसिंह जाट, 54-55
74. टॉड, भाग 1, पृ. 133, जी. एन. शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ. 88.
75. (i) जी. एन. शर्मा—वही (ii) भटनागर, सवाई जयसिंह, पृ. 195
76. देवड़ा, पृ. 235, आर. पी. व्यास, रोल आफ नोबीलीटी, पृ. 7 और 194
77. जी. एन. शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ. 88-89, भटनागर, पृ. 195
78. वही, पृ. 88
79. जी. एन. शर्मा, मेवाड़ एण्ड द मुगल एम्परर्स, पृ. 185, पाद टिप्पणी 3
80. वही, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ. 90

अध्याय 9

राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था

मुगलों के साथ सम्पर्क स्थापित हो जाने पर राजपूत शासकों का मुगल शासनपद्धति से परिचय हुआ। शनैः-शनैः मुगल शासनप्रणाली का प्रभाव राजस्थान के राज्यो पर पड़ने लगा। बीकानेर में महाराजा रायसिंह (1574-1612 ई.) व उसके उत्तराधिकारियो ने पुरानी राजकीय व्यवस्था मे परिवर्तन करके उसे मुगल शासन-प्रणाली का स्वरूप प्रदान किया। मारवाड़ में महाराजा सूरसिंह (1595-1619 ई.) के काल मे उसके प्रधानमन्त्री भाटी गोविन्ददास ने मुगल शासन-पद्धति के अनुरूप मारवाड़ राज्य के प्रशासन को नवीन ढंग से संगठित किया। मेवाड़ में अमरसिंह प्रथम (1597-1620 ई.) के काल मे मुगलों से सन्धि हुई (1615 ई.)। तत्पश्चात् वहाँ पर भी मुगल शासन-पद्धति का प्रभाव दृष्टिगत होने लगता है। इस प्रकार मुगलो के सम्पर्क में आने से 17 वी शताब्दी के अन्त तक राजस्थान के सभी राज्यों में मुगल शासन-प्रणाली की छाप परिलक्षित होने लगी थी।

यद्यपि राजस्थान के राजपूत शासकों ने मुगल सत्ता की अधीनता स्वीकार कर ली थी तथापि वे अपने राज्यों मे स्वायत्तशासी थे। राज्य की सभी शक्ति राजा में निहित थी। वह समस्त सैनिक, राजनीतिक, न्यायिक व प्रशासनिक शक्तियों का केन्द्र-बिन्दु था। वह अपने मन्त्रियो, राजदूतों और अन्य उच्च अधिकारियों की नियुक्ति करता था और उनकी सहायता से राज्य का शासन संचालन किया करता था। मुत्सद्दियों, हाकिमों, हवलदारों आदि के कार्यों का वह स्वयं निरीक्षण करता था। वह अर्थ-सम्बन्धी अधिकारियों के सहयोग से राज्य की आय और व्यय को संतुलित बनाये रखने का प्रयास किया करता था। जघन्य अपराधों के लिए दण्ड व्यवस्था करने तथा उल्लेखनीय राजकीय सेवाओ और बलिदान के लिए जागीरें देने अथवा पदोन्नति करने के सभी अधिकार राजा मे निहित थे। युद्ध के समय सामान्यतः राजा स्वय सेना का संचालन करता था। वह उसे अपना महत्त्वपूर्ण व गौरवशाली कर्तव्य समझता था। राजा राज्य का मुख्य न्यायाधीश भी था। दीवानी और फौजदारी

सभी मामलों में अन्तिम निर्णय उसी का होता था। जनता की रक्षा पालन व धर्म का पालन करना वह अपना परम कर्त्तव्य समझता था।

राजपूत राज्यों में ब्राह्मणों व चारणों को उचित सम्मान दिया जाता था। राजपूत राजा गौ-ब्राह्मण प्रतिपालक व हितैषी होते थे। राजपूत राजाओं की दृष्टि में चारण गो-ब्राह्मणों के मिश्रण के रूप में मान्य थे। शायद ही कोई ऐसा राजा हुआ होगा जिसने ब्राह्मण व चारण को गांव व भूमि अनुदान के रूप में नहीं दी। ऐसी जागीर 'सांसण' के नाम से जानी जाती थी। जनता अपने राजा का सम्मान करती थी और उसे धर्मावतार, श्री जी, माई-बाप, अन्नदाता आदि सम्मान सूचक शब्दों से सम्बोधित करती थी। वह उसे ईश्वर का प्रतिनिधि तथा भगवान का अंश मानती थी। मेवाड़ के शासक अपने आराध्यदेव श्रीएकलिंगजी के प्रतिनिधि (दीवान) के रूप मे शासन का कार्य चलाते थे। मेवाड़ के सभी राजपत्रो में 'श्रीएकलिंगजी प्रसादतु' और राणाओं के सम्बन्ध मे 'दीवाणजी आदेशतु' लिखा रहता था।[1] इसी प्रकार बीकानेर के शासक अपने कुल-देवता लक्ष्मीनारायणजी और कुलदेवी करणीजी के प्रति अपनी अटूट श्रद्धा प्रकट करते थे। राज सनदों व पत्रो में सबसे ऊपर 'श्री जी दीवान वचनात' अंकित रहता था।[2] राजस्थान के राजपूत राजा अपने धर्म मे पूर्ण आस्था रखते हुए अन्य धर्मों के प्रति सदैव सहिष्णु रहे। जी. एन. शर्मा ने जोधपुर की 'हवाला बहियों' तथा जयपुर के 'स्याह हजूर' के आधार पर लिखा है कि राजस्थान के शासक जिस प्रकार हिन्दू धर्मावलम्बी साधु-सन्तों का आदर करते थे, उसी प्रकार वे काजियों, मौलवियों, दादूपन्थियों, खाखियो, नानक पंथियों आदि के प्रति उदार थे।[3] मारवाड़ में शहर काजी की बड़ी मान्यता थी। बीकानेर राज्य कोष से मन्दिरों के साथ-साथ दरगाहो को भी नियमित रूप से अनुदान के रूप मे धनराशि भेजी जाती थी।[4]

नरेशों का सर्वाधिकार होने से उनके द्वारा सम्मानित रानियों का भी शासन में बड़ा प्रभाव रहता था। उनके प्रभाव के कारण कभी-कभी उत्तराधिकार की परम्परा को भंग कर दिया जाता था। सैनिक संकट के समय ये रानियां अपूर्व साहस का परिचय देती थीं। राजा के अल्पव्यस्क होने के समय राजमाता राजप्रतिनिधि के रूप मे शासन का संचालन किया करती थी। बीकानेर के महाराणा अनूपसिंह की पटरानी ने अपने पुत्र स्वरूपसिंह की बाल्यावस्था में राज्य का कार्यभार संभाला था।[5] मेवाड़ में महाराणा हम्मीरसिंह द्वितीय के बाल्यकाल में राजमाता द्वारा शासन संचालन किया गया था।[6] जयपुर महाराजा माधोसिंह के मरणोपरान्त उसके अल्प वयस्क पुत्र पृथ्वीसिंह के सिंहासनारूढ होने पर उसकी माता चूण्डावती ने शासन का कार्य संभाला था।[7] जोधपुर के महाराजा मानसिंह की रानी ने अपने पुत्र छत्रसिंह को राजसत्ता दिलवाने में महती भूमिका का निर्वाह किया था।[8] कभी-कभी जनहित के कार्यों मे भी रानियों का बड़ा योगदान रहता था। सवाई जयसिंह के काल में हुए सामाजिक सुधारों में उसकी रानियों का हाथ होना माना जाता है।[9]

युवराज व अन्य राजकुमारों का भी राज्य की राजनीति में सक्रिय योगदान रहता था। राजा स्वयं अपने उत्तराधिकारी को शासन-प्रशिक्षण दिया करता था ताकि समय आने पर वह राज्य के शासन-संचालन का उत्तरदायित्व संभाल सके। प्रायः ज्येष्ठ पुत्र अथवा पूर्व घोषित युवराज को सिंहासनासीन करने की प्रथा का प्रचलन होने लगा था। कहीं-कहीं ज्येष्ठ पुत्र के वयस्क होने पर 'युवराज पद अभिषेक' भी कर दिया जाता था। कभी-कभी प्रशासन सम्बन्धी किसी विषय को लेकर पिता और पुत्र के बीच मनोमालिन्य उत्पन्न हो जाता था। बीकानेर के महाराजा सुजानसिंह (1700-36 ई.) का अपने पुत्र जोरावरसिंह से दीवान के पद की नियुक्ति के मामले पर मनमुटाव हो गया था।[10] मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह द्वितीय (1734-51 ई.) और उसके पुत्र प्रतापसिंह के बीच तीव्र मतभेद हो गये थे।[11] 18 वीं शताब्दी में कहीं-कहीं बीकानेर राज्य के आदेश-पत्रों में महाराजा के नाम के साथ-साथ महाराजकुमार का नाम भी उल्लेख किया जाने लगा था। इस प्रकार राजा के जीवन काल में ही युवराज को वैधानिक अधिकार से विभूषित कर दिया गया था।[12]

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि राजा राज्य का सर्वेसर्वा होता था, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि राजस्थान के शासक पूर्ण रूप से स्वच्छन्द व निरंकुश होते थे। उनके अधिकारों को नियंत्रित रखने के लिए अनेक प्रतिबन्ध थे। उसकी शक्तियों पर परम्परागत नियमों व धर्मशास्त्रों का पूर्ण प्रभाव था जिससे उनकी स्वेच्छाचारिता सीमित रहती थी। यदि राजा अत्याचारी हो जाता तो सामन्त वर्ग उसकी सत्ता को खुली चुनौती देने में सक्षम था। मारवाड़ में महाराजा विजयसिंह के काल में पोकरण का ठाकुर देवीसिंह तो खुले तौर पर कहता था कि मारवाड़ का राज उसकी तलवार की म्यान में है।[13] मन्त्रियों से भी अपेक्षा की जाती थी कि वे राजा को प्रचलित नियमों व परम्पराओं के अनुसार कार्य करने के लिए प्रेरित करेंगे। लोकप्रिय भावना व जनमत का राजा सदैव ध्यान रखता था। उसकी उपेक्षा करने का सामान्यतः वह साहस नहीं करता था। मारवाड़ के शासक महाराजा रामसिंह (1749-51 ई.) को अपनी अलोकप्रियता के फलस्वरूप राज्य से वंचित होना पड़ा था। राज्य के लगभग सभी सामन्तों ने उसका साथ छोड़ दिया और वे उसके चाचा नागौर के स्वामी बख्तसिंह के सहयोगी बन गये जिससे बख्तसिंह जोधपुर की गद्दी हस्तगत करने में सफल रहा। इस आशय का मारवाड़ में एक दोहा प्रसिद्ध है—

रामे सूं राजी नहीं, दीनो उत्तर देश।
जाधाणों भाला करे, आव धणी बख्तेश ।।[14]

मारवाड़ में महाराजा मानसिंह के समय अनेक अवसरों पर दुर्भिक्ष-पीड़ित क्षेत्रों के चौधरी और विभिन्न जातियों के पंचों ने महाराजा से मिलकर उसे माल-गुजारी तथा लागतों में छूट देने के लिए विवश किया था।[15] 1808 ई. में जालोर

के चौधरियों ने घरबाव मे 25 प्रतिशत की छूट प्राप्त की थी।[16] अप्रेल 1814 ई. मे जोधपुर नागौर, मेड़ता, सोजत, जैतारण आदि के जनप्रतिनिधियों ने महाराजा मानसिंह को घर गिनती लाग में चार रुपयों और हल लाग में साढ़े चार रुपयों की कमी करने पर विवश किया।[17] इसी प्रकार दुष्काल के अवसर पर बीदासर (बीकानेर राज्य) और कोटा के निकटवर्ती भाग के किसानों और स्थानीय महाजनों ने अपने राज्यों मे कर-सम्बन्धी छूट प्राप्त करने के लिए सफल प्रयास किये थे।[18]

राज्य-प्रशासन मे राजा के बाद सामन्तों की महत्ता थी। सामन्त राज्य की रीढ़ की हड्डी थे। सामन्तों के सहयोग के बिना शासक अकेला प्रशासन-कार्य नहीं कर सकता था। राज्य की सुरक्षा का दायित्व सामन्तों पर रहता था। समय-समय पर वे राज्य की सैनिक सेवा के लिए उपस्थित होते थे। सीमाओं की सुरक्षा और शासक की अनुपस्थिति में राजधानी व गढ़ की देख-भाल व सुरक्षा का कार्यभार सामन्तों को ही सौंपा जाता था। प्रशासन चलाने हेतु राज्य के उच्च पदों पर सामन्तों की नियुक्ति की जाती थी। मारवाड़ में प्रधान के पद पर सामान्यतः स्वजातीय सामन्त की ही नियुक्ति होती थी। पहले आसोप (कूंपावत) और बाद में आऊवा और पोकरण (चांपावत) के ठाकुरों को प्रधान के पद पर नियुक्त किया गया था।[19] महाराणा भीमसिंह के काल मे 1796 ई. मे सलूम्बर के रावत भीमसिंह को मुसाहिब का पद दिया गया।[20] बीकानेर में महाराजा स्वरूपसिंह की बाल्यावस्था व दक्षिण में नियुक्ति के कारण राज्य प्रशासन का कार्य भार अंगोत बीका ठाकुर पृथ्वीराज को सौंपा गया था। उसे मुसाहिब के पद पर नियुक्त किया गया था। ठाकुर कुशालसिंह ने दीवान मोहता बख्तावरसिंह के साथ मिलकर महाराजा जोरावरसिंह की मृत्यु हो जाने पर, शासक के अभाव मे राज्य-प्रशासन का संचालन किया था। सेनाध्यक्ष के पद पर भी सामन्त नियुक्त किया जाता था। जोधपुर नरेश अभयसिंह द्वारा बीकानेर पर आक्रमण करने के समय ठाकुर कुशालसिंह बीकानेर राज्य की सेना का अध्यक्ष था। राज्य के थानों और मुख्य किलो पर थानेदार और किलेदार के रूप में सामन्तों की नियुक्ति की जाती थी।[21] कोटा राज्य में अन्ता का जागीरदार झाला जालिमसिंह फौजदार के पद पर नियुक्त किया गया था। कोटा राज्य का सम्पूर्ण प्रशासन उसी के आदेशानुसार चलता था।

राजकीय क्षेत्र में सामन्तो की भूमिका व सामन्ती व्यवस्था का विस्तारपूर्वक विश्लेषण पिछले अध्याय में किया जा चुका है। यहां हम सक्षेप में सामन्तो के अपने जागीरी क्षेत्र मे प्रशासन सम्बन्धी जानकारी देने का प्रयास करेंगे। सामन्त अपनी जागीर मे एक अर्द्ध-स्वतन्त्र शासक की भांति कार्य करता था। जागीर क्षेत्र की प्रशासनिक व्यवस्था राज्य प्रशासनिक व्यवस्था का एक लघु रूप था। बड़े-बड़े सामन्तों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने क्षेत्रो में शान्ति और कानून की व्यवस्था बनाये रखें और अपनी रैयत को समृद्ध व सुखी बनायें। अपने क्षेत्र में कर-

वसूली का कार्य भी वे करते थे। जागीरी क्षेत्र के प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए वे आवश्यकता और अपनी क्षमता के अनुसार कामदार, फौजदार, प्रधान, मुसाहिब, वकील, साणी, दरोगा, कोठारी, तहसीलदार आदि कर्मचारियों की नियुक्ति करते थे। बड़े-बड़े ठिकानों में प्रधान या मुसाहिब के पद होते थे। परन्तु कामदार का पद तो लगभग सभी ठिकानों में रहता था। कामदार छोटे पैमाने पर उन सभी कार्यों को करता था जो राज्य प्रशासन में दीवान द्वारा किये जाते थे। दरोगा, खजान्ची (पोतेदार) व तहसीलदार उसके सहयोगी होते थे। गांव का चौधरी व पटवारी स्थानीय अधिकारी होते थे जो कामदार को मालगुजारी वसूल करने में सहयोग प्रदान करते थे और गांव को व्यवस्थित रखते थे। ठिकाने में फौजदार का कार्य जागीर-सुरक्षा तथा स्थानीय सेना पर नियन्त्रण रखना होता था। ठिकाने के घोड़ों और ऊंटो की देख-रेख के लिए क्रमशः दरोगा-मस्तवल और दरोगा-सुतरखाना हुआ करते थे। वे फौजदार के नियन्त्रण में रहते थे। गांव से चोरी व डकैती की सूचना मिलने पर चोरों और डाकुओं का पता लगाने के लिए ठिकाने से सैनिक भेजे जाते थे। संगीन डकैती पड़ने पर फौजदार और कभी-कभी ठाकुर स्वयं सवारों के साथ डाकुओं के विरुद्ध अभियान में जाते थे। मारवाड़ में इसे 'बाहर चढ़ना' कहते थे।

ठिकानों के वकील राजधानी में रहते थे। ये वकील शासक व सामन्त के बीच कड़ी का काम करते थे। ठिकानों के राज्य-सम्बन्धी सभी कार्य वे सम्पन्न करते थे। मारवाड़ में महाराजा मानसिंह के काल में पोकरण, नीमाज और कुचामन ठिकानों के क्रमशः नाथूराम, शिवनाथसिंह और शाहजी नाम के वकील जोधपुर में नियुक्त थे। वे राजनीतिक सूझ-बूझ और प्रशासनिक योग्यता के लिए प्रसिद्ध थे।

बड़ी-बड़ी जागीरें प्रशासन की सुविधा के लिए अनेक हलकों व तहसीलों में विभाजित थी। तहसील का अधिकारी तहसीलदार होता था। तहसीलदार के अधीन नफेदार एवं तोलावटी नामक अधिकारी होते थे। मारवाड़ में गुढ़ा मालानी का ठिकाना पाच हलकों में विभाजित था। प्रत्येक हलके के प्रशासन के लिए एक प्रधान नियुक्त था। इन सब पर एक मुख्य (पाट) प्रधान होता था जिसका कार्यालय ठिकाने में रहता था।

ठिकाने की सबसे छोटी प्रशासनिक इकाई गांव होती थी। गांव में एक पटेल या चौधरी होता था। मेवाड़ में जिस गांव में राजपूत अधिक होते थे, वहां उसे 'गाड़ा', जहां भील व मीणों की अधिक आबादी होती, 'गमेती' और जिस गाव में महाजनों की बस्ती रहती थी, वहां उसे 'पटवारी' कहा जाता था। चौधरी के अतिरिक्त कणवारिया और भांभी भी होते थे। कणवारिया गांव की फसल पर देख-रेख रखता था। भांभी या ढेढ़-थोरी आदि गांव के चाकर होते थे जो पट्टायत (जागीरदार) के लिए संदेशवाहक का कार्य करते थे और गाव की सफाई आदि रखने का दायित्व भी निभाते थे।[22]

मुगल प्रभुसत्ता को स्वीकार कर लेने के पश्चात् राजस्थान के शासकों ने अपने राज्यों में केन्द्रीय सत्ता को सुदृढ़ करने के प्रयास किये। मुगल शासन-पद्धति का अनुकरण करते हुए उन्होंने केन्द्र और परगनों में अनेक नये पदाधिकारियों की नियुक्तियां की। केन्द्रीय व स्थानीय स्तर पर नये-नये विभाग व कारखाने खोले गये और अधिकारी पदों के दायित्व का विभाजन कर नई नियुक्तियां की गई। फलतः इन राजस्थानी राज्यों में प्रशासन को सुचारु रूप से संचालित करने हेतु एक नवीन प्रभावशाली अधिकारीतन्त्र का जन्म हुआ जो 'मुत्सद्दी वर्ग' के नाम से विख्यात हुआ। मुत्सद्दी वर्ग के सदस्यों की संख्या निरन्तर बढ़ती गई और साथ-साथ उनमें वर्ग-एकता भी सुदृढ़ होने लगी। शासकों ने भी इस वर्ग को सशक्त होने दिया क्योंकि वे स्वकुलीय आधार पर प्रशासन के विच्छिन्न होने से असन्तुष्ट सामन्तवर्ग को नियन्त्रित व नियमित करने के लिए इस वर्ग की उपयोगिता को समझते थे। परिणामतः राजपूत राज्यों में अब राजा और सामन्तों के अतिरिक्त तीसरी शक्ति के रूप में मुत्सद्दी वर्ग का विकास हुआ।[23]

समकालीन राजनीतिक परिस्थितियों के कारण भी मुत्सद्दी वर्ग दिन-प्रतिदिन शक्ति सम्पन्न होने लगा। राजस्थानी राज्यों के राजा (मेवाड़ के अतिरिक्त) लोग अपने राज्य से बहुत दूर मुगल मंसबदार के रूप में सम्राट् की सेवा में व्यस्त रहते थे। उनकी अनुपस्थिति में मुल्क के प्रशासन को चलाने का दायित्व मुत्सद्दियों पर ही रहता था।[24] इसी प्रकार जब वे मुगल दरबार में अनुपस्थित रहते थे, तो इनके द्वारा नियुक्त वकील उनके हितों की देख-भाल करते थे। इसके अतिरिक्त राज्य में इन मुत्सद्दियों को अनेक बार सैनिक दायित्व भी निभाना पड़ता था। इन सब कारणों से मुत्सद्दी वर्ग की शक्ति व क्षमता में अत्यधिक वृद्धि हुई। परन्तु यह मुत्सद्दी वर्ग राज्य के लिए स्थायी खतरे का कारण नहीं बन सका, क्योंकि इनकी नियुक्तिया और पदोन्नति व सेवा-मुक्ति मात्र शासक की इच्छा पर निर्भर थी। मुत्सद्दी लोग राजा के प्रति उत्तरदायी थे। उनका जनसाधारण में कोई आधार नहीं था। उनके पास कोई निजी सेना भी नहीं होती थी। जो जागीरें उन्हें उनकी सेवा के बदले इनायत होती थी, वे सामान्यतः उनके सेवा-काल तक ही सीमित रहती थी। इसलिए जागीरी क्षेत्र में वे अपना स्थायी आधार नहीं बना सकते थे। उनको सामन्तों से भी सैनिक सहायता सम्भव नहीं थी, क्योंकि सामान्यतः सामन्त-वर्ग यह सहन नहीं कर सकता था कि कोई मुत्सद्दी उनके कुल-स्वामी के विरुद्ध चुनौती के रूप में खड़ा हो। इनके अतिरिक्त, मुत्सद्दियों की आपसी फूट के कारण भी वे कभी केन्द्रीय शक्ति का विरोध करने की स्थिति में नहीं हो सकते थे।[25]

उपर्युक्त विवरण से ऐसा ज्ञात होता है कि राजस्थान में मध्ययुगीन निरंकुश राजतन्त्र से अधिकारी तंत्र का उदय हुआ। आलोच्यकाल में शासक इसी मुत्सद्दी वर्ग से मन्त्री व अन्य उच्च पदाधिकारी नियुक्त करता था। राजकीय उच्च पदों पर नियुक्त करते समय व्यक्ति की योग्यता, अनुभव और निष्ठा को ध्यान में रखा जाता

था। प्रधान के पद के अतिरिक्त अन्य पदों पर सामान्यतः गैर-राजपूत जातियों, विशेषकर वैश्य, ब्राह्मण और कायस्थ जाति के लोगों को नियुक्त किया जाता था। यहां हम प्रमुख प्रशासकीय पदों का उल्लेख करेंगे और उनके कार्यों पर यथासम्भव प्रकाश डालेंगे।

मन्त्रिमण्डल : राज्य के सभी महत्त्वपूर्ण कार्यों में व नीति सम्बन्धी विषयों पर राजा अपने ही द्वारा नियुक्त बड़े-बड़े पदाधिकारियों से परामर्श लिया करता था। इन पदाधिकारियों से ही मन्त्रिमण्डल का गठन होता था। कभी-कभी और कहीं-कहीं इन मन्त्रियों का पद वंशानुगत हो गया था। मारवाड़ में महाराजा विजयसिंह के काल से कुछ समय को छोड़ कर जबकि प्रधान का पद कूंपावतों के पास रहा, महाराजा मानसिंह के समय तक प्रधान के पद पर प्रायः पोकरण ठाकुर को ही नियुक्त किया जाता था।[26] प्रतापगढ़ राज्य में मन्त्री का पद पड़लिया परिवार में वंशानुगत रहा।[27] इन मन्त्रियों के वेतन व कार्यकाल सम्बन्धी कोई निश्चित नियम नहीं थे। राजस्थान के राज्यों में मन्त्रियों की संख्या भी एक-सी नहीं थी। उनके पदों के नामांकन में भी भिन्नता मिलती है। मेवाड़ में राणा राजसिंह द्वितीय (1743 ई०) के मन्त्रिमण्डल में प्रधान, पुरोहित, खजाची, पाकशालाध्यक्ष, धर्माध्यक्ष, दानाध्यक्ष और मुख्य मुसाहिब सम्मिलित थे।[28] मारवाड़ के महाराजा मानसिंह ने अपने राज्याभिषेक के तुरन्त बाद पोकरण के ठाकुर सवाईसिंह को *प्रधान, भंडारी गंगाराम को दीवान, सिंघवी मेघराज को बख्शी और इन्द्रराज सिंघवी* को मुसाहिब के पदों पर नियुक्त किया था। ये सभी उसके मन्त्रिमण्डल के सदस्य थे।[29] उन दिनों सतत् युद्ध की स्थिति बनी रहती थी, इसलिए सैनिक और शासन-कार्य का कोई विभाजन नहीं था। युद्ध काल में मन्त्री सेना का संचालन भी करता था। जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह का दीवान रघुनाथ भंडारी और बीकानेर के महाराजा सूरतसिंह का दीवान अमरचन्द सुराणा योग्य प्रशासक होने के साथ-साथ कुशल सेनानायक भी थे।[30]

प्रधान : केन्द्र में राजा के बाद सर्वोच्च अधिकारी प्रधान होता था। जो पद प्राचीन परम्परा के अनुसार बने रहे, उनमें प्रधान का पद बड़े महत्त्व का था। वह राजा का मुख्य सलाहकार और सैनिक तथा न्याय-सम्बन्धी सभी कार्यों में उसकी सहायता किया करता था। राजा की अनुपस्थिति में राज्य में प्रशासन चलाने का दायित्व उसी का होता था। मेवाड़ में सलूम्बर के रावत को प्रधान का पद वंशानुगत प्राप्त था, जिसे 'भांजगड़' कहते थे। उसे राज्य की ओर से 200 रुपये प्रतिदिन के हिसाब से भत्ता मिलता था। मराठों के उपद्रवों व 'चूंडावतों' और शक्तावतों के पारस्परिक निरन्तर झगड़ों के फलस्वरूप राज्य में सर्वत्र अराजकता का वातावरण व्याप्त था। ऐसे समय में सलूम्बर का रावत महाराणा की आज्ञाओं का उल्लंघन करने लगा था। अतः वह अपने वंशानुगत प्रधानगी के पद से वंचित कर दिया गया, यद्यपि वह इसके लिए निरन्तर संघर्षरत रहा। अन्य राज्यों की भांति मेवाड़ में भी

भूमि-अनुदान पत्रों पर प्रधान के हस्ताक्षर आवश्यक थे। जब सलूम्बर का रावत अनुदान पत्र पर भाले का निशान अंकित कर देता था, तब वह वैध माना जाता था। कालान्तर मे आलोच्य काल मे प्रधान के पद पर अन्य योग्य-व्यक्तियों को नियुक्त किया जाने लगा और साथ ही अनुदान पत्रों को सही करने का कार्य भी पंचोली (कायस्थ) परिवार को दे दिया गया जो 'सहीवाल' के नाम से पुकारे जाते थे।[31]

मारवाड़ मे प्रधान का पद बड़ा सम्मानित पद था। महाराजा विजयसिंह ने पोकरण के ठाकुर सवाईसिंह को प्रधान के पद पर नियुक्त कर उसे प्रधानगी के कार्य के लिए दुनाड़ा और मजल के दो अतिरिक्त गांव जागीर में प्रदान किये थे।[32] भूमि-वितरण मे इसकी साख रहती थी। प्रधान किसी भी जागीरदार को जागीर देने अथवा जब्त करने के लिए शासक से सिफारिश करता था। युद्ध के समय वह सामन्तों की सेना को जुटाने तथा उसका नेतृत्व करने का दायित्व निभाता था। वह राजा को ईनाम-इकरार और दान-पुण्य के कार्य करने की सलाह दिया करता था। यद्यपि राज्य की सभी गतिविधियों में वह भाग लेता था तथापि सामान्यतः वह नागरिक (सिविल) प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं करता था। परन्तु राजा की अनुपस्थिति में वह शासन का सम्पूर्ण कार्यभार सम्भालता था। उत्तराधिकार के प्रश्न को हल करने में भी उसका बड़ा योगदान रहता था।[33]

जयपुर राज्य में प्रधान मन्त्री के लिए 'मुसाहिब' शब्द का प्रयोग होता था। कोटा में इसे 'फौजदार' या 'दीवान' के नाम से सम्बोधित करते थे। बीकानेर और बून्दी मे भी 'दीवान' ही प्रधानमंत्री होता था।[34] कोटा राज्य में फौजदार के पद पर झाला जालिमसिंह नियुक्त था। राज्य के शासन की समस्त शक्ति उसी में निहित थी। महाराव तो मात्र नाम का शासक था। महाराव गुमानसिंह अस्वस्थ रहता था। महाराव उम्मेदसिंह में झाला का विरोध करने का साहस नहीं था। महाराव किशोरसिंह ने झाला की शक्ति को चुनौती देने का प्रयास किया, परन्तु वह असफल ही रहा। झाला जालिमसिंह अर्द्ध शताब्दी तक फौजदार के पद पर आरूढ़ रहा और राज्य का सर्वेसर्वा बना रहा।[35]

जैसलमेर में भी प्रधान का पद था। वह सैनिक और प्रशासनिक मामलों में राजा को सलाह देता था। कभी-कभी एक से अधिक प्रधानों का होना भी ज्ञात होता है और कभी-कभी दीवान व प्रधान दोनों पदों पर एक ही व्यक्ति की नियुक्ति की जाती थी।[36]

दीवान : राजस्थान के राजपूत राज्यों में प्रशासनिक तंत्र का प्रमुख दीवान होता था जो मुख्य रूप से वित्त व राजस्व-सम्बन्धी मामलों पर नियंत्रण रखता था। दीवान से यह अपेक्षित था कि वह राज्य की आमदनी बढ़ाकर विभिन्न खर्चों की पूर्ति करेगा।[37] जहां प्रधान पद का प्रावधान नहीं था, वहां दीवान प्रधान का कार्य भी करता था। राज्य में शासन-सम्बन्धी सभी कार्यों के लिए वह जिम्मेदार था।

मारवाड़ में दीवान को शासक की दूसरी देह अर्थात् दूसरा शरीर समझा जाता था। नियुक्ति के समय दीवान महाराजा को एक अशर्फी और पांच रुपये नजर (भेंट) करता, तब शासक उसे एक गुलाबी अथवा केसरी रंग का दुपट्टा (उत्तरीय) प्रदान करता जिसे 'दीवान जी का दुपट्टा' कहा जाता था। इसके साथ ही दीवान को राजकीय मुद्रा (मुहर) जिस पर उस व्यक्ति का नाम अंकित होता था, सुपुर्द की जाती थी। सभी महत्त्वपूर्ण राजकीय दस्तावेजों पर दीवान की मुहर लगाई जाती थी। जब दीवान को पदच्युत किया जाता था, उस समय उसका दुपट्टा व मुहर ले ली जाती थी।[38] बीकानेर राज्य मे दीवान अपनी नियुक्ति के समय राजा को नजर-न्योछावर करता था और राजा उसे मोतियों का चौकड़ा, सिरपेच, कड़ा व कटार प्रदान कर सम्मानित करता था। कभी-कभी राजा द्वारा उसके ललाट (माथे) पर टीका किये जाने का भी उल्लेख मिलता है।[39]

दीवान के पद पर सामान्यतः गैर-राजपूत जाति के व्यक्तियों को ही नियुक्त किया जाता था। जयपुर राज्य में 1691 ई. से 1800 ई. के मध्य 56 दीवान बने, जिनमें केवल चार राजपूत जाति के थे।[40]

राज्य के सभी पदाधिकारी दीवान के नियन्त्रण में कार्य करते थे। दीवान को आमिल, कोटवाल, अमीन, दरोगा, मुशरिफ, वाकयानवीस, फौजदार आदि पदाधिकारियों को नियुक्त करने का अधिकार था। मारवाड़ में परगनों के हाकिमों की नियुक्ति महाराजा करता था, परन्तु इन नियुक्तियों में दीवान की सिफारिश होती थी।[41]

राज्य के जमा-खर्च का समस्त कार्य उसके अधीन हुआ करता था। विभिन्न परगनो से होने वाली पैदावार का जमा-खर्च का ब्यौरा तथा जागीरदारों द्वारा दिये गये वार्षिक कर, नजराना आदि का विवरण उसके पास रहता था। राज्य मे भूमि-कर, चुंगी-कर राहदारी, पेशकश, दण्ड-शुल्क व अन्य आय से सम्बन्धित सभी कागजात दीवान के निरीक्षण के लिए पेश किये जाते थे। बाजार में वस्तुओं के भाव व कीमत सम्बन्धी जानकारी प्रतिदिन दीवान को दी जाती थी। सभी राजकीय कोठारों या भंडारों व कारखानो पर उसका नियन्त्रण रहता था। उपर्युक्त सभी जानकारी से दीवान शासक को अवगत करता रहता था।[42]

आलोच्यकालीन दीवान युद्ध के समय सेना का नेतृत्व भी करते थे। पड़ौसी राज्यों के साथ कूटनीतिक सम्बन्धों के निर्धारण में दीवान की भूमिका रहती थी। बीकानेर राज्य मे दीवान मोहता बख्तावरसिंह ने महाराजा गजसिंह के काल मे मारवाड़ के शासक से मिलकर मराठा-विरोधी संघ के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था।[43]

राजपूत राज्यों में दीवान मुगल शासन प्रणाली के दीवान की भांति केवल राजस्व विभाग का ही पदाधिकारी नहीं था, बल्कि वह न्यायिक, वित्तीय, सैनिक, नागरिक प्रशासन-सम्बन्धित सभी अधिकारों का उपभोग करता था। राजा की

अनुपस्थिति में राज्य-शासन की बागडोर दीवान के ही हाथों में रहती थी। ऐसे समय मे वह 'देश दीवान' कहलाता था। उसका कार्यक्षेत्र विस्तृत होने के कारण किसी-किसी राज्य में दो सहयोगी दीवानो की नियुक्ति होती थी। उन दोनों मे से एक प्रशासन की देख-रेख करता और दूसरा राजस्व-सम्बन्धी कार्य किया करता था। उदाहरण के रूप मे, जोधपुर राज्य मे महाराजा मानसिंह के समय मे दो नायब दीवानो की नियुक्ति की गई थी। उनमे से एक खजाने की देखभाल करता था, दूसरा दफ्तर को सम्भालता था जो कि किले के प्रवेश द्वार फतहपोल में स्थित था।[44] जयपुर राज्य मे सवाई जयसिंह के काल में प्रमुख दीवान के कार्यों मे 'दीवान देश' व 'दीवान हजूर' हाथ बंटाते थे। दीवान देश जागीर व परगना प्रशासन को देखता था और दीवान हुजूर जागीरों व राजकीय कारखानो से सम्बन्धित कार्यों को सम्भालता था।[45]

दीवान राजा के अधीन ही होता था तथा उसका कार्य राजा की इच्छाओं की पूर्ति करना था। परन्तु कभी-कभी शासकों की अल्प-व्यस्कता व अन्य परिस्थितियो का लाभ उठाकर दीवानो ने अपने ऐश्वर्य एवं प्रभुता मे वृद्धि कर ली थी। जैसलमेर मे दीवान स्वरूपसिंह एवं सालिमसिंह के काल मे ऐसी ही स्थिति थी। ये लोग राज्य के सर्वेसर्वा बन गये थे। कोटा राज्य मे भी झाला जालिमसिंह ने राज्य की सारी शक्ति हस्तगत कर ली थी।

मुसाहिब : कुछ राज्यो मे मुसाहिब का भी एक महत्वपूर्ण पद होता था। जयपुर राज्य में मुसाहिब का पद प्रधानमन्त्री व सैन्यमन्त्री का पद था।[46] बीकानेर राज्य मे इस पद के लिए कहीं-कहीं 'मुख्तयार' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। इस पद के साथ सम्मान अधिक और उत्तरदायित्व कम था। इस पद पर नियुक्त व्यक्ति महाराजा का विश्वसनीय सलाहकार होता था। कई बार यह पद मान और मर्यादा की दृष्टि से दीवान के पद से भी ऊंचा आंका गया था। शक्तिशाली दीवान के समय इस पद पर किसी की भी नियुक्ति नही की जाती थी। मुसाहिब के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध मे कहीं विस्तृत विवरण नही मिलता। शासक को सलाह देने के अतिरिक्त कभी-कभी बीकानेर राज्य में सैनिक विभाग का संचालन भी मुसाहिब किया करता था। 'दयालदास की ख्यात' से ज्ञात होता है कि स्वरूपसिंह के काल मे मुसाहिब सेना का प्रधान सेनापति था।[47] जोधपुर के महाराजा मानसिंह का प्रथम मुसाहिब इन्द्रराज सिंघवी था। उसका दीवान से भी अधिक सम्मान था।[48] आलोच्य काल के बहुत बाद मारवाड़ मे 19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में महाराजा जसवन्तसिंह द्वितीय के काल में उनके अनुज सर प्रताप को मुसाहिब आला (प्रधान मन्त्री) के पद पर नियुक्त किया गया था।[49] उदयपुर राज्य मे यह पद 'मुत्सद्दी' के नाम से जाना जाता था। यह युद्ध काल मे सैनिक व्यवस्था की देख-रेख किया करता था।[50]

बख्शी : दीवान के बाद दूसरा प्रमुख पदाधिकारी बख्शी होता था। यह प्रधानतः सेना विभाग का अध्यक्ष होता था। सेना की रसद-व्यवस्था, अनुशासन,

सैनिकों का शिक्षण, युद्ध-स्थल में घायल सैनिकों व पशुओं के उपचार एवं उनकी सुरक्षा का वह प्रबन्ध करता था। वह सेना को वेतन देता था। सैनिकों की नियुक्ति, पद-वृद्धि और पदावनति का विवरण भी रखता था। राज्य के दुर्गों में किलेदारों और नगर के दरवाजों पर तैनात सिपाहियों के वेतन का प्रबन्ध करना तथा उनकी नियुक्ति करने का कार्य भी बख्शी का होता था। वह राजा का विश्वासपात्र होता था। गुप्तचरों का संगठन भी इसी के द्वारा किया जाता था। कहीं-कहीं मुगलकालीन राजपूत राज्यों में 'तनबख्शी' और 'देश बख्शी' के दो पृथक् पद होते थे। जयपुर राज्य मे बख्शी को 'बख्शी देश', 'बख्शी परगना' और 'बख्शी जागीर' सहायता करते थे। वहां वि. सं. 1772 ई. में नन्दलाल बख्शी के पद पर नियुक्त था। बख्शी का निकट सहायक नायब बख्शी भी होता था। खबरनवीस, किलेदार, मुशरिफ, हवलदार, दरोगा तोपखाना आदि उसके अधीन होते थे।

जोधपुर राज्य में इसे 'फौज बख्शी' भी कहते थे। बख्शी को सामन्तो और उनकी सैनिक सेवाओ, सामन्तों की जागीरें व उनकी रेख तथा मारवाड़ की सम्पूर्ण सेना और सेना खर्च का पूर्ण विवरण अपने दफ्तर में तैयार रखना होता था। महाराजा विजयसिंह के काल में दीर्घकाल तक सिंघवी भीमराज बख्शी के पद पर रहा। महाराजा मानसिंह के काल में सिंघवी इन्द्रराज, फौजराज और गुलराज सभी एक ही परिवार से सम्बन्धित, 'फौज बख्शी' के पद पर नियुक्त किये गये थे। मेवाड मे महाराणा जगतसिंह के बख्शी भीमजी कोठारी ने ससैन्य अनेक युद्धों में सेना का नेतृत्व किया था। बीकानेर राज्य में इस पद पर सर्वप्रथम नियुक्ति कायस्थ मैंय्या आलमचन्द की सन् 1752 ई. में हुई। वह महाराजा गजसिंह का कृपापात्र और विश्वासी व्यक्ति था। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि बख्शी के पद पर गैर-राजपूत की ही नियुक्ति होती थी।

मारवाड़ मे महाराजा बख्तसिंह के राज्यकाल में सर्वप्रथम 'त्याग बख्शी' नामक एक नवीन पद का सर्जन किया गया। इसका कार्य गैर-सैनिक कर्मचारियो के रोजगार और उनकी सेवाओं का विवरण रखना होता था। उसको ऐसे परगनो में नियुक्त किया जाता था जहां मराठों के आक्रमणों का भय बना रहता था। इसके अधीन कुछ सशस्त्र सैनिक रखे जाते थे।[51]

शिकदार : मुगल शासन प्रणाली के अनुरूपही कतिपय राजपूत राज्यों मे शिकदार पद का भी सृजन हुआ, परन्तु इन राज्यों का शिकदार मुगलों के शिकदार से कुछ भिन्न था। यह एक परगने का मुख्याधिकारी न होकर नगर कोतवाल के समकक्ष था। बीकानेर प्रशासन में तो इस पद का बड़ा महत्त्व रहा। राजा रायसिंह और उसके उत्तराधिकारियो के काल में यह पद दीवान के बाद सबसे अधिक प्रभावशाली पद था। तनबख्शी से पूर्व सैन्य विभाग का संचालन शिकदार ही करता था। मुसाहिब के न होने पर पट्टायतों से सम्बन्धित सभी कार्य इस पदाधिकारी द्वारा सम्पन्न किये जाते थे। महाराजा सुजानसिंह के काल में खवास आनन्दराम

बहुत प्रभावशाली शिकदार था। बाद में बीकानेर राज्य में शिकदार के पद का महत्त्व कम होने लगा। अब राज्य की भूमि के क्रय-विक्रय, चुंगी-कर और टकसाल विभाग ही इसके अधीन रखे गये थे। महाराजा सूरतसिंह के समय पुनः एक बार इस पद का गौरव बढ़ा, परन्तु बाद में दीवान और मुसाहिब के पदों मे अधिक वृद्धि होने के फलस्वरूप शिकदार का पद समाप्त हो गया।[52]

जोधपुर राज्य में शिकदार एक प्रकार से नगर कोतवाल था। नगर-प्रशासन का समस्त कार्य उसके सुपुर्द था। नगर की सुरक्षा व शान्ति का दायित्व शिकदार का था। नगर-बाजार पर इसका नियन्त्रण रहता था। नगर सम्बन्धी सभी राजकीय करों की वसूली उसी के द्वारा की जाती थी। महाराजा अजीतसिंह के काल मे जोधपुर नगर का शिकदार सोवावत दयालदास मेड़तिया था। वि. सं. 1775 ज्येष्ठ बदि 11 का महाराजा अजीतसिंह का दिल्ली से दयालदास के नाम दिये गये पत्र से ज्ञात होता है कि वह महाराजा का बड़ा विश्वासी पदाधिकारी था। इस पत्र में बादशाह फर्रुखसियर को सिंहासनच्युत किये जाने का विवरण है। कालान्तर में मारवाड़ में शनैः-शनैः शिकदार का पद कोतवाल के नाम से जाना जाने लगा।[53] मेवाड़ राज्य मे शिकदार का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। वहां नगर प्रशासन का अधिकारी कोतवाल ही होता था। महाराणा जगतसिंह व प्रतापसिंह के काल मे कोतवाल कुशला बड़गूजर का नाम उल्लेखनीय है।[54]

खानसामान—खानसामान का पद दीवान के अधीन था, परन्तु इसका राज परिवार से सीधा सम्बन्ध होने के कारण इस पदाधिकारी का राज्य मे काफी महत्त्व था। वह निर्माण, वस्तुओ के क्रय, राजकीय विभागों के सामान को खरीद और संग्रह से सम्बन्धित कार्य किया करता था। राज दरबार तथा राजमहल से सम्बन्धी सभी व्यक्तियों व कार्यों से उसका सम्पर्क रहता था। इस पद पर नियुक्त अधिकारी बहुत ही ईमानदार और राजा का अत्यन्त विश्वासी व्यक्ति होता था। राजकीय सभी कारखानों से उसका सीधा सम्बन्ध होता था। मारवाड़ मे महाराजा अजीतसिंह ने पुष्करणा ब्राह्मण जयदेव के पुत्र रणछोड़ को वि.सं. 1763 मे खानसामान के पद पर नियुक्त किया था। वि.सं. 1808 तक यह पद रणछोड़ के वंशजों के पास ही रहा।[55] उदयपुर राज्य मे प्राचीन परम्परा के अनुसार इस पद का नाम 'पाकाध्यक्ष' था। वह राजरसोड़े का अधिकारी था। महाराणा जगतसिंह के काल में शंभूराम पाकशाला का अध्यक्ष था। जयपुर राज्य में यह पद 'खानसामान' के नाम से ही जाना जाता था।[56]

मीर मुंशी और वकील—पड़ोसी राज्यों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध बनाये रखने के लिए वकील की नियुक्ति की जाती थी। मुग़ल काल में वह शाही दरबार मे राजा के प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त रहता था और वह अपने शासक को मुग़ल-दरबार की गतिविधियों से निरन्तर अवगत कराता रहता था। वह अपने राजा के

हितों का ध्यान रखता था। मुगलों के पतन के पश्चात् राजा अपने प्रतिनिधि के रूप मे पड़ोसी राज्यो और मराठा सरदारों के पास वकीलों की नियुक्ति करता था। इन्ही की सहायता से राजा पड़ोसी राज्यों के साथ अपने सम्बन्ध स्थापित करने व उनके प्रति नीति अपनाने का कार्य किया करता था।[57] मारवाड़ में कूटनीतिक पत्र-व्यवहार की देखरेख हेतु 'मीर मुंशी' का एक अलग विभाग था। इस पदाधिकारी की सहायता के लिए ढोलिया के कोठार का दरोगा तथा दरोगा दफ्तरी नियुक्त थे। मानसिंह के काल में मीर मुंशी केवल फारसी में पत्र व्यवहार किया करता था और वकील पड़ोसी राज्यो मे ब्रिटिश एजेन्टो की भांति महाराजा का प्रतिनिधित्व करते थे। उस समय नवाजिस अलीखा मीर मुंशी के पद पर आरूढ था। व्यास फतहरात को वकील का कार्य सुपुर्द किया गया था। मानसिंह के अंतिम काल में राव रिधमल वकील का राज्य में बड़ा सर्वस्व बना रहा।[58]

खजांची—राज्यों में खजांची होते थे जो खजाने में जमा व खर्च की रकम का ब्यौरा रखते थे। मेवाड़ मे इस अधिकारी को प्रारम्भ में 'कोषपति' की संज्ञा दी गई थी। उसके लिए मितव्ययी होना आवश्यक था ताकि वह खजाने मे वृद्धि कर सके। ईमानदार और विवेकी होना खजांची के गुण माने जाते थे।[59]

अन्य अधिकारी—किले का रक्षक या अधिकारी 'किलेदार' कहलाता था। किले की सुरक्षा के लिए वह उत्तरदायी होता था। किलेदार अपने पास यथेष्ट सैनिक रखता था। अत्यन्त विश्वसनीय व्यक्ति ही किलेदार के पद पर नियुक्त किया जाता था। किलेदार के समान ही एक अन्य महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी 'ड्योढ़ीदार' होता था। महल की सुरक्षा, देख-रेख व निरीक्षण का दायित्व उसी पर निर्भर था। शासक से मिलने आने वाले व्यक्तियों पर ड्योढ़ीदार दृष्टि रखता था। वह उन्हें महाराजा से मिलाने की व्यवस्था भी करता था। राज्य मे धार्मिक कार्यों व उत्सवों, त्योहारो व पर्वों को सम्पन्न करवाने के लिए 'पुरोहित' होता था। कभी-कभी पुरोहितों को पड़ोसी राज्यो मे कुछ महत्त्वपूर्ण सन्देश भेजने के लिए नियत किया जाता था। पुरोहितों का राज्य में बड़ा सम्मान था। शासक उन्हें कर-मुक्त भूमि व गांव जागीर मे देते थे। फरवरी 1736 ई. मे पेशवा बाजीराव के उदयपुर आगमन पर मेवाड का राज-पुरोहित महाराणा के सामने आसन पर बैठने लगा था। धर्म-सम्बन्धी कार्यों में पुरोहित के अतिरिक्त 'राज व्यास' और 'बारहठ' का भी महत्त्व रहा। मारवाड़ के शासक अजीतसिंह 4 जुलाई, 1708 ई. को अखैराज को पुरोहित, नाथावत दीपचन्द को व्यास तथा केसरीसिंह को बारहठ नियुक्त किया था। राजपूत राज्यो में दान देने की व्यवस्था रहती थी। धर्म व दान सम्बन्धी कार्यों के लिए एक पृथक् विभाग होता था जिसे 'धर्मार्थ विभाग' (देवस्थान धर्मपुरा) या 'महकमा पुण्यार्थ' कहा जाता था। इस विभाग का कार्य मन्दिरों, गरीबों, अनाथो, विधवाओं आदि को राजकीय अनुदान देना होता था। उदयपुर राज्य मे

इस विभाग के अध्यक्ष को दानाध्यक्ष, कोटा राज्य में हाकिम पुण्य और जयपुर राज्य मे हाकिम खैरात के नाम से सम्बोधित किया जाता था।

उपर्युक्त अधिकारियों के अतिरिक्त राज्य में छोटे-मोटे अनेक विभाग होते थे जिनके अधिकारी अपने विभाग के कार्य से जाने जाते थे। उदाहरणार्थ, दरोग-ए डाक, चौकी, दरोगा-ए-सायर, दरोगा-ए-फरासखाना, दरोगा-ए-जवाहरखाना, दरोगा-ए-आबदार (खाने-पीने का अधिकारी), दरोगा-ए-शिकारखाना आदि नामों के अधिकारी अपने-अपने विभागो का कार्य किया करते थे। कहीं-कही इन्हें 'हवलदार' कहा जाता था। बीकानेर राज्य में हवलदार पद का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार के सभी अधिकारी सभी राजपूत राज्यों में आवश्यक नहीं थे। आवश्यकता के अनुसार इन अधिकारियों की नियुक्तियां होती थीं। स्थानीय परिस्थितियां व विभिन्नताओ के कारण इन पदाधिकारियों के नामों में भी कहीं-कहीं अन्तर होना स्वाभाविक था।[60]

स्थानीय प्रशासन—राजस्थान के राज्य मुगल-शासन के अनुरूप परगनों में विभाजित थे। मारवाड़ में मोटा राजा उदयसिंह के काल में छः परगने थे। महाराजा अजीतसिंह और महाराजा मानसिंह के काल में परगनों की संख्या क्रमशः 21 और 23 तक पहुंच गई थी। जयपुर में महाराजा मानसिंह के काल से ही राज्य परगनों में विभाजित कर दिया गया था। कोटा राज्य सम्भवतः महाराव माधोसिंह के समय से परगनो मे बांटा गया था। वि० सं० 1839 (1782 ई०) में कोटा राज्य में 40 परगने थे। मेवाड़ में 1621 ई० मे महाराणा कर्णसिंह के काल में परगनों का होना प्रमाणित है। क्षेत्रीय प्रशासन व राजस्व-वसूली की दृष्टि से बीकानेर में 'चीरा' व्यवस्था का गठन किया गया। 1793 ई० मे बीकानेर राज्य में चीरों की संख्या 12 थी। प्रत्येक चीरे मे सामान्यतः लगभग 200 ग्राम सम्मिलित किये गये थे। बीकानेर राज्य में चीरो के साथ-साथ परगने भी स्वतन्त्र प्रशासनिक इकाई के रूप में विद्यमान थे। परगनो की इकाइयां मुख्यतः वे क्षेत्र थे जो बीकानेर शासक को मुगल बादशाह की तरफ से तनख्वाह जागीर के रूप में प्राप्त हुए थे और बाद मे बीकानेर राज्य में मिला लिये गये थे। ये बीकानेर शासक की वतन-जागीर की सीमा पर स्थित थे।[61]

सीमा पर स्थिति—राजस्थान के राज्यो मे परगने का आकार व विस्तार एकसा नहीं होता था। वहा के पदाधिकारियो के नामो में कही कही कुछ भिन्नता थी। मारवाड़, मेवाड़ और बीकानेर राज्यो मे परगने का प्रमुख अधिकारी हाकिम होता था। जयपुर और कोटा राज्यों मे क्रमशः फौजदार और हवालगिर नाम के पदाधिकारी थे।[62]

मारवाड़ में परगनों के हाकिमो की नियुक्ति दीवान की सलाह से महाराजा द्वारा की जाती थी। हाकिम को विभिन्न प्रकार के प्रशासनिक, सैनिक, न्यायिक

और राजस्व-सम्बन्धी कार्य करने पड़ते थे सामान्यतः मारवाड़ में आमिल और फौजदार का पद नहीं होता था। इन दोनों पदाधिकारियों का कार्य हाकिम के ही सुपुर्द रहता था। परगने की सुरक्षा का पूर्ण दायित्व उसी पर रहता था। वह परगने के सरदारों से सम्पर्क रखता था। परगने में सामन्तों से राजकीय चाकरी हेतु सवार प्राप्त करने तथा उनसे वार्षिक कर की रकम की वसूली करने का कार्य भी वह करता था। चोरी और लूट-मार से व्यापारियों की रक्षा करता था। वह वस्तुओं के भावों का निरीक्षण करता था। जनता से नियमित रूप से कर-वसूली का कार्य भी उसके द्वारा सम्पन्न होता था। परगनों का मुख्यालय में हाकिम का कार्यालय होता था। जिसे हाकिम की कचहरी कहा जाता था। वहां बैठ कर हाकिम दीवानी और फौजदारी सम्बन्धी कार्य किया करता था। परगने में चुंगी-कर वसूली के लिए केन्द्र की ओर से 'सायर दरोगा' की नियुक्ति की जाती थी। दरोगा की सहायता के लिए हाकिम अमीन की नियुक्ति करता था। भूमि-कर वसूली के लिए कानूनगो नामक कर्मचारी होता था। उसका प्रमुख कार्य भूमि-कर की वसूली करना, परगने के कृषिगत उपज का लेखा-जोखा रखना और भूमि-सम्बन्धी दस्तावेजों को सुरक्षित रखना होता था। उक्त पदाधिकारियों के अतिरिक्त परगने में कारकून, वाकानवीस, चौकीनवीस पोतदार आदि कर्मचारी भी हाकिम के अधीन कार्यरत रहते थे। कहीं-कहीं परगनों में सैनिक व पुलिस-सम्बन्धी कार्य करने के लिए फौजदार नामक एक प्रथम अधिकारी होता था। वह परगने में सुरक्षा-सम्बन्धी कार्य किया करता था। इसके अतिरिक्त वह मालगुजारी की वसूली में अमीन मालगुजार तथा आमिल को सहयोग प्रदान करता था।[63] मेवाड़ में फौजदार का अलग पद होता था। जयपुर राज्य में भी फौजदार का पद होता था, परन्तु वहां परगने में नियुक्त आमिल का अधिक महत्त्व था। वह अमीन, कानूनगो, पटेल, पटवारी आदि कर्मचारियों के सहयोग से राजस्व की वसूली किया करता था। कचहरी में बैठ कर फौजदारी और दीवानी मुकदमों को सुना करता था। आमिल किसानों के हितों का ध्यान रखता था और कृषि-उत्पादन में वृद्धि करने हेतु साधन जुटाता था।[64]

कोटा राज्य का हवालगिर भी मारवाड़ के परगनों के हाकिमों की भांति नागरिक और सैनिक सभी कार्य किया करता था। वह राजस्व एकत्र करने में कानूनगो, तालुकदार, पटवारी व चौधरी की सहायता करता था। परगने में चोरों और डाकुओं पर नियन्त्रण रखने के लिए थाने स्थित थे। जहां थानेदार अपने निश्चित सिपाहियों के साथ नियुक्त थे।[65]

बीकानेर के चीरों और परगनों में 'चिरायता' या 'हाकिम' प्रधान अधिकारी होता था। यहां राजस्व-वसूली का कार्य 'आमिल' के स्थान पर 'हवलदार' करता था। 'अमीन' भूमि का नाप करवा कर राज्य-कर की रकम निश्चित करता था।

फौजदार पर परगने में शांति और कानून की व्यवस्था बनाए रखने का दायित्व रहता था। बीकानेर राज्य के चौरो मे मण्डी व थाना स्वतन्त्र राजस्व तथा प्रशासनिक केन्द्र के रूप मे स्थित थे। व्यापारिक महत्त्व को ध्यान मे रखते हुए मण्डियो का गठन किया गया था। प्रत्येक मण्डी पर एक हवलदार प्रशासनिक अधिकारी नियुक्त रहता था। दरोगा, खजांची, गुमाश्ता, लेखणिये आदि को हवलदार के सहयोग के लिए नियुक्त किया जाता था। परगने की सुरक्षा के लिए थानों की स्थापना की जाती थी। 18 वीं शताब्दी मे विशेष रूप से ध्यान रखा जाता था कि मण्डी के पास एक थाना अवश्य रहे। थाने का अधिकारी भी हवलदार कहलाता था। वह केन्द्रीय प्रशासन के प्रति उत्तरदायी होता था। कहीं-कहीं पर महत्त्व की दृष्टि से हवालदार के स्थान पर फौजदार नियुक्त किया जाता था। महाराजा सूरतसिंह के काल मे जागीरदारो के उद्दंडतापूर्ण व्यवहार को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक थाने में 15 बन्दूकची रखे गये थे।[66]

नगर प्रशासन—नगर का मुख्य पदाधिकारी कोतवाल होता था। राज्यो की राजधानियों के अतिरिक्त परगनों के बड़े-बड़े कस्बों मे कोतवाल नियुक्त किये जाते थे। उनका प्रमुख दायित्व नगर में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना होता था। कोतवाल नगर-दरवाजो पर पुलिस तैनात करता और रात्रि के समय मे गश्त लगाने की व्यवस्था किया करता था। कोतवाल पुलिस कार्य के अतिरिक्त नगर-पालिका प्रशासक का दायित्व भी निभाता था। नगर की सफाई व स्वास्थ्य का ध्यान रखता था। बाजार मे मूल्यो, बाटो व माप का निरीक्षण करना, लावारिस सम्पत्ति की व्यवस्था करना, नगरवासियो व व्यापारियों पर लगे करों की वसूली करना तथा धार्मिक व सार्वजनिक स्थानों का प्रबन्ध करना उसके कार्यो मे सम्मिलित थे। राजस्थान के कई राज्यों मे नगरसेठ की व्यवस्था भी थी। मेवाड़ के प्रत्येक बड़े नगर में नगरसेठ को न्यायाधीश मनोनीत किया जाता था। नगरवासियों और राज्य दोनों में उसका बड़ा सम्मान था।[67]

ग्राम प्रशासन—राजस्व वसूली की सुविधा के लिए प्रत्येक परगना 'तपो' (गांवों का समूह) मे विभाजित था। प्रशासन की लघुतम इकाई गांव (मौजा) होती थी। पूर्व मध्यकालीन युग मे गाव या गावो के समूह पर 'ग्रामिक' नाम का मुख्य पदाधिकारी होता था, परन्तु कालान्तर में मुगलों के सम्पर्क में आने पर धीरे-धीरे ग्रामिक पटवारी के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। वह भूमि-सम्बन्धी सभी प्रकार के कागजात तैयार करता था जिनके आधार पर राजस्व वसूल किया जाता था। कनवारिया (खेत के रक्षक), तफेदार (राज्य के भाग का हिसाब रखने वाला), तोलावटी (उपज को तोलने वाला), साहणे (प्रबन्धक—राज्य का भाग निश्चित करता था) चौकीदार (मीणा व बावरी) आदि पटवारी के सहयोगी होते थे। कहीं-कहीं हवलदारो की नियुक्ति की जाती थी। वह गांवो मे जमाबन्दी के

आधार पर करों तथा निश्चित भोग के हिस्से के अनुसार माल की वसूली करता था।

गांव में प्रशासनिक स्तर पर स्थायी रूप में स्थानीय अधिकारी चौधरी या पटेल होता था। वस्तुतः वह प्रशासन व जनता के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का माध्यम था। चौधरी या पटेल का मुख्य कर्त्तव्य अपने क्षेत्र में शान्ति स्थापित करना तथा कर वसूली में राजकीय अधिकारियों को सहयोग देना था। वह गांव के सभी प्रकार के झगड़ों को निपटाता और ग्रामवासियों की समस्याओं के प्रति राजकीय ध्यान आकृष्ट करता था। ग्रामवासियों के कल्याण के लिए वह सदैव जागरूक रहता था। अपनी सेवाओं के बदले राज्य की ओर से उसे कर-मुक्त भूमि (नानकर) प्राप्त रहती थी। इसके अतिरिक्त लगान में से कुछ हिस्सा उसे दिया जाता था (पंचोतरी)[68]

कोटा के झाला जालिमसिंह ने पटेल-संस्था में अनेक सुधार किये जिससे राज्य की प्रशासन-व्यवस्था सुदृढ़ बन सकी। जालिमसिंह ने पटेलों के दस्तूर निश्चित कर दिये। गांव की मालगुजारी पर प्रति रुपये मे डेढ़ आना पटेल को देने का नियम बना दिया। उसे नियमानुसार ईमानदारी से राज्य की सेवा करनी पड़ती थी। पटेल को राज्य की ओर से पटेली का पट्टा, सोने का कड़ा और पाग देने की व्यवस्था की जाती थी। इस सुधार के परिणामस्वरूप मालगुजारी की वसूली सुचारु रूप से होने लगी और जनता में राज के प्रति विश्वास उत्पन्न हुआ। प्रजा लूट से बची और राज्य को भी अपना पूरा हिस्सा मिलने लगा।

जालिमसिंह ने राज्य के पटेलों मे से चार योग्य पटेलों का चयन किया और उनकी एक समिति बनाई जिसका अध्यक्ष वह स्वयं था। यह समिति एक प्रकार से 'रेवेन्यू बोर्ड' का कार्य करती थी। इसका मुख्य कार्य मालगुजारी वसूल करना और जमीन को आबाद रखना था। कुछ समय बाद पुलिस का कार्य भी इसे सुपुर्द कर दिया गया। अब गांवो मे चोरी और डकैती को रोकने का कार्य भी इस पटेल समिति का था। परगनों की पंचायतों के निर्णयों की अपीलें इस समिति को किये जाने की व्यवस्था की गई। इस प्रकार यह समिति एक प्रकार से 'अदालत अपील' भी थी। माल, पुलिस और फौजदारी सम्बन्धी अधिकार प्राप्त होने के कारण राज्य में यह एक बड़ी प्रभावशाली संस्था थी। इस संस्था के माध्यम से झाला जालिमसिंह को राज्य के किसी भी क्षेत्र में घटित घटना का तुरन्त पता लग जाता था। इस तरह की संस्था का गठन झाला जालिमसिंह की प्रशासनिक दक्षता का परिचायक है।[69]

पंचायत व्यवस्था—आलोच्यकालीन राजस्थान के अधिकांश राज्य मराठा आक्रमणकारियों के निरन्तर आतंक से ग्रस्त थे। परगने की प्रशासनिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त होने लगी थी। परगने के हाकिम या फौजदार व उनके कर्मचारियों के

पास इतना समय व अवकाश नही था कि वे ग्रामवासियों के दुःख-दर्द व उनकी कठिनाइयो की ओर ध्यान दे सकें। परिणामतः ग्राम-स्तर पर प्रशासनिक कार्यभार ग्राम पचायतों को सभालना पड़ा। इस युग में ग्राम पंचायतें पुनः सजीव व सक्रिय बनी। ग्रामीण जीवन मे उनका बड़ा योगदान रहा। गांव का मुखिया (चौधरी या पटेल) व अन्य सयाने व्यक्ति जिनकी सख्या सामान्यतः पांच होती थी, पचायत के सदस्य होते थे। गांवों में शान्ति और सुरक्षा बनाये रखना और ग्राम-प्रशासन में सहयोग प्रदान करना पचायतो का मूल कर्त्तव्य था। भूमि-सम्बन्धी झगड़े, खेत व गाव की सीमा के विवाद, चोरी, मिलावट, अपहरण, बलात्कार आदि मामले निपटाने हेतु ग्राम पचायत के समक्ष प्रस्तुत किये जाते थे। बीकानेर की 18 वी शताब्दी की माल की वहियो से ज्ञात होता है कि उदमसर, जाजूरा, मुजासर, सवाई आदि गाँवों की पंचायतों ने सीमाओं के विवादो को निपटाया था। बीकानेर राज्य मे पचायत-व्यवस्था सम्बन्धी विस्तृत जानकारी रामपुरिया संग्रह की कागदों की वहियों से ली जा सकती है।[70]

उस समय जाति पंचायतों का भी अत्यधिक प्रभाव रहा। जाति सम्बन्धी समस्याओं का समाधान जाति पंचायत द्वारा किया जाता था। विवाह सम्बन्धी झगड़ो, व्यभिचार के आरोपो, कुटुम्ब की कटुताओ, जाति के सदस्यों की अशिष्टताओ आदि की जांच करना और अपराधी को दंड देना जाति पंचायत का कार्य होता था। जाति पंचायतो द्वारा अपनाई गई दंड-व्यवस्था में प्रायश्चित, क्षमायाचना, आर्थिक दड, तीर्थ-यात्रा द्वारा शुद्धिकरण, जाति भोज देना, जाति बहिष्कृत आदि सम्मिलित थे। मारवाड़ के जालौर परगने में रहने वाले कुम्हारो की पंचायत ने दोला से 101 रुपये दड के रूप में लिये क्योकि उसने बलपूर्वक कुम्पा की पत्नी से विवाह कर लिया था। कभी-कभी पचायत अपनी जाति के लोगों को परम्परागत कम प्रतिष्ठा वाले कार्यों को न करने का आदेश देती थी। 1817 ई० मे फलोदी के मेघवालों ने अपने जातिवालों को मृत पशुओ को उठाने से रोक दिया था।[71] पचायतों के निर्णयो को राज्य द्वारा मान्यता दी जाती थी। कभी-कभी राज्य की ओर से जाति सम्बन्धी विवाद पंचायतों को सुपुर्द किये जाते थे। राज्य कर्मचारियों और पंचायतों के मध्य सामंजस्य व तारतम्य रहता था। मेवाड़ राज्य मे कई बार जातीय पंचायतो द्वारा महाराणा के समक्ष अपनी समस्या रखी जाती थी जिसमें पटवारी के हस्ताक्षर होते थे।[72] पंचायतों के निर्णयो की अपील परगना पदाधिकारी, दीवान व शासक के पास की जा सकती थी।

ग्राम-पंचायत और जाति-पंचायत के अतिरिक्त व्यवसायों से सम्बन्धित पंचायतें भी होती थी। वे नगरों और कस्बो मे हुआ करती थी। व्यापारियों के लेन-देन, लेखा-जोखा, साझेदारी, मुकाते के विवाद आदि व्यावसायिक पंचायतों

द्वारा निपटाये जाते थे। महाराजा मानसिंह के काल में जोधपुर के हलवाई-संघ ने ऐसे प्रत्येक हलवाई से 51 रुपये दंड के रूप में वसूल किये जिसने संघ के आदेशानुसार हलवाई लाग के विरुद्ध दुकान बन्द नहीं की थी।[73]

पंचायत संस्थाएं प्रजा और सरकार दोनों के लिए लाभप्रद थी। सरकारी तन्त्र का पंचायतों के साथ तालमेल उनके लिए हितकर था, क्योंकि पंच ग्रामीण समस्याओं तथा स्थानीय रीति-रिवाज से परिचित रहते थे। पंचायतों के लिए सरकारी मान्यता गौरव की बात थी। पंचायत-व्यवस्था से स्थानीय शासन का कार्य सुचारु रूप से चल सका तथा सामाजिक नियमों की परिपालना से समाज में अनुशासन की भावना सबल बनी।

राजस्व व्यवस्था—राजस्थान के सभी राज्यों में राजस्व, कर और भूमि व्यवस्था एक समान नहीं थी। परन्तु वहां कुछ ऐसे मुद्दे थे जिनमें समानता दृष्टिगत होती है। राज्यों की भूमि सामान्यतः खालसा, हवाला, जागीर, भोम और सासण मे विभाजित थी। खालसा भूमि का प्रबन्ध व नियन्त्रण दीवान द्वारा किया जाता था। हवाला भूमि की देख-रेख हवालदार करता था। जागीर की भूमि सीधी जागीरदार के नियन्त्रण में रहती थी, परन्तु परगना हाकिम का यह दायित्व होता था कि जागीरदार अपनी निश्चित वार्षिक कर की रकम राजकीय खजाने में समय पर जमा करवा दे। वार्षिक कर के अतिरिक्त पेशकश के रूप में जागीरदारों से समय-समय पर धनराशि एकत्रित की जाती थी। भोम की भूमि भोमियों के सुपुर्द थी। उन्हें भूमि स्वामित्व के आधार पर प्राप्त थी। वे एक निर्धारित धनराशि फौज बल या भूमबाब के नाम से राज्य कोष में जमा करवाते थे। इसके अतिरिक्त वे किसी भी तरह के अन्य कर का भुगतान नहीं करते थे। परन्तु उन्हें निर्दिष्ट राज्य सेवा करनी पड़ती थी। सासण भूमि की उपज का भाग पुण्यार्थ मन्दिरो, ब्राह्मणों, चारणों आदि के उपभोग के लिए दिया जाता था।[74]

मारवाड़ में दो प्रकार के काश्तकार होते थे—बापीदार और गैर-बापीदार। बापीदार काश्तकार को मौरूसी काश्तकार के अधिकार प्राप्त थे, यानी भूमि पर उसका स्वामित्व था। बीकानेर राज्य में जिस काश्तकार को मोहरछाप लिखित कागद या पट्टा प्रदान किया जाता था, वह उसमे उल्लिखित भूमि पर जोतने के वंशानुगत निजी अधिकारों का उपभोग किया करता था। उसे राज्य की नीतियों व नियमों का पालन करना पड़ता था। बापीदार किसान को राज्य की ओर से कई रियायतें प्राप्त होती थीं। उनके खेत में जो लकड़ी और घास होती थी, उस पर उनका स्वामित्व रहता था। कुवें खोद कर या अन्य उपायों द्वारा अपनी उपज बढ़ाने के लिए बापीदार जो साधन अपनाते थे, उनका कर निर्धारित करते समय

ध्यान रखा जाता था । दुर्भिक्ष के कारण अथवा अन्य कारणों से यदि वे गांव छोड़ कर कुछ काल के लिए बाहर चले जाते, तब भी वह भूमि उन्ही की मानी जाती थी । वापिस आने पर वे पुनः अपनी भूमि जोत सकते थे । बीकानेर राज्य मे तो चालीस वर्ष के बाद लौटने पर भी ऐसे काश्तकार को अपने पुराने अधिकार दिये गये थे । ऐसा काश्तकार अपनी भूमि किसी अन्य काश्तकार को जोतने के लिए दे सकता था । उसे अपनी भूमि को गिरवी रखने का भी अधिकार था । इस प्रकार के अधिकार गैर-बापीदार को प्राप्त नहीं थे । वह मात्र शिकमी काश्तकार होता था ।[75]

जयपुर राज्य मे राजस्व की दृष्टि से गांवो को 'असली' और 'दाखली' में विभाजित कर रखा था । कोटा की 'तोजी तकशीम' में गांवों को 'असली' और 'मजारा' मे बांटा गया था । 'मजारा' के किसान को अपनी भूमि को गिरवी रखने या बेचने का अधिकार नहीं था । मेवाड़ में किसान भूमि का स्वामी था । वह अपनी भूमि को बपौती कहता था । मेवाड़ में ही नहीं, बल्कि समस्त राजस्थान में यह मान्यता रही कि "भोग रा धणी राज हो, भोम रा धणी मां छो"—भूमि तो जोतने वाले किसान की थी, राजा भोग का अधिकारी था । राजा व जागीरदारों के द्वारा काश्तकारों को पट्टे दे दिये जाते थे । उनका विवरण राजकीय रजिस्टर मे दर्ज रहता था । इसे दाखला कहते थे ।[76]

भोग यानी राज्य के भाग को निर्धारण या वसूल करने के राजस्थान मे विभिन्न तरीके थे । इसका निर्धारण मुख्यत: भूमि के स्वरूप, फसल की विशेपता तथा काश्तकार की जाति को ध्यान मे रख कर किया जाता था । उत्पादन की क्षमता के आधार पर प्रत्येक श्रेणी की भूमि पर अलग-अलग दरों से राजस्व की वसूली की जाती थी । उदाहरणार्थ, बीकानेर राज्य में रेगिस्तानी भूमि 'बारानी' (बरसात के पानी से सींची जाने वाली भूमि) की दर से उन्नाव (कुओं, बावड़ियों और तालाबों से सींची जाने वाली भूमि) भूमि की दर ड्योढ़ी थी ।[77] जयपुर राज्य में विभिन्न फसलो पर प्रति बीघा राजस्व की दरें दस्तूर-उल-अमल में बाजार भाव और भूमि की उत्पादन-क्षमता के आधार पर दर्ज की जाती थी ।[78] एक ही राज्य में अलग-अलग परगनों के राजस्व की दरों में भिन्नता होती थी । मारवाड़ राज्य में मेड़ता परगने से सियालू फसल का आधा और उन्हालू फसल का 1/3 भाग राजस्व के रूप मे लिया जाता था जब कि पोकरण परगने में इसकी बंटाई क्रमश: 1/4 और 1/3 के हिसाब से की जाती थी ।[79] मारवाड़ में जाट जाति के काश्तकारो से बिश्नोई और राजपूत काश्तकारों की तुलना में कृषि कर अधिक लिया जाता था ।[80]

मालगुजारी सामान्यत: वस्तुओं (जिन्सों) के रूप में ली जाती थी । इसकी वसूली के लिए विभिन्न तरीके थे जिनका उल्लेख यहां किया जा रहा है ।

राजस्थान के राज्यों मे 'लाटा', जिसे बंटाई भी कहते थे, अधिक प्रचलित था। इस व्यवस्था के अन्तर्गत जब फसल पक कर तैयार हो जाती और खलिहान में अच्छी तरह से साफ कर ली जाती, तब राज्य का हिस्सा निश्चित किया जाता था। एकत्रित अनाज के ढेर को तौला जाता या डोरी (रस्सी) द्वारा इसे नाप लिया जाता था। कहीं-कहीं अनुमान के आधार पर ही राज्य या भूस्वामी का हिस्सा निश्चित कर लिया जाता था। इस प्रणाली को 'कूंता' कहते थे। जब तक बटाई नही होती थी, तब तक खलिहान में रखे धान की चौकीदारी करने का कार्य ग्राम बलाई और सहणा का होता था। बांट के समय राजकीय पदाधिकारी हवालदार, कनवारिया, धावाद, चौधरी (पटेल), पटवारी, कामदार (जागीर क्षेत्र में) और काश्तकार उपस्थित रहते थे। मारवाड़ में राज्य अथवा भूस्वामी द्वारा सूखी फसल की पैदावार का 1/5 से 1/2 तक और सिंचित फसल का 1/6 से 1/3 भाग लेने की व्यवस्था थी। मेवाड में उन्हालू फसल की पैदावार का सरकारी लगान प्रायः 1/3 से 2/5 और सियालू फसल का 1/2 भाग होता था। कोटा और जयपुर राज्यों में पैदावार का 1/2 से 1/4 भाग सरकारी हिस्सा होता था।[81]

मारवाड़ में मालगुजारी के अतिरिक्त किसान से 'मलबा' और चौधर बाब जैसे कर वसूल करने की व्यवस्था थी 'मलबा' की आय से फसल की रक्षा सम्बन्धी किये गये व्यय की पूर्ति की जाती थी और उन व्यक्तियों को पारिश्रमिक देने की व्यवस्था रहती थी जिन्होने बंटाई की प्रक्रिया मे भाग लिया था। कनवारिया, सहणा, बलाई, पटवारी, तोलायत, चौधरी आदि सभी को बंटाई का हिस्सा निश्चित अनुपात में प्राप्त होता था। जयपुर राज्य में बहुधा कानूनगो, पटवारी, चौधरी आदि को हिस्सा देने के बाद काश्तकार के पास उपज का मात्र 2/5 भाग ही रह पाता था। मेवाड़ में बंटाई के समय सहणा-बलाई, पटवारी, पटेल, गमेत, कामदार, फौजदार, किलेदार आदि कर्मचारियों के नाम से भी लागतें वसूल की जाती थी।[82]

बंटाई के समय काश्तकार को अनेक प्रकार के नेग व लाग देने के लिए बाध्य होना पड़ता था। उदाहरणार्थ, मारवाड़ में खाती, लुहार, नाई, धोबी, दर्जी, नट, महत्तर, रेगर, चमार आदि को धान की ढेरी में से कुछ मुट्ठियां अनाज देने का रिवाज था। मन्दिरों में भेंट स्वरूप कुछ अनाज देना निश्चित था। बीकानेर राज्य मे बीजा कर के रूप में, जिनमें नाली (तिल पर लगा कर), सिराणा (अधिकारियों के खाने-पीने के खर्च के लिए, खूंटा (अधिकारियों के पशुओं की चराई) हुजदार (अधिकारियों के आदमियो के खान-पान का खर्चा), ठाकुरजी (मन्दिर की भेंट), डेरा खर्च आदि मुख्य थे, वसूली की जाती थी। इस प्रकार उपज की बंटाई करने के बाद किसान के पास बहुत कम अनाज बचता था। बंटाई या लटाई का अर्थ एक प्रकार से लुटाई (लूट) था। जागीरदार

अपनी-अपनी जागीरो में विभिन्न प्रकार की लागतें वसूल करते थे जिनकी संख्या कही-कही तो सौ तक हो जाया करती थी।[83] मारवाड मे जागीर क्षेत्र मे खारखार, कांसा, शुकराना (खिड़की या बारी खुलाई), हासा, मावा, हल, मवाली, आदि प्रमुख लागे थी।[84]

राजस्थान मे कूंता-प्रणाली का प्रयोग व्यापक रूप से किया जाता था। इसके अनुसार जब फसल खेत मे खड़ी होती थी, तभी पूरी पैदावार का अनुमान लगाकर राज्य का भाग नकदी या जिन्सो मे निश्चित कर लिया जाता था। इसे 'काकड कूंता' की संज्ञा दी गई थी। ऐसा करते समय खेत का मालिक, गांव का कर्मचारी पटेल, पटवारी और गांव के प्रमुख व्यक्ति उपस्थित रहते थे।[85]

कही-कही हलगत प्रणाली का भी प्रचलन था। इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक हल पर याने एक हल से जोती गई भूमि पर राजकीय कर वसूल किया जाता था। एक हल द्वारा लगभग 50 से 60 बीघा भूमि जोती जा सकती थी। हल पर लगे कर की दर सभी जगह समान नही थी। बीकानेर राज्य में बैल से जोते गये प्रति हल पर तीन रुपये तथा ऊंट स जोते गये प्रति हल पर पांच रुपये वसूल किये जाते थे। मारवाड़ मे कही तीन रुपये तो कही दो रुपयों के हिसाब से हल-कर वसूल किया जाता था। कई बार हलगत की रकम सामूहिक रूप मे जमा के नाम पर गांव पर लागू कर दी जाती थी।[86]

उपर्युक्त तरीको के अतिरिक्त पैदावार के निर्धारण के तीन अन्य तरीके भी राजस्थान मे प्रचलित थे जिन्हें मुकाता, डोरी और घुघरी कहते थे। मुकाता मे राज्य की ओर से यह निश्चित कर दिया जाता था कि प्रत्येक खेत पर नकदी या जिन्सों के रूप में एकमुश्त कितना देना है। डोरी मे नापे गये बीघे का हिस्सा निर्धारित करके मालगुजारी वसूल की जाती थी। जयपुर राज्य मे भूमि की नपाई बांस द्वारा की जाती थी। इस प्रणाली को जब्ती प्रणाली भी कहते थे। जब्ती-प्रणाली के अन्तर्गत विभिन्न फसलों पर प्रति बीघा राजस्व की दरें दस्तूर-उल-अमल मे दर्ज कर दी जाती थी। भूमि-सम्बन्धी विस्तृत विवरण को 'खसरा' या 'तजकीरा' कहते थे। रबी और खरीफ फसलों की दरो में भिन्नता होती थी। दरों का निर्धारण बाजार-भाव और भूमि की उर्वरा-शक्ति के आधार पर निश्चित किया जाता था। जयपुर राज्य में सन, कपास, नील, तम्बाकू, अफीम आदि फसलो पर राजस्व जब्ती-प्रणाली से और नकदी के रूप मे भी वसूल किया जाता था। राजस्व जब बीघे पर लगे कर से वसूल होता था, तब मारवाड़ व बीकानेर राज्यो मे इसे 'बीघोड़ी' कहा जाता था। बीघों का आकार सभी जगह एक सा नही होता था। इसी प्रकार जब प्रति कुआं अथवा प्रति खेत पैदावार की एक निश्चित मात्रा निर्धारित कर दी जाती थी, तब उसे 'घुघरी' कहते थे। यदि राज्य अपने हिस्से के रूप मे केवल उतना ही अनाज स्वीकार कर लेता था

जितना बोये गये बीज के बराबर हो, तब उसे 'बीज घुघरी' कहा जाता था। कभी-कभी इन राज्यों में मालगुजारी इजारा देकर भी एकत्रित की जाती थी।[87] बीकानेर राज्य में 'भींत की भाछ' पद्धति से भी हासल एकत्रित किया जाता था। इस प्रणाली के अनुसार गांव के घरों या गुवाड़ियों की गिनती करके निर्धारित दर से हासल वसूल कर लिया जाता था।[88]

कोटा राज्य में झाला जालिमसिंह ने राजस्थान में 1807 ई० में सर्वप्रथम भूमि-बन्दोबस्त करवाया। इसके अन्तर्गत उसने राज्य की समस्त भूमि को नपवाया। इसे बीघों में विभाजित कर चकबन्दी की गई। तदनन्तर जाति और उपज के अनुकूल उसको पीवत (चाही), गोरमा (कोरवान) और मोरमी (काजू पड़त, नालायक, छापर आदि) तीन भागों में विभाजित किया गया। लगान निश्चित करके घोषित कर दिया गया कि वसूली नकदी के रूप में की जायेगी। इससे काश्तकार को पता लग जाता कि उसको कितनी रकम जमा करवानी है और राज्य को भी मालूम रहता कि उसे कितनी आय होने वाली है।[89]

राजस्थान के राज्यों में कृषि-आय के अतिरिक्त व्यक्तियों, जातियों और विशेष अवसरों पर विभिन्न प्रकार के लगाये गये करों द्वारा भी पर्याप्त आमदनी हो जाती थी। गृह-कर, घासमरी, व्यावसायिक जातियों पर लगाये गये कर, पेशकशी-नजराना, अंग, फौज बल, रखवाली भाछ, जुर्माना, टकसाल, कारखाना, नोता, विवाह, त्यौहार, जकात(सायर), व्यापारियों पर लगाये गये कर, बिक्रीकर, वन, खान, नमक आदि से राज्यों को काफी आय प्राप्त हो जाती थी। इनके अतिरिक्त जागीरदारो से एक बड़ी धनराशि उपलब्ध होती थी। यहां उपर्युक्त आय के साधनो पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालना ही सम्भव होगा।

विभिन्न राज्यों मे अलग-अलग नाम से गृह-कर लिया जाता था। मारवाड़ मे घर गिनती, किवाड़ अथवा घर बाब, कोटा राज्य मे घर बराड़, मेवाड़ मे घर गिनती बराड, जयपुर राज्य में घर की बिछोती और बीकानेर राज्य में धूंआ भाछ के नाम से यह कर वसूल किया जाता था। मारवाड़ मे महाराजा विजयसिंह के काल मे तीन रुपये प्रति घर के हिसाब से इस कर की वसूली हुई थी। बाद में महाराजा मानसिंह के समय इसकी दर प्रति घर दस रुपये तक पहुंच गई थी। बीकानेर में 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक रुपया और पचीस टका प्रति घर की दर से धूंआ भाछ लिया गया।[90]

'घास मरी' विभिन्न प्रकार के चराई-करों का सामूहिक नाम था। बीकानेर राज्य में ऊंट पर पांच रुपये, बैल व गाय पर एक रुपये और बकरी पर चार आने की दर से चराई-कर वसूल किया जाता था। मारवाड़ मे प्रति बकरी व भेड़ एक आना, प्रति भैंस आठ आना और प्रति ऊंट तीन रुपये की दर से इस कर की उगाई की जाती थी। कोटा राज्य में ऊंट और भैंस पर

क्रमशः 1 रुपये और बारह आने लिये जाते थे। इसी प्रकार अन्य राज्यों में भिन्न-भिन्न दरों से यह कर वसूल किया जाता था।[91]

व्यावसायिक जातियों से लगभग सभी राज्यों में किसी न किसी नाम से कर लिया जाता था। मारवाड़ में रंगरों, से खांदी, खातियों से खरोद, मोचियों से पगरखी, मालियों से हौद भराई आदि के नाम से कर लेने की प्रथा थी। बीकानेर राज्य में वसोले की भाछ (सुथारों से) एक रुपये से दस रुपये तक वसूल की गई। इसी प्रकार खत्री, तेली, नाई, सुनार, कंदोई, रंगरेज, छीपा, कुम्हार, पिंजारे, लखारे आदि व्यावसायिक जातियों पर लगाये गये करों से सभी राज्यों में आय प्राप्त होती थी।[92]

नजराना व पेशकश से प्राप्त धन भी राज्य की आय का एक विशेष भाग था। राज्याभिषेक, जन्मदिन, त्यौहारों और विशेष उत्सवों पर लगने वाले दरबारों के समय सामन्त, मुत्सद्दी, अधिकारी-वर्ग आदि शासक को नजर किया करते थे। पट्टा प्राप्त करने पर पट्टेदार चौधरी, पटवारी व जमींदार अपने पद की सनद प्राप्त करने पर पेशकशी की रकम राज्य के खजाने में जमा करवाते थे। इस प्रकार नजराना व पेशकशी एक दूसरे से भिन्न थे। इन दोनों मुद्दों से राज्य को आय होती थी।[93]

मारवाड़ में प्रति व्यक्ति एक रुपये की दर से महाराजा मानसिंह के समय 'अंगा कर' की वसूली की गई थी।[94]

राज्य में सेना के खर्च के नाम से जो कर लिया जाता था, उसे 'खेड खर्च' या 'फौज खर्च' की संज्ञा दी गई थी। शासक की निजी सेना नहीं होती थी। सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति जागीरदार वर्ग किया करता था। युद्ध के समय खालसा व जागीर क्षेत्र में खेड खर्च के नाम से कर वसूल कर लिया जाता था। 1774 ई० में बीकानेर राज्य को खेड खर्च की उगाई से 19,844 रुपयों की आय हुई थी। बीकानेर राज्य में महाराजा सूरतसिंह के समय कई नये कर लगाये गये थे। राठौड़ों, सिक्खों, जोहियों व बागी ठाकुरों की लूट-खसोट से देश को बचाने के लिए नये ...निक दायित्वों की पूर्ति हेतु रुखवाली भाछ (रक्षात्मक कर) लागू की गई। 1795 ई० में इसकी दर प्रति गुवाड़ी 2 रु० थी जो बाद में 1800 ई० से 10 रु० ...र दी गई। मेवाड़ में युद्ध के समय 'गनीम बराड़' नामक युद्ध-कर वसूल किया जाता था। मारवाड़ में सवार खर्च या फौजबल के नाम से किसी क्षेत्र विशेष में घुड़सवार रखने के लिए कर लिया जाता था। जोधपुर के घेरे के समय 1809 ई० में मानसिंह ने फौज बल कर वसूल किया था।[95]

राज्याधिकारियों और पट्टायतों द्वारा अपने कर्त्तव्यों का ठीक प्रकार से पालन न करने पर उन्हें दंडित किया जाता था। इसके अतिरिक्त विभिन्न सामाजिक व धार्मिक अपराधों के लिए भी मुल्क-दंड लिया जाता था। मारवाड़ में महाराजा

विजयसिंह ने बागी जागीरदारों से दण्ड के रूप में बहुत बड़ी धनराशि एकत्र की थी। बीकानेर के महाराजा सूरतसिंह ने चूरू के ठाकुर शिवसिंह से 95,000 रुपये दंड के वसूल किये। इसी प्रकार उसने दीवान अमरचन्द सुराणा से एक लाख रुपये दण्ड के लिये।[96]

हमारे अध्ययन-कालीन राजस्थान के राज्यों में लगभग सभी जगह टकसालें खुली हुई थीं और उनके अलग-अलग सिक्के प्रचलित थे। टकसालों से उन्हें आय होती थी। बीकानेर राज्य में 100 रुपये ढलवाने पर एक रुपया और दो आने का राज्य कर देना पड़ता था। मारवाड़ में महाराजा मानसिंह के काल में टकसाल से 9,800 रुपये की आय होने का विवरण मिलता है। इसी प्रकार इन राज्यों में कारखानों से भी आय होती थी। कारखानों में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का निर्माण होता था। पालकियाँ, गलीचे, शाल, पगड़ियां, दवाइयां, छोटी गाड़ियां, सोने-चांदी के बर्तन, तलवार-शस्त्र आदि वस्तुओं का निर्माण विशेषतः होता था।[97]

जोधपुर राज्य में 'चंवरी लाग' के नाम से निश्चित व नियमित विवाह-कर लिया जाता था। यह राज्य की आय का एक स्थायी साधन था। इसकी दर प्रति चवरी चार से आठ आने थी। विधवा के पुनर्विवाह के अवसर पर प्रति विवाह एक रुपये की दर से 'कागली' या 'नाता' कर लिया जाता था। मेवाड़ में 'नाता बराड़' कोटा राज्य में 'नाता कागली' बीकानेर राज्य में 'नाता' और जयपुर राज्य में 'छेली राशि' के नाम से यह कर लिया जाता था। राज परिवार में कुंवर और कुंवरानियों की शादी के अवसर पर जागीरदार वर्ग तो अपनी जागीर की आय के अनुसार नियोत के रुपये शासक को सभी जगह देते थे। इनके अतिरिक्त कहीं-कहीं पर रैयत से भी नियोत की उगाई की जाती थी। बीकानेर राज्य में ऐसे अवसर पर प्रति गुवाड़ी 2 रु० की दर से धन एकत्र किया जाता था। त्यौहारों के अवसर पर भी कर लेने की प्रथा थी। जयपुर राज्य में प्रत्येक ढाणी से दीपावली पर एक सेर तेल लिया जाता था। व्यावसायिक जातियों से प्रति परिवार 1 टका 25 दाम दीवाली पर, 25 दाम होली पर और 25 दाम रक्षाबन्धन के त्यौहार पर कर लेने की व्यवस्था थी।[98]

बीकानेर राज्य में सीमा-शुल्क, आयात-निर्यात तथा चुंगी-कर का सामूहिक नाम 'जकात' था। जोधपुर और जयपुर राज्यों में पारिभाषिक भाषा में इसे 'सायर' की संज्ञा दी गई थी। जो वस्तुएं बाहर से आती थी, बाहर जाती थी, राज्य क्षेत्र से गुजरती थीं और राज्य में बिकती थीं, उन पर जकात या सायर के कर लिये जाते थे। राज्य-क्षेत्र से गुजरने वाले माल पर लगी चुंगी को 'राहदारी' कहते थे। मेवाड़ और जैसलमेर राज्यों में माल के आयात-निर्यात पर लगाया

जाने वाला कर 'दाण' कहलाता था। मेवाड़ में एक गांव से दूसरे गांव मे माल लाने ले जाने पर 'मापा' 'बारुता' कर लिया जाता था जब कि बीकानेर राज्य मे बिक्री-कर को 'मापा' के नाम से पुकारते थे राज्यों में जकात या सायर करों की वसूली हेतु अनेक मण्डियां व चौकियां नियत थीं। 1780 ई० मे कोटा राज्य मे 143 चुंगी चौकियां थी। आयात, निर्यात और राहदारी की दरें भिन्न-भिन्न राज्यो मे भिन्न-भिन्न थी। यहां तक कि एक ही राज्य में विभिन्न परगनो में भी दरें एक-सी नही थी। प्रत्येक वस्तु की दर अलग होती थी। मेवाड़ की भीलवाड़ा मण्डी में 1772 ई० मे किराने की एक गाड़ी पर एक रुपया, धान (अनाज) की गाड़ी पर दो आने और गुड़ की एक गाडी पर चार आने की दर से आयात-कर लेने की व्यवस्था थी। जयपुर राज्य के सनेरी परगने में किराने की वस्तुओं की प्रति एक रुपये की बिक्री पर 12 दाम से एक टके तक कर लिया जाता था। मारवाड़ में सायर-लागतों की सख्या बहुत अधिक थी। चार्ल्स ट्रैवीलियन ने 1828 ई० में इन करो का अध्ययन किया था। अलवेज को लिखे अपने एक पत्र में उसने भिन्न-भिन्न वस्तुओ पर लगी सायर-कर की दरो की एक लम्बी सूची दी है।

सायर की आय एकत्र करने के लिए दरोगा या दाणी की नियुक्ति की जाती थी। दरोगा की सहायता के लिए मुशरिफ पोतेदार, नविसदार, बटवाल, तुलारस, चौकीदार आदि राजकीय कर्मचारी होते थे। कई बार इसकी उगाही का कार्य ऊंची बोली लगाने वाले को 'इजारे' या 'मुकाते' पर दे दिया जाता था। जयपुर राज्य में बहत्री परगने को वि० स० 1767 वर्ष की राहदारी की वसूली का कार्य 23,000 रु० प्राप्त कर इजारेदार को सुपुर्द कर दिया था। बीकानेर राज्य मे वि० सं० 1839 में रेणी मण्डी की जकात की वसूली 37,899 रुपये लेकर मुकाते पर दे दी गई थी। जागीरदारो को भी अपने क्षेत्र मे शासक की स्वीकृति प्राप्त होने पर राहदारी वसूल करने का अधिकार होता था।

18वी शताब्दी में राजस्थान के अन्य क्षेत्रों में अशान्ति व मराठों के निरन्तर आक्रमणों के कारण बीकानेर क्षेत्र के व्यापारिक मार्ग अधिक प्रयोग में लाये जाने लगे थे। अतः जकात से होने वाली आय मे वृद्धि होना स्वाभाविक था। 1795 ई० मे जकात की आय में 1699 ई० की तुलना में 2445–63 प्रतिशत की आश्चर्य-जनक वृद्धि हुई थी। इससे प्राप्त आय राज्य की कुल आय की 22 8 प्रतिशत थी। 1780 ई० में कोटा राज्य की जकात से कुल आय 82036 रुपये हुई थी जो 1804 ई. मे 462111 रुपये तक पहुंच गई थी। जोधपुर राज्य में 1821 ई० में सायर से होने वाली आय की राशि 454102 रु० थी। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि जकात या सायर से राजस्थान के राज्यों को एक बड़ी राशि आय के रूप में प्राप्त होती थी।

वन, खान, नमक और आबकारी राज्यों की आय के अन्य प्रमुख स्रोत थे। आलोच्यकाल में राजस्थान के किसी राज्य में जंगलात का कोई पृथक् विभाग नहीं था। जयपुर राज्य के जंगल अनेक भागों में विभाजित थे और प्रत्येक भाग पर एक दरोगा नियुक्त रहता था। उसकी मदद के लिए हरकारों की नियुक्ति की जाती थी। कोटा राज्य में लगभग इसी प्रकार की व्यवस्था थी। वहां प्रत्येक भाग पर एक 'बिलेदार' और कुछ 'पेहरायती' रखे जाते थे जो जंगलों की देख-रेख रखते थे, और राज्य-करों की वसूली किया करते थे। मेवाड़ के जंगलों से अनेक प्रकार की उपयोगी लकड़ियां प्राप्त होती थीं और उनसे राज्य को काफी आमदनी हो जाती थी। बीकानेर और जोधपुर राज्यों का अधिकांश क्षेत्र मरुस्थल था और वहां बबूल, खेजड़ा, नीम आदि वृक्ष कहीं-कहीं दृष्टिगत होते थे। इनके अतिरिक्त फोग, केर, बेर आदि कंटीली झाड़ियां होती थीं। इन राज्यों में वन से कोई विशेष आय नहीं होती थी। जंगलात की लकड़ियों पर 'लाकड़-कर' लिया जाता था। जलाने के लिए जगलों से लकड़ियाँ प्राप्त करने पर राजकीय कर देना पड़ता था। इस कर को बीकानेर मे काठ, जयपुर में दरखत-की-बिछोती, मेवाड़ में खड़लाकड़ और मारवाड़ में कबाड़ा बाब के नाम से पुकारते थे।[100]

राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों में कई प्रकार के खनिज पदार्थ उपलब्ध थे। मेवाड़ में जस्ता, रांगा, तांबा, शीशा और चांदी की खानें थीं। जयपुर राज्य में खेतड़ी तथा सिंघाना और बीकानेर राज्य में बीदासर तथा बेल्सर स्थानों पर तांबा की खानें थीं। मारवाड़ में सोजत के पास कुछ मात्रा में शीशा और पाली के निकट फिटकिरी के भंडार उपलब्ध थे। वि० सं० 1838 में सोजत की खानो से 2000 रु० की आय हुई थी। इनके अतिरिक्त विभिन्न क्षेत्रों में उपयोगी मिट्टी और पत्थर भी मिलते थे। बीकानेर के पास तथा जैसलमेर राज्य में कोट और रामगढ़ परगनों में खड़िया मिट्टी के भडार थे। जैसलमेर राज्य के देवीकोट परगने में गेरू मिट्टी की प्रचुरता थी। मकराने का सफेद संगमरमर तो देश में सर्वत्र प्रसिद्ध रहा है। इसके अतिरिक्त अलवर राज्य की सीमा पर भूरे रंग के संगमरमर, कोटपूतली में काले संगमरमर और मेवाड़ में चित्तौड़ के निकट संगमरमर की खानें थीं। कोटा, भरतपुर, जोधपुर, जयपुर, उदयपुर राज्यो में अन्य प्रकार के पत्थर भी खानों से निकाले जाते थे। नागौर चूने के पत्थरों के लिए प्रसिद्ध रहा है। इन विभिन्न प्रकार के खनिज पदार्थों से सम्बन्धित राज्यों को न्यूनाधिक आय हुआ करती थी।[101]

नमक-उत्पादन में मारवाड़, बीकानेर और जयपुर राज्यो का विशिष्ट स्थान था। वि० सं० 1725 से 1749 के बीच बीकानेर राज्य को नमक-उत्पादन से 1,34,215 रुपयों की आय हुई थी। 1726 ई० में सांभर से 1,25,000 लदे बैलों पर नमक का निर्यात हुआ था। 1799 ई० में जोधपुर राज्य को पचपदरा से 1,00,000 रु०, डीडवाने से 50,000 रु०, नावां से 70,000 रु० और सांभर से

69,750 रु० की आमदनी हुई थी। मारवाड़ का नमक सम्पूर्ण देश मे निर्यात होता था। मारवाड़ राज्य में नमक से प्राप्त आय राज्य की आय का एक निश्चित व प्रभावी स्रोत माना जाता था।[102]

राजस्थान के राज्यों में 70 से 80 प्रतिशत व उससे भी अधिक भूमि जागीरदारो के अधीन थी व उनके द्वारा प्रशासित थी। जागीरदारों से प्राप्त धन-राशि इन राज्यों की आय का प्रमुख स्रोत माना जाता था। जागीरदारों को नजर, हुक्मनामा या तलवारबन्धी, वागीरात, रेख, पेशकशी, नजराना, न्योत, बेतलबी-शुल्क आदि के रूप में बहुत बड़ी राशि राज्य कोष मे जमा करवानी पड़ती थी। इस सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी पूर्व अध्याय में दे दी गई है। मेवाड़ राज्य में जागीरदार अपनी आय का 1/6 भाग शासक को देता था। इसी से यह कर 'छटूंद' के नाम से जाना जाता था।[103]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि राजस्थान की जनता करों के भार से पूर्णतया दबी हुई थी। विशेषतः गांवों के लोगों की स्थिति बड़ी दयनीय थी। कभी-कभी तो राजकीय रकम का भुगतान करना उनके लिए सम्भव ही नहीं होता था। ऐसी स्थिति मे शासक करों मे छूट देने के आदेश दिया करता था। राजकीय बहियों मे इससे सम्बन्धित पत्र 'छूट के कागद' कहलाते थे। 1808 ई० मे जालोर के चौधरी की प्रार्थना पर महाराजा मानसिंह ने 'घर बाब' में 25 प्रतिशत की छूट दी थी। इसी प्रकार 1814 ई० में जोधपुर, नागौर, मेड़ता, सोजत, जैतारण आदि के किसानों को 'घर गिनती' लाग मे प्रति घर 4 रु० और हलबाब लागत मे 4 रु० प्रति हल की माफी प्रदान की थी। राजस्थान के सभी राज्यो मे अकाल, सूखा, महामारी व अन्य दैवी प्रकोपों के अवसरो पर किसानो के हासल मे छूट दी जाती थी। छूट की मात्रा तीन प्रकार की थी—(i) चौथाई (ii) आधी और (iii) पूर्ण समाप्ति। नये गांव बसाने या पुरानी बस्तियों को फिर से बसाने हेतु तथा व्यापार-वाणिज्य को प्रोत्साहन देने के लिए राज्य की ओर से विभिन्न प्रकार के लगाये गये करों में राहत दी जाती थी।[104]

राजा, राज परिवार के सदस्यों, ड्योढ़ियों की देख-भाल, राजकीय कारखानों के संचालन व उनकी व्यवस्था, राजकीय दफ्तरो व अदालतो, राजकर्मचारियों के वेतन, महलों व सार्वजनिक निर्माण कार्यों, सिरोपावो, ईनाम, दान, पुण्य, पट्टदर्शन, फौज आदि पर राजकीय आय मुख्यतः व्यय की जाती थी। आलोच्यकालीन राजस्थान के राज्यों में प्रारम्भ में सेना पर बहुत कम धनराशि खर्च की जाती थी क्योंकि सेना के अधिकांश भाग की पूर्ति सामन्तों की सेना से हो जाती थी। सामन्त अपनी फौज का खर्च स्वयं वहन करते थे। सामन्तों की विद्रोहात्मक गतिविधियों, आन्तरिक अशान्ति, पड़ोसी राज्यो के साथ संघर्ष और मराठों के निरन्तर आक्रमणों के कारण शासक को अपनी निजी स्थायी सेना खड़ी करने के लिए बाध्य होना पड़ा था।

ग्रतः सैन्य खर्च में ग्रसाधारण वृद्धि होना स्वाभाविक ही था। ग्रब राज्य के कुल खर्चे के ग्राधे से भी ग्रधिक धनराशि सेना पर खर्च की जाती थी। यदि सामन्तों द्वारा सेना पर किये गये खर्चे को जोड़ दें तो राज्य की ग्राय का 80 प्रतिशत सेना पर खर्च किया जाने लगा था।

18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध ग्रौर 19वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में राजस्थान के राज्यों की वित्तीय व्यवस्था बिगड़ गई थी। वह इतनी दोषपूर्ण थी कि कभी-कभी तो खालसा की समस्त ग्राय सर्वाधिक बोली देने वाले व्यक्ति को दे दी जाती थी। साहूकार या इजारेदार को निश्चित रकम सरकार को ग्रग्रिम देनी पड़ती थी। बाद में वह इस रकम को वसूल करता था। उसका सदैव यही ध्येय रहता था कि वह दी गई रकम से ग्रधिक धनराशि एकत्र करे। शासक को प्रति दिन के खर्चे के लिए भी साहूकारों से ऋण लेना पड़ता था ग्रौर इसके बदले में विभिन्न सायरों, हुकूमतों ग्रौर कचहरियों की ग्राय उन्हें ग्रभिहस्तांकित कर दी जाती थी। इस व्यवस्था में राज्य को बड़ी हानि उठानी पड़ती थी। राज्य को ऊंची दर पर ब्याज ग्रौर बट्टा देना पड़ता था। इस प्रकार एक तरफ राज्य की ग्रर्थव्यवस्था विछिन्न होती जा रही थी ग्रौर दूसरी तरफ साहूकारों से शोषित व राजकीय विभिन्न करों के भार से उत्पीडित जनता, विशेषकर किसान वर्ग की स्थिति दिनों-दिन दयनीय बनती जा रही थी।

न्याय व्यवस्था—न्याय के लिए वर्तमान शैली के न्यायालय नहीं थे ग्रौर न वहां विशेष लिखा-पढ़ी का ही प्रावधान था। न्याय ग्रौर दण्ड व्यवस्था का ग्राधार प्राचीन धर्मशास्त्र थे। परम्परा, रीति-रिवाज तथा देशाचार को भी मान्यता दी जाती थी। शासन की सबसे छोटी इकाई गांव था, जहां न्याय-ग्रधिकारी ग्राम चौधरी या पटेल हुग्रा करता था। इसके ग्रतिरिक्त ग्राम ग्रौर जाति पंचायतों द्वारा भी न्याय का कार्य सम्पन्न होता था। पंचायतों के निर्णयों की ग्रपील परगना ग्रधिकारी या राजा को की जा सकती थी। पंचायतों के कार्य-कलापों का विश्लेषण ऊपर पहले किया जा चुका है। परगनों में न्याय का कार्य हाकिम या ग्रामिल या हवलगिर किया करता था। हाकिम को दीवानी ग्रौर फौजदारी सम्बन्धी सभी मामलों को सुनने का ग्रधिकार था। बीकानेर ग्रौर जोधपुर राज्यों में हाकिम के निर्णय से ग्रसन्तुष्ट होने पर प्रार्थी को दरोगा-ए-ग्रदालत में पुनरावेदन करने का ग्रधिकार था। इसके निर्णय के विरुद्ध दीवान के पास ग्रपील की जा सकती थी। सामान्यतः दीवान दीवानी मुकदमों की सुनवाई करता था, परन्तु ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि वह फौजदारी मामलों को भी निपटाता था। मेवाड़ में दंडपति नाम का एक न्यायिक ग्रधिकारी होता था। जयपुर राज्य मे ग्रामिल ग्रपनी कचहरी में प्रतिदिन मुकदमे सुनता था। समय-समय पर दीवान ग्रामिल ग्रौर फौजदार को विभिन्न प्रकार के ग्रपराधों में दंड देने के सम्बन्ध में ग्रावश्यक निर्देश भेजता था।

ज्येष्ठ बदी 6 वि० सं० 1794 (1737 ई०) को दीवान नारायणदास ने परगनों के सभी आमिलों व फौजदारों को आदेश भिजवाये जिसमें कहा गया कि संगीन चोरी के मामले मे अपराधी को मृत्युदंड दिया जाये, यदि चोरी बाजार, राह अथवा घाट मे हुई है तो चोर का हाथ काट लिया जाये तथा सामान्य चोरी के लिए चोर के दाग लगवा दें। दीवान के निर्णय की अपील राजा के पास की जा सकती थी। राजा के पास सीधे व अपील के मामले प्रस्तुत किये जाते थे। राजद्रोह व अन्य जघन्य अपराधों की जांच राजा स्वयं करता था। वादी, प्रतिवादी और गवाह को सुनकर राजा न्याय करता था। गवाह को शपथ लेकर बयान देना पड़ता था। आवश्यकता पड़ने पर राजा न्याय-विशेषज्ञ की सलाह भी लेता था। धार्मिक मामलों मे राजा पुरोहित से परामर्श किया करता था। जयपुर राज्य में राजा की अदालत को 'न्याय सभा' की संज्ञा दी गई थी।

राजधानी व अन्य बड़े-बड़े नगरो में नियुक्त कोतवाल भी न्यायाधीश का कार्य करते थे। कोतवाली चौतरे में कोतवाल का न्यायालय स्थित था। बड़े-बड़े जागीरदारों को उनकी जागीरों की सीमा मे परगना हाकिमों के समान ही न्यायिक अधिकार प्राप्त थे।

दंड-व्यवस्था काफी कठोर थी। विभिन्न प्रकार के अपराधों के लिए अलग-अलग तरह से दंड देने की प्रथा थी। मृत्युदंड दिया जाता था। इसके अतिरिक्त शिरच्छेदन, अंग-भंग, देशनिर्वासन, कारागार, जुर्माना आदि दंड भी दिये जाते थे। राज्यों में कारावास की व्यवस्था रहती थी। मारवाड़ में इसे 'भाकसी' कहते थे। इनकी हालत नरक से भी बुरी होती थी। मराठो के निरन्तर आक्रमण के फलस्वरूप राजपूत राज्यों की आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय बन गई थी। इसका प्रभाव न्यायिक प्रशासन पर भी पड़ा। अब सामान्यतः अपराधियों को शुल्क-दंड से दंडित किया जाता था। यहां तक कि खून के अपराधी से भी जुर्माना लिया गया। मुसलमानों को न्याय उनकी धार्मिक पुस्तक शरीअत के अनुसार मिलता था। राजधानियो व बड़े-बड़े नगरों में काजी नियुक्त किये जाते थे जिनके द्वारा मुसलमानों को न्याय प्राप्त होता था।[105]

सैनिक व्यवस्था

राजस्थान के राज्यों में सामन्ती व्यवस्था थी। राज्य की सेना मुख्यतः सामन्तों के सहयोग व निष्ठा पर ही निर्भर थी। आवश्यकता पड़ने पर सामन्त अपनी क्षमता के अनुसार नियमित रूप से निश्चित सैनिकों के साथ शासक की सेवा में उपस्थित हो जाते थे। जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह सैयद भाइयों के साथ संघर्ष के समय (1719 ई०) और बाद में जोधपुर राज्य के विरुद्ध अभियान (1740 ई) में बिना कठिनाई के 50 हजार सैनिक एकत्र कर सका था। 20 जून, 1790 ई. को पाटन के युद्ध में राठौड़ों को बड़ी क्षति उठानी पड़ी

थी, फिर भी मारवाड़ के शासक विजयसिंह ने अल्प काल में 36,000 सैनिक मेड़ता के रणक्षेत्र में (1 सितम्बर, 1790 ई.) मराठों से युद्ध करने के लिए एकत्र कर लिये थे। राजा के पास अंगरक्षकों के रूप में एक छोटी सैनिक टुकड़ी के अतिरिक्त कोई निजी स्थायी सेना नहीं हुआ करती थी।[106]

वैसे सेना का सर्वोच्च अधिकारी राजा ही होता था, परन्तु मुगलों के सम्पर्क में आने के बाद 'बख्शी' नाम के एक पदाधिकारी की नियुक्ति की जाने लगी। इसका मुख्य कार्य महाराजा तथा जागीरदारों की सेना का निरीक्षण करना, जागीरदारों की सेना तथा उनकी सेवाओं का विवरण राजा को देना, सेना-सम्बन्धी सभी प्रबन्ध करना आदि होता था। इसके कार्यों का विश्लेषण पहले किया जा चुका है।

मुगलों की भांति बारूद, तोपों, बन्दूकों, छोटी तलवारों और हल्की ढालों जैसे उपयोगी अस्त्र-शस्त्रों का राजपूत प्रयोग करने लगे थे। राजपूत सैनिक भी मुगल सैनिकों जैसी पोशाक पहनने लगे थे। वे शिरस्त्राण और अंगरक्षक साधनों का उपयोग करते थे। राजपूतों की सेना परम्परागत रथ, हाथी, घुड़सवार और पैदल विभागों में विभाजित थी। आलोच्यकाल में रथों का प्रयोग तो प्रायः समाप्त हो गया था। हाथियों का भी कोई अधिक प्रचलन नहीं था। पैदल और घुड़सवार ही सेना के प्रमुख अंग थे। इसमें भी घुड़सवारों को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा था, इसलिए बख्शी के पद पर किसी व्यक्ति को नियुक्त करते समय यह ध्यान रखा जाता था कि उसे घोड़ों से सम्बन्धित अच्छी जानकारी है। जिन प्यादों के पास बन्दूकें होती थीं, वे बन्दूकची कहलाते थे। बन्दूकचियों की संख्या में काफी वृद्धि हो गई थी। इनके अतिरिक्त अब तोपखाने का महत्त्व बढ़ा। तोपें दो प्रकार की होती थीं। किलों की रक्षा के लिए वहां बड़ी-बड़ी तोपें रखी जाती थीं। ये तोपें सामान्यतः दक्षिण से लाई गई थीं। जोधपुर, चित्तौड़, गागरोन आदि किलों पर आज भी ऐसी तोपें देखी जा सकती हैं। दूसरी तोपें कुछ हल्की होती थीं जिनका प्रयोग रणक्षेत्र में किया जाता था। गजनाल (जो हाथियों पर ले जाई जाती थीं) और शतुरनाल (ऊंटों पर लादी जाती थीं) जैसी छोटी तोपें होती थीं। इनसे बड़ी तोपों को बैलगाड़ियों मे ले जाया जाता था। तोपखाने का अधिकारी दरोगा-ए-तोपखाना हुआ करता था। उसके नीचे अमीन, मुसरिफ, पोतेदार व कुछ अन्य छोटे पदाधिकारी रहते थे। बारूद बनाने व नई तोपों के निर्माण हेतु कारखानों का संचालन एक दरोगा के नियन्त्रण मे होता था। राजपूत तोपची का कार्य करना पसन्द नहीं करते थे, इसलिए मुलतान, गोंडवाना, बुरहानपुर आदि स्थानों से प्रशिक्षित गोलन्दाज आमन्त्रित किये जाते थे। तोपखाने का संचालन सामान्यतः विदेशियों के हाथों में रहता था। मनोहरपुर की लड़ाई में जयपुर राज्य के तोपखाने के सभी गोलन्दाज मुसलमान थे। उनकी वफादारी संदिग्ध ही रहती थी।[107]

सेना के विभिन्न विभागों की व्यवस्था की देख-रेख के लिए अलग-अलग पदाधिकारी नियुक्त किये जाते थे जिनको पैदलपति, गजपति, अश्वपति आदि कहते थे। बाद में मुगलों के प्रभाव के कारण कई राज्यों में पदाधिकारियों और सैनिकों को दरोगा-ए-फीलखाना, दरोगा-ए-सिलहपोसखाना (अस्त्र-शस्त्र), दरोगा-ए-शुतरखाना, शमशेरबाज, बन्दूकची, किलेदार आदि कहने लगे थे। बीकानेर राज्य में दरोगा के स्थान पर फौजदार हुआ करता था। वहां हवलदार और दरोगा फौजदार की सहायता के लिए नियुक्त थे। बीकानेर, जैसलमेर और जोधपुर राज्यों में ऊंट-सवारों के भी दस्ते थे। इनका वहां बड़ा महत्त्व था क्योंकि ये रेगिस्तानी क्षेत्र में बड़े प्रभावशाली सिद्ध होते थे। ऊंटों की सेना का प्रबन्ध शुतरखाना-विभाग किया करता था।

18वीं शताब्दी में मराठों और पिंडारियों के आक्रमणों और आन्तरिक विद्रोह तथा सामन्तों के साथ संघर्ष की स्थिति में राजस्थान के राजाओं ने अपने-अपने राज्यों में निजी स्थायी सेना का गठन किया। इस वैतनिक सेना के गठन के साथ ही केन्द्रीय सैन्य पद्धति का सूत्रपात हुआ। स्थायी सेना में राजपूतों के अतिरिक्त सिन्धी, पुरबिया, रोहिला आदि सैनिकों को भर्ती किया गया। इस वेतनभोगी सेना के बल पर उन्होंने अपने सामन्तों के विद्रोह को कुचलना व बाह्य आक्रमणों का सामना करना चाहा। आवश्यकता के अनुसार नागा साधुओं की पल्टनों को भी सैनिक अभियान के समय आमन्त्रित किया गया। इन्हें राज्य की ओर से अस्त्र-शस्त्र दिये जाते थे। कभी-कभी विदेशी सेनानायकों को भी धन देकर सहयोग के लिए आमन्त्रित किया जाता था। महाराजा विजयसिंह ने मोहम्मद बेग हमदानी और इस्माइल बेग की सेवाएं धन के आधार पर प्राप्त की थीं। धन देकर मराठों से भी सैनिक सहायता प्राप्त की जाती थी। यह सभी प्रयोग अन्ततः असफल रहे।

केन्द्रीय सैन्य व्यवस्था से सामन्त-वर्ग खिन्न था। महाराजा और सामन्तों के बीच मनमुटाव की स्थिति उत्पन्न हो गई। लगभग सभी राज्यों में राजा और सामन्तों के बीच संघर्षमयी स्थिति बनी रही। इसका अन्त इन राजपूत राज्यों द्वारा अंग्रेजी कम्पनी सरकार से सन्धि करने के बाद ही सम्भव हो सका था। विदेशी सैनिकों को राजकीय सेना में भर्ती किये जाने से आम राजपूत भी अपने शासक से नाराज रहने लगा था। इसके अतिरिक्त वेतनभोगी विदेशी सैनिकों का राजा के साथ किसी प्रकार की आत्मीयता न होने के कारण उनमें राजा के प्रति लगाव, भक्ति व निष्ठा का अभाव ही रहता था। समय पर वेतन न मिलने पर वे विद्रोह कर देते थे जिससे राज्य में बड़ी विषम व संकटमय स्थिति उत्पन्न हो जाती थी। मेवाड़ के महाराणा अरिसिंह को इसी प्रकार की स्थिति का सामना करना पड़ा था। नागा साधुओं की सेना अनुशासित नहीं होती थी, इससे रणक्षेत्र में कई

बार खलबली मच जाती थी। इन सब कारणों से राज्यों में सुचारु रूप से सैनिक व्यवस्था स्थापित नहीं की जा सकी।

पाटन, मेड़ता, फतहपुर, मालपुरा आदि स्थानों पर लड़े गये युद्धों में पराजित होने के कारण राजपूत शासक यह अनुभव करने लगे थे कि यूरोपीय ढंग से शिक्षित सैनिक टुकड़ियों पर विजय प्राप्त करना उनकी सामर्थ्य के बाहर है। कतिपय शासकों ने अपनी सेना को यूरोपीय ढंग से प्रशिक्षित करने के प्रयत्न भी किये थे। जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह ने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए फ्रेंच सेनानायक द बॉय और जर्मन सेनापति समरू की सेवाएं प्राप्त की थीं। मेवाड़ के प्रधान मौजीराम के महाराणा भीमसिंह के समक्ष मेवाड़ी सेना को यूरोपीय ढंग से प्रशिक्षित करने का प्रस्ताव रखा था। जाट राजा जवाहरसिंह ने रेन मादे और समरू की सैनिक टुकड़ियों को अपनी फौज का अंग बनाया था। कोटा के फौजदार जालिमसिंह ने, जिनका जान बेप्टिस्ट, डुडेरनिक, पलुमेट और पोलमेन जैसे यूरोपियन सेनापतियों से व्यक्तिगत सम्पर्क था, कोटा राज्य की सेना को आधुनिक ढंग से संगठित करने हेतु महत्वपूर्ण सुधार किये थे। उसने दो अंग्रेज सैनिक अफसर नौकर रखे थे। कोटा राज्य के अतिरिक्त अन्य सभी राज्यों में सामन्तों के विरोध व कुछ अन्य कारणों से सेना के पुनर्गठन के प्रयास असफल रहे। कोटा राज्य के नवीन सैनिक संगठन पर यहां संक्षिप्त में विचार कर लेना समीचीन ही होगा।

कोटा राज्य की सेना का सर्वोच्च अधिकारी झाला जालिमसिंह था। सैनिक प्रशासन की मुख्य विशेषता यह थी कि सैनिकों को नियमित रूप से समय पर निश्चित वेतन का भुगतान किया जाता था। पैदल सेना में कुल 14 पलटनें थीं। प्रत्येक पलटन अनेक निशानों में विभाजित थी। निशान में रखे गये सैनिकों की संख्या 40 से 150 तक होती थी। पैदल सेना का कमान जुल्फीकार को सुपुर्द किया गया था। पलटन का मुख्य पदाधिकारी 'एजुटेन्ट' हुआ करता था। निशान का अधिकारी सूबेदार था जिसके नीचे एक जमादार, एक हवलदार व अन्य पदाधिकारी उसकी सहायता के लिए रहते थे। पलटनों के भिन्न-भिन्न नाम थे; जैसे, नारायण पलटन, खास पलटन, धमाका पलटन, अरदली पलटन आदि। नागा साधुओं की भी एक अलग पलटन थी। सैनिकों को नियमित रूप से कवायद और शस्त्राभ्यास करवाया जाता था। सिपाहियों के लिए विशेष प्रकार की वर्दी होती थी, जैसे, लम्बा अगरखा, कमरबन्ध, पगड़ी आदि। बाद में पगड़ी के स्थान पर साफा का प्रयोग होने लगा। सैनिकों की भर्ती करने के लिये एक अलग पदाधिकारी होता था। स्वस्थ व्यक्ति व नवयुवकों को सेना के लिए उपयुक्त माना जाता था। सेना में अनुशासन पर अधिक बल दिया जाता था।

सेना का दूसरा प्रमुख अंग घुड़सवार था जो दो भागों में विभाजित था। माधव रिसाला और राज्य रिसाला। प्रत्येक रिसाले का एक अलग पदाधिकारी

नियुक्त होता था जिसके नीचे कई जमादार होते थे। प्रत्येक जमादार के नीचे 50 से 200 घुड़सवार हुआ करते थे। घोड़ों के प्रशिक्षण के लिए समुचित प्रबन्ध था। घोड़ों की नस्ल को सुधारने के लिए भी राजकीय प्रयास किये जाते थे।

तोपखाना राज्य सेना का महत्त्वपूर्ण अंग था। तोपखाने का अधिकारी दरोगा-ए-तोपखाना होता था। हल्की और भारी दोनों प्रकार की तोपें होती थीं। दरोगा द्वारा नियन्त्रित बारूद बनाने का एक अलग कारखाना था। राज्य में ऐसे कारखाने भी थे जहां तोपों को ढलाई की जाती थी। शेरगढ़ में स्थित ढलाई-घर की देख-रेख दलेलखां किया करता था। राज्य में ढलाई का कार्य दौला उस्ताद के निरीक्षण में हुआ करता था। तोपों के अलग-अलग नाम थे; जैसे, किशन तोप, लक्ष्मण तोप आदि। तोपखाना विभाग की दक्षता को बढ़ाने के उद्देश्य से झाला जालिमसिंह ने यूरोपीय तोपचियों की नियुक्ति की थी।

सैनिकों को प्रोत्साहन दिया जाता था। समय-समय पर उन्हें विशिष्ट सेवाओं के लिए सम्मानित किया गया। रणक्षेत्र में यदि कोई पदाधिकारी मारा जाता तो उसकी अंत्येष्टि राजकीय सम्मान के साथ सम्पन्न की जाती थी। यद्यपि सेना में अधिकांशतः मुसलमान थे तथापि राजपूत, मीना, गुर्जर और मराठा सैनिकों की भी संख्या काफी थी। राज्य में अनेक सैनिक छावनियां थीं। किलों की रक्षा के लिए सैनिक टुकड़ियां रखी जाती थीं। किले का सर्वोच्च पदाधिकारी किलेदार होता था जिसकी सहायता के लिए मुसरिफ व अन्य पदाधिकारी भी वहां रहते थे। झाला जालिमसिंह ने गागरोण, नाहरगढ़, केलवाड़ा, शाहबाद, मंवरगढ और थाने के किलों में विशेष रूप से गढबन्धी की थी और सभी मुख्य किलों पर नई तोपें ढलवा कर रखी थीं। कोटा नगर का शहरपनाह वि. सं. 1836 में बनवाया गया। कर्नल टॉड का कथन है कि कोटा की चारदिवारी आगरा के किले की चारदिवारी के समान ही सुदृढ़ व मजबूत थी। इस प्रकार झाला जालिमसिंह ने सेना का नवीनीकरण किया और देश की सुरक्षा के लिये व्यापक साधन अपनाये।[108]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि राजस्थान के विभिन्न राज्यों के प्रशासन में पूर्ण रूप से एकरूपता दृष्टिगत नहीं होती। इन राज्यों में शासन की सफलता वहां के राजाओं की व्यक्तिगत योग्यता व दक्षता पर निर्भर थी। यदि राजा अयोग्य व निर्बल होता तो शासन अव्यवस्थित होने लगता था। इन राज्यों में नौकरशाही के लिए कोई निश्चित नियम नहीं थे। ऐसी स्थिति में यहां मन्त्री व विभागाध्यक्ष मनमाने ढंग से आचरण करने लगते थे जिससे राज्य के उचित हितों की रक्षा नहीं हो पाती थी। इसके अतिरिक्त इन राज्यों में कई पद वंशानुगत या पितृ-परम्परागत बन गये थे जिससे शासन की गति में शिथिलता आने लगी थी। राजस्व का अधिकांश भाग या तो राजपरिवार के उपयोग में आता था या फिर सामन्तों व उच्च वर्ग के लोगों के हाथ लगता था। इनका जीवन बड़ा विलासमय बन गया था।

ग्राम जनता दुःखी थी। सामान्य लोगों का जीवन-स्तर नीचा था। सामन्ती व्यवस्था होने के कारण अधिकांश भूमि उच्च वर्ग के लोगों के पास थी। ऐसी स्थिति में किसान व मजदूर वर्ग का शोषण होना स्वाभाविक ही था। उच्च वर्ग और निम्न वर्ग के बीच खाई दिनों-दिन चौड़ी होती जा रही थी। अमीर अधिक समृद्ध और गरीब और भी दरिद्र बनने लगे थे। न्याय-व्यवस्था को संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। दण्ड-प्रणाली दोषयुक्त और बर्बर थी। इस युग की अच्छाई यह थी कि यहां के शासक धर्म के मामले में उदार और सहिष्णु थे, इसलिए यहां सभी धर्म के लोग एक साथ बड़े प्रेम से मिल-जुल कर रहते थे। गांवों का शासन स्वसंचालित था। राजकीय हस्तक्षेप बहुत कम था। अतः जनजीवन सुखमय था। यद्यपि राजस्थान के राज्यों में निरंकुशता का प्राबल्य था, फिर भी वहां सरकार और ग्रामीण व्यवस्था में सामंजस्य व तारतम्य था जिससे शासन की परम्परा सुचारु रूप से चलती रहती थी। लोगों में पारस्परिक सहयोग की भावना थी। वे जन कल्याण और सम्पन्नता के लिए गतिशील थे। ब्रिटिश सत्ता के आधिपत्य के बाद इस व्यवस्था में एक नया मोड़ आया।

सन्दर्भिका

1. जी. एन. शर्मा, मेवाड़ एण्ड द मुगल एम्परर्स पृ. 184-86; राजस्थान का इतिहास, पृ. 617
2. जी. एस. एल. देवड़ा, राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था, पृ. 43
3. जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 619
4. देवड़ा, वही, पृ. 43
5. ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 292
6. ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 666
7. एम एल. शर्मा, जयपुर राज्य का इतिहास, पृ. 187
8. आर. पी. व्यास, रोल ऑफ नोबीलीटी इन मारवाड़, पृ. 51
9. जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 618
10. (i) दयालदास की ख्यात (अप्रकाशित) भाग 2, पृ. 263; देवड़ा, वही, पृ. 46

11. ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 632
12. देवड़ा, वही, पृ. 46 पाद टिप्पणी 5, महाराजा गजसिंह जी के साथ महाराजकुमार श्री राजसिंह जी का नाम भी जुड़ा हुआ था।
13. आसोपा, इतिहास, नीमाज, पृ. 144
14. रेऊ, भाग 1, पृ. 364
15. पद्मजा शर्मा, जोधपुर के महाराजा मानसिंह और उसका काल, पृ. 172
16. हकीकत बही (जोधपुर) वि. सं. 1862–70, संख्या 9, पृ. एफ 124
17. वही, पृ. एफ 483
18. जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 620
19. व्यास, वही, पृ. 27
20. ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 685
21. देवड़ा, वही, पृ. 93-94
22. जागीर क्षेत्र के प्रशासन सम्बन्धी जानकारी हेतु द्रष्टव्यः व्यास, आर. पी. कृत रोल ऑफ नोबीलीटी इन मारवाड़, पृ. 198-214, व्यास प्रकाश कृत मेवाड़ राज्य का इतिहास, पृ. 277-286, देवड़ा, जी. एस. एल. कृत राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था, पृ. 93-95
23. देवड़ा, राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था, पृ. 96-98, ब्यूरोक्रेसी इन राजस्थान, पृ. 13-15.
24. (i) जी. एन. शर्मा, राजस्थान स्टडीज, पृ. 207-12
(ii) भटनागर, सवाई जयसिंह, पृ. 177,
महाराणा राजसिंह के काल में मेवाड़ को 'देश' नाम से सम्बोधित किया जाता था।
मान-राज विलास, विलास 1, पद्य 62
'धर्म देश मेवाड़ धर, सब देशां सिरताज'।
25. देवड़ा, वही, पृ. 98-100
26. हकीकत बही, सं. 3, पृ. 127; मूंदीयाड़ की ख्यात, भाग 2, पृ. 343; भगवतसिंह, चांपावत राठौड़, पृ. 236
27. ओझा, प्रतापगढ़ राज्य का इतिहास, पृ. 389-90
28. ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 645
29. जोधपुर राज्य की ख्यात, भाग 4, पृ. 6
30. टॉड, भाग 2, पृ. 61; ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 393-394
31. टॉड, भाग 1, पृ. 150; महता संग्रामसिंह कलेक्शन, हवाला नं. 1038; प्रकाश व्यास, मेवाड़ राज्य का इतिहास, पृ. 244
32. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 384

33. हाथ बही नं. 1, पृ. 216; मूंदीयाड़ की ख्यात, भाग 1, पृ. 341; व्यास, आर. पी. पृ. 175; जवरसिंह, द ईस्ट इण्डिया कम्पनी एण्ड मारवाड़, पृ. 182
34. टाड, भाग 1, पृ. 150
35. मिस आर. पी. शास्त्री, झाला जालिमसिंह, पृ. 281–82
36. मांगीलाल, जैसलमेर राज्य का इतिहास, पृ. 208
37. परवाना बही वि. सं. 1800–1743 ई., पृ. 77 (बीकानेर राज्य), मुगल शासन प्रणाली में भी दीवान या वजीर मुख्य रूप से वित्त विभाग का अधिकारी होता था—आईने-अकबरी (अनुवाद) I, पृ. 6
38. हकीकत बही (जोधपुर) वि. सं. 1871–80 संख्या 10, एफ 310 और वि. सं. 1881–90, संख्या 11, एफ 207-292 प्रथम प्रशासनिक विवरण 1883–84, पृ. 279-84
39. दयालदास की ख्यात (अप्र.) 2, पृ. 11, 276 और 299 महाराजा गजसिंह ने मोहता बख्तावरसिंह को वि. सं. 1817/1760 ई. में अपने हाथ से टीका लगाया था।
40. जी. सी. शर्मा, पृ. 16
41. मीरा, महाराजा अजीतसिंह व उसका काल, पृ. 256-57; पद्मजा शर्मा, महाराजा मानसिंह और उनका काल, पृ. 185
42. जी. सी. शर्मा, पृ. 17, भटनागर, सवाई जयसिंह, पृ. 185
43. देवड़ा, पृ. 111
44. मूंदीयाड़ की ख्यात, एफ 22, 23 और 115, बस्ता नं. 40; मारवाड़ का प्रशासनिक विवरण (1883-84) पृ. 279
45. भटनागर, पृ. 185
46. जी. सी. शर्मा, एडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम, पृ. 15
47. दयालदास की ख्यात (अप्र.) भाग 2, पृ. 142 और 222; देवड़ा, पृ. 113-15
48. हकीकत बही (जोधपुर) वि. सं. 1856-60, सं. 8, एफ 437
49. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 2, पृ. 496; मारवाड़ का प्रशासकीय विवरण (1883-84), पृ. 2
50. नाथूलाल व्यास, संग्रह रजिस्टर नं. 3, पृ. 20-21
51. जी. सी. शर्मा, पृ. 18-19; भटनागर, पृ. 185; जे. के. ओझा, मेवाड़ का इतिहास, पृ. 249, देवड़ा, पृ. 115-16; पद्मजा, पृ. 186-87
52. देवड़ा, पृ. 116-17

53. रेऊ, ग्लोरीज ऑफ मारवाड़ एण्ड ग्लोरियस राठौड्स, पृ. 113-15; जी. डी शर्मा; राजपूत पोलिटी, पृ. 135-36
54. ओझा, पृ. 249
55. पुरोहित पुरुषोत्तमदास, श्री पुरोहित जी का इतिहास, पृ. 37-38; जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 623
56 ओझा, पृ. 252, जी. सी. शर्मा, पृ. 20
57. जी. सी. शर्मा पृ. 19, देवड़ा, पृ. 117
58. मारवाड़ का प्रशासनिक विवरण (1883–84 ई.) पृ. 772 मीर मुंशी का पद राव मालदेव के समय से आरम्भ हुआ जो मुग़लों के पतन के समय तक बना रहा।
59 जी..सी. शर्मा पृ. 20
60. जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 624; जी. सी. शर्मा, पृ. 20-21; जे. के. ओझा, पृ. 250-52, मीरा, पृ. 257-59; पद्मजा, पृ. 188-93; जी. एन. शर्मा, वही, पृ. 625
61. जी. सी. शर्मा, पृ. 21-22; जबरसिंह, पृ. 184, देवड़ा, पृ. 127-28; रामप्यारी, पृ. 285
62. जी. सी. शर्मा, पृ. 22
63. मीरा, पृ. 259-60; पद्मजा, पृ. 194-95; शिवदत्तदान बारठ, महाराजा विजयसिंह एवं उनका युग (शोध प्रबन्ध), पृ. 315-17
64. जे. के. ओझा, पृ. 253; भटनागर, पृ. 185-86; जी. डी. शर्मा, राजपूत पोलिटी, पृ. 110
मारवाड़ के शाही परगनों में फौजदार और अमिल का पद रहता था। जैसे ही मारवाड़ शासक का अधिकार हो जाता था, ये पद नहीं रहते थे।
65. रामप्यारी, पृ. 285
66. देवड़ा, पृ. 133-34
67. वही, पृ. 146-47; रामप्यारी, पृ. 338-39; जे. के. ओझा, पृ. 253-54; भटनागर, पृ. 187; शिवदत्तदान, पृ. 317-18
68. जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 626; जी. सी. शर्मा, पृ. 34-36; जे. के. ओझा, पृ. 254-55; देवड़ा, पृ. 150-53; व्यास आर. पी. पृ. 204
69. टॉड, भाग 2, पृ. 429-31; एम. एल. शर्मा, भाग 2, पृ. 542-44;
70. जी. एन. शर्मा, राजस्थान स्टडीज, पृ. 177; द्रष्टव्य: मालरी बही वि. सं. 1854, 56 और 57 बीकानेर अभिलेखागार; देवड़ा,

पृ. 154-55; बहियों से जो जानकारी मिलती है, उससे ज्ञात होता है कि अधिकांश पंचायतें ग्रामीण क्षेत्र में अधिक प्रभावशाली थीं। नगरो मे जाति व व्यावसायिक पंचायतों का महत्त्व था।

71. पद्मजा, पृ. 197
72. जे. के. ओझा, पृ. 255
73. देवड़ा, पृ. 155; पद्मजा, पृ. 197
74. जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 626-27।
75. पद्मजा, पृ. 208, देवड़ा, पृ. 214
76. टॉड, भाग 1, पृ. 391। जयपुर राज्य में इसकी जानकारी दस्तूर-उल-श्रमल और अडसटों से मालूम की जा सकती है; जी सी. शर्मा, पृ. 30
77. देवड़ा, पृ 213 राज्य में प्रति हल जो लगान वसूल किया जाता था, उससे यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है। बंजर भूमि में प्रति हल 2 रु० मजरूआ में प्रति हल 3 रु० तथा चाही व बेरी भूमि 4 रु० व 5 रु० तक वसूल होता था।
78. भटनागर, पृ. 188
79. जी. सी. शर्मा, पृ. 32
80. आर. पी. व्यास, पृ. 204
81. पद्मजा, पृ. 208; जे. के. ओझा, पृ. 267; रामप्यारी, पृ. *306-07*; जी. सी. शर्मा, पृ. 32
82. पद्मजा, पृ. 209-10; भटनागर, पृ 189; जे. के. ओझा, पृ. 268
83. शोध पत्रिका वर्ष 20, अंक 2, पृ. 72, 74-85; पद्मजा, पृ. 210; देवड़ा, पृ. 224 और 229; जी. सी. शर्मा, पृ. 33
84. पद्मजा, पृ. 217-20; आर. पी. व्यास, पृ. 210-11
85. देवड़ा, पृ. 224-25; जी. सी. शर्मा, पृ. 34; रामप्यारी, पृ. 306-08; पद्मजा, पृ. 210; भटनागर, पृ. 188; जे. के. ओझा, पृ. 267
86. देवड़ा, पृ. 225-26
87. पद्मजा, पृ. 210-11; भटनागर, पृ. 188; जी. सी. शर्मा, पृ. 33-34
88. देवड़ा, पृ. 165
89. टॉड, भाग 2, पृ. 429; एम. एल. शर्मा, पृ. 544-45; रामप्यारी, पृ. 309-11
90. तवारिख मानसिंह, एफ 197, टॉड, भाग 2, पृ. 132; पद्मजा, पृ. 212; देवड़ा, पृ. 168 और 207; जी. सी. शर्मा, पृ. 124-25

91. टॉड, भाग 2, पृ 131-32; आर. पी. व्यास, पृ. 209; देवड़ा, पृ. 183; रामप्यारी, पृ. 333-34
92. पद्मजा, पृ. 213; देवड़ा, पृ 181; जी. सी. शर्मा, पृ. 120; जे. के. ओझा, पृ. 269
93. जे. के. ओझा, पृ. 171
94. टॉड, भाग 2, पृ 131
95. मानसिंह राज री ख्यात पृ. एफ 468; जे. के. ओझा, पृ. 270; देवड़ा, पृ. 176
96. रेऊ, भाग 1. पृ. 380, गो. ही. ओझा; बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 367 और 394
97. मानसिंह के राज की ख्यात, एफ 468, देवड़ा, पृ. 179-80
98. पद्मजा, पृ. 214; जी. सी. शर्मा, पृ. 121-22; भटनागर, पृ. 193
99. पद्मजा, पृ. 220-28, भटनागर, पृ. 191-93, देवड़ा, पृ. 173-175 और 179, जी. सी. शर्मा, पृ. 99-104, जे. के. ओझा, पृ. 270, रामप्यारी, 327
100. रामप्यारी. पृ. 330-32, जी. सी. शर्मा, पृ. 104-07
101. टॉड भाग 1, पृ. 399, भाग 2, पृ. 126, जी. सी. शर्मा, पृ. 107-08
102. जमा खर्च फाइल (मारवाड़) नं. 43, 1800 ई.; मनूची (इविन द्वारा अनुवादित, 1907 संस्करण) भाग 2, पृ. 425; टॉड भाग 2, पृ. 26; जी. सी. शर्मा, पृ. 171
103. गौ. ही. ओझा, उदयपुर, भाग 2, पृ. 1123
104. पद्मजा, पृ. 215-16; देवड़ा, पृ. 184-86
105. स्याहा हकीकत, सं. 1783 जलालपुर, द्रष्टव्य अपेन्डिक्स 12; जी. सी. शर्मा, पृ 195; सनद परवाना वही (मारवाड़) वि. सं. 1840, पृ. 319; मान-राजविलास, विलास 2, पद् 70 और 133, विलास 5, पद्य 35; मीरा, महाराजा अजीतसिंह, पृ. 262; भटनागर, पृ. 116-17; जी. सी. शर्मा, पृ. 195; जे. के. ओझा, पृ. 274
106. भटनागर, पृ. 199, जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 475
107. जमा खर्च वही बीकानेर, जोधपुर आदि। 18वीं सदी हकीकत वही, नम्बर्द कोटा भण्डार, 27, 34, 53 आदि। जी. एन. शर्मा, राजस्थान स्टडीज, पृ. 190-92
108. कोटा राज्य की सेना व्यवस्था, द्रष्टव्य, रामप्यारी शास्त्री कृत 'झाला जालिमसिंह' सैनिक व्यवस्था।

अध्याय 10

समाज एवं संस्कृति

समाज

आलोच्यकालीन राजस्थान का सामाजिक ढांचा, जो एक स्तूप की भांति था, परम्परागत रूप से ऊंचे-नीच, पद-प्रतिष्ठा तथा वंशोत्पन्न जातियों के आधार पर संगठित था। समाज मे जातियों का महत्त्व उनके द्वारा अपनाये गये विशुद्ध व्यवसायों पर निर्भर रहता था। जाति-व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करने तथा उसके अस्तित्व को अक्षुण्ण रखने के कार्य में जाति-पंचायतों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। समय-समय पर जाति-पंचायतें अपनी जातियों को व्यवस्थित रूप से संचालित करने हेतु खानपान, शादी-विवाह तथा रीति-रिवाजों से सम्बन्धित नियम बनाती थीं। इन नियमो के पालन करवाने का दायित्व भी जाति-पंचायतो पर ही था। इस कार्य के लिए उन्हे राजकीय संरक्षण प्राप्त था। जातीय नियमों को भंग करने वाले व्यक्तियों को दंड देने की व्यवस्था थी। सबसे कठोर दंड जाति से बहिष्कृत करना था। सामान्यतः जाति-पंचायतों के निर्णयों की शासक अवहेलना नहीं करता था। ब्राह्मण, राजपूत, महाजन आदि जातियों को राज्य द्वारा जो परम्परागत सुविधाएं प्राप्त थी, शासक का कर्त्तव्य था कि वह उन्हें शाश्वत रूप से प्रचलित रखे। इस प्रकार सामाजिक दृष्टि से राजस्थान मे जाति-प्रथा का परम्परागत स्वरूप बना रहा; परन्तु 18 वीं शताब्दी में अन्तर-राज्य युद्धों, आन्तरिक कलह, शासकों और सामन्तों के पारस्परिक संघर्षों तथा मराठों और पठानों की घुसपैठ के फलस्वरूप राजस्थान की आर्थिक स्थिति अस्त-व्यस्त होने लगी। अब प्रत्येक जाति के लोगों को अपने जीवन-यापन हेतु अपने परम्परागत व्यवसायों के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यवसायों को अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ा।[1]

परम्परागत सामाजिक संगठन मे ब्राह्मणों का स्थान सर्वोपरि था। ब्राह्मण जाति अनेक उपजातियों में विभाजित थी। समकालीन प्रमाणो से पता चलता है कि श्रीमाली, नागर, भट्ट-मेवाड़ा, पुष्करणा, नन्दवाना, सिकवाल, गौड, सनाढ्य, दाधीच, पालीवाल आदि ब्राह्मण जातियां आलोच्यकाल में विद्यमान थी। समाज में

नैतिक जीवन का आधार ब्राह्मण ही माना जाता था। अध्ययन-अध्यापन, ध्यान, आराधना, धार्मिक कर्मकाण्ड का सम्पादन आदि इनके सम्मानित कार्य थे। कुछ ब्राह्मणों का मन्दिरो में पूजा-पाठ करना व्यवसाय बन गया था। इस कार्य के लिए राज्य की ओर से ब्राह्मणों को भूमि जागीर में दी जाती थी। कई ब्राह्मणों ने कथा-वाचन, ज्योतिष तथा वैदिक अध्यापन को अपना व्यवसाय बना लिया था। इनके द्वारा रचित काव्य, साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थ तथा प्रशस्तियां आज भी उपलब्ध हैं। 18 वी शताब्दी में जोशी पूनो, राम, देवा, हर आदि ने ज्योतिष के क्षेत्र में अच्छी ख्याति अर्जित की थी। उन्हें कोटा राज्य का संरक्षण प्राप्त था। कृष्ण भट्ट और गंगाधर (1756 ई०) को भागवत का पाठ करने के उपलक्ष में प्रत्येक को 121 रु० दक्षिणा के कोटा राज्य कोष से दिये गये थे। चित्तौड़ में भट्ट शिवकिशन (1800 ई०) ने कथा वाचक के रूप में अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली थी।

शासक से लेकर सामान्य व्यक्ति तक का पुरोहित ब्राह्मण ही होता था। ब्राह्मणो के कुछ परिवार राजकुलों तथा सामन्तों के पारिवारिक पुरोहित बने हुए थे। मेवाड़ के पालीवाल, बीकानेर के सनाढ्य, डूंगरपुर के रावल और मालानी के दाधीच वहां के राजपरिवार के कुल पुरोहित थे। यह पद इन ब्राह्मणो की पैतृक सम्पत्ति रही। ब्राह्मण लोग राजघरानो में शिक्षक का कार्य भी करते थे।

जिन क्षेत्रों मे उपर्युक्त व्यवसाय ब्राह्मणो को लाभप्रद नही हुए, वहां उन्होंने कृषि को भी अपना व्यवसाय बनाया। बीकानेर और जयपुर के श्रीमाली और पालीवाल ब्राह्मण, सांचोर के सांचोरा ब्राह्मण, अजमेर के सिकवाल ब्राह्मण और जयपुर के बागड़ा ब्राह्मण अधिकतर कृषि से अपना जीवन-निर्वाह करते थे राज्य की ओर से भी इन्हें खेती करने के लिए प्रोत्साहन दिया गया।

कुछ ब्राह्मण व्यापार के द्वारा उदरपोषण करते थे। विशेषकर जैसलमेर, बीकानेर, भरतपुर, करौली, नागौर, मालानी और बांसवाड़ा के ब्राह्मणो ने, जिनके स्थान व्यापारिक मार्गों पर स्थित थे, व्यापार को ही अपना व्यवसाय चुन लिया था। बीकानेर के पश्चिमी-सीमावर्ती 12 गावो के पालीवाल ब्राह्मण बड़े साहसी व्यापारी थे। जैसलमेर के पालीवाल ब्राह्मण प्रसिद्ध व्यापारी थे। करौली के हवानी ब्राह्मणो का तो व्यापार पुश्तैनी था। वे साभर से नमक और आगरा से शक्कर लाते थे। घी, कपड़ा व अन्य फुटकर वस्तुएं आसपास के बाजारो में बेचने के लिए ले जाते थे। बांसवाड़ा के बहुत से नागर ब्राह्मण और भरतपुर के गौड़ ब्राह्मण दुकानदारी, व्यापारी व लेन-देन का व्यवसाय किया करते थे।

आलोच्यकाल मे ऐसे प्रमाण मिलते है जिनसे ज्ञात होता है कि ब्राह्मणो ने राज्य की कूटनीतिक गतिविधियों में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। मेवाड़ राज्य मे मराठों के साथ की गई समझौतावार्ता एवं सन्धियों मे अमरचन्द बड़वा का

योगदान उल्लेखनीय है। 18 वीं शताब्दी में जोधपुर राज्य में आसोपा नवलराम, पंडित जीवनराम, कृपाराम आदि प्रमुख सलाहकार थे। पंडित सितावराय और व्यास देवकृष्ण को 1791 ई० में महाराजा विजयसिंह द्वारा महादजी सिन्धिया के पास बातचीत करने के लिए भेजा गया। इसी समय जयपुर प्रशासन के उच्च पदों पर बृजनाथ तिवारी, मोहनराम भट्ट, विश्वनाथ आदि ब्राह्मण नियुक्त थे। इसी प्रकार बून्दी, भरतपुर और बांसवाड़ा में अनेक ब्राह्मण राज्य-पदों पर आरूढ़ थे। जोधपुर राज्य में तो पुष्करणा ब्राह्मणों को दीवान, बख्शी, खानसामा जैसे उच्च पदों पर भी नियुक्त किया गया था। मेवाड़ राज्य में उत्सवाधिकारी, कपड़दार तथा रसोई (पाकशाला) के अध्यक्ष के रूप में प्रायः सनाढ्य ब्राह्मणों की नियुक्तिया की गई। कभी-कभी ब्राह्मण योद्धा का भी काम करते थे। महाराजा अभयसिंह ने जब हैदरकुलीखां के साथ युद्ध किया था, तब व्यास फतो दीपचन्दोत, पुरोहित सूजो, नन्दलाल आदि ब्राह्मणों ने सेनापति का कार्य किया था।

अपनी शैक्षणिक प्रतिभा व धर्म-परायणता के फलस्वरूप सामान्यतः ब्राह्मण भारतीय संस्कृति के संरक्षक व प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित थे। परन्तु कुछ ब्राह्मणों ने ऐसे व्यवसाय अपना लिये थे जो हेय समझे जाते थे। भोजक ब्राह्मण जो जैन मन्दिरों में पूजा पाठ करते थे, या वे ब्राह्मण जो रसोई का कार्य करते थे, निम्नस्तरीय ब्राह्मण माने जाते थे। मालानी के लोहाना ब्राह्मण निम्नस्तरीय माने जाते थे क्योंकि वे मदिरा पान व मांस सेवन करते थे। वे ब्राह्मण जो किसी के मरने पर भोजन, कपड़ा व अन्य चीजें दान के रूप में स्वीकार करते थे, उनका भी ब्राह्मण समाज में स्थान निम्नतर था। कुछ ब्राह्मण भिखमंगों की भांति भी घूमते रहते थे। ऐसे ब्राह्मणों की समाज में कोई मान्यता नहीं थी।[2]

राजस्थान में सामन्ती व्यवस्था पर आधारित समाज में राजपूत जाति का एक विशिष्ट स्थान था। राज परिवार एवं शासक जाति से सम्बन्ध होने के कारण उनका समाज में काफी वर्चस्व था। उनके पास छोटे-छोटे खेतों से लेकर बड़ी-बड़ी जागीरें थीं। राजकीय प्रशासन एवं सैनिक व्यवस्था में इनका सर्वाधिक योगदान था। 'कान्हड़दे प्रबन्ध' के सुविख्यात लेखक पद्मनाभ ने राजपूत जाति के 36 कुलों का उल्लेख किया है। आलोच्यकालीन लेखक बांकीदास से पता चलता है कि ये कुल अनेक उपकुलों व परिवारों में विभाजित हो गये थे; जैसे, बांसवाड़ा के चौहान मादवत, हयमात, केरिगोत आदि कुलों में विभाजित थे। इसी प्रकार मारवाड़ में राठौड़ों के चांपावत, कूंपावत, जैतावत, उदावत आदि अनेक उपकुल विद्यमान थे। राजपूत सिद्धान्तवादी थे। उनमें शरणागत की रक्षा, वचनबद्धता और कुलाभिमान की भावना बड़ी प्रबल थी। परन्तु धीरे-धीरे राजपूत वर्ग में चारित्रिक कमजोरियां भी उभरने लगी थी। षड्यन्त्र, वैभव एवं विलासिता, अफीम और मद्यसेवन, स्वार्थ-सिद्धि, पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष आदि की प्रवृत्तियां बलवती होती जा रही थीं। 18 वीं

शताब्दी में परिस्थिति-अनुकूल राजस्थान के शासकों ने स्थायी सेना का गठन किया जिसमें मुख्यतः परदेशी सिन्धी, रूहेला, पुरबिया और उन लोगों को भी जो कि असैनिक जातियों के थे, भर्ती किया जाता था। इस व्यवस्था के फलस्वरूप बहुत से राजपूत सैनिक सेवा से वंचित रहे। व्यापार-वाणिज्य एवं धन-सम्पत्ति अर्जित करने के अन्य व्यवसायों में रुचि न होने के कारण अब साधारण राजपूत अपने जीवन-यापन के लिए कृषि-कर्म करने लगा। राजपूत शासक व सामन्तों ने राजपूतों को खेती-सम्बन्धी अनेक रियायतें दीं। अन्य जाति के कृषकों की तुलना में उनसे भूमि-कर कम लिया जाता था। अन्य करों में भी उन्हें छूट दी गई थी।

राजपूत कुलों में एक बात उल्लेखनीय है कि एक कुल चाहे कितना ही बड़ा हो व वहां कितनी ही पीढ़ी बीत चुकी हो, फिर भी उस कुल में शादी सम्बन्ध नहीं हो सकता था। वह कुल एक परिवार के रूप में ही समझा जाता था। जिस प्रकार एक भाई अपनी बहिन से विवाह नहीं कर सकता, उसी प्रकार एक ही कुल के लड़के व लड़की के बीच वैवाहिक सम्बन्ध नहीं हो सकते थे, इसलिए राजपूत लड़की के लिए वर ढूंढ़ना बड़ा कठिन होता था। इसके अतिरिक्त राजपूतों की शादी में लड़की के पिता को दहेज के रूप में बहुत बड़ी धनराशि देनी पड़ती थी। इन सब कठिनाइयों से मुक्त होने के लिए निम्न स्तर के राजपूतों में नवजात लड़की को मार देने की कुरीति प्रचलित हो गई थी।[3]

वैश्यों में भी ब्राह्मणों और राजपूतों की भाँति अनेक जातियाँ एवं उपजातियाँ थीं। इनमें मुख्यतः अग्रवाल, ओसवाल, माहेश्वरी, पोरवाल आदि जातियां थीं। अग्रवाल, डागा, पुगाली, दमानी, मूंदड़ा, राठी आदि उपशाखाओं में विभाजित थे। इसी प्रकार ओसवालों में कोठारी, सिंघवी, भंडारी, सेठ, मेहता आदि उपजातियां थीं। वैश्य समुदाय का प्रमुख कार्य व्यापार-वाणिज्य और लेन-देन था। इनके कुछ प्रमुख परिवार राज्यों के साहूकार तथा बैंकर्स के रूप में भी रहे। कर्नल टॉड ने सेठ जोरावर मल को इन्दौर से बुलाकर उदयपुर राज्य का बैंकर तथा कोषाध्यक्ष नियुक्त किया था। कुछ समृद्ध वैश्य व्यवसायियों ने समय-समय पर जैन मन्दिरों का निर्माण व जीर्णोद्धार करवाकर जैनधर्म की महती सेवा की थी। उन्होंने जन-कल्याण के कार्यों में बड़ी रुचि प्रदर्शित की। उनका इसीलिये राज्यों में मान था। विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों का प्रशासन में उच्च पदों पर नियुक्त किया गया था। राज्यों में हाकिम, दीवान, मुसाहिब, दरोगा, वकील आदि पदों पर अधिकांशतः वैश्य वर्ग के व्यक्ति ही नियुक्त थे। यहां तक कि कभी-कभी वैश्य वर्ग के व्यक्ति सेना-संचालन का काम भी करते थे। मारवाड़ में इन्द्रराज सिंघवी महाराजा मानसिंह के काल में शक्तिशाली दीवान व बख्शी था। अमीरखां ने धोखे से इसकी हत्या करवा दी थी। 18 वीं शताब्दी में कनीराम और अमरचन्द जयपुर राज्य में दीवान पद पर आरूढ़ थे। करौली राज्य में मोजराम और खुबराम पालीवाल वैश्य जाति के

जिन्होंने राज्य में वित्तीय प्रशासन के रूप में अच्छी ख्याति अर्जित की थी। उदयपुर राज्य में मेहताओं का भारी प्रभाव रहा। जैसलमेर में सालिमसिंह मेहता दीर्घकाल तक राजकीय प्रशासन में छाया रहा। बीकानेर राज्य में महाराजा सूरतसिंह के काल में सुराणा अमरचन्द का बड़ा सम्मान था।[4]

आलोच्यकाल में कायस्थों का भी समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान था। मुगलों के सम्पर्क में आने पर राजस्थान के राज्यों में कायस्थों की सेवाओं की आवश्यकता पड़ी। हिसाब-किताब रखने, पत्र-व्यवहार करने आदि में इस जाति ने अच्छी दक्षता दिखाई थी। वे फारसी के अच्छे जानकार, प्रशासनिक कार्यों मे दक्ष और उस समय के मुगल शिष्टाचार से परिचित थे। अवसर आने पर कायस्थों ने योद्धा के रूप मे भी राजकीय सेवा की थी। मेवाड़ में पंचोली एवं सहीवाला परिवार के लोग उच्च पदों पर नियुक्त थे। सहीवाला परिवार के लोग राजकीय पट्टों व परवानों पर 'सही' का विशिष्ट चिह्न अंकित करते थे। इस कार्य को सम्पन्न करने के कारण ही उन्हें सहीवालों की संज्ञा दी गई थी। दस्तूर कौमवार से ज्ञात होता है कि 18 वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे राज्य के महत्त्वपूर्ण पदों पर कायस्थ नियुक्त थे। मारवाड़ में अभयसिंह के समय हैदरकुली के विरुद्ध लड़े गये युद्ध मे पंचोली बालकृष्ण, दोलो, माधो, रूपो आदि ने भाग लिया था।[4] मानसिंह के काल में पंचोली गोपालदास का नाम उल्लेखनीय है। वह एक अच्छा योद्धा और प्रशासक था।[5]

ब्राह्मण और राजपूत जाति के गुणों का सामंजस्य हमें चारण जाति में मिलता है। मध्यकालीन राजस्थान की सामाजिक व्यवस्था में इस जाति का महत्त्वपूर्ण स्थान था। युद्ध में भाग लेने, मदिरा का सेवन करने और शक्ति की उपासना मे यह जाति राजपूत जाति के निकट थी। पठन-पाठन और साहित्यिक रचनाओं के विचार से उसकी साम्यता ब्राह्मणों से की जा सकती है। ब्राह्मणों की तरह चारण दान भी लेता था। चारणों को दान में दी गई जागीर वापिस नही ली जाती थी। 'उदक उथापे ताही उदक लागे नाही' की लोकोक्ति राजस्थान मे सर्वत्र प्रसिद्ध थी। चारण अनेक उपजातियों में विभाजित थे, जैसे, आशिया, सिढ़ायच, मेहडू, महियारिया, बारहठ, दधवाड़िया, रतड़िया, आढा, सांडू, लालस, वीठू, गाडण, कविया, रतनू, उज्ज्वल, रोहड़िया आदि। कुछ चारण जातियां विशेष राजपरिवारों से सम्बन्धित थी। इस सम्बन्ध मे एक दोहा प्रसिद्ध है :—

सांडू ने सीसोदिया, रोहड़ ने राठौड़।
दुरसावत ने देवड़ा, जादव रतन जोड़॥

चारणों की स्वामिभक्ति सदैव उल्लेखनीय रही है। सकटकाल में चारण अपने संरक्षक राजपूत के साथ रहता था और उसके लिए सर्वस्व अर्पित कर देता था। राजपूत स्त्रियां भी संकटकाल में चारण के घर पर रखी जाती थीं जहां उन्हें कोई खतरा नही रहता था। इस सम्बन्ध में एक दोहा इस प्रकार है :—

मात पिता सह बीसरे, बन्धु बीसा रेह ।
सूरा पूरा बातड़ी, चारण चीता रेह ।।

युद्ध और सन्धि के इस युग में चारण जाति के विद्वानों, योद्धाओं और राजकर्मचारियों की बड़ी सेवाएं रही हैं । महाराजा मानसिंह जब जालौर के किले में घिरा हुआ था, उस समय जुगता चारण ने उसकी अभूतपूर्व सेवा की थी ।[6]

भाट चारण जाति से भिन्न थे । चारणों का सम्बन्ध केवल राजपूतों से ही होता था, परन्तु भाट सभी जातियों के होते थे । भाट वंशावली-प्रणेता थे । विभिन्न जातियों की वंशावली इनके पास रहती थी । विवाह के समय इन्हें ईनाम, भेंट आदि मिलती थी । राजपूतों के वैवाहिक सम्बन्ध करवाने में ये मदद करते थे । मांगने के लिए भाट कुख्यात थे । जिन परिवारों से इनका सम्बन्ध था, वे उन्हें प्रसन्न रखने की कोशिश करते थे क्योंकि उन्हें भय रहता था कि कहीं ये भाट उनके बंश के इतिहास को तोड़-मरोड़ कर दूषित न कर दें । ये भाट अपने वंश-व्यवसाय के अतिरिक्त कृषि का कार्य भी करते थे । बून्दी राज्य में भाट व्यापारी थे और वे अपने बैलों पर सामान एक दूसरे स्थान पर ले जाते थे । इसी प्रकार वे मारवाड़ मे पचपदरा से नमक ले जाने का काम करते थे । उन्हें 'बल्दिया भाट' के नाम से सम्बोधित किया जाता था ।[7]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो चुका है कि प्रमुख जातियों को अपने परम्परागत व्यवसाय में जब लाभ नहीं रहा तो वे कृषि का कार्य भी करती थीं, लेकिन कृषि उनका मूल व्यवसाय नहीं था । राजस्थान में कुछ ऐसी जातियां थीं जो पूर्णतया कृषिकर्मी थी । मध्य राजस्थान, जैसलमेर और बीकानेर के जाटों का कृषि ही जीविका का मूल साधन था । भरतपुर के जाट न केवल अच्छे सैनिक ही थे, बल्कि वे खेती के कार्य में भी निपुण थे । मारवाड़ में जाटो से भूमि का अधिक लगान लिया जाता था, क्योंकि वे अच्छे किसान होने के कारण अधिक उपज पैदा करते थे । अरावली के दक्षिण में कुनबी या कुरमी जाति के अच्छे कृषिकार थे । जैतारण के निकट लूनी नदी के क्षेत्र में कलबी जाति के लोग भी अच्छे कृषक माने जाते थे । माली जाति के लोग सब्जी व फल-फूल उत्पन्न करने का व्यवसाय करते थे । यह जाति राजस्थान में सर्वत्र पाई जाती थी । बीकानेर और जोधपुर के माली व्यापार भी करते थे क्योंकि खेती करना उनके लिए लाभप्रद नहीं था । जयपुर और झालावाड़ के कौर, बीकानेर के विश्नोई और झालावाड़ के धाकड़ भी कृषिजीवी थे । सामाजिक अधिक्रम में कृषकों का स्थान श्रमिकों के समतुल्य ही था । गूजर, सीखी और अहीर भी कृषि का कार्य करते थे, परन्तु ये अधिकतर पशु पालन के व्यवसाय मे कार्यरत रहते थे ।[8] रेबारी जाति के लोग बकरी और भेड़ पालते थे । वे ऊंट भी पालते थे । भरतपुर के रेबारी ऊंटों पर सामान एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाने का कार्य करते थे । अहीर-लोग घी का व्यापार करते थे । गूजर जाति की

स्त्रियां राजकुमारों व राजकुमारियों की देख-भाल करने के लिए नियुक्त की जाती थीं। वे धाय कहलाती थीं और इनसे उत्पन्न पुत्रों को राजघरानों में 'धाय-भाई' कहकर सम्बोधित किया जाता था। धाय भाई नगराज महाराणा जगतसिंह का योग्यतम मन्त्री था। मारवाड़ में धाय-भाई जगू महाराजा विजयसिंह का मुख्य सलाहकार था और मुख्य मन्त्री के पद पर नियुक्त था। अन्य राज्यों में भी धाय-भाइयो की विशेष मान्यता रही।[9]

मुगल सम्पर्क के कारण शिल्पी वर्ग की जातियों का महत्त्व काफी बढ़ गया था। वे हस्तशिल्प तथा कुटीर उद्योगों में लगी हुई थीं। शिल्पी वर्ग की जातियों में छीपे, चूड़ीगर, लखारा सुनार, लुहार, घांची तेली, पिंजारा, ठठेरा, कुम्हार, कसाई, कूंजड़े, सिलावट, मोची, नाई, आदि का उल्लेख किया जा सकता है। खाती, लुहार, सुनार, छीपा आदि का समाज मे कुछ ऊंचा स्थान था, जो लगभग जाटों के समकक्ष था।

सामाजिक जीवन की झांकी दासों और अछूतों के वर्णन बिना पूर्ण नहीं मानी जा सकती है। आलोच्यकाल में दासों के लिए दास, दासी, गोला, गोली, चाकर आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता था। भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही दासों का उल्लेख मिलता है, परन्तु तुर्क और मुग़लों के प्रभाव से तो उच्च वर्ग की समृद्धि दासों की संख्या से नापी जाने लगी। विवाह के अवसर पर दास और दासियो को दहेज के रूप मे देने की प्रथा थी। मारवाड़ में एक वर्ग वंश परम्परागत घरेलू नौकरों का था, जिन्हे 'चाकर' या 'गोला' कहते थे। यह वर्ग मुख्यतः राजपूतों की अवैध सन्तानो से बना था। उसमें से जो शासकीय परिवारों से सम्बन्धित थे, उनका समाज मे कुछ ऊंचा स्थान था और वे कभी-कभी किलेदार या दरोगा के पदो पर नियुक्त किये जाते थे, परन्तु उनमे से अधिकांश को अपमानजनक जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य होना पड़ता था। सीढ़ी के सबसे नीचे डंडों पर विभिन्न प्रकार के अछूत थे जैसे—थोरी, मेघवाल, बलाई, रेगर, भंगी, भांभी, चमार आदि। वे समाज मे मलफेन के समान थे और उन्हें अत्यन्त कष्टमय जीवन व्यतीत करना पड़ता था। अछूतों की श्रेणी में एकरूपता नही थी। चमड़े का काम करने वाले थोरी और मेघवाल अपने को भंगियों से श्रेष्ठ मानते थे।[10]

राजस्थान मे आदिवासियो की भी प्रचुरता रही है। सामाजिक [illegible] के दृष्टिकोण से मीणों और भीलो का कोई उच्च स्थान स्वीकृत नही था, प[illegible] के अवसरों पर कई बार राजस्थान के नरेशों को इनकी सहायता लेनी पड़[illegible] कोटा, बून्दी, सिरोही, जहाजपुर और जयपुर के पहाड़ी क्षेत्रो में मीणों का बाहुल्य है। धौलपुर और भरतपुर मे बहुत से मीणे कृषक का कार्य करते थे। करौली के मीणे शान्तिप्रिय थे। बून्दी और मेवाड़ मे वे परिहार मीणों के नाम से जाने जाते थे। मीणों की कुल शाखाएं 36 थी।[11]

भील समाज से बहिष्कृत असभ्य लोग थे जो राजस्थान के बहुत बड़े भूखण्ड पर निवास करते थे। मेवाड़, डूंगरपुर, प्रतापगढ़, सिरोही और बांसवाड़ा में भील अधिक संख्या मे बसे हुए है। इनकी 16 शाखाएं थी। भोगना, पानरवा और जवास के मुख्य भील अपने को राजपूत और भीलों की मिश्रित सन्तान मानते थे। इनके गांव दूर-दूर छोटी-छोटी झोंपड़ियों मे बिखरे हुए थे। वे मांसाहरी थे और सुरापान करते थे। उनमें पारस्परिक झगड़े चलते रहते थे। युद्ध के समय वे मेवाड के शासक की सेवा में उपस्थित होते थे। सुख-शान्ति के समय मे इनका बटोहियो की हिफाजत करने का उत्तरदायित्व था। इसके अतिरिक्त खेती करना और जगली वस्तुओं को एकत्र कर कस्बों और नगरों में बेचना इनका मुख्य धंधा था।[12]

मुसलमानों का भी राजस्थान में स्वतन्त्र अस्तित्व रहा। मध्य राजस्थान, अजमेर और उत्तर-पूर्वी राजस्थान में इनकी अधिक बस्तियां थीं। पश्चिमी तथा दक्षिणी राज्यो में मुसलमानों की संख्या कम थी। धर्म-परिवर्तन के कारण भी कई जातियां इस्लाम धर्म की अनुयायी बन गई थीं। जैसे, शेखावाटी के कायमखानी और मेवात के मेव परिवर्तित जातियां थीं। इनमें कई मान्यताएं और रीति-रिवाज हिन्दुओं के समान ही थे। हिन्दू जातियों के ऊंच-नीच के भेद ने मुसलमानों को भी प्रभावित किया। काजी, सैयद, पठान, कायमखानी आदि अपने को अन्य मुसलमानो से श्रेष्ठ मानते थे। काजी का मुस्लिम समाज में प्रतिष्ठित स्थान था। वह शरीअत के नियमों के आधार पर जाति-सम्बन्धी सभी मामलो को निपटाता था। राजपूत शासकों ने सामान्यतः धार्मिक सहिष्णुता का पालन किया। कतिपय मुसलमानों को तो राजकीय सेवाओं के उपलक्ष में जागीरें भी प्राप्त थी। मुस्लिम संतो को भी राजपूत राज्यों में सम्मान दिया गया। मुसलमान अधिकांशतः दस्तकारी का कार्य करते थे। रंगाई, छपाई, लुहारी, पत्थर-कटाई आदि का कार्य सामान्यतः मुसलमान किया करते थे। कई सम्पन्न मुसलमान परिवारों ने व्यापार-वाणिज्य को अपने जीवन-यापन का साधन बना रखा था। इस युग की यह विशेषता रही कि हिन्दू-मुसलमानों के बीच सहयोग की भावना बनी रही। इस काल में साम्प्रदायिक झगड़ों का उल्लेख नही मिलता।[13]

राजस्थान मे सामान्यतः पितृ-सत्तात्मक पद्धति पर आधारित संयुक्त परिवार प्रथा का ही प्रचलन रहा। भूमि पर परिवार का सामूहिक अधिकार होता था, क्योंकि भूमि जीवन-निर्वाह का प्रमुख आधार थी; इसलिए इसका विभाजन परिवार के सदस्यो के लिए हितकर नही था। परिवार के लोग मिलकर खेती करते थे और इसका लाभ वे संयुक्त परिवार में रहकर ही उठा सकते थे। घरेलू कुटीर-उद्योगों में भी एक से अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती थी। अतः संयुक्त परिवार का बना रहना सभी सदस्यों के लिए लाभप्रद था। इन दो प्रमुख कारणों से ... में परम्परागत रूप से संयुक्त परिवार प्रथा बनी रही।[14]

आलोच्यकालीन हिन्दू समाज में संस्कारों का महत्त्व यथावत् बना हुआ। संस्कारों को कायम रखने में राजपूत राजाओं ने महती भूमिका निभाई थी। नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाह, अन्त्येष्टि आदि संस्कारों का विशेष महत्त्व रहा। इन संस्कारों के आयोजनों में काफी धन व्यय किया जाता था। विवाह जीवन का आवश्यक और पुनीत संस्कार था। विवाह संस्कार का आयोजन बड़े धूम-धाम से सम्पन्न किया जाता था। विविध जातियों में विवाह सम्बन्धी भिन्न-भिन्न नियम होते थे। दहेज की प्रथा न्यूनाधिक रूप से सभी जातियों में विद्यमान थी। राजपूतों में इसका अधिक प्रचलन था। उनके लिए दहेज एक अभिशाप बन गया था। राजपूतों के आय के साधन अब सीमित थे। अतः दहेज के अभाव के कारण राजपूतों में कन्यावध की प्रवृति बढ़ने लगी थी। सवाई जयसिंह ने दहेज और नेग देने पर रोक लगाने का प्रयास किया था, परन्तु उसे इसमें अधिक सफलता नहीं मिली। समाज में अन्तर्जातीय विवाह का प्रचलन न था। अन्तर्जातीय विवाह करने वाले को जाति पंचायत द्वारा जाति-बहिष्कृत कर दिया जाता था। राजपूत, ब्राह्मण, महाजन आदि जातियों में विधवा-विवाह निषेध था, परन्तु जाट, गूजर, माली, कुम्हार आदि व कुछ निम्न स्तरीय जातियों में विधवा-विवाह का प्रचलन था। विधवा-विवाह को 'नाता' कहते थे। विधवा विवाह के पूर्व विधवा के मृतक पति के परिवार वालों से 'फारगती' प्राप्त करना आवश्यक होता था। बहु-विवाह आलोच्यकालीन समाज की एक विशेषता थी। राजपूतों और वैश्यों में इसका अधिक प्रचलन था। राजाओं के रानियों के अतिरिक्त रखैलें, खवासणों व पासवानें भी हुआ करती थीं।

हिन्दू संस्कारों में मृतक संस्कार का एक विशिष्ट स्थान था। [illegible] क्रिया पर राजस्थान की लगभग सभी जातियों में खूब खर्च किया जाता था। बूढ़े की मृत्यु पर उसके निकट के सम्बन्धी भदर (बाल कटवाना) हुआ करते थे। मृतक-भोज पर बहुत बड़ी धनराशि खर्च की जाती थी। निर्धन लोग कर्ज लेकर भी मृतक-भोज का आयोजन करते थे। इस कारण से कभी-कभी वे जीवन भर इस ऋण से मुक्त नहीं हो पाते थे।[15]

सती-प्रथा, कन्या-वध, त्याग, डाकन-प्रथा, औरतों और लड़कियों का क्रय-विक्रय, घरेलू दास-दासियां आदि जैसी सामाजिक कुरीतियां प्रारम्भ से आलोच्यकालीन राजस्थान में विद्यमान थीं। सती-प्रथा का सर्वाधिक प्रचलन राजपूत जाति में था। अपने पति की मृत्यु पर शोकग्रस्त पत्नी स्वेच्छा से उसके साथ जल मरती थी। राजपरिवार में तो सती होना एक अनिवार्य सा हो गया था। कभी-कभी तो मरने वाले शासक की प्रतिष्ठा का माप उसके साथ सती होने वाली पत्नियों व उप-पत्नियों से आंका जाता था। मारवाड़ के महाराजा अजीतसिंह की मृत्यु होने पर कुल मिलाकर 62 या 66 प्राणियों ने चिता में प्रवेश कर

जीवन लीला का अन्त किया था।[16] महाराणा जगतसिंह द्वितीय के साथ बीस स्त्रियां सती हुई थीं।[17] यद्यपि सती-प्रथा को धार्मिक रूप दिया जाने लगा था तथापि नैतिक और न्याय की दृष्टि से इस प्रथा का समर्थन कदापि नहीं किया जा सकता। कन्या-वध का प्रचलन निम्न स्तरीय राजपूत परिवारों तक सीमित था। अर्थाभाव में विवाह योग्य दहेज तथा त्याग की रकम (जो चारण, भाट, ढोली आदि को दी जाती थी) न जुटा पाने के भय से कभी-कभी राजपूत अपनी कन्या का शिशुकाल में ही वध कर देते थे।[18] राजस्थान में कभी-कभी स्त्री को डाकन घोषित कर उसे अमानवीय ढंग से मार डालने की कुप्रथा भी थी। भील और मीणा जातियों में इसका अधिक प्रकोप था। स्त्रियों और बालक-बालिकाओं का क्रय-विक्रय हुआ करता था। कुछ राज्यों में तो इनका व्यापार वैध समझा जाता था। यहां तक कि इनके क्रय-विक्रय पर राज्य कर वसूल किया करता था।[19] लड़कियों की खरीद के अनेक कारण थे। राजपूत अपनी पुत्री के विवाह के समय दहेज के रूप में गोला-गोली (दास-दासी) दिया करते थे। कुछ सम्पन्न लोग इन्हें रखैलों के रूप में रखने के लिए इनकी खरीद करते थे। कई वैश्याएं अनैतिक धंधा करवाने के लिए लड़कियों की खरीद करती थीं। लड़कों की खरीद साधु लोग अपना चेला बनाने के लिए किया करते थे। राजस्थान के राज्यों में वैश्यावृत्ति परम्परागत रूप से चलती रही। संगीत और नृत्य में प्रवीण वेश्याओं को राज्य की ओर से संरक्षण प्राप्त था और जयपुर राज्य में उन्हें राजकोष से नियमित रूप से कुछ धनराशि देना निश्चित था।[20] राजस्थान में, विशेषकर राजपूत जाति में, घरेलू दासों की प्रथा प्रचलित थी। ये घरेलू दास-दासियां सामान्यतः राजपूतों की अवैध संतानें थीं। वे अपने स्वामी की वंशानुगत सेवकों के रूप में सेवा करते थे। इन्हें गोला, गोली, दारोगा, चाकर, दास, खानजादा आदि शब्दों से सम्बोधित किया जाता था। स्त्रियों को गोली, डावरी, वडारन, बाई आदि नाम से पुकारते थे। इनमें से कुछ पड़दायत का स्थान प्राप्त कर लेती थीं। यदि राजा प्रसन्न होकर उसे हाथ-पैर में सोने के आभूषण पहिनने की स्वीकृति दे देता तो उसका पद व सम्मान बढ़ जाता था। उसे अब पासवान व ख्वासन का पद मिल जाता था। उत्सव आदि अवसर पर उनके बैठने का स्थान ठीक रानियों के नीचे रहता था। मारवाड़ के शासक महाराजा विजयसिंह की पासवान गुलाबराय का राजनीति में बड़ा वर्चस्व था।[21] इन सबका राजमहल में चाहे सम्मान व प्रभाव रहा, परन्तु सामाजिक दृष्टि से उनकी कोई प्रतिष्ठा नहीं थी।

आलोच्यकालीन समाज में आमोद-प्रमोद के अनेक साधन प्रचलित थे। चौपड़, शतरंज, गंजीफा आदि ऐसे खेल थे जो महलों व घरों में खेले जाते थे। गंजीफा एक प्रकार का ताशों का खेल था।[22] चर-भरव, नाहर-डाली मजदूरों व सामान्य लोगों के खेल थे। कुश्ती, पट्टे-बाजी, तैरना, घुड़दौड़, हिंसक पशुओं की

आलोच्यकालीन हिन्दू समाज में संस्कारों का महत्त्व यथावत् बना रहा। संस्कारों को कायम रखने में राजपूत राजाओं ने महती भूमिका निभाई थी। नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाह, अन्त्येष्टि आदि संस्कारों का विशेष महत्त्व रहा। इन संस्कारों के आयोजनों में काफी धन व्यय किया जाता था। विवाह जीवन का आवश्यक और पुनीत संस्कार था। विवाह संस्कार का आयोजन बड़े धूम-धाम से सम्पन्न किया जाता था। विविध जातियों में विवाह-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न नियम होते थे। दहेज की प्रथा न्यूनाधिक रूप से सभी जातियों में विद्यमान थी। राजपूतो मे इसका अधिक प्रचलन था। उनके लिए दहेज एक अभिशाप बन गया था। राजपूतों के आय के साधन अब सीमित थे। अतः अर्थाभाव के कारण राजपूतों में कन्यावध की प्रवृति बढने लगी थी। सवाई राजा जयसिंह ने दहेज और नेग देने पर रोक लगाने का प्रयास किया था, परन्तु उसे इसमें अधिक सफलता नही मिली। समाज में अन्तर्जातीय विवाह का प्रचलन नही था। अन्तर्जातीय विवाह करने वाले को जाति पंचायत द्वारा जाति-बहिष्कृत कर दिया जाता था। राजपूत, ब्राह्मण, महाजन आदि जातियों में विधवा-विवाह का निषेध था, परन्तु जाट, गूजर, माली, कुम्हार आदि व कुछ निम्न स्तरीय जातियो मे विधवा-विवाह का प्रचलन था। विधवा-विवाह को 'नाता' कहते थे। विधवा-विवाह के पूर्व विधवा के मृतक पति के परिवार वालों से 'फारगती' प्राप्त करना आवश्यक होता था। बहु-विवाह आलोच्यकालीन समाज की एक विशेषता है। राजपूतों और वैश्यों मे इसका अधिक प्रचलन था। राजाओं के रानियों के अतिरिक्त रखैलें, खवासणों व पासवानें भी हुआ करती थीं।

हिन्दू संस्कारों मे मृतक संस्कार का एक विशिष्ट स्थान था। अन्त्येष्टि-क्रिया पर राजस्थान की लगभग सभी जातियों मे खूब खर्च किया जाता था। बड़े-बूढे की मृत्यु पर उसके निकट के सम्बन्धी भदर (बाल कटवाना) हुआ करते थे। मृतक-भोज पर बहुत बड़ी धनराशि खर्च की जाती थी। निर्धन लोग कर्ज लेकर भी मृतक-भोज का आयोजन करते थे। इस कारण से कभी-कभी वे जीवन भर इस ऋण से मुक्त नहीं हो पाते थे।[15]

सती-प्रथा, कन्या-वध, त्याग, डाकन-प्रथा, औरतों और किशोरियों का क्रय-विक्रय, घरेलू दास-दासियां आदि जैसी सामाजिक कुरीतियां परम्परागत रूप से आलोच्यकालीन राजस्थान मे विद्यमान थीं। सती-प्रथा का सर्वाधिक प्रचलन राजपूत जाति में था। अपने पति की मृत्यु पर शोकग्रस्त पत्नी स्वय पति के शव के साथ जल मरती थी। राजपरिवार मे तो सती होना एक अनिवार्यता हो गई थी। कभी-कभी तो मरने वाले शासक की प्रतिष्ठा का माप उसके शव के साथ जलने वाली पत्नियों व उप-पत्नियों से आंका जाता था। मारवाड़ के महाराजा अजीतसिंह की मृत्यु होने पर कुल मिलाकर 62 या 66 प्राणियों ने चिता में प्रवेश कर अपनी

जीवन लीला का अन्त किया था ।[16] महाराणा जगतसिंह द्वितीय के साथ बीस स्त्रियां सती हुई थी ।[17] यद्यपि सती-प्रथा को धार्मिक रूप दिया जाने लगा था तथापि नैतिक और न्याय की दृष्टि से इस प्रथा का समर्थन कदापि नहीं किया जा सकता । कन्या-वध का प्रचलन निम्न स्तरीय राजपूत परिवारों तक सीमित था । अर्थाभाव में विवाह योग्य दहेज तथा त्याग की रकम (जो चारण, भाट, ढोली आदि को दी जाती थी) न जुटा पाने के भय से कभी-कभी राजपूत अपनी कन्या का शिशुकाल में ही वध कर देते थे ।[18] राजस्थान में कभी-कभी स्त्री को डाकन घोषित कर उसे अमानवीय ढंग से मार डालने की कुप्रथा भी थी । भील और मीणा जातियों में इसका अधिक प्रकोप था । स्त्रियों और बालक-बालिकाओं का क्रय-विक्रय हुआ करता था । कुछ राज्यों में तो इनका व्यापार वैध समझा जाता था । यहां तक कि इनके क्रय-विक्रय पर राज्य कर वसूल किया करता था ।[19] लड़कियों की खरीद के अनेक कारण थे । राजपूत अपनी पुत्री के विवाह के समय दहेज के रूप मे गोला-गोली (दास-दासी) दिया करते थे । कुछ सम्पन्न लोग इन्हें रखैलों के रूप में रखने के लिए इनकी खरीद करते थे । कई वैश्याएं अनैतिक धंधा करवाने के लिए लडकियों की खरीद करती थीं । लड़कों की खरीद साधु लोग अपना चेला बनाने के लिए किया करते थे । राजस्थान के राज्यों में वैश्यावृत्ति परम्परागत रूप से चलती रही । संगीत और नृत्य में प्रवीण वेश्याओं को राज्य की ओर से सरक्षण प्राप्त था और जयपुर राज्य में उन्हे राजकोष से नियमित रूप से कुछ धनराशि देना निश्चित था ।[20] राजस्थान मे, विशेषकर राजपूत जाति में, घरेलू दासों की प्रथा प्रचलित थी । ये घरेलू दास-दासिया सामान्यतः राजपूतो की अवैध संतानें थीं । वे अपने स्वामी की वंशानुगत सेवको के रूप मे सेवा करते थे । इन्हें गोला, गोली, दारोगा, चाकर, दास, खानजादा आदि शब्दों से सम्बोधित किया जाता था । स्त्रियों को गोली, डावरी, बड़ारन, बाई आदि नाम से पुकारते थे । इनमे से कुछ पड़दायत का स्थान प्राप्त कर लेती थी । यदि राजा प्रसन्न होकर उसे हाथ-पैर में सोने के आभूषण पहिनने की स्वीकृति दे देता तो उसका पद व सम्मान बढ़ जाता था । उसे अब पासवान व ख्वासन का पद मिल जाता था । उत्सव आदि अवसर पर उनके बैठने का स्थान ठीक रानियो के नीचे रहता था । मारवाड़ के शासक महाराजा विजयसिंह की पासवान गुलाबराय का राजनीति मे बड़ा वर्चस्व था ।[21] इन सबका राजमहल में चाहे सम्मान व प्रभाव रहा, परन्तु सामाजिक दृष्टि से उनकी कोई प्रतिष्ठा नही थी ।

आलोच्यकालीन समाज में आमोद-प्रमोद के अनेक साधन प्रचलित थे । चोपड़, शतरंज, गंजीफा आदि ऐसे खेल थे जो महलों व घरों मे खेले जाते थे । गंजीफा एक प्रकार का ताशों का खेल था ।[22] चर-भरव, नाहर-दाली मजदूरों व सामान्य लोगों के खेल थे । कुश्ती, पट्टे-बाजी, तैरना, घुड़दौड़, हिंसक पशुओं की

लड़ाइयों जिनमें हाथियों, शेरों, सूअरों, भैंसों आदि की लड़ाइयां प्रमुख थी का आयोजन किया जाता था। इन अवसरों पर बालक, युवा, वृद्ध, स्त्रियां सभी दर्शक के रूप में एकत्र होते थे और वे आनन्द का अनुभव करते थे। पतंगबाजी, कबूतरबाजी और मुर्गों की लड़ाई अधिक लोकप्रिय थी। नाचने, गाने, वाद्य यन्त्रों को बजाने, झूलने आदि मे नगरवासी और ग्रामवासी बड़े हर्ष व उल्लास के साथ भाग लेते थे। नटों और भांडों द्वारा आयोजित खेल, रास, गवरी आदि लोगों के लिए मनोरंजन के साधन थे। उदयपुर राज्य में आदिवासी भील रक्षाबन्धन के दूसरे दिन से लोक नाट्य 'गवरी' खेल का आयोजन करते थे जो लगभग सवा महीने तक चलता रहता था। राजा-महाराजा और सामन्त वर्ग के लोगों के लिए शिकार खेलना आमोद-प्रमोद का प्रमुख साधन था। त्यौहार में गणगौर, श्रावणी तीज, होली, अक्षय तृतीया, रक्षाबन्धन, नवरात्री, दशहरा, दीपावली तथा अन्य धार्मिक पर्वों को बहुत हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता था। इनमें से कुछ उत्सव राज्य की तरफ से आयोजित होते थे जहां राजा और प्रजा के बीच सम्पर्क के अवसर मिलते थे।[23] इन त्यौहारों मे सभी वर्गों और सभी धर्मों के लोग सम्मिलित होते थे। मुस्लिम समाज के लोग भी मुहर्रम, बारा-वफात, ईद-उल-फितर ईद-उल्-जुहा आदि त्यौहार बड़ी तड़क-भड़क के साथ मनाया करते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों एक दूसरे के त्यौहारो के प्रति सहिष्णु थे और उनमे यथासम्भव भाग लेते थे। हिन्दू लोग ताजिये के नीचे से अपने बच्चो को निकालना शुभ मानते थे। अजमेर और नागौर में आयोजित उर्सों में हिन्दू लोग भी सम्मिलित होते थे।[24]

सामाजिक जीवन की जानकारी हेतु उस युग के लोगों के वस्त्राभूषण, प्रसाधन और पेय का परिज्ञान होना आवश्यक है। गरीब लोग ऊंची धोती पहनते और सिर पर पोतिया बांधते थे। भील व अन्य आदिवासी तो एक लंगोटी से ही काम चलाते थे। मध्य वर्ग के लोग धोती, अंगरखी, दुपट्टा, साफा या पगड़ी, जांघिया आदि सूती वस्त्र पहनते थे। पछेवड़ा का प्रयोग भी करते थे। राजा, महाराजा, सामन्त और सम्पन्न लोग बड़ी धोती, लम्बी अंगरखी तथा मौसम व ऋतु के अनुकूल रंग-बिरंगी पगड़ियां पहनते थे पगडियां बांधने का ढंग विभिन्न राज्यों में अलग-अलग होता था। इनको उदयशाही, अमरशाही, खंजरदार, खंगेदार, शाहजहानी पाग आदि नामो से सम्बोधित किया जाता था। अंगरखी पर सोने-चांदी व कसीदे का काम किया जाता था। मुगलो के सम्पर्क में आने के पश्चात् जामा, कमरबन्ध और पाजामा पहनना आरम्भ कर दिया गया था। सम्पन्न लोग दुपट्टा या शाल आदि का भी प्रयोग करते थे। पुरुष स्त्रियों की भांति आभूषण पहनते थे। उच्च वर्ग के लोग कानों में कुंडल, हाथों में कड़े, गले में हार और अंगुलियों में अंगुठी पहनते थे। सम्पन्न लोगों के सोने और सामान्य लोगों के चांदी व पीतल के आभूषण हुआ करते थे। स्त्रियां घेरदार अधोवस्त्र, जिसे लंहगा कहते थे, पहनती थी और उनकी लम्बी आस्तीन

वाली उदर तक ढकने वाली कुर्ती तथा अंगरखी सामान्य वस्त्र होते थे । साड़ी का प्रयोग भी स्त्रियां करती थीं । उत्सवों पर वे बेल-बूटेदार और चमकीले वस्त्रों का प्रयोग करती थीं । आभूषण तो उनके शृंगार के अनिवार्य रूप में थे । उनका कोई भी अंग आभूषण से खाली नहीं रहता था । शुभ अवसर पर हाथों और पैरों में मेंहदी लगाने का स्त्रियों में रिवाज था । आंखों में अंजन और ललाट पर सिन्दूर की टीकी लगाना शुभ व सौन्दर्यवर्द्धक माना जाता था ।

राजस्थान के लोग शाकाहारी और मांसाहारी दोनों ही थे । हिन्दू सामान्यतः शाकाहारी हुआ करते थे । गरीब लोगों का मुख्य भोजन राब, सोगरा, रोटी, मक्के की घाट आदि थे । भोजन के साथ मट्ठे का प्रयोग अधिक था । उत्सवों और शादियों के समय गुड़ और गुड़ से तैयार किये गये पकवानों (लापसी) का प्रयोग किया करते थे । बाजरा, मक्की, मोठ, ज्वार, जौ और उड़द तथा मूंग की दाल उनके मुख्य खाद्यान्न थे । मजदूर वर्गों और राजपूतों में शराब और अफीम का प्रचलन अधिक था । अक्षय तृतीया पर गांवों में अफीम की मनुवार सर्वत्र हुआ करती थी । मुगल प्रभाव के फलस्वरूप हुक्का पीने का रिवाज-सा बन गया था । ब्राह्मण व वैश्य वर्ग के कुछ लोग भंग पीने के आदि होते थे । मध्यम वर्ग के लोग गेहूं, घी, गुड़ आदि का प्रयोग करते थे । विवाह आदि अवसरों पर सम्पन्न लोगों के यहां विभिन्न प्रकार की मिठाइयां व व्यंजन तैयार किये जाते थे । मुगलों के सम्पर्क में आने पर सम्पन्न लोग पुलाव, मुरब्बा, कचौरी, खुरासानी खिचड़ी, कबूली आदि का प्रयोग करने लगे थे ।[25]

अंग्रेजों के सम्पर्क में आने तक राजस्थान में सामान्यतः प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति प्रचलित रही जिसका लक्ष्य ज्ञान, व्यक्तिगत कल्याण और जीविका-निर्वाह के साधन उपलब्ध करवाना रहा । इसके साथ ही नैतिक तथा आध्यात्मिक ध्येय भी रहा । बालक की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही होती थी । व्यावसायिक शिक्षा तो घरेलू शिक्षा की ही देन थी । एक कुशल दस्तकार व शिल्पकार अपने पुत्र को घर पर अपने कौशल की शिक्षा देता था जिससे परम्परागत रूप से पैतृक व्यवसाय चलता रहता था । खेती तथा वाणिज्य सम्बन्धी शिक्षा इसी पद्धति से प्राप्त की जाती थी । घनी बस्तियों में शिक्षा के केन्द्र होते थे जहां गुरु अपने शिष्यों को शिक्षित किया करते थे । शिक्षकों को अपने तरीके से शिष्यों को शिक्षा देने की स्वतन्त्रता थी । गुरु शिष्यों से शुल्क नहीं लेता था । शिष्य गुरु की सेवा में रत रहता था । गुरु की आवश्यकताओं की पूर्ति सम्पन्न लोगों द्वारा कर दी जाती थी । सरकार की ओर से भी समय-समय पर शिक्षण-संस्थाओं को आर्थिक एवम् भूमि अनुदान प्राप्त होता रहता था । विद्यार्थी 15 या 18 वर्ष की आयु तक अपनी शिक्षा समाप्त कर लेता था । पढ़ने-पढ़ाने के विषयों में वेद शास्त्र, नीति, मीमांसा, धर्मशास्त्र, कर्मकाण्ड, पुराण, ज्योतिष, गणित साहित्य, व्याकरण आदि प्रमुख थे । संगीत, नृत्य, चित्रकला, चिकित्सा आदि की

सिखलाई करवाई जाती थी। उच्च शिक्षित लोगों को पंडित, उपाध्याय, महामहोपाध्यक्ष, ग्राचार्य ग्रादि सम्मानसूचक पदवियों से विभूषित किया जाता था। उन्हें राज-दरबार में बहुत सम्मान मिलता था। इस काल मे ग्रनेक विद्वान पंडितो ने साहित्य सर्जन किया जिसका उल्लेख ग्रागे किया जायेगा। इन गुरु-शिक्षाकेन्द्रों के ग्रतिरिक्त जैन उपासरो में भी समुचित शिक्षा देने का प्रावधान रहता था। मठो व मन्दिरों मे भी शिक्षा देने का प्रबन्ध किया जाता था। गांवों तथा कस्बों में जगह-जगह पाठशाला, पोशाल ग्रादि होते थे जहां सामान्यतः बच्चों को प्राथमिक शिक्षा प्राप्त हो जाती थी। इन संस्थाग्रो को चलाने का दायित्व स्थानीय जनता का होता था। खेती व व्यवसाय से उपार्जन का कुछ भाग पाठशालाग्रों के ग्रध्यापकों को दिया जाता था। स्त्रियों को शिक्षा दी जाती थी परन्तु शिक्षित स्त्रियों की संख्या बहुत कम थी। उनकी शिक्षा घर पर ही सम्पन्न होती थी।[26]

धर्म

ग्रालोच्यकालीन राजस्थान में परम्परागत रूप से वैदिक व पौराणिक धर्म का व्यापक रूप से प्रचलन रहा। शैव, वैष्णव व शाक्त धर्म की समान रूप से हिन्दू समाज में मान्यता रही। मेवाड़ मे शैव सम्प्रदाय ग्रधिक लोकप्रिय रहा। वहा लकुलीश, पाशुपत, कापालिक, लिंगायत ग्रादि सभी शैव सम्प्रदायो का प्रचलन था। खाखी, सिद्ध, नागा ग्रादि भी शैव थे। राजस्थान मे कई स्थानों पर उनके मठ व ग्रखाड़े बने हुए थे। मेवाड़ के महाराणा के कुलदेव एकलिंग महादेव थे। मेवाड़ के शासक ग्रपने को एकलिंग महादेव का दीवान कहते थे। मारवाड़ में महाराजा मानसिंह के काल मे नाथ-सम्प्रदाय का बड़ा बोलबाला रहा। इसे राज्याश्रय प्राप्त था ग्रौर राजकीय पत्रों पर 'जलंधरनाथ साय छै' लिखा रहता था। वि० सं० 1862 के श्रावण की ग्रमावस्या के दिन मानसिंह की ग्राज्ञा से महामन्दिर में प्रति वर्ष जलंधरनाथ की प्रतिष्ठा में एक मेले का ग्रायोजन किया जाता था।[27]

मातृदेवी की कई नामो से ग्राराधना की जाती थी; यथा—भवानी, दधिमती, चंडिका, ग्रम्बा माता, महिषासुरमर्दिनी, पार्वती, लक्ष्मी, सरस्वती, ग्रम्बिका, काली, दुर्गा ग्रादि। बाणमाता मेवाड़ राजपरिवार की कुलदेवी थी। करणीजी, नागणेची ग्रौर ग्रन्नपूर्णा की क्रमशः बीकानेर, जोधपुर ग्रौर जयपुर राजघरानो में ग्रत्यधिक मान्यता रही। इसी प्रकार स्वागिया देवी (ग्राईनाथ) जैसलमेर के भट्टियो की कुलदेवी के रूप में पूजी जाती थी। जैसलमेर क्षेत्र के गांव-गांव तथा कोने-कोने में विभिन्न नामों से देवियों के मन्दिर व थान थे। जैसलमेर राज्य में लक्ष्मी, सरस्वती ग्रौर पार्वती की पूजा सामान्यतः सभी हिन्दू परिवार के लोग किया करते थे। वहां देवी-पूजा लोगो के धार्मिक जीवन का एक प्रमुख ग्रंग बन चुका था।[28]

वैष्णव धर्म का भी, विशेषकर श्रीनाथजी और द्वारकाधीश का, क्रमशः नाथद्वारा और कांकरोली में आगमन होने पर मेवाड़ में काफी प्रभाव बढ़ गया था। वहां पुष्टि-मार्ग का प्रचार अधिक रहा। राम की पूजा वैष्णव धर्म का अंग मात्र थी। आलोच्यकालीन मेवाड़ के राजपत्रों, ताम्रपत्रों आदि पर 'श्रीरामोजयति', 'श्रीरामजी' एवं 'रामार्पण' शब्दों का प्रयोग किया गया है। बांसवाड़ा और जयपुर राज्यों में भी राजपत्रों पर 'श्रीरामजी' व 'सीतारामजी' लिखा जाता था। मारवाड़ के महाराजा विजयसिंह के काल में वल्लभ सम्प्रदाय को अधिक प्रोत्साहन मिला। महाराजा विजयसिंह परम वैष्णव थे और उन्होंने वि० सं० 1817 (1760 ई.) में जोधपुर नगर में गगश्यामजी का विशाल मन्दिर बनवाया था। किशनगढ़ और कोटा राज्यों में भी वैष्णव धर्म का बड़ा प्रभाव रहा। जैसलमेर के शासक लक्ष्मीनाथजी को राज्य का स्वामी तथा अपने को दीवान मानते रहे। वि. सं. 1835 में महारावल मूलराज ने श्रीगिरधारी, बांकेबिहारी आदि ग्यारह स्वरूपों के मन्दिर का निर्माण करवाया था। कृष्णलीला-सम्बन्धी अनेक चित्र-ग्रन्थों की रचना की गई जो उदयपुर के सरस्वती भण्डार, कोटा के संग्रहालय तथा जोधपुर के पुस्तक-प्रकाश में सुरक्षित है।[29]

शिव, शक्ति और विष्णु पूजा के साथ-साथ राजस्थान में सूर्य, गणेश, हनुमान, भैरव आदि देवताओं की भी मान्यता रही है। गांव-गांव में इनके मन्दिर देखने में आते हैं। प्रत्येक शुभ कार्य के आरम्भ में गणेश-पूजा प्रायः अनिवार्य थी। राजस्थान के कई स्थानों पर गोवर्द्धन प्राप्त हुए हैं, जिनके शीर्ष पर चतुर्दिक सूर्य, गणेश, शिव-पार्वती और विष्णु की प्रतिमाओं के अंकन की परम्परा रही है। हिन्दू लोग अपने धार्मिक क्रिया-कलापों, व्रत-उपवासों व तीर्थ यात्राओं में अधिक रुचि रखते थे। दान देने की बड़ी महत्ता थी। चन्द्रग्रहण तथा सूर्यग्रहण तथा दुर्भिक्ष के समय, श्राद्ध पक्ष में, एकादशी, अमावस्या आदि दिनों पर दान देना व गरीबों को भोजन कराना धार्मिक कर्त्तव्य समझा जाता था। मारवाड़ के महाराजा मानसिंह के दीवान इन्द्रराज सिंघवी ने पुष्कर की तीर्थयात्रा के समय दान में बहुत-सा द्रव्य दिया, गरीबों को भोजन करवाया, उनमें वस्त्र बांटे और माघ बदी 30 को अनेक धार्मिक कृत्य सूर्यग्रहण के बुरे प्रभाव को दूर करने के लिए सम्पन्न किये। ब्राह्मणों की कन्याओं के विवाह व बालकों के यज्ञोपवीत के समय राजा लोग उन्हें दान-स्वरूप धनराशि दिया करते थे। राजाओं द्वारा तुलादान की व्यवस्था की जाती थी। सम्पन्न लोग जगह-जगह सदावर्त चलाते थे। नवरात्रा, रामनवमी, दशहरा, जन्माष्टमी, गणेश चतुर्थी, देव झूलनी एकादशी, शीतलाष्टमी आदि को धार्मिक पर्व के रूप में बड़े धूम-धाम से आयोजित किया जाता था। इन अवसरों पर मेले भी लगते थे।[30]

राजस्थान में वैश्य वर्ग जैन धर्म से अधिक प्रभावित था। यद्यपि राजपूत शासक जैन धर्म के अनुयायी नहीं रहे, तथापि उन्होंने जैन धर्म के प्रति सहिष्णुता का दृष्टिकोण अपनाया था। जैन साधुओं को सम्मान दिया जाता था और जैन-मन्दिरों तथा उपासकों के लिए राजकीय अनुदान दिये जाने की व्यवस्था रहती थी। राजस्थान मे दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायों की मान्यताएं रहीं। जैन धर्म के खरतरगच्छ, तपागच्छ, सण्डेरगच्छ, लुकागच्छ, सगरगच्छ आदि अधिक सक्रिय रहे। इनके तत्वावधान मे विभिन्न स्थानों पर उपवास और उत्सवों के आयोजन होते रहते थे। राजस्थान में जैन धर्म के मुख्य केन्द्र जैसलमेर, नाडोल, आमेर, धुलेव, रणकपुर, नाडलाई, विक्रमपुर, आबू, सिरोही, केसरियानाथ आदि थे जहा बहुत बड़ी संख्या में जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ था। आलोच्यकाल में श्वेताम्बर जैनधर्म की स्थानकवासी शाखा में एक नये पंथ का उदय हुआ। जोधपुर राज्य के कंटालिया ग्रामवासी भीखणजी जिन्होंने जैन आगमों (जैन शास्त्रों) का गहराई से अध्ययन किया था, 1760 ई. मे तेरापंथ की स्थापना की थी और उन्होने जीवनपर्यन्त इस पंथ का प्रचार किया। मेवाड़ के राजनगर और केलवा क्षेत्र में तेरापंथ का अत्यधिक प्रभाव रहा।[31] आज भी आचार्य तुलसी के नेतृत्व में इस पंथ की प्रसिद्धि सर्वत्र फैल रही है।

राजस्थान में कुछ ऐसे व्यक्ति व सन्त हुए हैं जिन्होंने त्याग और आत्म-बलिदान से अपने देश की सेवा की या नैतिक जीवन का निर्वाह किया जिसके कारण वे देवत्व को प्राप्त हुए। उनकी पूजा की जाने लगी। ऐसे लोकप्रिय देवों में गोगाजी, रामदेवजी, तेजाजी, पाबूजी, मल्लिनाथ, देवजी आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इनके प्रति दृढ़ निष्ठा ने सहस्रों साधारण स्तर के नर-नारियों को, विशेषकर ग्रामीण जनता को सन्मार्ग पर चलने के लिए उत्प्रेरित किया। उनके नाम पर मेलो का आयोजन किया जाता था। उदाहरणार्थ, भाद्रपद सुदी अष्टमी को जैसलमेर राज्य में रामकुण्ड स्थान पर गोगाजी का मेला लगता था। बीकानेर राज्य मे नोहर के पास गोगामेड़ी स्थान पर भी गोगाजी का विशाल मेला लगता था। रामदेव का प्रसिद्ध स्थान रामदेवरा (रूणेचा) है, जहां पर इनका विराट मन्दिर है। वहां प्रति वर्ष भाद्रपद में एक बड़ा मेला लगता था जहां लाखों की सख्या मे लोग मारवाड़, मेवाड़, सिरोही, बीकानेर, गुजरात, मालवा, सिन्ध, जैसलमेर आदि स्थानों से रामदेव बाबा के दर्शनार्थ एकत्र होते थे। इसी प्रकार मालानी में मल्लिनाथ का भी मेला लगता था। इनके अतिरिक्त धन्ना, कबीर, रैदास, मीरांबाई और दादू जैसे सन्त-साध्वियों की राजस्थान के जनमानस पर अमिट छाप अंकित थी। उनकी वाणी व कविताए बड़ी श्रद्धा व निष्ठा के साथ पढ़ी व सुनी जाती थी। आज भी रैदास, कबीर, मीरां और दादू के भक्तों की राजस्थान में पर्याप्त संख्या है।[32]

नागौर परगने के पीपासर गांव में उत्पन्न पंवार राजपूत वंशीय जाम्भोजी ने 15वीं शताब्दी में अपनी 29 शिक्षाओं के आधार पर विश्नोई सम्प्रदाय का प्रतिपादन किया था। आलोच्यकालीन राजस्थान में इनके अनुयायियो की संख्या काफी थी जिनमें अधिकांश जाट जाति के लोग थे। वे अपना एक पृथक् अस्तित्व रखने लगे थे।[33]

18वीं शताब्दी में जयपुर राज्य के अन्तर्गत सोडा (सूरसेन) नामक गांव में वैश्य कुल में उत्पन्न रामचरणजी (बचपन का नाम रामकृष्ण था) ने रामस्नेही सम्प्रदाय की स्थापना की। उन्होंने अपना मुख्य मठ शाहपुरा में बनाया। इसके बाद वे निरन्तर राम नाम पावन मन्त्र के प्रचार में संलग्न रहे। कई स्थानों पर इनके मठ बने जहां रामस्नेही साधु रहने लगे और इस सम्प्रदाय की प्रगति होने लगी। इस सम्प्रदाय के साधु गुलाबी रंग की पोशाक पहनते हैं तथा दाढ़ी, मूंछ और सर के बाल नही रखते। इस सम्प्रदाय मे मूर्ति-पूजा नहीं की जाती। इस सम्प्रदाय में नैतिक आचरण, सत्यनिष्ठा और धार्मिक अनुशासन पर बल दिया गया है। स्वामी जी के जीवन काल में ही सहस्रों की संख्या मे उनके अनुयायी बन गये थे। रामस्नेहियों की तीन अन्य परम्पराएं पृथक् रूप से इसी युग में विकसित हुई थी। रैण (मारवाड़ में मेड़ता के पास) रामस्नेही सम्प्रदाय के प्रवर्तक दरियावजी (वि. सं. 1733-1815) थे। सीथल (बीकानेर राज्य) में रामस्नेही गद्दी के संस्थापक हरिरामदासजी (स्वर्गवास वि. सं. 1835) थे। खेड़ापा (मारवाड़) रामस्नेही शाखा की स्थापना रामदासजी (वि. सं. 1783-1855) द्वारा की गई थी। ये सभी निर्गुण उपासक थे। उन्होने बाह्य आडम्बरों की भर्त्सना की है। इस प्रकार हिन्दू धर्म के अन्तर्गत रामस्नेही सम्प्रदाय पल्लवित होने लगा। इनमे खेड़ापा पीठ का विशेष महत्त्व रहा। जैसलमेर राज्य में रामस्नेही सम्प्रदाय का प्रसार इसी मठ के माध्यम से हुआ था।[34]

उपर्युक्त विवरण में यह स्पष्ट है कि राजस्थान की हिन्दू जनता धर्मनिष्ठ व धर्मानुरागी थी। समाज में एक आध्यात्मिक स्तर स्थापित हुआ। नये साहित्य का सर्जन हुआ तथा शांति का मार्ग प्रशस्त किया जा सका।

अजमेर इस्लाम धर्म का मुख्य केन्द्र था जहां से जालौर, नागौर, माण्डल, चित्तौड़ आदि स्थानों मे इसका प्रसार हुआ। प्रारम्भ में लोगों को इस्लाम धर्म स्वीकार करवाने के लिए बल प्रयोग किया गया था और हिन्दू मन्दिरों को तोड़ने के उदाहरण भी मिलते हैं; परन्तु दीर्घ काल से हिन्दू व मुसलमानों के एक साथ रहने पर उनमें एक-दूसरे के प्रति सहयोग, सहकारिता व आदान-प्रदान की स्थिति बनने लगी। राजस्थान के राजाओ ने मुस्लिम दस्तकारों को प्रश्रय दिया, मुस्लिम सैनिकों को राजकीय सेना मे स्थान दिया और मुस्लिम व्यापारियों को सुविधाएं प्रदान की। काजियो को राजकीय सम्मान व मान्यता दी गई तथा उन्हें जागीरें भी

इनायत हुई । महाराणा जगतसिंह द्वितीय ने अजमेर दरगाह को चार गांव जागीर में दिये थे । इसी प्रकार मारवाड़ के शासक अजीतसिंह ने दरगाह के खर्चे के लिए अनुदान देने की व्यवस्था की थी । इन सब कारणों से आलोच्यकाल में हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य जैसी स्थिति नहीं रही । मुस्लिम फकीर दीन दरवेश ने अपनी रचनाओं के माध्यम से सांसारिक अनित्यता, पाखण्ड, जाति-भेद, धार्मिक कट्टरता आदि की भर्त्सना की थी । ऐसे सन्त की शिक्षाओं का समाज पर प्रकाश पड़ना स्वाभाविक ही था ।[35]

आर्थिक व्यवस्था—मानव जीवन में अर्थ का सदैव महत्त्व रहा है । अतः आलोच्यकालीन आर्थिक-व्यवस्था पर विहंगम दृष्टि डालना समीचीन ही होगा । इसके अन्तर्गत कृषि, व्यापार, वाणिज्य, उद्योग-धन्धे, नौकरी आदि विविध पहलुओं पर विचार किया जायेगा ।

उस समय राजस्थान में अधिकांश लोगों का जीवन-निर्वाह कृषि पर आधारित था । भूमि का स्वामी राजा था, इसीलिए उसे भूमिपति कहकर सम्बोधित करते थे । उसमें भूमि प्रदान करने व जब्त करने के अधिकार निहित थे । नियमित रूप से वार्षिक लगान का भुगतान करने वाले किसी भी परिवार को अपनी वशानुगत भूमि से वंचित नहीं किया जाता था । भूमि प्रायः खालसा, जागीर, भोम, सासण और चरणोत के रूप में विभाजित थी । खालसा भूमि पर सीधा राजा का स्वामित्व था । लगान निर्धारित करने व उसकी वसूली करने का कार्य राज्य के अधिकारियों द्वारा किया जाता था । जागीर भूमि सामन्त व अन्य व्यक्तियों को राज्य के प्रति की जाने वाली सेवाओं के बदले मे दी जाती थी । इस भूमि को बदलना या बेचना राज्य की स्वीकृति से ही सम्भव था । भोमिया को दी गई जमीन भोम और ब्राह्मणों, भाटों, चारणों आदि को पुण्यार्थ दी गई भूमि सासण व माफी के नाम से जानी जाती थी । कुछ भूमि गांवों के निकट पशुओं के चरने के लिए खाली रखी जाती थी जिसे चरणोत या गोचर कहा जाता था । इस पर सामूहिक रूप से ग्राम पंचायत जैसी संस्था का स्वामित्व स्वीकार किया जाता था ।

18वीं शताब्दी में खेती की क्षमता की दृष्टि से भूमि विभिन्न वर्गों में विभाजित थी । सिंचाई की सुविधा वाली भूमि 'पीवल', दलदल भूमि 'गुलतहन्स', तालाब की भूमि 'तलाई', गांव से दूर स्थित भूमि 'कांकड़', चरागाह भूमि 'बीड़', नदी नाले के निकट वाली भूमि 'नादी', काली चिकनी उर्वरा भूमि 'माल', पहाड़ी क्षेत्र वाली भूमि 'मगरो', कृषि व सिंचाई के योग्य भूमि 'हकत-वहत', गांव के पास वाली भूमि 'गोरमो' बागों व सब्जियों के लिए प्रयुक्त भूमि 'वाड़ी' आदि नामों से जानी जाती थी । ये नाम भूमि की स्थिति अथवा प्रयोग के अनुसार थे । भूमि के टुकड़ों को कतका या बतका कहते थे । ये छोटी वर्गाकार क्यारियों मे विभाजित रहते थे ।

फसल पकने पर उसकी रखवाली की व्यवस्था की जाती थी। खेती के लिए हल, कुदाल, फावड़ा आदि का प्रयोग किया जाता था। हल को बैल खींचते थे। कहीं-कही ऊंटों को हल चलाने के लिए काम में लिया जाता था।

राजस्थान मे कहीं-कही सियालू (रवी) तथा उन्हालू खरीफ दोनों फसलें ली जाती थी। यहां ज्वार, बाजरा, मोठ, मक्की, चावल, गेहूं, जौ, गन्ना, सब्जी, फल-फूल आदि मुख्य पैदावार थीं। भूमि और मौसम की भिन्नता होने के कारण राजस्थान में अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग प्रकार की उपज होती थी। उदाहरणार्थ, रेगिस्तानी क्षेत्र मे ज्वार और बाजरा पर्याप्त मात्रा मे होते थे। दक्षिणी और पश्चिमी क्षेत्र में गेहूं और चावल की उपज होती थी। वैसे यहां सिंचाई के साधन बहुत सीमित थे, फिर भी पानी उपलब्ध होने पर कुवें, नदी, तालाब, नहर आदि से सिंचाई की व्यवस्था की जाती थी। कुवों एवं बावडियों से रहट, चड़स व ढीकली प्रणालियों से पानी निकाल कर उसका कृषि के लिए उपयोग किया जाता था। जहां सिंचाई के साधन उपलब्ध थे, वहां गेहू, चना और दालों की उपज अधिक होती थी। प्रतापगढ़ और माल की भूमि में कपास, गन्ना और अफीम की पैदावार की जाती थी। कस्बों के निकट बाड़ियो मे सब्जी उगाई जाती थी। फल-फूल के लिए बाग-बगीचे होते थे।

राज्य और जागीर की ओर से किसानों से भूमि-कर वसूल किया जाता था। सामान्यतः उपज का 1/3 या 1/4 भाग लगान के रूप में लेने की व्यवस्था थी। वसूली के अनेक साधन थे, जैसे लाटा, कूंता आदि। किसान को लगान के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के कर देने पड़ते थे। मुगलों के साथ सम्पर्क स्थापित होने के पश्चात् राजस्थान में राहदारी, बाब, पेशकश, जकात, गनीम बराड़ जैसे अनेक कर प्रचलित हुए थे। उपर्युक्त तथ्यों का पिछले अध्याय में राजस्व-व्यवस्था के अन्तर्गत सविस्तार विवरण दिया जा चुका है। पर्याप्त वर्षा होने पर जमाना अच्छा हो जाता था तब किसान को राहत मिलती थी और वह कुछ सुख का अनुभव करता था। परन्तु साहूकारों की खरीद-फरोख्त से, करों के भार से तथा दुष्काल के कारण राजस्थान मे किसान प्रायः संकटमय स्थिति मे ही अपने दिन व्यतीत करता था। राजस्थान में प्रति तीसरे व चौथे वर्ष अकाल की स्थिति बन जाती थी। जैसलमेर, मारवाड और बीकानेर के रेगिस्तानी क्षेत्रों में तो प्रायः वर्षा का अभाव ही रहता था। मेवाड़ मे 1747 ई० का अकाल अत्यन्त भयंकर था। मारवाड़ में 1792, 1804 और 1812–13 ई० के दुर्भिक्षों के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाला संकट अत्यन्त उग्र था। फसलें पूर्णतया नष्ट हो गई थी और पीने के लिए भी पानी जुटाना दुष्कर था। ऐसी संकटमय स्थिति में मारवाड़ के अनेक परिवार मालवा की ओर पलायन कर गये थे। आलोच्य काल मे मराठों के निरन्तर आक्रमणों और चोर-डाकू लुटेरो की लूट-खसोट ने किसानों का जीवन कष्टमय बना दिया था।

भूमिहीन, शिकमी काश्तकार और ठेके पर खेती करने वाले किसानों का जीवन तो और भी अधिक दुःखमय व दयनीय था। काश्तकार को सारा खर्च वहन कर उपज का 1/3 या 1/2 भाग भूस्वामियों को देना पड़ता था। इन सब परिस्थितियों के कारण राजस्थान के कृषक की दशा सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती थी।[36]

रास्थान में सामान्यतः खनिज सम्पदा, कच्चा माल, सस्ता श्रम और पूंजी उपलब्ध थी। अतः यहां अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक उद्योग-धंधे सुचारू रूप से चलते रहे। राजस्थान में प्राचीनकाल से ही नमक-उद्योग का अत्यधिक महत्त्व रहा। इसके कई केन्द्र थे जिनसे स्थानीय मांग की पूर्ति तो होती ही थी, इसके साथ-साथ नमक का निर्यात भी बड़ी मात्रा में होता था। जोधपुर राज्य में सांभर, डीडवाना, पचपदरा, फलौदी और नावा नमक के भंडार थे। जयपुर राज्य में कचर-रेवासर और बीकानेर क्षेत्र में लूणकरणसर व ताल छापर में नमक तैयार किया जाता था। भरतपुर, उदयपुर और जैसलमेर राज्यों में भी नमक काफी मात्रा मे उपलब्ध था। राजस्थान के राज्य को नमक-उद्योग से पर्याप्त आय होती थी। कर्नल टॉड के अनुसार मारवाड़ में विभिन्न नमक-केन्द्रों से कुल 715,000 रुपयों की आय होती थी। पचपदरा और सांभर से नमक का अधिक निर्यात होता था जहां से राज्य को दो-दो लाख रुपये कर के रूप में मिलते थे। इसके अतिरिक्त नमक-उद्योग से हजारों लोगों को रोजगार मिलता था। इसके व्यापार से बनजारों और व्यापारी वर्ग को बहुत लाभ पहुंचता था।[37]

स्थानीय मांग की पूर्ति हेतु राजस्थान के लगभग सभी गांवों मे मोटे सूती कपड़े की बुनाई होती थी। मलमल जैसे महीन व श्रेष्ठ कपड़े की बुनाई का कार्य कोटा में हुआ करता था। कोटा की चूंदड़ी और कसूमल पागें सर्वत्र प्रसिद्ध थीं। कैंथून और मांगरोल कोटा राज्य मे करघा-उद्योग के प्रमुख केन्द्र थे। बून्दी-क्षेत्र में डोरिया व अंगोछों की बुनाई बहुत अच्छी होती थी। मारवाड़ के मारोठ और जालौर परगनों में हाथ से कती और बुनी रेजी की महत्ता थी। देलवाड़ा, पाली, सीरोज, अजमेर आदि सूती कपड़ों की बुनाई के अन्य केन्द्र थे।[38]

सूती कपड़ों की रंगाई और छपाई का काम व्यापक रूप से होता था। जयपुर और सांगानेर की छपाई सम्पूर्ण उत्तरी भारत में प्रसिद्ध थी। इसी प्रकार कोटा में कपड़े पर सोना, चांदी व रेशमी बेल-बूटों की कारीगरी सर्वत्र विख्यात थी। बारां में चूंदड़ी और पोम्पा की बंधाई बहुत सुन्दर होती थी। चूंदड़ी-बंधाई के काम के लिए जोधपुर और जयपुर भी प्रसिद्ध थे। उनके अतिरिक्त आकोला, उदयपुर, चित्तौड़, आहड़, भरतपुर, पाली आदि स्थानों पर कपड़ों की रंगाई और छपाई अच्छी होती थी।[39]

बीकानेर, जैसलमेर, जोधपुर और जयपुर शेखावाटी क्षेत्रों में ऊनी उद्योग उन्नत था। बीकानेर और जैसलमेर की ऊनी कम्बलें और दरियां बड़ी सुन्दर और मजबूत होती थी। जैसलमेर की कम्बलों का निर्यात भी होता था। ऊंट व बकरी

के बालों से बोरों तथा जाजिमों की बुनाई की जाती थी। ऊंट को सजाये जाने के लिए गोरबन्ध तैयार किये जाते थे। जयपुर और मालपुरा परगनों में बनी ऊन की टोपियां और शाल की बहुत खपत रहती थी। जोधपुर राज्य के ओसियां स्थान पर ऊनी कम्बलें तैयार की जाती थी।[40]

राजस्थान में टाट पट्टियों, सूतली, रस्सी आदि का उद्योग भी समृद्ध था। इनकी मांग सभी राज्यों मे थी। बीकानेर के बीदासर कस्बे में सन और मूंज से रस्से व रस्सियां बनाने का कार्य बड़े पैमाने पर होता था। मारवाड़ और जैसलमेर मे लम्प और मूंज नामक घास और कोड़ाला नामक पेड़ के रेशों से रस्सी बनती थी जिसका प्रयोग खाट बुनने में किया जाता था।[41]

इस काल में काष्ठ-उद्योग ने अच्छी उन्नति कर ली थी। कृषि-सम्बन्धी उपकरण लकड़ी के बनाये जाते थे। मकानों के निर्माण में लकड़ी का प्रयोग किया जाता था। खाट, फर्नीचर और सजावटी वस्तुओं का निर्माण लकड़ी से होता था। उदयपुर, भीलवाड़ा, शाहपुरा और मूंडवा (जोधपुर) में लकड़ी के बड़े सुन्दर खिलौने बनते थे। लकड़ी पर दानेदार रंगाई का काम जहाजपुर और सवाई माधोपुर में सम्पन्न होता था। लकड़ी पर खुदाई का काम डूंगरपुर और बांसवाड़ा में अत्यन्त आकर्षक होता था। करौली में अलंकृत सन्दूकों का निर्माण किया जाता था। कोटा में बैलगाड़ियां और नावें बनाने का उद्योग उन्नत स्थिति में था।[42]

आलोच्यकालीन राजस्थान में धातु-सम्बन्धी उद्योग भी विकसित थे। विभिन्न धातुओं की मूर्तियो का निर्माण बड़ी दक्षता के साथ किया जाता था। पीतल, तांबा और कांस्य के बर्तन प्रायः सभी राज्यों में तैयार होते थे। जयपुर में पीतल के बर्तनों पर नक्काशी का काम बड़ा सुन्दर होता था। लुहारी उद्योग को बड़ी महत्ता थी। कोटा, जोधपुर, मेड़ता, गागरौन आदि स्थानों पर तोपें ढालने का कार्य किया जाता था। बून्दी मे कटार, उस्तरे, चाकू और तलवार बनाने के उद्योग समृद्ध थे। सिरोही की तलवारें प्रसिद्ध थीं। जोधपुर राज्य के पाली, नागौर और सोजत नगरों मे लोहे से विभिन्न प्रकार की वस्तुएं तैयार की जाती थीं। पाली की लोहे की सन्दूकें और वहा की कड़ाहियां तथा बड़े कड़ाव प्रसिद्ध थे। सोने-चांदी के आभूषण तो सभी राज्यों में बनाये जाते थे। हीरे-जवाहरात व रत्नों की जड़ाई के कार्य के लिए जयपुर प्रसिद्ध था। जयपुर में लाल रंग की मीनाकारी तथा जोधपुर में पटवे के काम वाले आभूषण बड़े मनमोहक होते थे। इनकी समृद्ध लोगों में बड़ी मांग रहती थी।[43]

राजस्थान में हाथीदांत का कारोबार भी उन्नत स्थिति में था। कोटा में हाथीदांत के छोटे-छोटे सुन्दर शृंगार बक्सों, भरतपुर में हाथीदांत के चवर तथा पंखों की डांडियो और जोधपुर व पाली मे हाथीदांत की चूड़ियो का निर्माण होता था। जयपुर, उदयपुर और जोधपुर राज्यों में चमड़े का उद्योग काफी विकसित

था। इन स्थानों पर बनी जूतियां आज भी अपनी विशेषता लिये हुए है। चमड़े की पखालें, चड़स, लाव (रस्सी) आदि लगभग सभी राज्यों में तैयार की जाती थी। जोधपुर में तैयार किये जाने वाले चमड़े की सन्दूकों की सर्वत्र मांग थी।[44]

उत्सवों एवं समारोहों के अवसर पर लोग इत्र व सुगन्धित वस्तुओं का प्रयोग करते थे। इनकी मांग की पूर्ति हेतु तेल-इत्र का उद्योग भी काफी विकसित था। गुलाब का इत्र और गुलाब-जल कोटा और कोठारिया मे तैयार किया जाता था। सवाई माधोपुर में खसखस का इत्र बनता था। शराब बनाने का कार्य तो सभी जगह होता था। कुछ राज्यों में कागज बनाने का उद्योग भी सम्पन्न था। सांगानेर का कागज चित्रकला के लिए बड़ा उपयोगी था। उदयपुर राज्य में घोसुंडे में घास के गूदे, पौधों तथा कपड़ों से मोटा कागज तैयार किया जाता था। सवाई माधोपुर में बना कागज हस्तलिखित पुस्तकों के लिए उपयोगी था। वह मोटा और मजबूत होता था। लाख का उद्योग काफी प्रचलित था। लाख की चूड़ियां बनती थी। अलवर राज्य में लाख का अच्छा उत्पादन किया जाता था। कोटा की आतिशबाजी और उदयपुर के साबुन की महिमा थी। प्रतापगढ़ अपने कांच पर नक्काशी के काम के लिए प्रसिद्ध था। जालोर व जैसलमेर में घोड़े की काठियां और मालपुरा में बन्दूक की खोलियां अच्छी बनती थीं।[45]

राजस्थान में पत्थर का काम प्राचीनकाल से होता चला आ रहा है। राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों में निर्मित मन्दिर, भवन, राजमहल, बावड़ियां, मकान आदि से यह स्पष्ट है कि पत्थर, ईंट, चूना आदि का व्यवसाय उन्नत स्थिति में था।[46]

श्रमिकों को पारिश्रमिक बहुत कम दिया जाता था। राजस्थान के विभिन्न क्षत्रों में पारिश्रमिक व वेतन की दरें एक समान नहीं थी वह मांग और पूर्ति के आधार पर तय हुआ करती थी। 19 वी शताब्दी के प्रारम्भिक काल तक मजदूरों को भुगतान जिन्स तथा नकद दोनो तरीकों से किया जाता था। 'हाली' या 'सागडी' को यदि पूरे वर्ष तक रखा जाता था तो उसे सामान्यतः 2 रु० प्रति माह के साथ 2 या 3 मन अनाज प्रति वर्ष दिया जाता था। इनके अतिरिक्त एक पगडी और चादर अथवा जूतों की जोड़ी और चादर देने की व्यवस्था भी थी। फसल की कटाई के समय एक मजदूर को 1 आना प्रति दिन दिया जाता था। मारवाड़ मे कुशल कारीगर जैसे लुहार, खाती, कुम्हार, राजमिस्त्री और दर्जी दो से चार आने प्रति दिन कमाते थे। शहरी क्षेत्रो मे विविध प्रकार के काम करने वालों को इस प्रकार वेतन दिया जाता था—पुरोहित 3 रु. समाचार नवीस 5 रु., रसोईदार 5 रु., नाई 3 रु., कहार 3 रु., बागवान 3 रु.। मारवाड़ में परगनों के हाकिम को 100 रु., कारकून को 20 रु., पोतेदार और मुशरफ को 8 रु. प्रति माह वेतन के रूप में दिया जाता था।

जिस प्रकार मजदूरी की दर बहुत कम थी, उसी प्रकार वस्तुओं के दाम भी बहुत सस्ते थे। कोटा और जयपुर राज्यों में 10 मन गेहूं के दाम 14 रु० से 16 रु०,

लगते थे। 9 व 10 रुपयों में 10 मन जौ खरीदे जा सकते थे। 1 मन दाल की कीमत मात्र 1 रुपया थी। इसी प्रकार 1 मन घी के दाम 25 से 30 रुपये होते थे। 2 रुपयों में साधारण साड़ी खरीदी जा सकती थी। सुन्दर किनारीदार कसीदों से युक्त साड़ियों के दाम 12 से 70 रुपयों तक थे। अच्छी से अच्छी पगड़ी 19 रुपयों मे उपलब्ध हो सकती थी।

जानवरों की कीमतें भी कोई अधिक नहीं थीं। सामान्यतः ऊंट 12 से 35 रुपयों, घोड़े 5 से 20 रुपयों, गाय 2 से 5 रुपयों और बैल 12 से 27 रुपयों में खरीदे जा सकते थे; परन्तु अच्छे घोड़े, ऊंट और बैल की कीमतें 300 से 1500 रुपयों तक थी। वस्तुओं व जानवरों की कीमतों में घटत-बढ़त होती रहती थी। दुर्भिक्ष के समय खाद्य पदार्थों के दाम बढ़ जाते थे। उदाहरणार्थ, 1810 और 1812 के अकाल के समय मारवाड़ में गेहूं का भाव क्रमशः 7 और 5 सेर प्रति रुपया था।[47]

आलोच्यकालीन राजस्थान में स्थानीय उद्योग-धंधों से सभी राज्यों में कर लेने की व्यवस्था थी। कृषि से सम्बन्धित उद्योग-धंधों का मूल उद्देश्य स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता था। बुनकर, खाती, कुम्हार, चमार, सुनार आदि अपनी वस्तुएं तैयार करते और सीधे ग्राहकों को बेच दिया करते थे। इन घरेलू उद्योग-धंधों में पूंजी की कोई विशेष आवश्यकता नही रहती थी। परन्तु दस्तकारों और कारीगरों को कच्चा माल खरीदने के लिए साहूकारों से ऋण लेना पड़ता था। साहूकारों का ध्येय ज्यादा से ज्यादा लाभांश प्राप्त करना रहता था। अतः ऐसे दस्तकारों की आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक नही थी। इसके अतिरिक्त कच्चे माल की जिस वर्ष कम उपज होती थी, उस वर्ष दस्तकारों के पास कोई काम नही रहता था। सामन्ती व्यवस्था होने के फलस्वरूप उन्हें बेकार का शिकार भी होना पड़ता था। राजकीय कारखानों में नियुक्त कारीगरों के जीवन में स्थायित्व था। उन्हें समय-समय पर राजकीय सम्मान भी प्राप्त होता रहता था। राज्य के आश्रित कारीगरों की आर्थिक हालत ठीक थी।

व्यापार-वाणिज्य की दृष्टि से राजस्थान का एक विशिष्ट स्थान रहा। देश के उत्तरी-पश्चिमी, उत्तरी, पूर्वी तथा दक्षिणी भारत के व्यापारिक मार्ग राजस्थान से होकर निकलते थे। इन मार्गों पर राजस्थान की व्यापारिक मंडियां व वहां के व्यावसायिक नगर बसे हुए थे। देश के सभी भागों मे माल का आना-जाना यहां निरन्तर बना रहता था। मारवाड़ में पाली, नागौर और भीममाल, मेवाड़ में भीलवाड़ा, कमलमीर और रायपुर, जयपुर राज्य मे मालपुरा, सीकर और चिड़ावा, बीकानेर राज्य मे चूरू, नोहर और राजगढ और कोटा क्षेत्र में अन्ता, बारा और मगरोल प्रमुख मंडियां थी जो मुख्य व्यापारिक मार्गों पर स्थित थी। ये स्थान अपने राज्यों के सहायक मार्गों से भी सम्बद्ध थे। मार्गों पर व्यापारियो तथा यात्रियो की

सुविधा के लिए जगह-जगह कुवें तथा सरायें बनी हुई थीं। इन स्थानों पर स्थानीय और विदेशी वस्तुओं का आदान-प्रदान हुआ करता था।[48]

पाली नगर राजस्थान का ही नही बल्कि सम्पूर्ण उत्तरी भारत का एक बहुत बड़ा व्यावसायिक केन्द्र था। यहां भारत की बनी वस्तुओं के अतिरिक्त चीन, यूरोप और अफ्रीका से भी सामान पहुंचता था। सभी क्षेत्रों के व्यापारी यहां एकत्र होते थे और अपनी वस्तुओं का आदान-प्रदान किया करते थे। पाली के मार्ग से मालवा की अफीम चीन और पश्चिमी एशिया को निर्यात की जाती थी। अफीम से लदे लगभग 2 हजार ऊंट प्रति वर्ष पाली से गुजरते थे। टीन की सन्दूकों में बन्द किया हुआ यूरोप का माल भावनगर व अन्य बन्दरगाहों पर उतार कर पाली भेजा जाता था। राहदरी व अन्य व्यापारिक करों द्वारा पाली मंडी से जोधपुर सरकार को प्रति वर्ष 75,000 रुपयों की आय होती थी।[49]

बीकानेर राज्य में राजगढ़ भी मुख्य व्यापारिक मंडी थी जहां विभिन्न दिशाओं से आने वाले कारवां ठहरते थे। पंजाब एवं काश्मीर का माल हांसी व हिसार के मार्ग से यहां आता था। दिल्ली की तरफ से रेशम, नील, चीनी, लोहा, तम्बाकू, हाड़ौती एवं मालवा से अफीम, सिन्ध से गेहूं, चावल, पाली से मसाले, टिन, दवाइयां, नारियल, हाथीदांत आदि यहां क्रय-विक्रय के लिए व्यापारी लोग लेकर आते थे। मुल्तान और शिकारपुर से जैसलमेर के मार्ग से छुहारा, गेहूं, चावल, लूंगी, सूखे मेवे आदि आते थे। इस मंडी से राहदारी के रूप में बहुत बड़ी धनराशि एकत्र की जाती थी।[51]

जैसलमेर, मुल्तान, शिकारपुर, सेवान (सिन्धु नदी पर स्थित), हैदराबाद सिन्ध), अमरकोट, खैरपुर, रोरी बेकर, अहमदपुर, भावलपुर आदि व्यावसायिक नगरों से जुड़ा हुआ था। पाली, नागौर, फलौदी, पोकरण, पूगल, बीकानेर, बाड़मेर, शिव, कोटरा आदि नगरों से होते हुए मार्ग जैसलमेर पहुंचते थे। जैसलमेर गजल मे (रचना काल वि० सं० 1822; 1765 ई०) जैसलमेर के बाजार का अत्यन्त सजीव चित्रण हुआ है। इसके अनुसार नगर के मध्य भाग में पूंजीपति लोग व्यापारिक लेन-देन के लिए बनजारों से घिरे हुए रहते थे। वस्त्र-व्यवसायियों एवं मिष्ठान्न विक्रेताओं के पृथक् पृथक् बाजार थे। इसी प्रकार विभिन्न शिल्पकारों यथा सुनार, रंगरेज, जुलाहे, दर्जी तथा शस्त्र-निर्माताओं के लिए पृथक्-पृथक् स्थान निर्धारित थे। माणकचौक में आस-पास के प्रदेशों से विभिन्न प्रकार के अनाजों से लदे हुए ऊंट पर्याप्त संख्या में दृष्टिगत होते थे।[52]

18वीं शताब्दी में बहुत से व्यापारी बाहर से आकर राजस्थान के व्यावसायिक नगरों में स्थायी रूप से रहने लगे थे। उत्तमचन्द गुजराती जयपुर का प्रसिद्ध व्यापारी था। गुजरात से उसका कारोबार खूब चलता था। जयपुर के एक अन्य व्यापारी भवानीदास की बुरहानपुर में कपड़े की दुकान थी। शाह सुजान,

मुरलीधर, भोलानाथ, शाह लक्ष्मण, सुलेमान मुल्तानी, पंडित गंगाधर, बख्तगिरि, जयकृष्ण, गुलाब भारती आदि कोटा के ख्यातिलब्ध व्यापारी थे। हीरा (परबतसर), रायचन्द और देवदत्त (उदयपुर) और मिर्जामल (चूरू) व्यापारियों का व्यावसायिक जगत में अच्छा नाम था। ऐसे अन्य व्यापारियों के नाम भी उल्लिखित किये जा सकते हैं जो पंजाब, मालवा, गुजरात और काश्मीर से आकर राजस्थान के व्यावसायिक नगरों में निवास करने लगे थे।[53]

उपर्युक्त मार्गों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रमुख व्यापारिक मार्ग भी थे। दिल्ली से गुजरात की तरफ जाने वाला मार्ग अलवर, आमेर, (जयपुर), अजमेर, पुष्कर, पाली, सिरोही होता हुआ पालनपुर और अहमदाबाद पहुंचता था। आगरा से भरतपुर-आमेर होकर अजमेर जाता था। अजमेर से अहमदाबाद जाने के लिए दूसरा मार्ग मांडलगढ, चित्तौड़, उदयपुर और डूंगरपुर होकर पहुंचता था। मुल्तान से अहमदाबाद का मार्ग भावलपुर, लोद्रा, जैसलमेर होकर था। दूसरा रास्ता जैसलमेर, पोकरण, फलौदी, जोधपुर, पाली और पालनपुर होकर गुजरात जाता था। बीकानेर से अहमदाबाद जाने के लिए एक मार्ग नागौर, मेड़ता और पाली के रास्ते से पहुंचता था। दिल्ली से सिन्धु नदी का प्रमुख मार्ग बीकानेर होकर था। काबुल जाने का रास्ता भी बीकानेर होकर निकलता था। सन् 1808 ई० में मान्सुअर्ट एलफिन्स्टन अपने बड़े समूह के साथ दिल्ली से कानोड़, सिंघाना, झुंझनू, चूरु, बीकानेर व पूगल आदि स्थानों से होता हुआ काबुल पहुंचा था।[54] बीकानेर राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग दिल्ली से भिवानी, राजगढ़, चूरु, रेजी, रतनगढ़, सुजानगढ़, नागौर, जोधपुर होता हुआ पाली को जाता था। एक मार्ग आगरा से मेड़ता, चित्तौड़, कोटा होकर मालवा में प्रवेश कर उज्जैन पहुंचता था। उदयपुर से बांसवाड़ा और डूंगरपुर होकर भी एक रास्ता मालवा की तरफ जाता था। बयाना से चम्बल नदी के किनारे-किनारे होकर मालवा जाने का मार्ग था। जयपुर से सांगानेर, टोंक, बून्दी, कोटा, झालावाड़ होता हुआ एक मार्ग उज्जैन पहुंचता था।[55]

माल को एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाने के लिए बैलगाड़ी, ऊंट, बैल, घोड़े, खच्चर आदि का उपयोग किया जाता था। राजस्थान के पूर्वी भाग में, जहां भूमि समतल थी, बैलगाड़ी का प्रचलन था। पहाड़ी क्षेत्र में घोड़ों और टट्टूओं का उपयोग श्रेयस्कर था। जैसलमेर, मारवाड़ और बीकानेर राज्यों के रेगिस्तानी इलाकों में अधिकतर ऊंटों का उपयोग किया जाता था। बनजारे लोग अपना माल जैसे, गेहूं, चावल, चना, नमक आदि बैलों पर लाद कर ले जाते थे। बनजारों के पास 200 से 500 तक माल ढोने वाले पशु रहते थे। कुछ समृद्ध बनजारों के पास 1500 से 2000 तक बैल रहते थे। पचपदरा से नमक बैलों के माध्यम से दूर-दूर प्रदेशों में भेजा जाता था। यहां चारण या भाट इन पशुओं को रखते थे। यहां के भाट 'बल्दिया भाट' के नाम से सर्वत्र जाने जाते थे।[56]

मार्गों को सुरक्षित रखने का दायित्व राज्य-सरकारों का होता था। राज्यों के सामन्त भी अपने-अपने क्षेत्रों में व्यापारी वर्ग को सुरक्षा प्रदान करते थे। वे उनसे सुरक्षा-शुल्क लिया करते थे। व्यापारियों के काफिलों के साथ उनके स्वयं के रक्षक भी रहते थे। वे अधिकतर चारणों को इस कार्य के लिए रखते थे। चारणों की उपस्थिति में डाकू लोग सामान्यतः लूट-खसोट नहीं करते थे। क्योंकि चारणों को सभी, विशेषकर राजपूत सम्मान देते थे तथा वे उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। माल की सुरक्षा के लिए माल की जोखों (बीमा) बेचने का प्रचलन था तथा बोलाई-प्रथा भी प्रचलित थी। बोलाई लेने वाला व्यक्ति शक्ति-सम्पन्न होता था। वह अपनी जिम्मेदारी पर माल को सुरक्षित स्थान पर पहुंचाता था। इसके लिए उसे निश्चित धनराशि देनी पड़ती थी। पाली का व्यापारी अफीम से लदे एक ऊंट को दामन सुरक्षित पहुंचाने के लिए बोलाई को 300 रुपये दिया करता था।[57]

राजस्थान से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में नमक, अफीम, ऊन व ऊनी वस्त्र, कपास, तिलहन, संगमरमर व उससे बनी वस्तुएं, इमारती पत्थर, मूर्तियां, चमड़ा, रुई, छींट के कपड़े, ऊंट, बैल, भेड़-बकरे आदि प्रमुख थे। कोटा से कसूंबा का रंग, भांग और गांजे का भी निर्यात किया जाता था। राजस्थान के पश्चिमी भाग से मुल्तानी मिट्टी बाहर भेजी जाती थी। निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में सर्वाधिक महत्त्व नमक, अफ़ीम और ऊन का था। सांभर का नमक उत्तरप्रदेश, हरियाणा और मध्यप्रदेश में जाता था। पचपदरे के नमक की मांग मध्यप्रदेश व राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों में अधिक रहती थी। डीडवाने के नमक की खपत हरियाणा, पंजाब व उत्तरप्रदेश में होती थी।

उदयपुर, प्रतापगढ़, डूंगरपुर, झालावाड़, कोटा, बून्दी और टोंक राज्यों से अफीम का निर्यात किया जाता था। बाहर इसे 'मालवा अफीम' की संज्ञा दी गई थी। अफीम का निर्यात तो चीन तक किया जाता था।

ऊन का निर्यात प्रमुखतः जैसलमेर, बीकानेर, जोधपुर और शेखावाटी क्षेत्रों से होता था। ऊन से बनी वस्तुएं जैसे, कम्बल, दरी, चादर, टोपी आदि भी बाहर भेजी जाती थी। ऊन की सबसे बड़ी मंडी जैसलमेर थी।[58]

स्थानीय व्यापार में व्यापारी वर्ग की बड़ी भूमिका रहती थी। वह कुटीर उद्योगों के उत्पादन को नगरों तक पहुंचाता था। लगभग सभी कस्बों में साप्ताहिक हाटें लगती थी जहां विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का क्रय-विक्रय हुआ करता था। जयपुर राज्य में धंद्दीप, जसपुर और रामचौक पर हाट लगती थी। राजस्थान के सभी राज्यों में अनेक मेलों का आयोजन किया जाता था जहां स्थानीय वस्तुओं का लेन-देन होता था। इन मेलों में बिक्री की वस्तुओं को लाने के लिए राज्य की ओर से प्रोत्साहन दिया जाता था और सुरक्षा का प्रबन्ध भी किया जाता था। कुछ स्थानों

पर बड़े मेले लगते थे जहां दूर-दूर से व्यापारियों को आमन्त्रित किया जाता था। वे अपने विभिन्न प्रकार के सामानों के साथ वहां एकत्र होते थे। पुष्कर, परबतसर, राजनगर, नानना (कोटा) और नागौर में लगाये जाने वाले मेलों को इस श्रेणी में लिया जा सकता है। यहां फुटकर वस्तुओं के बेचान व खरीद के अतिरिक्त थोक व्यापार की व्यवस्था भी रहती थी। इन स्थानों पर जानवरों के क्रय-विक्रय के लिए भी मेले लगते थे। जोधपुर राज्य में मार्च के अन्त में मल्लीनाथ के सम्मान में बालोतरा में पशुओं का एक मेला लगता था जहां व्यापारी लोग बहुत अधिक संख्या में मारवाड़ और राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों के अतिरिक्त गुजरात और सिन्ध से भी एकत्र होते थे। उस मेले में घोड़े, बैल, ऊंट, चमड़ा, पीतल और टीन के बर्तन तथा वस्त्रों की बिक्री के लिए बहुत अच्छा बाजार लगता था।[59]

मुसलमानों के सम्पर्क के बाद राजस्थान में फिरोजी, आलमशाही, शालमशाही, औरंगशाही, अकबरी आदि सिक्कों का प्रचलन रहा। इन सिक्कों में चांदी की मात्रा अधिक होती थी और मिलावट का अनुपात कम होता था। तांबे के पैसे फदिया, ढींगला, ढब्बूशाही आदि नामों से जाने जाते थे। मुगलों के पतन के बाद 18वीं शताब्दी में राजस्थान के राज्यों में स्वतन्त्र रूप से टकसालें खोली गईं और शासकों व स्थानों के नाम पर सिक्के ढाले गये जिनमें विजयशाही, (मारवाड़), अखैशाही (जैसलमेर), गुमानशाही (कोटा), गजशाही (बीकानेर), झाड़शाही (जयपुर), आरिशाही, उदयपुरी, चित्तौडी (मेवाड), उदयशाही (डूंगरपुर) आदि उल्लेखनीय हैं। इनमे चांदी के अनुपात में मिलावट दशमांश या पंचमांश हुआ करती थी। राजस्थान में सभी जगह इन सिक्कों द्वारा लेन-देन होता था। सिक्कों का मूल्य उनके धात्विक मूल्य के आधार पर आंका जाता था। लेन-देन के समय यह स्पष्ट कर दिया जाता था कि कौन-से सिक्के के रुपये दिये या लिये गये हैं। उदाहरण के तौर पर कोटा राज्य में वि० सं० 1789 में 7829/12/6 गुमानशाही के बदले में 7999/14/9 चित्तौड़ी सिक्के स्वीकार किये गये थे।[60] छोटे सिक्कों के रूप में टका, पैसा, अधेला, छदाम और दमड़ी की जानकारी मिलती है। कहीं-कही कौड़ी का उपयोग भी होता था। सिक्कों के अतिरिक्त वस्तुओं का विनिमय भी होता था; जैसे, अनाज देकर सब्जी व अन्य चीज खरीदते थे। मेवाड़ में इस प्रकार के अनाज को 'कीणा' कहा जाता था।[61]

आदान-प्रदान को गति देने के लिए गांवों, कस्बो और नगरों मे साहूकार होते थे। वे सिक्कों की जाच करते थे और वस्तुओं के अदल-बदल की व्यवस्था करते थे। वे कृषकों को बीज व शिल्पकारो को कच्चा माल खरीदने के लिए ऋण देते थे जिसे वे मूल और ब्याज सहित निश्चित समय में वसूल कर लिया करते थे। साहूकार लोग संकट के समय राज्य को भी ऋण के रूप में धनराशि दिया करते थे। 1806 ई. मे सेठ कुशालचन्द ने जोधपुर राज्य को धन दिया था। चूरू के सेठ

मिर्जामल ने बीकानेर के महाराजा सूरतसिंह को चार लाख एक रुपये एक रुपया सैंकड़ा ब्याज की दर से उधार दिये थे।[62]

आलोच्यकालीन राजस्थान में लेन-देन के लिए हुण्डी का प्रयोग प्रचलित था। हुण्डी को यथास्थान पहुंचने में समय अधिक लगता था, इसलिए हुण्डियां प्रायः मुद्दती होती थीं और इसी कारण बट्टा भी अधिक लिया जाता था। चूरू से प्राप्त वि. सं. 1897 की बही से ज्ञात होता है कि उस समय जयपुर की हुण्डी का भाव 8 रुपये और भिवानी की हुण्डी का भाव 7 रुपये था। हुण्डी पर हुण्डावण के अतिरिक्त ब्याज व आढ़त ली जाती थी। दलाल के माध्यम से प्राप्त हुण्डी पर दलाली भी देनी होती थी।[63]

राजस्थान में नाप-तौल के साधन एक समान नहीं थे। यहां तक कि एक ही राज्य में सर्वत्र तौल का एक मापदण्ड नहीं होता था। मेवाड़ व सामान्यतः अन्य राज्यों में मन, सेर, पाव, तोला, माशा, रत्ती के बांट हुआ करते थे। जैसलमेर में सर्वप्रथम महारावल अमरसिंह ने अपने नाम से अमरशाही सेर आरम्भ किया था। इसका वजन भीमशाही 18 टके तथा अखैशाही 72 रु० के बराबर था। जैसलमेर में भीमशाही 13 पैसे से लेकर 45 पैसे के बराबर के तौल के सेर अलग-अलग स्थानों पर प्रचलित थे। वहां 40 सेर का एक मन तथा चार सेर की पायली व पांच सेर की माणी होती थी। कपड़ा हाथ से नाप कर बेचा जाता था। जैसलमेर में 19 इंच का तथा ग्रामीण क्षेत्र में 24 इंच का हाथ होता था। बहुत सी वस्तुएं तादाद या नग के रूप में दी जाती थीं। जमीन की माप के लिए गज, पांवड़े एवं डोरी आदि का उपयोग होता था; लेकिन गज एव डोरी के नाप मे भिन्नता भी रहती थी। खेत आदि की नाप बीघो में की जाती थी और अधिक दूरी की लम्बाई के लिए 'कोस' का उपयोग होता था।[64]

साहित्य

राजस्थान की वीर प्रसवनी धरा ने जहां एक ओर आन और मान पर प्राणोत्सर्ग करने वाले रणबांकुरे योद्धा उत्पन्न किये, वहीं दूसरी ओर कलम के धनी मां-सरस्वती के उपासक साहित्यकारों को भी जन्म दिया। राष्ट्रीय संस्कृति के मूल मन्त्र-शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र चिन्ता प्रवर्तते—का यथासम्भव राजस्थान के राज्यों में बड़ी खूबी के साथ निर्वाह हुआ। इस प्रकार राजस्थान ने शक्ति के, चण्डी एवं सरस्वती उभय रूपों की उपासना का श्रेय लिया। आलोच्यकालीन राजस्थान मे यद्यपि राजनीतिक अस्थिरता एवं अशांति रही तथापि साहित्यिक परम्परा सतत् रूप से प्रवहमान रही। इस काल में डिंगल, पिंगल एवं संस्कृत की त्रिवेणी मे विविध प्रकार के साहित्य की रचना हुई। समकालीन राजा-महाराजाओं ने साहित्य की प्रगति मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इनमें से कुछ शासक तो स्वयं उच्च कोटि के विद्वान् थे और उन्होने साहित्य का पोषण ही नहीं, बल्कि

सर्जन भी किया। साहिष्णुता के सरस वातावरण में स्वच्छन्द रूप से वैदिक, शैव, वैष्णव, शाक्त, जैन, इस्लाम आदि अन्यान्य धर्म व सम्प्रदाय विकसित हुए। यहां विभिन्न धर्माचार्यों ने धर्म सम्बन्धी रचनाओं के साथ अन्य विषयों पर लेखनी चलाकर साहित्य की महती सेवाएं कीं। अगले पृष्ठों पर विभिन्न राज्यों में रचित कतिपय साहित्यिक कृतियों का निरूपण करने का प्रयास किया गया है।

मारवाड़ में पूर्ववर्ती महाराजाओं के साहित्यानुराग ने जिस यशस्वी साहित्यिक परम्परा का सूत्रपात किया था, उनमें अभिवृद्धि कर महाराजा अजीतसिंह ने उसे गतिशील बनाए रखने का श्रेय अर्जित किया। महाराजा अजीतसिंह स्वयं एक उत्कृष्ट कवि व भाषाविद् था। उसकी सर्वश्रेष्ठ रचना 'गुणसार' है। कतिपय विद्वानों ने इस रचना का नाम 'गुणसागर' लिखा है जो सही नहीं है क्योंकि लेखक ने स्वयं ही रचना के अन्त में इसे 'गुणसार' स्वीकारा है :—

प्रथम वरण श्रृंगार को, राजनीति निरधार।
जोग जुगति यामे सबै, ग्रन्थ नाम गुणसार ।।[65]

यह भाषा-ग्रन्थ अनेक रचनाओं का संग्रह है। इस ग्रन्थ की विभिन्न रचनाओं से लेखक की धार्मिक प्रवृत्ति का सहज ही में बोध हो जाता है। 'गज-उद्धार' ग्रन्थ अजीतसिंह की दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना है। कवि ने गज के माध्यम से आत्मनिवेदन का मार्मिक प्रस्तुतीकरण किया है। अजीतसिंह का एक अन्य भाषा-ग्रन्थ 'भाव विरही' है। इस ग्रन्थ में तिरासी दोहे हैं जिनमें नायक-नायिका के विरह का सुन्दर वर्णन किया गया है। अजीतसिंह ने अन्य दोहों की भी रचना की थी जो 'अजीतसिंह रे विरवे रे दोहे' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसी भी मान्यता है कि दुर्गा सप्तशती का भाषानुवाद, महाराजा श्री अजीतसिंहजी री कविता, महाराजा अजीतसिंहजी रा गीत तथा राजारूप का ख्याल नामक रचनाएं उन्हीं के द्वारा लिपिबद्ध की गई हैं। ये सभी रचनाएं अप्राप्य हैं।[66]

महाराजा अजीतसिंह की रचनाओं में भाषा साहित्यिक-स्तर की होते हुये भी सरल और सुबोध है। इनमें अलंकारों का अच्छा सामंजस्य है तथा भावपक्ष व कलापक्ष का सुन्दर समन्वय प्रतीत होता है। इनकी रचनाओं में श्रृंगार (संयोग और वियोग) करुणा, शान्त एवं वीर रस के रोचक उदाहरण मिलते हैं।

महाराजा अजीतसिंह ने अनेक कवियों को आश्रय प्रदान किया था। उसके दरबारी कवि भट्ट जगजीवन ने संस्कृत भाषा मे 'अजीतोदय' नामक एक बृहत् ग्रन्थ की रचना की थी। बालकृष्ण दीक्षित ने अजीतसिंह की प्रशंसा में 'अजित चरित' संस्कृत भाषा में लिखा। इन दोनों ग्रन्थों का ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। 'अजीत चरित' और 'अजीत विलास' भी महाराजा के समकालीन ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त द्वारकादास दधवाड़िया कृत महाराजा अजीतसिंह री दवावैत, हरिदास भाट द्वारा लिखित अजीतसिंह चरित, अमरबत्तीसी, तथा राव अमरसिंह

गजसिंघीत रा रूपक सवैया और श्यामराम का ब्रह्माण्ड ग्रन्थ इस काल की डिंगल भाषा की सुन्दर कृतियां हैं। इन सभी कवियों को महाराजा का आश्रय प्राप्त था।[67]

रामस्नेही पंथ की रैण शाखा के प्रवर्तक दरियावजी ने लगभग दस हजार पद के वाणी नामक एक वृहद् ग्रन्थ की रचना की थी। इनकी साखियां प्रसिद्ध हैं। इनकी भाषा सुव्यवस्थित एवं कवित्वात्मक है। इस परम्परा में पूर्णदास, किसनदास, नानकदास आदि अनेक कवि हुए हैं। रामस्नेही संप्रदाय सेंडापा के प्रवर्तक रामदासजी की वाणियों का भी साहित्यिक महत्त्व है इनकी वाणी निर्गुण भक्तिपरक है। दयालदास, परशुराम, पोथीदास, पूरणदास आदि इस परम्परा के कवि हुए हैं।

मेड़ता परगने के माधवराम ने शक्ति-भक्ति-प्रकाश, शंकर-पचीसी और माधव राम-कुण्डली नामक ग्रन्थ लिखे। इसी परगने के एक अन्य कवि तिलोकराम ने 'रस प्रकाश' व 'भाव दीपक' नामक दो ग्रन्थों को लिपिबद्ध किया। इस प्रकार महाराजा अजीतसिंह का काल मारवाड़ में साहित्यिक क्रियाशीलता का काल था।[68]

अजीतसिंह के पुत्र महाराजा अभयसिंह के समय में रचित तीन काव्यों का बड़ा महत्त्व है। भट्ट जगजीवन का लिखा 'अभयोदय' संस्कृत में और कविया शाखा के चारण करणीदान द्वारा रचित 'सूरज प्रकाश' और रतनू शाखा के चारण वीर भाण का 'राजरूपक' डिंगल भाषा में है। ये सभी काव्य ऐतिहासिक व साहित्यिक दृष्टि से बड़ी उत्तम कृतियां हैं। सूरज प्रकाश के रचयिता करणीदान ने उसे 126 पद्धरी छन्दों में सीमित कर उसका नाम 'विड़दसिणगार' रखा था। महाराजा ने उसे 2000 रुपयों की वार्षिक आय की जागीर प्रदान की थी। वीरभाण का काव्य महाराजा के सम्मुख प्रस्तुत नहीं किया जा सका था। लगभग 100 वर्ष बाद महाराजा मानसिंह ने इस ग्रन्थ का अवलोकन किया, तब उसने कवि के वंशज का पता लगाकर उसे 500 रुपये वार्षिक आय की जागीर दी थी। अभयसिंह के काल का एक अन्य चारण कवि पृथ्वीराज हुआ जिसने 'अभयविलास' नाम के भाषा-काव्य की रचना की थी। इसी साहित्यिक परम्परा में महाराजा बख्तसिंह द्वारा डिंगल भाषा में एक देवी स्तुति व कतिपय भजनों को लिपिबद्ध किये जाने के प्रमाण उपलब्ध हैं।[69]

महाराजा विजयसिंह के समय परम्परागत धार्मिक एवं लौकिक संस्कृत साहित्य की रचनाओं की पाण्डुलिपियां तैयार करने की प्रक्रिया अनवरत रूप से चलती रही। इनके काल के ऐतिहासिक काव्यों में दरबारी कवि विशनसिंह कृत 'विजय विलास' सर्वश्रेष्ठ रचना है। भक्ति-विषयक रचनाओं में बीठू ब्रह्मदास (मूल नाम विष्णुदान) कृत 'भक्त माला' का विशिष्ट स्थान है। इस काल के अन्य प्रमुख डिंगल कवियों में बारहट करनीदान, आढा, पहाड़खां, सबलदान, बख्शीराम आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। महाराजा विजयसिंह के पुत्र, शेरसिंह ने 'रामकृष्णजस' नामक एक

पिंगल ग्रंथ की रचना की थी। पिंगल साहित्य की प्रगति में कुशल, जयकृष्ण, रामकर्ण, उत्तमचन्द भंडारी का प्रशंसनीय योगदान रहा। महाराजा भीमसिंह के समय रामकर्ण ने 'अलंकार समुच्चय' नामक भाषा-ग्रन्थ लिखा था।[70]

साहित्य-सर्जन की दृष्टि से महाराजा मानसिंह का काल समृद्ध था। मानसिंह स्वयं एक महान् विद्वान् और कवि था। वह संस्कृत, डिंगल, पिंगल, फारसी आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञाता था। धार्मिक भावों को कविता-बद्ध करने की उसमें असीम क्षमता थी। नाथ सम्प्रदाय का निष्ठावान् अनुयायी होने के साथ ही वह ज्ञान की अन्य शाखाओं—न्याय, साहित्य, संगीत, योग आदि का जानकार था। साहित्य के क्षेत्र में उसकी अमूल्य सेवाएं थीं। उसके द्वारा रचित ग्रन्थों की लम्बी सूची है जिनमें 'नाथ चरित' (संस्कृत गद्यात्मक काव्य), विद्वज्जनमनोरंजनी (संस्कृत-मुण्डकोपनिषद् की टीका प्रथम खंड) कृष्ण विलास (भागवत के दशम स्कन्ध का भाषा में पद्यात्मक अनुवाद), चौरासी पदार्थ नामावली (इसमें न्याय, साहित्य, संगीत, वैद्यक आदि अनेक विषय हैं), जलन्दर चरित, जलन्दर चन्द्रोदय, नाथस्तोत, नाथशतक, नाथचरित, नाथपुराण, सिद्धज्ञान, जलन्धर ज्ञान सागर, पंचावली, मानविचार आदि प्रमुख हैं। डिंगल और संस्कृत के प्रसिद्ध कवि बांकीदास को मानसिंह से अत्यधिक आश्रय और संरक्षण प्राप्त था। बांकीदासकृत ऐतिहासिक वार्ता राजस्थान के इतिहास को जानने का एक बहुत उपयोगी स्रोत है। बांकीदास ने मानजसोमण्डन की रचना कर अपनी अद्वितीय कवित्व-प्रतिभा का परिचय दिया था। महाराजा मानसिंह के संरक्षण में जोधपुर राज्य का इतिहास लिखवाया गया था जो 'जोधपुर राज्य की ख्यात' के नाम से प्रसिद्ध है मानसिंह के साहित्यिक व्यक्तित्व का इतना प्रभाव था कि महल की चारदिवारी में रहने वाली पत्नियों और रखेलों ने भी साहित्य की प्रगति में योगदान किया। उसकी भटियानी रानी प्रतापकुंवरी ने भगवद् भक्तिपूर्ण अनेक छोटे-छोटे ग्रन्थ लिखे। उसकी एक उपपत्नी तुलछराय भगवद्भक्ति पूर्ण भजन रचना में प्रवीण थी।[71]

मानसिंह से संरक्षण प्राप्त शम्भुदत्त ने राजकुमार-प्रबोध की रचना की, पंडित विश्वरूप ने अवधूत गीता की टीका लिखी, भीष्म भट्ट ने विवेक मार्तण्ड और मूलचन्द यती ने मान सागर महिमा और नायिका-लक्षण की रचना की। चूंकि मानसिंह नाथजी का अनन्य भक्त था और उसकी नाथ-दर्शन के प्रति अटूट श्रद्धा थी, इसलिए नाथों से सम्बन्धित बड़ी संख्या में पुस्तकें लिखी गईं। सेवक दौलतराम ने जलंधरनाथजी रो गुण और परिचय प्रकाश, उत्तमचन्द्र ने नाथ चन्द्रिका और तारकनाथियों की महिमा की रचना की। कुछ अन्य ग्रन्थ भी लिखे गये जिनमें नाथ स्तुति (बांकीदास), नाथ उत्सव माला (सेवकराम), जलन्धरजस वर्णन आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। आत्मोदीप्ति (सदानन्द त्रिपाठी कृत) और योगितो शिव की टीका (भीष्म भट्ट कृत) योग की अच्छी पुस्तकें हैं। मानसिंह अपने राज-दरबार में समय-समय पर

साहित्यिक गोष्टियां, कवि-सम्मेलन, वाद-विवाद आदि के आयोजन करवाता रहता था जिनमें स्थानीय व बाहर से आये विद्वान् भाग लेते थे। वस्तुतः महाराजा मानसिंह का काल महती साहित्यिक उपलब्धियों का काल था।[72]

मेवाड़ के इतिहास में महाराणा राजसिंह प्रथम का काल महती साहित्यिक एवं कलात्मक प्रतिभा का युग माना जाता है। परवर्ती काल में यद्यपि इस गौरवमय साहित्यिक परम्परा का पूर्णरूपेण निर्वाह तो नहीं हो सका, फिर भी आलोच्य-कालीन साहित्य सर्जन के कतिपय उदाहरण यत्र-तत्र दृष्टिगत होते हैं। महाराणा अमरसिंह द्वितीय के काल में हरदेव सूरि के पुत्र मंगल ने 'अमरनृपकाव्यरत्न' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ ऐतिहासिक न होकर कवि की कल्पना पर आधारित है। शास्त्रों को आधार बनाकर पंडित वैकुण्ठ ने राज्याभिषेक सम्बन्धी एक ग्रन्थ लिखा था। महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय के समय के दक्षिणामूर्ति, वैद्य मंगल, पंडित दिनकर, पुण्डरीक भट्ट, ज्योतिषी कमलाकान्त भट्ट, कविया करणी दान आदि विद्वानों व लेखकों के नाम उल्लेखनीय हैं। वैद्यनाथ के मन्दिर की प्रशस्ति (1718 ई०) संस्कृत साहित्य की एक सुन्दर कृति है। परवर्ती राणाओं के काल में भी प्रशस्ति-लेखन का कार्यक्रम चलता रहा जिनमें अरिसिंह कालीन देवारी और प्रभुवारातण की बावड़ी की प्रशस्तियां प्रसिद्ध हैं। प्राचीन उपयोगी ग्रन्थों की प्रतिलिपियां तैयार करने की प्रक्रिया भी परम्परागत रूप से मेवाड़ राज्य में चलती रही।[73]

महाराणा जगतसिंह द्वितीय के काल में कवि नन्दराम ने जगविलास ग्रन्थ की रचना की थी। यह एक उपयोगी ऐतिहासिक काव्य है। इस कवि की एक अन्य कृति 'सेकारभाव' डिंगल भाषा में है जिसमें महाराणा के शिकार सम्बन्धी विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। नन्दराम को महाराणा का आश्रय प्राप्त था। पंचोली देवकरण ने 'वाराणसी विलास' ग्रन्थ लिखा। इसमें लेखक ने वाराह पुराण के काशी खण्ड को बड़ी सुन्दरता के साथ प्रादेशिक भाषा में प्रस्तुत किया है।[74]

महाराणा अरिसिंह स्वयं उच्च कोटि का कवि था। 45 दोहों की 'रसिक चमन' इस राणा की एक लघु कृति है जिससे उसके विचारों की गहराई का पता लगता है। साहित्य की दृष्टि से यह रचना बड़ी सुन्दर है। प्रयागदास-रचित 'कपड़ कुतूहल' रचना इसी समय की देन है। महाराणा अरिसिंह और हमीरसिंह के काल में सन्त साहित्य का सर्जन हुआ। दीन-दरवेश श्रेष्ठ संत कवियों में से एक था। उसकी कुंडलियां सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। महाराणा भीमसिंह के समय 'भीम विलास' तथा 'भीमपघेश्वर' की प्रशस्ति तैयार हुई। 'भीम विलास' की रचना चारण कवि आढा कृष्ण ने की थी। महाराणा भीमसिंह स्वयं कवि और विद्वानों का आश्रयदाता था।[75]

आलोच्यकाल में चारण राव तथा भाटों द्वारा भी साहित्य-सर्जन हुआ। पीरा आशिया, नन्दलाल भादा, घघवाड़िया जैतराम, बदनजी, खेमराज भादा आदि ने महाराणाओं की प्रशंसा में कई गीतों की रचना की थी।

इस युग में जैन विद्वानो ने भी साहित्य की अनुपम सेवा की। महाकवि दौलतराम कासलीवाल ने अपने उदयपुर प्रवास के समय त्रैपनक्रिया (1738 ई०), अध्यात्म बारहखड़ी विवेक विलास (1741 ई०) जीवंधर स्वामी चरित (1749 ई०) आदि कृतियां तैयार की थी।

मेवाड़ की साहित्यिक धारा को प्रवाहित रखने में समसामयिक सामन्तों का भी बड़ा योगदान रहा; जैसे, बनेड़ा के राजा सरदारसिंह ने 1748 ई० मे खड़ी बोली में 'स्वर तरंग' नामक काव्य की रचना की थी। इस प्रकार अशान्ति व अव्यवस्थित कालीन मेवाड़ में भी साहित्यिक धारा का यथासम्भव प्रवाह बना रहा।[76]

बीकानेर राज्य में महाराजा अनूपसिंह (1669–1698 ई०) के काल को साहित्य की दृष्टि से स्वर्ण-युग की संज्ञा दी जा सकती है। वह जैसा वीर था, वैसा ही संस्कृत और भाषा का विद्वान्, विद्वानों का सम्मानकर्ता एवं उनका आश्रयदाता था। इस काल में डिंगल, पिंगल एवं संस्कृत की त्रिवेणी मे विविध प्रकार के साहित्य का सर्जन हुआ था। उसने श्रेष्ठ व पुष्ट साहित्यिक परम्परा को पल्लवित व विकसित किया जो परवर्ती युग में भी साहित्यिक क्षितिज को आलोकित करती रही। इससे उत्प्रेरित होकर परवर्ती शासकों ने भी समयानुकूल यथासम्भव इसे सिंचित कर इसको गति देने का प्रयास किया।[77]

महाराजा जोरावरसिंह संस्कृत और भाषा का अच्छा कवि था। इसके द्वारा रचित दो संस्कृत ग्रन्थ-वैद्यकसार और पूजा-पद्धति बीकानेर के पुस्तकालय में उपलब्ध हैं। उसने रसिकप्रिया और कविप्रिया की टीकाएं भाषा में तैयार की थी। मारवाड़ के शासक अभयसिंह द्वारा बीकानेर के घेरे जाने के समय एक सफेद चील को देखकर उसने एक दोहा कहा था :—

डाढ़ाली डोकर थई, का तूं गई विदेस।
खून बिना क्यों खोसजे, निज बीका रां देस ।।[78]

महाराजा गजसिंह (1745–87 ई०) स्वयं कवि और साहित्यानुरागी था। उसके राज्यकाल में चारण गडण गोपीनाथ ने 'ग्रन्थराज' की रचना की थी। यह ग्रन्थ इतिहास जानने का अच्छा स्रोत है। इस ग्रन्थ में छन्दों का सुन्दर समावेश हुआ है। इसी काल के सिंढायच फतेराम ने 'महाराजा गजसिंह रो रूपक' नामक काव्य-ग्रन्थ का सर्जन किया था। इसकी एक अन्य कृति-महाराजा गजसिंह जी रा गीत कवित्त दूहा-बीकानेर राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। महाराजा द्वारा लिखी कविताओं का संग्रह एक गुटके में समाहित है जो पुस्तकालय में विद्यमान है।[79] रामस्नेही सम्प्रदाय सींथल के प्रवर्तक हरिरामदासजी की कविताओं का संत

साहित्यिक गोष्टियां, कवि-सम्मेलन, वाद-विवाद आदि के आयोजन करवाता रहता था जिनमें स्थानीय व बाहर से आये विद्वान् भाग लेते थे। वस्तुतः महाराजा मानसिंह का काल महती साहित्यिक उपलब्धियों का काल था।[72]

मेवाड़ के इतिहास में महाराणा राजसिंह प्रथम का काल महती साहित्यिक एवं कलात्मक प्रतिभा का युग माना जाता है। परवर्ती काल में यद्यपि इस गौरवमय साहित्यिक परम्परा का पूर्णरूपेण निर्वाह तो नहीं हो सका, फिर भी आलोच्य-कालीन साहित्य सर्जन के कतिपय उदाहरण यत्र-तत्र दृष्टिगत होते हैं। महाराणा अमरसिंह द्वितीय के काल में हरदेव सूरि के पुत्र मंगल ने 'अमरनृपकाव्यरत्न' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ ऐतिहासिक न होकर कवि की कल्पना पर आधारित है। शास्त्रों को आधार बनाकर पंडित वैकुण्ठ ने राज्याभिषेक सम्बन्धी एक ग्रन्थ लिखा था। महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय के समय के दक्षिणामूर्ति, वैद्य मंगल, पंडित दिनकर, पुण्डरीक भट्ट, ज्योतिषी कमलाकान्त भट्ट, कविया करणी दान आदि विद्वानों व लेखकों के नाम उल्लेखनीय हैं। वैद्यनाथ के मन्दिर की प्रशस्ति (1718 ई०) संस्कृत साहित्य की एक सुन्दर कृति है। परवर्ती राणाओं के काल में भी प्रशस्ति-लेखन का कार्यक्रम चलता रहा जिनमें अरिसिंह कालीन देवारी और प्रभुवारातरण की बावड़ी की प्रशस्तियां प्रसिद्ध हैं। प्राचीन उपयोगी ग्रन्थों की प्रतिलिपियां तैयार करने की प्रक्रिया भी परम्परागत रूप से मेवाड़ राज्य में चलती रही।[73]

महाराणा जगतसिंह द्वितीय के काल में कवि नन्दराम ने जगविलास ग्रन्थ की रचना की थी। यह एक उपयोगी ऐतिहासिक काव्य है। इस कवि की एक अन्य कृति 'सेकारभाव' डिंगल भाषा में है जिसमें महाराणा के शिकार सम्बन्धी विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। नन्दराम को महाराणा का आश्रय प्राप्त था। पंचोली देवकरण ने 'वाराणसी विलास' ग्रन्थ लिखा। इसमें लेखक ने वाराह पुराण के काशी खण्ड को बड़ी सुन्दरता के साथ प्रादेशिक भाषा में प्रस्तुत किया है।[74]

महाराणा अरिसिंह स्वयं उच्च कोटि का कवि था। 45 दोहों की 'रसिक चमन' इस राणा की एक लघु कृति है जिससे उसके विचारों की गहराई का पता लगता है। साहित्य की दृष्टि से यह रचना बड़ी सुन्दर है। प्रयागदास-रचित 'कपड़ कुतूहल' रचना इसी समय की देन है। महाराणा अरिसिंह और हमीरसिंह के काल में सन्त साहित्य का सर्जन हुआ। दीन-दरवेश श्रेष्ठ संत कवियों में से एक था। उसकी कुंडलिया सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। महाराणा भीमसिंह के समय 'भीम विलास' तथा 'भीमपधेश्वर' की प्रशस्ति तैयार हुई। 'भीम विलास' की रचना चारण कवि आढा कृष्ण ने की थी। महाराणा भीमसिंह स्वयं कवि और विद्वानों का आश्रयदाता था।[75]

आलोच्यकाल में चारण राव तथा भाटों द्वारा भी साहित्य-सर्जन हुआ। पीरा आशिया, नन्दलाल भादा, घघवाड़िया जैतराम, बदनजी, खेमराज भादा आदि ने महाराणाओं की प्रशंसा में कई गीतों की रचना की थी।

इस युग में जैन विद्वानों ने भी साहित्य की अनुपम सेवा की। महाकवि दौलतराम कासलीवाल ने अपने उदयपुर आवास के समय त्रैपनक्रिया (1738 ई०), अध्यात्म बारहखड़ी विवेक विलास (1741 ई०) जीवंधर स्वामी चरित (1749 ई०) आदि कृतियां तैयार की थीं।

मेवाड़ की साहित्यिक धारा को प्रवाहित रखने में समसामयिक सामन्तों का भी बड़ा योगदान रहा; जैसे, बनेड़ा के राजा सरदारसिंह ने 1748 ई० मे खड़ी बोली में 'स्वर तरंग' नामक काव्य की रचना की थी। इस प्रकार अशान्ति व अव्यवस्थित कालीन मेवाड़ में भी साहित्यिक धारा का यथासम्भव प्रवाह बना रहा।[76]

बीकानेर राज्य में महाराजा अनूपसिंह (1669–1698 ई०) के काल को साहित्य की दृष्टि से स्वर्ण-युग की संज्ञा दी जा सकती है। वह जैसा वीर था, वैसा ही संस्कृत और भाषा का विद्वान्, विद्वानो का सम्मानकर्ता एवं उनका आश्रयदाता था। इस काल में डिंगल, पिंगल एवं संस्कृत की त्रिवेणी मे विविध प्रकार के साहित्य का सर्जन हुआ था। उसने श्रेष्ठ व पुष्ट साहित्यिक परम्परा को पल्लवित व विकसित किया जो परवर्ती युग में भी साहित्यिक क्षितिज को आलोकित करती रही। इससे उत्प्रेरित होकर परवर्ती शासकों ने भी समयानुकूल यथासम्भव इसे सिंचित कर इसको गति देने का प्रयास किया।[77]

महाराजा जोरावरसिंह संस्कृत और भाषा का अच्छा कवि था। इसके द्वारा रचित दो संस्कृत ग्रन्थ-वैद्यकसार और पूजा-पद्धति बीकानेर के पुस्तकालय में उपलब्ध हैं। उसने रसिकप्रिया और कविप्रिया की टीकाएं भाषा में तैयार की थीं। मारवाड़ के शासक अभयसिंह द्वारा बीकानेर के घेरे जाने के समय एक सफेद चील को देखकर उसने एक दोहा कहा था :—

डाढ़ाली डोकर थई, का तूं गई विदेस।
खून बिना क्यों खोसजे, निज बीका रां देस।।[78]

महाराजा गजसिंह (1745–87 ई०) स्वयं कवि और साहित्यानुरागी था। उसके राज्यकाल में चारण गडण गोपीनाथ ने 'ग्रन्थराज' की रचना की थी। यह ग्रन्थ इतिहास जानने का अच्छा स्रोत है। इस ग्रन्थ में छन्दों का सुन्दर समावेश हुआ है। इसी काल के सिंढायच फतेराम ने 'महाराजा गजसिंह रो रूपक' नामक काव्य-ग्रन्थ का सर्जन किया था। इसकी एक अन्य कृति-महाराजा गजसिंह जी रा गीत कवित्त दूहा-बीकानेर राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। महाराजा द्वारा लिखी कविताओं का संग्रह एक गुटके में समाहित है जो पुस्तकालय में विद्यमान है।[79] रामस्नेही सम्प्रदाय सींथल के प्रवर्तक हरिरामदासजी की कविताओं का संत

साहित्य में महत्त्व है। इनकी वाणी प्रसादगुण-सम्पन्न और प्रवाहपूर्ण है। इनका शब्दचयन भी प्रभावी है। हरिदेवदासजी, नारायणदासजी आदि इस सत-शाखा के प्रसिद्ध कवि हुए है।[79]ए

वीर-प्रसविनी माड़ क्षेत्र (जैसलमेर) में जहां प्रकृति की संहारजन्य शुष्कता रही है, वहां कला और साहित्य की पावन सरिता का प्रवाह अविरल गति से बहता रहा है। उसने हमारी सांस्कृतिक धरोहर को सुरक्षित रखा, एक प्रहरी का कार्य किया। इसकी अनुपम सेवाओं से प्रभावित होकर अनेकानेक जैन कवियों और चारणों ने जैसलमेर की प्रशंसा में स्तवन, स्तुति एवं गीत लिखे है। वि०सं० 1787 में जैन मुनि अमर विजयकृत 'जैसलमेर स्तवन' और कवि धर्मवर्द्धन रचित' जैसलमेर पार्श्व स्तवन' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[80]

दीनदयाल ओझा ने अपनी पुस्तक 'जैसलमेर: सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में' 17वीं से 18वीं विक्रमी शताब्दी को साहित्य की दृष्टि से जैसलमेर का स्वर्ण युग माना है। परन्तु 19वीं विक्रमी शताब्दी साहित्य-सर्जन की दृष्टि से निष्क्रियता की रही। इस काल में देश अराजकता, अत्याचार एवं राजनीतिक अस्थिरता की चपेट में रहा। विद्वान् कवि व साहित्यकार समुचित राज्याश्रय प्राप्त न होने के कारण जैसलमेर राज्य से बाहर चले गये। इतना होने पर भी इस काल की यत्र-तत्र, छुट-पुट रचनाएं उपलब्ध है। उपाध्याय क्षमा कल्याण रचित श्रावक विधि प्रकाश, विज्ञान चन्द्रिका एवं शिवचन्द्र-रचित मूलराजगुण वर्णन (वि० सं० 1861) आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय है। महारावल मूल राज (1762–1819 ई०) स्वयं संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। उनके द्वारा रचित कुछ छन्द आज भी उपलब्ध हैं। ज्योतिष, काव्य, धर्मशास्त्र आदि विषयों में महारावल की विशेष रुचि थी। इसके काल मे श्रीनाथ शर्मा ने मूलराज विलास, अन्योक्ति मंजूषा और लोलिबराज ग्रन्थों की रचना कर जैसलमेर में साहित्य-सरिता के प्रवाह को गति देने का सफल प्रयास किया था। मूलराज विलास ग्रन्थ का एक अंश लक्ष्मी कीर्ति संवाद तवारीख जैसलमेर में प्रकाशित हुआ है।[81]

जयपुर राज्य में साहित्य की उज्ज्वल परम्परा में सवाई राजा जयसिंह का प्रशंसनीय योगदान रहा है। इसके काल में संस्कृत साहित्य सरिता को अत्यधिक गति प्रदान की गई। जयसिंह स्वयं संस्कृत व फारसी का विद्वान् था। उसने अपनी राजधानी को विद्या का अनुपम केन्द्र बना रखा था। देश के विभिन्न भागों के विद्वान् इसकी ओर आकर्षित हुए थे। गणित, ज्योतिष, विज्ञान आदि विषयों के प्रति जयसिंह का विशेष झुकाव रहा। 1725 ई० में उसने ग्रह-नक्षत्रों की शुद्ध सारिणी बनवाई और उसका नाम तत्कालीन बादशाह के नाम से 'जीज मुहम्मदशाही' रखा। महाराष्ट्रीय ब्राह्मण जगन्नाथ दीर्घकाल तक जयसिंह के दरबार में रहा। उसने यूक्लिड की रेखागणित का अरबी से संस्कृत में अनुवाद किया और टालमी की अलमजेस्त के अरबी अनुवाद के आधार पर उसने 'सिद्धान्त कौस्तुभ' नामक ग्रन्थ की

रचना की थी। जयसिंह ने भी 'जयसिंह कारिका' नामक ज्योतिष ग्रंथ को लिपिबद्ध किया था। ज्योतिष विशेषज्ञ केवलराम गुजरात से जयपुर पहुंचा था। उसने जयसिंह के आश्रय में खगोल-शास्त्र सम्बन्धी आठ ग्रन्थों की रचना की। इनके अतिरिक्त उसने लागोरियम का फ्रेंच से संस्कृत में अनुवाद किया और उसका नाम 'विभाग सारिणी' रखा। नयन-सुखोपाध्याय ने 'वतूल मयूस' के अरबी ग्रन्थ 'ऊकर' का संस्कृत में अनुवाद किया।[82]

संस्कृत का ख्यातिलब्ध विद्वान् रत्नाकर भट्ट पुण्डरीक को जयसिंह का आश्रय प्राप्त था। उन्होंने 'जयसिंह कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। वैसे यह ग्रन्थ धर्मशास्त्र से सम्बन्धित था, परन्तु इसमें जयसिंह के वंश तथा उसकी उपलब्धियों का भी उल्लेख है। रत्नाकर के पुत्र सुधाकर पुण्डरीक ने साहित्य सारसंग्रह नामक ग्रन्थ को लिपिबद्ध किया था। एक अन्य विद्वान् व्रजनाथ भट्ट ने ब्रह्म सूत्राण, भाष्य-वृत्ति व पद्यतरंगिणी ग्रन्थ लिखे। कवि कलानिधि श्री कृष्णभट्ट का जयपुर दरबार में विशिष्ट स्थान था। वह पहिले बून्दी के महाराव बुद्धसिंह का आश्रित था। उसकी गणना देश के संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी व ब्रजभाषा के मूर्द्धन्य विद्वानों में की जाती थी। उसके द्वारा लिखे अनेक ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं। उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति 'ईश्वर विलास महाकाव्यम्' मानी जाती है जिसकी रचना 1749 ई० में महाराजा ईश्वरीसिंह के शासन काल में की गई थी। हरिहर का कुल प्रबन्ध, हरिकृष्ण का वैदिक वैष्णव सदाचार, मायाराम गौड़ के व्यवहार निर्णय, व्यवहारसार, मिताक्षरसार और व्यवहारांग स्मृति सर्वस्व तथा केवलराम के अभिलाप-शतकम (मुक्तक रचना) व गंगास्तुति आदि ग्रन्थ संस्कृत साहित्य की अनुपम देन हैं।

जयसिंह के काल में संस्कृत रचनाओं के अतिरिक्त पिंगल व डिंगल ग्रन्थ भी लिखे गये जिनमें अधिकतर टीकाएं थी। प्रियदास द्वारा रचित भक्तमाला टीका और सूरतमिश्र की बिहारी सतसई की टीका विशेष उल्लेखनीय हैं। कविप्रिया की टीका व रसिकप्रिया का तिलक सूरत मिश्र की दो अन्य कृतियां हैं। श्रीकृष्ण भट्ट ने ईश्वर विलास महाकाव्यम्, ऐतिहासिक ग्रन्थ जिसका पहिले उल्लेख किया जा चुका है, के अतिरिक्त सांभर युद्ध, जाजव युद्ध और बहादुर विजय नामक ऐतिहासिक काव्यों की भी रचना की थी। इस प्रकार आलोच्यकाल में जयपुर विद्या और ज्ञान का प्रमुख केन्द्र बन गया था। कर्नल टॉड के शब्दों में 'वह हिन्दू विद्या का शरण स्थल था'।[83]

ईश्वरीसिंह अपने पिता की भांति ही विद्यानुरागी था। उसने अपने पिता के काल के सभी आश्रित कवि व लेखकों को यथावत् सम्मान प्रदान किया। उसके समय में 13 ब्रजभाषा तथा 3 संस्कृत भाषा के ग्रन्थों की रचना हुई थी जिसमें 'ईश्वर विलास महाकाव्यम्' एक था। माधोसिंह (1751–67 ई०) काल के द्वारकानाथ भट्ट रचित गालवागीत व वाणी वैराग्य दो संस्कृत ग्रन्थों की महत्ता है।

उसने उपनिषद सार, दुर्गा महात्म्य (अनुवाद), रामगीतम, शृंगार माधुरी तथा अलंकार नामक ग्रन्थों की रचना की थी। सूरजमल की प्रशंसा में अखैराम ने सिंहासन बत्तीसी, विक्रम विलास और सुजान विलास ग्रन्थ लिखे। कविदत्त द्वारा लिखा 'महाराजा सूरजमल की कृपाण' ग्रन्थ वीररस की एक अनुपम कृति है। ऐसी भी मान्यता है कि महाकवि देव को भी सूरजमल का आश्रय प्राप्त था। सम्भवतः 'सुजान विनोद' ग्रन्थ की रचना कवि देव ने अपने आश्रयदाता के लिए तैयार की थी। भक्त कवि वृन्दावनदास ने 'हरि कला बेलि' काव्य की रचना कर हिन्दी साहित्य की बड़ी सेवा की है। इस प्रकार भरतपुर राज्य में साहित्य के क्षेत्र में आशातीत उन्नति हुई।[86]

हाड़ौती के शासक विद्यानुरागी रहे हैं। उनके समय के संस्कृत और भाषा के अनेक ग्रन्थ सरस्वती भंडार तथा कोटा और बून्दी राजाओं के निजी संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। ये ग्रन्थ अधिकांशतः वैद्यक, ज्योतिष और काव्य-विषय सम्बन्धी हैं। मुंशी मूलचन्द की पुस्तक के आधार पर जी० एन० शर्मा 'चरित रत्नावली' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ से हाड़ौती के इतिहास के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है। आलोच्यकाल में साहित्य की दृष्टि से हाड़ौती प्रदेश में कोई विशेष उन्नति नहीं हुई; परन्तु 19वीं शताब्दी में बून्दी राज्य की कुछ साहित्यिक उपलब्धियां हैं। पंडित गंगादास ने श्रीभागवत पर एक टीका लिखी थी। इनके अलावा बाबा आत्माराम, आशानन्द, जीवन लाल, पठान हमीदखां आदि विद्वान् लेखक महाराव रामसिंह के दरबार में थे। वंशभास्कर के रचयिता महाकवि सूर्यमल मिश्रण भी इसी काल के एक रत्न थे।[87]

आलोच्यकालीन बागड़ प्रदेश (डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ राज्य) में साहित्य के क्षेत्र में कोई विशेष उन्नति नहीं हुई, फिर भी इस क्षेत्र में संस्कृत में लिखे सैंकड़ों की संख्या में अभिलेख मिले हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि संस्कृत भाषा का यहां अच्छा प्रचलन था। आलोच्यकालीन बांसवाड़ा के शासक पृथ्वीसिंह, डूंगरपुर के नरेश शिवसिंह और प्रतापगढ़ के राव पृथ्वीसिंह संस्कृत के ज्ञाता, काव्यप्रेमी और विद्वानों के आश्रयदाता थे। डूंगरपुर के शिवसिंह ने मारवाड़ के ख्याति-प्राप्त चारण विद्वान् कविया करणीदान को लाख पसाव का सिरोपाव देकर सम्मानित किया था।[88]

किशनगढ़ राज्य में वहां का नरेश सांवतसिंह (1699–1764 ई०) स्वयं एक प्रसिद्ध साहित्यकार था। वह हिन्दी काव्य जगत में नागरीदास के नाम से विख्यात हुआ। नागरीदास वैष्णव धर्म की पुष्टि मार्ग शाखा का अनुयायी था। उसकी कविताएं कृष्ण और राधा के प्रेम से सम्बन्धित थीं। उसकी कविताओं में उसकी प्रेयसी बनी-ठनी के प्रति प्रेम की अनुभूति देखी जा सकती है। बनी-ठनी भी कविताएं करती थी।[89] अलवर राज्य के डहरा गांव में उत्पन्न चरणदासी या शुक

संप्रदाय के प्रवर्तक चरणदास (वि० सं० 1760–1839) तथा उनकी दो शिष्याओं-दयाबाई और सहजोबाई की रचनाएं–भक्ति परम्परा की महत्त्वपूर्ण निधि हैं। इनकी भाषा राजस्थानी, ब्रज और खड़ी बोली मिश्रित है। दयाबाई के रचे ग्रन्थ दयाबोध और विनयमालिका में दीनता और वैराग्य की प्रधानता है। अलवर राज्य में जोधराज नाम का एक प्रसिद्ध कवि हुआ है जिसने 1728 ई० में 'हमीर रासो' की रचना की थी। इसमें लगभग 1000 छंद हैं। इसकी कविताओं में शृंगार और वीररस की प्रधानता है।[89(अ)]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आलोच्यकालीन राजस्थान साहित्यिक क्रियाशीलता के लिए प्रसिद्ध है। इस युग में जहां एक तरफ कुछ मौलिक व मूलभूत ग्रन्थो का सर्जन हुआ, तो दूसरी तरफ प्राचीन, धार्मिक व लौकिक ग्रन्थो की प्रतिलिपियां तैयार की गईं। संस्कृत, डिंगल और पिंगल सभी भाषाओं को प्रोत्साहन मिला तथा इन भाषाओं में कृतियां लिपिबद्ध की गईं। अतः यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि हमारे अध्ययनकाल में साहित्यिक परम्पराओं को विकसित व पल्लवित करने के सभी स्तरों पर समुचित प्रयास हुए।

चित्रकला

राजस्थान में चित्रकला का स्वरूप बहुत प्राचीन काल में ही विकसित हो चुका था। राजस्थानी चित्रकला पर बदलती परिस्थितियों का प्रभाव रहा। इस विस्तृत प्रभाव के फलस्वरूप जो समय-समय पर परिवर्तन आये और जिनसे राजस्थानी चित्रकला के क्रमिक नये स्वरूप बने, उन्हें हम जैन शैली, गुजरात शैली, पश्चिम भारतीय शैली, अपभ्रंश शैली आदि नामों से सम्बोधित करते हैं। अन्ततोगत्वा मुगलों के सम्पर्क में आने पर राजस्थान में प्रचलित चित्रशैली पर मुगल प्रभाव अनिवार्य रूप से परिलक्षित होता है। जहांगीर के काल में मुगल चित्रकला चरम सीमा पर पहुंच गई थी। शाहजहां के काल में यद्यपि इसे कोई प्रोत्साहन नहीं मिला तथापि चित्रकारो को मुगल दरबार में पूर्ववत् आश्रय मिलता रहा। परन्तु धर्मान्ध और कट्टरपंथी औरंगजेब के समय से मुगल चित्रकला का ह्रास प्रारम्भ हुआ। चित्रकार अब प्रेरणा के स्थान पर ताड़ना और प्रोत्साहन के स्थान पर उपहास पाते थे। फलतः वे मुगल दरबार को छोड़कर अपनी जीविका-निर्वाह हेतु हिन्दू शासकों के पास चले गये। राजपूत शासकों ने उन्हें अपने दरबार मे आश्रय दिया। इन मुगल चित्रकारो के संयोग से शनैः-शनैः वहां स्थानीय शैलियों का उदय हुआ। कालांतर में उन पर मुगल शैली का प्रभाव नाममात्र का रह गया। इस प्रकार 18वीं शताब्दी में जहां मुगल शैली पतनोन्मुख हुई, वहीं राजस्थानी कला स्थानीय विशेषताओं के समावेश के कारण विभिन्न शैलियों के रूप में प्रस्फुटित व पल्लवित हुई। आलोच्यकाल की प्रमुख शैलियों का यहां निरूपण किया जायेगा।[90]

17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मेवाड़ चित्रशैली मे मुगल चित्रकला की विशेषताओं का समावेश हुआ और वह परिपक्वावस्था में पहुंच गई। इस काल में

मेवाड़ में अनेक सुन्दर चित्रों का सर्जन हुआ । इस शैली की प्रमुख विशेषताएं निम्न थी :—

1. चमकीले व गहरे रंगों का प्रयोग होने लगा । पीले और हिंगलु रंगों की प्रधानता मिलती है ।
2. पुरुषों और स्त्रियों की आकृतियों में लम्बी नाक, गोल चेहरा, छोटा कद और मीनाक्षी आंखें रहती हैं ।
3. पुरुषों के वस्त्रों में जहांगीरी पटका, अटपटी पगड़ी और चाकदार जामा रहता है ।
4. गुम्बजदार, पतले स्तम्भ एवं लम्बी बारादरी वाले भवन चित्रित किये गये हैं । इन चित्रो मे कदली वृक्षों की प्रधानता है ।

महाराणा अमरसिंह द्वितीय के काल से मेवाड़ चित्रशैली मे कुछ परिवर्तन आने लगते हैं । अमरशाही पगड़ी का चित्रों मे प्रचलन होने लगा । वह छोटी और अपेक्षाकृत पतली धारीदार थी । अब घटनाओं से सम्बद्ध बड़े चित्रपट बनाये गये । बाद में इसका अनुकरण मारवाड़ और कोटा शैलियों मे भी किया जाने लगा । इस प्रकार के बड़े चित्र महाराणा के निजी संग्रह में सुरक्षित हैं । उनकी विषय-वस्तु सामान्यत: सामाजिक एवं धार्मिक पर्वों से सम्बन्धित रही है, परन्तु अब इन चित्रों के शिकार एवं राजसी वैभव, दरबारी दृश्यों, हरम की भाकियों, हाथियों की सवारी, गणगौर के उत्सव आदि का अधिक प्रचलन रहा । मेवाड़ में रेखांकन चित्रों का भी सर्जन हुआ । इनमें काली स्याही मे रेखांकन किया गया । अमरसिंह द्वितीय के काल के ऐसे अनेक सुन्दर चित्र उपलब्ध हैं ।

महाराणा अरिसिंह के काल से अमरशाही पगड़ी के स्थान पर खजनशाही पगडी का प्रचलन हुआ । बून्दी शैली के समान मेवाड़ी चित्रों में राणा को महारानियो को आलिंगन करते हुए चित्रित किया गया है । तत्कालीन युग के राग-रंग और ऐश्वर्य-विलास-प्रधान प्रवृत्ति का प्रतिबिम्ब चित्रों में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है । रासलीला तथा राधाकृष्ण सम्बन्धी धार्मिक चित्रों में भी मानवीय कामुकता का चित्रण मिलता है । 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ से चित्रों के भाव-चित्रण में छिछलापन और निर्जीवता आने लगी थी ।

आलोच्यकालीन मेवाड़ में बड़े चित्रपटों के अतिरिक्त ग्रन्थ-चित्रण भी हुआ । बिहारी सतसई, सुन्दर शृंगार, गीत गोविन्द, कृष्ण रुक्मणी की बेली आदि के ग्रन्थ-चित्रण तैयार किये गये ।

18वीं शताब्दी में मेवाड़ में भित्तिचित्रों का व्यापक प्रचलन रहा । उदयपुर के राजमहलों, उदयपुर की प्रमुख हवेलियो एव ठिकानेदारो की हवेलियों के भित्तिचित्र बड़े मनमोहक हैं । नाथद्वारा के मोतीमहल के भित्ति चित्रो का भी बड़ा महत्त्व है । अम्बा माता के मन्दिर के भित्तिचित्रो की कला की दृष्टि से अत्यधिक

महिमा है। गोटाई फ्रेस्को में गणेश व शंकर की खड़ी मुद्रा के चित्र बड़े आकर्षक हैं।

मेवाड़ी शैली के विकास में मेवाड़ के ठिकानेदारों का भी योगदान रहा। इनमें केलवा, बेंगू, आसींद, देवगढ़ आदि ठिकानों के नाम उल्लेखनीय हैं। जहां मेवाड़ी चित्रशैली को प्रोत्साहन मिला। महाराणा जगतसिंह द्वितीय के काल में जीवा, राजसिंह द्वितीय के समय रघुनाथ और महाराणा अरिसिंह के दरबार में बीका, शाहजी, जुगरसी, भोपा, सेवा, शम्भू, मेरू, भीमा आदि प्रसिद्ध चित्रकार थे। ठिकानों के चित्रकारों में नारायण (घाणेराव) गंगाराम (केलवा) और कमला (देवगढ़) के नाम उल्लेखनीय हैं।[91]

श्रीनाथजी के मेवाड़ आगमन से चित्रकला के क्षेत्र में एक नवीन मोड़ आया। ब्रज से आये चित्रकारों के अतिरिक्त उदयपुर से गौड़, जयपुर-जोधपुर से जांगीड और अलवर-दिल्ली से पुरबिया जाति के चित्रकार नाथद्वारा में आकर निवास करने लगे थे। फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रीय प्रभावों के सम्मिश्रण से द्वारका की प्रचलित चित्रशैली का विकास हुआ जो कालान्तर में नाथद्वारा शैली के नाम से विख्यात हुई। स्थानीय चित्रकारों के घरानों तथा मोतीमहल में चित्रित श्रीनाथजी के चित्र, यमुना-स्नान, आंखमिचौनी, हिंडोला, जन्माष्टमी, अन्नकूट आदि उत्सवों के चित्र 18वीं शताब्दी में तैयार किये गये जिनका कला की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है।[92]

मारवाड़ में अजीतसिंह कालीन चित्रों में मुगल विषयों की प्रधानता है। इनमें मुगल हरम, फव्वारा, तुर्की स्नानागार आदि के चित्रण मिलते हैं। पाबूजी, हड़बूजी आदि वीरों के चित्रों, ढोला-मारू, मूमलदे, निहालदे आदि प्रेम-कथाओं के चित्रो, षट् ऋतु एवं बारहमासा के चित्रों, रागमाला, युद्धों व शिकार के दृश्यों का चित्रण बड़ी दक्षता के साथ किया गया है। अभयसिंह के काल में दरबारी चित्रकार डालचन्द्र द्वारा निर्मित अनेक चित्र कुंवर संग्रामसिंह के संग्रहालय मे सुरक्षित हैं। महाराजा बख्तसिंह के काल में चित्रकला को अधिक प्रोत्साहन मिला। ऊंची, लम्बी पगड़ी के पहनावे का प्रचलन इसके समय से आरम्भ हुआ। नागौर के किले में निर्मित राजमहलों के भित्ति चित्र बड़े मनमोहक हैं। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में महाराजा विजयसिंह के काल में मारवाड़ शैली में परिवर्तन आया। अब चित्रों मे पौरुष-युक्त गोल चेहरे वाले पुरुष और गोल मुंह, तिरछी आंख, खुला ललाट वाले नारी-चेहरे चित्रों में अंकित किये गये। मारवाड़ी परिधानों का प्रयोग होने लगा था। मानसिंह के काल में चित्रों की पृष्ठभूमि में कई बहुमूल्य सजावटों का प्राधान्य रहा। विजयसिंह और मानसिंह के काल में भक्ति रस (कृष्ण से सम्बन्धित लीलाएं) और शृंगार रस के अधिक चित्र निर्मित हुए। मानसिंह के काल में चित्रकला को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। ढोला मारू और पंचतन्त्र के ग्रन्थ-चित्र बड़े सुन्दर हैं। सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति का, जो नाथ पंथ के यौगिक पक्ष पर प्रकाश डालता है, ग्रन्थ-

चित्रण बड़ी कुशलता के साथ किया गया है। इनके अतिरिक्त नाथ चरित, शिव रहस्य (जिसमें हिमाच्छादित पर्वतों को प्रदर्शित किया है) रामायण (51 चित्र) और शिव पुराण (109 चित्र) के ग्रन्थ-चित्र भी मनमोहक है। मारवाड़ शैली में पीले और लाल रंगो का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। महामन्दिर में नाथमन्दिर के भित्तिचित्र अपने आप में अनुपम कृतियां हैं। यहां यौगिक क्रियाओं का प्रदर्शन किया गया है। अब इन चित्रों की आकृतियां नष्ट होती जा रही हैं। जोधपुर किले मे स्थित महलों की दीवारो पर अंकित चित्र बड़े सजीव व सुन्दर हैं। यहा सुनहरे रंग का प्रयोग बड़ी खूबी के साथ किया गया है।[93]

बीकानेर में चित्रकला का सर्वाधिक विकास महाराजा अनूपसिंह (1669-98 ई.) के काल मे हुआ। इस समय के प्रमुख चित्रकार रामलाल, रुकुनुद्दीन, अलीराजा और हसन थे, जिन्होने बड़ी दक्षता के साथ मारवाड़ शैली और मुगल शैली में सामंजस्य स्थापित किया और एक नई शैली को जन्म दिया जिसे बीकानेर शैली कहा जाता है। इस शैली की विशेषतायें इन चित्रकारों के चित्रों में देखी जा सकती हैं। इकहरी, तन्वंगी, मृगनयनी नारियों के चित्र, लाल, नीले तथा हरे रगों का प्रयोग, पुरुष आकृतियों में लम्बी जुल्फें, मुगल शैली की पगड़ियां तथा ऊंट व हिरण आदि का बहुतायत से प्रयोग किया गया है।

आलोच्यकाल में बीकानेर शैली पर से मुगल प्रभाव धीरे-धीरे लुप्त होने लगा। 18वी शताब्दी मे इस पर मारवाड़ शैली का प्रभाव अधिक दिखाई देता है। पंजाब के निकट होने के कारण बीकानेर शैली पर पंजाबी शैली का प्रभाव भी अधिक रहा। महाराजा गजसिंह (1746-87 ई.) के समय रागमाला, शिकार के दृश्य तथा राजपरिवार के लोगों की तस्वीरें बड़ी संख्या में बनी। इस काल का मुख्य चित्रकार शाह मुहम्मद रेसो था जो लाहौर से आया था। अन्य चित्रकारों मे उस्ताद अबु कासिम, अबु हमीद, उस्ताद कायम, अबु महमूद हासन आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इस समय तक चित्रों में चेहरे गोल से अब कुछ विकसित हो चले थे, नाक तथा नयन अब तीखे बनने लगे, नाक कुछ लम्बी, ललाट गोल तथा ठोढी और नाक के बीच में मनमोह लेने वाली सलवटें, चेहरा अब अधिक देदीप्यमान तथा तना हुआ बनने लगा। यह काल बीकानेर-शैली का सर्वोत्कृष्ट काल कहा जा सकता है। इस काल के चित्रो में भेड, ऊंट, बकरी, सारस तथा कुर्ज आदि का बाहुल्य मिलता है। अब पगड़ियां ऊंची और लम्बी बनने लगी थी। अब चित्रो मे बालू के टीबों व बादलों का सुन्दर चित्रण किया जाने लगा था।

बीकानेर स्थित जूनागढ के महलों के भित्तिचित्रों मे शिकार के दृश्य, हरम की स्त्रियों के जीवन की झांकी व पुराणों आदि के चित्रण अत्यन्त रोचक व मनोहर हैं। महलों मे सुनहरी कलम का काम अद्वितीय है। सूरतसिंह के शासन-काल में महिषासुरमर्दिनी का एक चित्र हसन द्वारा निर्मित किया गया था जिसकी पृष्ठभूमि

में पीले रंग का प्रयोग मिलता है। इसके शासन काल में मानवाकृतियों में चौड़े मुह बनाने की परिपाटी आरम्भ हो गई थी।[94]

सुन्दरता की दृष्टि से किशनगढ़ चित्रशैली का बड़ा महत्त्व है। किशनगढ़ शैली का समृद्ध स्वरूप राजा सावंतसिंह (1699–1764 ई.) के काल से दृष्टिगत होता है। सावंतसिंह हिन्दी काव्य-क्षेत्र मे नागरीदास के नाम से प्रसिद्ध है। वह वैष्णव धर्म की पुष्टि मार्गी शाखा का अनुयायी था और कवि होने के साथ-साथ एक अच्छा चित्रकार भी था। उसने अपनी प्रेयसी बनी-ठनी को राधा के रूप मे चित्रित किया है। इसके काल में किशनगढ़ शैली का पूर्ण विकसित रूप देखने को मिलता है। इस काल के चित्रो के सर्जन का श्रेय समकालीन कलाकार निहालचन्द को है। कला, प्रेम और भक्ति का अनुपम सामजस्य हमें किशनगढ शैली के चित्रों मे दिखाई देता है। इस शैली के चेहरे लम्बे, नाक नुकीली, कद लम्बा, कमर पतली, बादाम के आकार की आंखें, बाल गहरे-काले जिनकी कुछ लटें चेहरे पर आती हुई प्रदर्शित हैं। पृष्ठभूमि में हरे रंग की प्रधानता है। महल, बाग, झील आदि को मुख्य रूप से पृष्ठभूमि में दिखाया गया है। चित्रों की विषय-वस्तु प्रधानतः कृष्ण-लीला से सम्बन्धित है। नारियो की आकृतियां अधिकतर बनी-ठनी की आकृति के समान है। नागरीदास के बाद भी इस शैली के चित्र परम्परागत रूप से बनते रहे। अमरू और सूरज नामक चित्रकारों के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होने 18वी शताब्दी के अन्तिम चरण में अनेक सुन्दर चित्र निर्मित किये। महाराजा बिड़दसिंह (1782–98 ई०) के चित्रकारों मे रामनाथ एवं सवाईराम के नाम अधिक प्रसिद्ध है।[95]

राजस्थानी चित्रशैली के अन्तर्गत बून्दी शैली का एक विशिष्ट स्थान है। आरम्भ मे बून्दी चित्रकला पर मेवाड़ी चित्रशैली का प्रभाव रहा, परन्तु बाद मे जब बून्दी पर मुगलों का आधिपत्य स्थापित हो गया तब मुगल शैली ने बून्दी के चित्रों को अत्यधिक प्रभावित किया था। चित्रों में बाग, फव्वारे, फूलो की कतार व मुगल वैभव का अधिक प्रचलन होने लगा। 1680 ई के लगभग बून्दी शैली पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी। पुरुष आकृतियां लम्बी और पतली एवं स्त्री आकृतियों के मुह गोल एवं उनकी कमर पतली मिलती है। चमकीले रंगो का प्रयोग इस शैली में बड़ी दक्षता के साथ किया गया है। हिंगलू रंग के स्थान पर केसरिया रग का अधिक प्रयोग हुआ है। पृष्ठभूमि में चौकोर भवनों को रखा गया है। चित्रों के नीचे के भाग मे प्रायः जल, कमल तथा बतख है और पृष्ठभूमि में सघन वन जिसमें केले के पेड़ और ऊचे लम्बे वृक्ष दिखाये गये है। प्रेमी युगल को आलिंगन-बद्ध प्रदर्शित किया गया है।

महाराव उम्मेदसिंह (1739–1771 ई०) के काल मे बूदी चित्रकला बड़ी समृद्ध रही। इस काल में ऋतु-चित्रों का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ। वर्षा ऋतु के चित्र मे काले बादल, झूमते हाथी, नाचते मोर, बहते हुए झरने और पहाड़ों पर

घूमते हुए शेर बहुत ही कलात्मक रूप से प्रदर्शित किये हैं। ग्रीष्म ऋतु के चित्र में शिकारियों को पेड़ की छाया में बैठे दिखाया है। कही प्रेमी-प्रेमिका को फव्वारों के निकट बैठे दर्शाया है। इस काल के नायिका-भेद के चित्र भी विशेष कुशलता से चित्रित किये गये हैं जिसका आधार राधा और कृष्ण हैं। इस काल के हाथियों के चित्र बहुत ही मनमोहक हैं। लोककला में भी कई कथाओं का चित्रण हुआ है जिनमें मधुमालती उल्लेखनीय है। उम्मेदसिंह के उत्तराधिकारी किशनसिंह को शिकार का बड़ा शौक था, किन्तु शिकार के चित्र अपेक्षाकृत कम बने है। इसके काल में बारामासा, रागमाला, राजाओं के वृत्तचित्र अधिक संख्या मे निर्मित हुए। इन चित्रो की बनावट और रगो के संयोजन में अधिक परिपक्वता दृष्टिगत होती है।[96]

कोटा चित्र शैली में बून्दी शैली और मुगल शैली का सामंजस्य होते हुए भी कुछ अपनी स्वयं की विशेषताएं परिलक्षित होती हैं। इसमे स्त्रियो को प्रतिमा की तरह अंकित किया है जो या तो शीशे में अपना मुंह देख रही है या वृक्ष की टहनी पकड़े हुए हैं। ललाट काफी चौड़ा दिखाई देता है, क्योंकि बाल बहुत ऊपर से प्रारम्भ होते हैं। आंखें बड़ी तथा खंजनाकृति या बादामाकृति की हैं। नाक छोटी, वक्षस्थल उभरा हुआ और कमर पतली दिखाई गई है। पुरुषो के प्रारम्भिक चेहरे दुबले मिलते हैं। दुर्जनसाल के समय से पगड़ी की बनावट मे अन्तर आने लगता है। पृष्ठभूमि में घनी वनस्पति, चौकोर भवन और घुमड़ते बादलो की घटा का चित्रण किया गया है। हाथियों के चित्रण बड़ी कुशलता से किये गये हैं। चमकीले गहरे रंगों का प्रयोग हुआ है। इन चित्रों को हम बून्दी शैली की प्रतिछाया कह सकते हैं।

महाराव उम्मेदसिंह (1771-1820 ई०) के काल में कोटा की चित्रकला चरम सीमा पर पहुंच गई थी। इसके काल मे शिकार के दृश्यो के चित्र बड़ी संख्या में बनने लगे। शिकारियों के समूह, वृक्षलताएं और पशुवर्ग का चयन स्थानीय आधार पर हुआ है। इनके चित्रण में सजीवता है। इन चित्रों की विशेषता यह है कि कहीं-कहीं तिथियों का उल्लेख है और चित्र के पीछे चित्रकार का नाम भी दिया है और उसका रेखाचित्र अंकित है।

इस काल मे झाला जालिमसिंह शासन में सर्वेसर्वा था। झाला को चित्रकला से बड़ा अनुराग था। उसकी हवेली के भित्तिचित्र बड़े मनमोहक हैं। चित्रों के किनारे लाल और सुनहरे रंगों से सजाये गये हैं।[97]

मुगल शैली की चित्रकला का सबसे अधिक प्रभाव जयपुर और अलवर राज्यों के चित्रों पर परिलक्षित होता है, क्योंकि इन राज्यो का मुगल शासकों के साथ निकट का सम्बन्ध रहा। 18वी शताब्दी में जयपुर चित्रित भागवत मे रंगों का प्रयोग मुगल शैली के आधार पर है। द्वारका का चित्र जयपुर नगर के अनुरूप ही दर्शाया गया है। कृष्ण-अर्जुन की वेश-भूषा मुगली है। स्त्रियों की वेश-भूषा व उनके आभूषणों पर मुगली प्रभाव स्पष्ट रूप से प्रदर्शित है। स्त्रियों को पायजामा तथा छोटी ओढ़नी पहनाई गई है।[98]

सवाई जयसिंह के काल में चित्रित रागमाला (1709 ई०) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आमेर से प्राप्त यह प्रथम तिथियुक्त प्रति है। इसमें मानव आकृतियां लम्बी और समानुपातिक हैं। चित्रों में स्थापत्य की प्रधानता है। यशोधरा चरित का चित्रण 1712 ई० में सांगानेर मे हुआ। यह प्रति अभी सवाई माधोपुर के जैन मन्दिर में सुरक्षित है। सवाई जयसिंह के समय में मोहम्मदशाह नामक चित्रकार ने भगवान कृष्ण सम्बन्धी कई चित्र निर्मित किये।

ईश्वरीसिंह के काल में अनेक चित्रकार थे। लालचन्द ने हाथियों के दगल के अनेक चित्र तैयार किये थे। गगवाना के युद्ध का चित्रण उसी के काल में सम्पन्न हुआ। माधोसिंह ने चित्रकला को अत्यधिक प्रोत्साहित किया। उसके काल मे जयपुर चित्रशैली परिपक्वता को प्राप्त कर चुकी थी। उसके काल में राग मालाएं और वृत्तचित्र बनाये गये थे। माधोसिंह के उत्तराधिकारी सवाई पृथ्वीसिंह के काल में हीरानन्द और त्रिलोक ने उसका आदमकद चित्र तैयार किया था। पृथ्वीसिंह का पुत्र प्रतापसिंह साहित्य और चित्रकला का प्रेमी था। उसके काल में रागमाला, भागवत, दुर्गापाठ, रामायण आदि कई ग्रन्थ-चित्र तैयार किये गये। इस काल में निर्मित रासलीला का चित्र बड़ा सुन्दर है। काले, लाल आदि रंगों से इसे अच्छा सजाया गया है।[99]

अलवर शैली पर मुग़ल और जयपुर शैलियों का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई देता है। अलवर शैली के चित्रों में मुगल सम्राटों व उनके पदाधिकारियों के चित्र व रानियों के चित्र आदि अलवर-संग्रहालय में सुरक्षित है।[100]

सिरोही, अजमेर और जैसलमेर राज्यों में भी स्थानीय चित्र शैलियां विकसित हुई। सिरोही शैली की कुछ कृतियां देसूरी, सिरोही और उत्तरी गुजरात के अनेक नगरों मे उपलब्ध हुई है। अजमेर शैली के चित्र राठोड़ ठिकानों एवं सावर ठिकानों से प्राप्त हुई है।[101] आर०ए० अग्रवाल का कथन है कि जैसलमेर चित्रकला का समुचित रूप से अभी तक अध्ययन, मूल्याकन और प्रकाशन नही हो पाया है। रामगोपाल विजयवर्गीय, आर०पी० पटोदिया, संग्रामसिंह आदि ने जैसलमेर चित्रकला का अपने ग्रन्थों मे मात्र उल्लेख किया है। सम्भवतः जैसलमेर चित्रशैली भी अन्य शैलियों की तरह स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई थी, परन्तु कुछ कारणों के फलस्वरूप मध्यकाल में प्रायः लुप्त हो गई। 19वी शताब्दी के आरम्भ में जैसलमेर मे चित्रकला का पुनः प्रादुर्भाव हुआ जिसे मुगल चित्रकारी की संज्ञा दी गई (स्थानीय भाषा मे इसे सोने की कलम का काम कहा है)। जैसलमेर के राजमहलों, पटवो की हवेलियो, दीवान नथमल की हवेली और सालमसिंह की हवेली के भित्तिचित्र कला की दृष्टि से बडे सुन्दर हैं। जैसलमेर के चित्रों में सामान्यतः हिरमिज, लाल, गहरा हरा और पीला नारंगी रंग प्रयुक्त हुआ है। इन चित्रो में रंगो को अधिक महत्व न देकर भावो की सजीवता व सौन्दर्य पर विशेष बल दिया गया है।[102]

राजस्थानी चित्रकला के अन्तर्गत कुछ उपशैलियां भी विकसित हुई थीं। नाथद्वारा और देवगढ की उपशैलियां मेवाड़ शैली से प्रभावित थी। नाथद्वारा शैली का विवरण ऊपर दे दिया गया है। देवगढ मे बगता और चोखा प्रसिद्ध चित्रकार थे। इस शैली पर मेवाड़ शली का प्रभाव था, परन्तु रंग-योजना मे यह शैली मेवाड़ शैली से भिन्न थी। बून्दी की एक उपशैली ग्रांतरदा है। उणियारा शैली पर पहले बून्दी शैली का प्रभाव रहा, परन्तु 1800 ई० के बाद इस पर जयपुर शैली की छाप ग्रंकित थी।[103]

राजस्थान की इन विभिन्न चित्र शैलियों के अध्ययन से एक बात स्पष्ट है कि इनमे एक मौलिक एकता है। इन सभी शैलियो में अन्ततः अजन्ता शैली के तत्त्व निहित है। सभी शैलियो से चित्रण के लिए चयनित विषयो मे समानता है। सभी जगह रागिनी, बारामासा, भागवत पुराण, रामायण, गीत गोविन्द, राधा-कृष्ण, रासलीला आदि पर चित्र निर्मित किये गये है। पगड़ी, जामा, पायजामा आदि का पुरुषों के पहनावे के लिए सभी शैलियो मे प्रयोग हुआ है। स्त्रियो के वस्त्र स्थानीय परम्परा के अनुकूल है; परन्तु आभूषणो में सभी शैलियो में समानता देखी जा सकती है। सभी शैलियों मे श्रृंगार-चित्रो का महत्त्व रहा है। सभी शैलियो में विभिन्न मुद्राओ मे राजाओ, रानियो, सामन्तों आदि के वृत्तचित्रो का चित्रण हुआ है। शिकार, सवारी और दरबार के दृश्यों की सभी शैलियों मे बाहुल्य रही है। सभी शैलियों पर न्यूनाधिक मुगल प्रभाव देखा जा सकता है। मुग़ल ऐश्वर्य, विलासिता और वैभव सभी शैलियों के चित्रो मे प्रदर्शित हैं। इन राज्यो की चित्रकला के माध्यम से तत्कालीन समाज व संस्कृति का अध्ययन सम्भव है।

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि राजस्थानी चित्रकला की उत्पत्ति मुगल कला से हुई। यह मत भ्रमात्मक है। इसे स्वीकार नही किया जा सकता। मुग़ल और राजस्थानी दोनों दो भिन्न शैलियां है। 'मध्यकालीन भारतीय कलाएं एवं उनका विकास' पुस्तक के लेखक रामनाथ ने दोनों शैलियों का विश्लेषण इन शब्दों मे प्रस्तुत किया है :—[104] "मुगल शैली मे व्यक्तियों और घटनाओं का चित्रण है और इस प्रकार यह व्यक्ति चित्रकला और इतिहास वृत्त-कला की श्रेणी में आती है। उसमे मुगल सम्राट् के दरबार, खेल, युद्ध और शिकार के दृश्य हैं या व्यक्ति-चित्र है। राजस्थानी शैली व्यक्तिगत नही है, वह लोकशैली है और तत्कालीन धर्म और साहित्य मे व्याप्त प्रवृत्तियों और भावनाओं का चित्रण करती है; अर्थात् मुगल शैली राजकीय सरक्षण मे पली दरबार कला है, संरक्षण ही उसकी मूल प्रेरणा है। राजस्थानी शैली मूल रूप से सम्भ्रान्त लोककला है। यह तत्कालीन धर्म और काव्य से प्रेरित है और श्रृंगार और सौन्दर्य उसकी आत्मा है। इसकी कल्पना उस जीवन से पृथक् नही की जा सकती जिसको यह चित्रित करती है। यह हिन्दी साहित्य के प्रत्येक चरण को प्रतिबिम्बित करती है। इसे भारत के देशी साहित्य का प्रतिरूप कहना गलत नही होगा। कार्य-विधि और रचना-क्रम के दृष्टिकोण से भी दोनो में

अन्तर है। राजपूत रूप-रेखाएं मुगल रूप-रेखाओं की तरह स्थित और निश्चित नहीं हैं, वरन् गतिमान हैं। मुगल कला में छाया द्वारा उठान दिखाया गया है, राजपूत कला में सीधे रंगो का प्रयोग हुआ तथा दिन और रात को एक समान चित्रित किया गया है। मुगल चित्रकला का दृष्टिकोण उदार है जब कि राजस्थानी चित्रकार रूढ़ीवादी है।"

इसी प्रकार के विचार विद्वान रेने ग्राउजेट ने अपनी पुस्तक 'द सिविलाइजेशन ऑफ द ईस्ट' मे व्यक्त किये हैं। उनका कथन है कि मुगल चित्रकारी में लघुचित्रों की विशिष्टता है, ये ही उसकी उत्पत्ति का मूल स्रोत हैं। इसका विकास हस्तलिखित ग्रन्थों के चित्रण और फारसी सुलेखो की सुन्दर रेखाओं में निहित है जब कि राजस्थानी चित्रकला देशी मिट्टी की उपज है। इसका विकास लघुचित्रों से न होकर भित्तिचित्रों से हुआ है। वस्तुतः राजस्थानी चित्रकला का स्रोत अजन्ता और बाघ की प्राचीन शैलियां हैं। अतः विषय, वेशभूषा और कभी-कभी आकृतियों में समता होने पर भी मुगल और राजस्थानी शैलियों के प्राण अलग-अलग हैं। राजस्थान के चित्रकारों का ध्येय सदैव कला की सेवा रहा है, कला की प्रसिद्धि ही उनकी कामना रही। इसी कारण से राजस्थानी चित्रकला में मौलिकता और सम्पन्नता आ सकी।

स्थापत्य

मानव-प्रयास के इतिहास में स्थापत्य का विशिष्ट स्थान रहा है। किसी भी देश व जाति के क्रमिक विकास व प्रगति के इतिहास को हृदयंगम करने मे स्थापत्य की विभिन्न परतों और खंडहरों के समुचित अध्ययन की नितान्त आवश्यकता होती है क्योकि स्थापत्य के अवशेषों में देश व जाति की वास्तविक आत्मा का प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है तथा विस्मृत अतीत को उजागर करने में वे सहायक सिद्ध होते हैं। उनके माध्यम से कला और जन-जीवन के सामंजस्य का सहज ही मे बोध किया जा सकता है। स्थापत्य के अवशेषों में तत्कालीन धार्मिक चिन्तन, विचार, विश्वास, शौर्य व प्रगति की अनुभूति निहित रहती है तथा उनमें वहां के सौन्दर्य, वैभव और माधुर्य का सुखद अनुभव भी किया जा सकता है। राजस्थान में स्थापत्य को राजाश्रय तथा व्यक्तिगत प्रश्रय मिलता रहा। स्थापत्य की अभिव्यक्ति नगरों, दुर्गों, राजभवनों, मन्दिरों, हवेलियों, जलाशयों तथा समाधियों में मुखरित है।

महाभारत, अर्थशास्त्र, कामसूत्र, शुक्रनीति, अपराजित प्रेच्छ आदि ग्रन्थों मे निर्दिष्ट सिद्धान्तो के आधार पर राजस्थान मे प्राचीन काल से स्थापत्य का क्रमिक विकास होता रहा। नगरों को परकोटों तथा खाइयों से सुरक्षित करने तथा राज प्रासादों, सुन्दर भवनों, मन्दिरों व अन्य सुविधाओं से सुशोभित करने पर बल दिया गया। यथासम्भव पेशों के अनुसार नगर में बस्तियां स्थापित की जाती थीं। सड़कों, गलियों, चौपड़ों तथा नालियों की व्यवस्था रहती थी। सुरक्षा के ध्येय से

राजस्थान में बड़ी संख्या में किलों का निर्माण हुआ। चित्तौड़, कुम्भलगढ, आमेर, जैसलमेर, जालोर, नागौर, जोधपुर, बीकानेर आदि किलो का राजस्थान के इतिहास में बड़ा महत्त्व रहा। गुप्तकाल से ही वैष्णव और शैव मन्दिरो का निर्माण आरम्भ हो गया था। प्रारम्भ में गर्भ-गृह में उपास्यदेव की प्रतिमा प्रतिष्ठित की जाती थी और उसके सामने बाहर खम्भेदार एक खुला बरामदा बना दिया जाता था। मन्दिर की यह मूल योजना थी। कालान्तर मे इसमें मण्डप, अर्द्धमण्डप और प्रदक्षिणापथ जोड़ दिये गये। तत्पश्चात् धीरे-धीरे शिखर पल्लवित हुआ और दसवीं शताब्दी तक हिन्दू मन्दिर एक भव्य प्रासाद बन गया। राजस्थान में 14वीं से 16वीं शताब्दी के बीच सुरक्षा की दृष्टि से मन्दिरों के चारो ओर ऊंची दीवार बननी शुरू हुई। इस सम्बन्ध में एकलिंगजी, कुम्भश्याम तथा रणकपुर के मन्दिरों के उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। वस्तुत: इस युग के स्थापत्य का महत्त्व सुरक्षा से सम्बन्धित रहा।[106]

मुगल काल में राजस्थानी स्थापत्य के सभी स्तरों को मुगल स्थापत्य ने प्रभावित किया। उस काल में राजाओं के आवास के लिए आमेर, जोधपुर, बीकानेर जैसलमेर, सिरोही, बून्दी आदि स्थानो पर बड़े-बड़े महल बने। उदयपुर मे पिछोला झील की सुन्दर पृष्ठभूमि मे महलो का निर्माण हुआ। इन सभी रचनाओं मे खम्भे, तोड़े और प्रसादिकाओ के साथ महरावदार तत्वों का प्रयोग हुआ। गुम्बददार छतरियां निर्मित हुईं। महलों मे फव्वारे, छोटे बाग, बहते हुए पानी की नालियां, पतले खम्भे और उन पर बेल-बूटों का काम तथा संगमरमर का प्रयोग होने लगा। राजप्रासादो मे अलंकरण की भी मिश्रित साज-सज्जा रही। बारीक खुदाई व कुराई का काम, अलंकृत छज्जे, गवाक्ष, गलिया आदि इन राजप्रासादों की अपनी विशेषता रही। 17वी शताब्दी के अन्त तक वास्तु की हिन्दू व मुस्लिम पद्धतियां घुलमिलकर एक हो गई, जैसे गंगा-जमुना का पानी हो। स्पष्ट ही गंगा ने जमुना का आत्मसात् कर लिया।

इस समन्वय से वास्तुकला की राजपूत शैली का प्रादुर्भाव हुआ जिसके अन्तर्गत 18वीं और 19वीं शताब्दी में बड़े-बड़े महल, छतरियां आदि बनवाई गई। विशेष रूप से यह शैली छतरियो के रचना-विन्यास मे विकसित हुई। मुगल मकबरे की तरह राजपूत छतरियां भी हिन्दू राजाओं की स्मृति मे समाधि के रूप में बनवाई गई। विशाल इमारतें हैं।[107] अगले पृष्ठों पर हम आलोच्यकालीन स्थापत्य कृतियों का विवेचन करेंगे।

मारवाड़ के लगभग सभी राठौड़ शासक स्थापत्य कला में रुचि रखते थे। जोधपुर का सुदृढ़ किला उनकी वास्तुकला के प्रति अनुराग का प्रतीक है। महाराजा अजीतसिंह के काल में किले का मुख्य द्वार फतहपोल का निर्माण हुआ। किले पर अजीत विलास, फतह महल, भोजनशाल, जनाना महल और रंगमाल अजीतसिंह

द्वारा बनवाये गये थे। किले पर स्थित चामुण्डा देवी के मन्दिर की मरम्मत करवाई गई थी। जोधपुर नगर में मूलनायकजी का मन्दिर (गून्दी के मुहल्ले में) पंचदेवरिया और गंगश्यामजी का निजी मन्दिर (पुरानी धान मण्डी में) अजीतसिंह के काल में ही निर्मित हुए।

अजीतसिंह के समय की स्थापत्य कला का वास्तविक रूप मण्डोर में देखने को मिलता है। अजीतसिंह ने अपने पिता जसवंतसिंह की स्मृति में एक विशाल देवल (समाधि स्थल) का निर्माण करवाया था। यह देवल भूमि से लगभग सात फुट ऊंचे विस्तृत वर्गाकार चबूतरे पर निर्मित है। इसमें तीन मंजिलें बनी हैं। दूसरी मंजिल पर सामने तथा दोनों पार्श्वों में छज्जे व प्रसादिकाएं हैं। देवल में मुगलकालीन खम्भों व तोड़ों का प्रयोग हुआ है। देवल की परिपाटी के अनुसार यह सभा-मण्डप और भीतरी कक्ष दो भागों में विभाजित है। सभा-मण्डप पर मुगलकालीन गुम्बद बना है तथा भीतरी कक्ष के ऊपर लम्बा कलात्मक शिखर है। गुम्बद के भीतरी भाग पर और शिखर में सुन्दर पच्चीकारी की हुई है। यह देवल हिन्दू-मुगल स्थापत्य कला के समन्वय का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। एक थम्भ महल, जनाना महल, भैरूजी की साल, वीरों का देवल आदि सभी इमारतें अजीतसिंह के समय की हैं। एकथम्भ महल में जाली का काम बड़ा सुन्दर है। ये सभी मुगल स्थापत्य कला से प्रभावित हैं। भैरू जी की साल और वीरों की साल में स्थित विशालकाय वीरों और देवी-देवताओं की मूर्तियां चट्टान को काट कर बनाई गई है। इनमें सौन्दर्य के स्थान पर शौर्य के वीरत्व को दर्शाया गया है। मंडोर में स्थित अजीतसिंह के काल की इमारतें स्थापत्य कला की अनुपम देन हैं।

अजीतसिंह के काल में रानियों, पदाधिकारियों, और सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा अनेक मन्दिरों, बावड़ियों व झालरों का निर्माण हुआ था। चांदपोल दरवाजे के बाहर रामेश्वरजी महादेव के मन्दिर के पीछे रघुनाथ भंडारी द्वारा निर्मित रघुनाथ बावडी विशेष उल्लेखनीय है। यहां बाग लगाने की व्यवस्था भी की गई थी।[108]

अजीतसिंह के उत्तराधिकारी अभयसिंह के काल में अभयसागर तालाब (चांदपोल दरवाजे के बाहर) चोखा गाँव का बगीचा, अठ पहलू कुवां, महाराजा अजीतसिंह का देवल (मंडोर में) और वीरों की साल की कुछ मूर्तियों का निर्माण हुआ। किले के परकोटे में चोकेलाव का कुवां और बगीचा इन्हीं के समय में बने। मण्डोर के देवलों में अजीतसिंह का देवल सर्वश्रेष्ठ है। यह स्थापत्य कला की अनुपम कृति है।

महाराजा बख्तसिंह का शासनकाल स्वल्प रहा, फिर भी उसने किले को सुदृढ़ बनाने में कोई कसर उठा नहीं रखी। उसने जोधपुर नगर को सुन्दर व सुदृढ बनाने के लिए जगह जगह चौक बनवाये, नगर परकोटे में वृद्धि की तथा किले में

नई सूरजपोल और आनन्दघनजी के मन्दिर बनवाये। नागौर के किले में सुधार किये और वहां भव्य व विशाल महलों का निर्माण करवाया।

महाराजा विजयसिंह वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी थे। अतः इनके काल में वल्लभ सम्प्रदाय के अनेक मन्दिर बने। इनमे बालकृष्णलालजी, गंगश्यामजी और कुंजबिहारीजी के मन्दिर उल्लेखनीय हैं। स्थापत्य कला की दृष्टि से इन मन्दिरों की बड़ी महत्ता है। गुलाबसागर तालाब, गिरदी कोट बाजार, मांयला बाग और उसमें का झालरा आदि उस काल के स्थापत्य के अन्य सुन्दर नमूने है।[109]

महाराजा मानसिंह की इमारतें बनवाने में बड़ी रुचि थी। वह एक महान् निर्माणकर्त्ता था। जयपुर सेना पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष में उसने जोधपुर दुर्ग मे जयपोल का निर्माण करवाया। उसके काल में महामन्दिर और उदयमन्दिर जैसे उपनगरों की रचना की गई। महामन्दिर के चारों ओर पत्थर का सवा मील परिधि का परकोटा जिसमें बुर्ज बने हुए हैं, मानसिंह ने 10 लाख रुपये व्यय करके तैयार करवाया था। यहां दो भव्य महलों का निर्माण करवाया गया जिसमें से एक उसके गुरु आयसजी देवनाथ के आवास के लिए था और दूसरा नाथों के लिए मन्दिर के रूप में आरक्षित था। इसमे स्थापत्यकला, चित्रकला और मूर्तिकला का सुन्दर सामंजस्य है। महाराजा ने अपने आराध्य देव के लिए गुलाब सागर पर नाथों का एक निजी मन्दिर और सोजती दरवाजे के बाहर चौरासी सिद्धों के भव्य मन्दिर बनवाये थे। जालौर किले में उसके बनवाये गये महल व मन्दिर स्थापत्य कला के अनुपम नमूने हैं। यह कहना उपयुक्त ही होगा कि मारवाड़ में स्थापत्य के प्रति सभी शासकों की अभिरुचि सदैव बनी रही।[110]

आलोच्यकालीन मेवाड़ में स्थापत्य के क्षेत्र में विशेष प्रगति नहीं हुई। फिर भी यदा-कदा छोटे-बड़े मन्दिरों के निर्माण के कार्य चलते रहे। गोगुन्दा में निर्मित गुलाबश्याम का वैष्णव मन्दिर उल्लेखनीय है। महाराणा राजसिंह द्वितीय की झालारानी गुलाब कंवर ने इसे बनवाया था। इसमें हरे पत्थर का प्रयोग हुआ है। सभा-मण्डप के खम्भे सामान्य रूप से अलंकृत हैं। वर्षा ऋतु में शिखर पर जड़े हरे पत्थर बड़े सुन्दर लगते हैं।

महाराणा जगतसिंह द्वितीय के काल में पिछोला तालाब के अन्दर जगनिवास महल का निर्माण हुआ। इसमें संगमरमर पत्थर का प्रचुर प्रयोग किया गया था। महल में हौज, नहर, फव्वारे आदि की व्यवस्था की गई। छतों व दीवारों पर चीन की पच्चीकारी बड़ी मनमोहक है। दीवारों पर मेहराब के रूप में विभिन्न रंगों से चीनी मिट्टी के टुकड़ों को जड़ा गया था। फव्वारों और संगमरमर के पत्थरों पर महीन नक्काशी का काम किया गया। महल मे जालियों का बड़ा सुन्दर संयोग है। इस महल में राजपूत और मुगल शैली का सम्मिश्रण है।

महामतियों में निर्मित महाराणाओं की छतरियां तत्कालीन स्थापत्य कला का अच्छा स्वरूप प्रस्तुत करती हैं।[111]

बीकानेर राज्य में महाराजा गजसिंह के काल में स्थापत्य के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई। बीकानेर के जूनागढ़ किले में करणमहल और उसके सामने के दरबार हाल की सजावट का कार्य गजसिंह के काल में सम्पन्न हुआ था। उसके समय में गढ़ में चन्द्र-महल, फूलमहल, बादलमहल, शीशमहल आदि इमारतों का निर्माण हुआ। इन्हें विभिन्न प्रकार से सजाया गया था। चन्द्रमहल की छत में लकड़ी का काम बड़ा सुन्दर है। इसकी दीवारों में मुगल आलों की भरमार है। आलों में शीशे लगे हुए हैं। इसके केन्द्र में सबसे बड़े पैनल के ऊपर एक नारी का चित्र है जो आधे यूरोपीय और आगे मुस्लिम वस्त्र धारण किये हुए है। फूलमहल में बेल बूंटे, फूल आदि की कारीगरी ताजमहल की सजावट के अनुरूप है। इन महलों के खम्भों की बनावट मुगल शैली के अनुसार है। यहां संगमरमर का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। बादल महल में कई फव्वारों की व्यवस्था की गई है जिससे महल का वातावरण ठंडा बना रहे। गजमहल ऊपर की मंजिल में बना है। शीशमहल की बनावट भी मुगल-पद्धति के अनुसार है। इन महलों में मुगल-राजपूत-स्थापत्य का अनुपम सम्मिश्रण परिलक्षित होता है।[112]

सन् 1785 ई० में महाराजा गजसिंह ने दुर्ग को शत्रुओं के आक्रमण से सुरक्षित रखने के ध्येय से दक्षिण की तरफ के प्रकार (जलेबकोट) को नये तौर से बनाया था। गजसिंह की मृत्यु के पश्चात् लगभग एक शताब्दी तक बीकानेर राज्य में स्थापत्य के क्षेत्र में गति धीमी रही।[113]

आमेर व जयपुर राज्य की स्थापत्य कला के इतिहास में सवाई जयसिंह की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। उसने पहले आमेर में अनेक महलों का निर्माण करवाया तथा वहां एक ऊंची पहाड़ी पर जयगढ़ नामक सुदृढ किला बनवाया था। परन्तु बाद में उसने अनुभव किया कि विकासशील राज्य के लिए एक नई राजधानी की आवश्यकता है। आमेर के पहाड़ी क्षेत्र में विकास की गुंजाइश नहीं थी। अतः उसने आमेर के दक्षिण में कुछ दूरी पर लम्बे-चौड़े विस्तृत समतल मैदान में नई राजधानी बनाने का निर्णय लिया और 18 नवम्बर, 1727 ई० को जयपुर नगर की नींव डाली गई। 1729 ई० तक इस नगर का अधिकांश भाग बनकर तैयार हो गया था। नगर-निर्माण के इतिहास में यह पहला अवसर है जबकि कोई नगर योजनाबद्ध बसाया गया और जिसकी इमारतों, दुकानों, सड़कों व बस्तियों में एकरूपता लाई गई। नगर को नौ आयताकार खंडों में विभाजित किया गया। पूर्व से पश्चिम सूरजपोल को चांदपोल से जोड़ने के लिए लगभग 2 मील लम्बा और 120 फुट चौड़ा मार्ग निर्धारित किया। उत्तर से दक्षिण को जाने वाले तीन मार्ग मुख्य मार्ग को काटते हुए निकाले जिनसे आठ खंड बने। नवां खंड अलग रूप से पूर्व की ओर रखा। सड़कों के दोनो ओर एक ही प्रकार की दुकानों का निर्माण करवाया गया। मुख्य मार्ग

को तीन सडकों द्वारा काटने के स्थान पर चौपड़ो की व्यवस्था की गई । उत्तर के दो खंड राज रेवास, दफ्तरो व वेधशाला के लिए सुरक्षित रखे गये । नगर की सभी इमारतो के लिए एक ही गुलाबी रंग निश्चित किया गया । अधिकतर मकान दो-मंजिले थे । नगर की सुन्दरतम इमारतें राजमहल वाले खंडों में निर्मित हुई । यहां पोलें, मुख्य ड्योढी द्वार, खुले मंडप, आगन, दालान, महराबदार बरामदे, दीवान-ए-आम, दीवान-ए-खास और भव्य राजमहलों का निर्माण करवाया गया । चन्द्रमहल की इमारत बडी विशाल व भव्य है । इसमे पाच मंजिलें है । सबसे ऊपर मुकट है । चन्द्रमहल के उत्तर मे बादल महल बना है और इन दोनो इमारतो के मध्य में गोविन्दजी का मन्दिर निर्मित है । पूरे क्षेत्र को फव्वारों, पानी की क्यारियों, पुष्प-वाटिकाओ आदि से सजाया गया है । आनन्द कृष्ण बिहारीजी का मन्दिर भी इसी खण्ड मे है । वेधशाला का भी निर्माण इसी क्षेत्र में हुआ । इन राजकीय इमारतो मे संगमरमर का प्रयोग प्रचुर मात्रा मे किया गया है । पत्थर की जालिया, वेदिकाओ से सुसज्जित आलिन्द, अलकृत छतें, स्तम्भ, उदम्बर, तोड़े, छज्जे आदि बड़े आकर्षक हैं । इन इमारतों में रंगो का सामजस्य बड़ा सुन्दर है । सादगी और सुदृढता का भी पूरा ध्यान रखा गया है । मेहराबदार गुम्बद, लम्बे नुकीले झूलते छज्जे व कलई का काम देखने योग्य है । यहा के स्थापत्य में मुख्यतः हिन्दू शैली का ही अनुसरण किया गया है, परन्तु मुगल प्रभाव भी दृष्टिगत होता है ।[114]

नगर की रक्षा के लिए 20–25 फुट ऊंची व 9 फुट चौड़ी दीवार सुदृढ़ परकोटे के रूप मे तैयार की गई । नाहरगढ को सैनिक सज्जा से सुसज्जित कर नवोदित नगर की चौकसी का प्रबन्ध किया गया । नगर की सर्वत्र प्रशंसा होने लगी थी । विदेशी यात्री जिनमे फादर जॉर्ज टाइफनथेलर और बिशप हेबर के नाम उल्लेखनीय हैं, नगर की रचना विन्यास व उसके स्थापत्य से बड़े प्रभावित हुए थे । गिरधारी कृत भोजनसार (1739 ई०), कृष्णभट्ट रचित ईश्वर विलास महाकाव्यम् (1749 ई०) बख्तरामशाह द्वारा लिखित बुद्धि-विलास तथा सिहाहजूर के पत्रो में नव-निर्मित जयपुर नगर की शोभा का विशद वर्णन मिलता है ।[115]

जयसिंह के शासन-काल मे कुछ अन्य इमारतें भी बनी जिनमें मानसागर के मध्य जलमहल, सिरह ड्योढी के पास कलकीजी का मन्दिर, यज्ञशाला के निकट विष्णु मन्दिर आदि उल्लेखनीय हैं । वस्तुतः सवाई जयसिंह स्थापत्य का पोषक, एक महान् निर्माता था ।

जयसिंह के उत्तराधिकारियो के शासनकाल में भी स्थापत्य कला की परम्परा गतिशील रही । महाराजा ईश्वरीसिंह ने राजमहल (टोंक जिला) के युद्ध में (1 मार्च, 1747 ई०) विजयी होने पर इसकी यादगार मे सात मंजिल वाली ईश्वर लाट का निर्माण करवाया था । इससे जयपुर नगर के सौन्दर्य मे वृद्धि हुई । महाराजा माधोसिंह ने मोती डूंगरी व सांगानेर के किले का निर्माण करवाया । राजमहलों

में मधुविलास महल, नक्कारखाना, ड्योढ़ी आदि भी इसी शासक के काल में बने। माधोसिंह ने सात नये नगर बसाये थे जिनमें रणथम्भौर के पास सवाई माधोपुर का सर्वाधिक महत्त्व रहा। सवाई प्रतापसिंह और जगतसिंह के काल में क्रमशः व्रजनिधि प्रतापेश्वर और व्रजराज बिहारीजी के मन्दिरों का निर्माण हुआ था। हवामहल नामक प्रसिद्ध महल 1799 ई० में सवाई प्रतापसिंह के समय में बना। उसने इस महल को सम्भवतः अपने आराध्यदेव राधाकृष्ण को अर्पित किया था।[116]

भरतपुर के जाट शासकों में स्थापत्य के प्रति विशेष अभिरुचि थी। वदनसिंह ने डीग के किले को सुदृढ़ बनाया और इसमे अपने आवास के लिए भव्य और विशाल महलों का निर्माण करवाया। फव्वारो से युक्त सुन्दर बगीचो के बीच डीग के महल आज भी दर्शकों को अत्यधिक आकर्षित करते हैं। वैर (बयाना परगना) में किले के अतिरिक्त एक सुन्दर उद्यान की व्यवस्था की जिसे फव्वारे, हौज, पानी की नालियो आदि से सुसज्जित किया। बगीचे मे एक महल का निर्माण करवाया जो सफेद महल के नाम से प्रसिद्ध था और उस बगीचे को नौलखा बाग के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा।[117]

सूरजमल ने भी डीग में सुन्दर जलाशय एवं फव्वारो से युक्त आधुनिक सुविधाओ वाले महलों का निर्माण करवाया जो आज भी दर्शनीय हैं। इन महलों मे कठोर बलुआ पत्थर का प्रयोग हुआ है। थार्टन ने डीग के महलों की शोभा का वर्णन करते हुए लिखा है कि शैली की रमणीयता और शिल्प की दक्षता की दृष्टि से ये महल इतने श्रेष्ठ हैं कि उनसे बढकर केवल आगरा का ताजमहल है। यहां का गोपाल महल सबसे श्रेष्ठ और विशाल है। इसके अतिरिक्त सावन-भादो, सूरज भवन, किशन भवन आदि भी स्थापत्य कला के सुन्दर नमूने हैं।

सूरजमल ने भरतपुर मे एक सुदृढ़ दुर्ग का निर्माण करवाया। इस दुर्ग पर अंग्रेज जनरल लेक भी अधिकार करने मे असफल रहा था। 1733 ई० में सूरजमल ने योजनाबद्ध भरतपुर नगर को नई राजधानी के रूप मे विकसित करना आरम्भ किया और वहां एक अभेद्य दुर्ग के निर्माण में वह व्यस्त रहा। 25 वर्ष के अथक विकासशील कार्यों के फलस्वरूप भरतपुर नगर की देश के प्रसिद्ध नगरों में गणना होने लगी। भरतपुर दुर्ग के परकोटे का फेरा लगभग डेढ़ मील का था जिस पर अनेक बुर्ज व कंगूरे बनाये गये थे और उसके चारों ओर 30 फुट गहरी और 200 फुट चौड़ी खाई निर्मित की गई। इसमें जल के भराव और निकास का सुव्यवस्थित प्रबन्ध किया गया था। किले में प्रवेश के लिए खाई के ऊपर से गुजरने के लिए पुल का निर्माण करवाया गया जो प्रवेश द्वार तक पहुंचता था। दक्षिण में मुख्य प्रवेश द्वार पर छोटी चार बुर्जों वाली एक सुदृढ गढ़ी बनवाई गई। नगर की सुरक्षा हेतु चारों ओर 18 से 25 फुट चौड़ी और 60 फुट ऊंची मिट्टी के परकोटे का निर्माण करवाया गया। इस मिट्टी की दीवार पर तोपों के गोलों की मार कारगर नहीं हो

पाती थी। नगर मे प्रवेश के लिए आठ दरवाजों का निर्माण करवाया गया। परकोटे की सुरक्षा के लिए 15 नाल बुर्जें व 17 पक्की बुर्जें निर्मित की गई। किले की दोहरी सुरक्षा व्यवस्था (पत्थर और मिट्टी के परकोटे) से गढ़ उस समय अभेद्य माना जाने लगा था। भरतपुर किले के मुख्य प्रवेश द्वार और पृष्ठभाग में अष्टधातु का दरवाजा दर्शनीय है।

भरतपुर दुर्ग के भीतर अनेक महल व मन्दिर बनवाये गये इनमें श्रीहरिदेवजी व बिहारीजी के मन्दिर उल्लेखनीय हैं। किशोरी महल मजबूरी, व सौन्दर्य व भव्यता के लिए प्रसिद्ध है। गोवर्द्धन, बरसाना और वृन्दावन मे भी सूरजमल और उसकी प्रेयसी किशोरी द्वारा अनेक भव्य इमारतो का निर्माण करवाया गया था।[118]

राजस्थान के किला-स्थापत्य मे जैसलमेर का एक विशिष्ट स्थान रहा है। जैसलमेर क्षेत्र मे हर 20 या 30 मील के फासले पर छोटे-बड़े किलों के अवशेष आज भी देखे जा सकते हैं। किलो के निर्माण में कहीं ईंटों का और कहीं पत्थरों का प्रयोग हुआ है। अधिकांश गढो मे चार-पांच बुर्जें व सुदृढ़ दरवाजे बने हुए हैं। जैसलमेर में त्रिकूटाकृति पहाडी पर निर्मित किले की लम्बाई, चौड़ाई और ऊंचाई क्रमश: 1500 फुट, 750 फुट और 250 फुट है। किले के सुदृढ़ परकोटे पर 99 बुर्जें बनी हुई हैं। दुर्ग के चारों ओर पर्वत को ढकने के लिए घाघरानुमा परकोटा पत्थरो से जडा गया है। इस दोहरे परकोटे को कमरकोट की संज्ञा दी गई है। इसमें प्रस्तर खण्डों को जोड़ने के लिए चूने व सीमेंट का प्रयोग नहीं हुआ है। इसके स्थापत्य की यह एक विशेषता है। किले की बुर्जों पर झूलते हुए झरोखों का निर्माण हुआ है जो दूर से धनुषाकार रूप मे बड़ा सुन्दर दृश्य प्रस्तुत करते हैं। किले पर पहुचने के लिए हमें टेढ़े-मेढे मार्ग से सूरजपोल, गणेशपोल और हवापोल में से होकर गुजरना पड़ता है। हवापोल को पार कर जैसे ही हम किले के (चौहटे) मे पहुचते हैं, हमारी दृष्टि विशाल राजमहलों पर पड़ती है। सर्वोत्तम विलास, जिसका निर्माण महारावल अखैसिह (1722-1762 ई०) के शासनकाल में हुआ था, एक भव्य इमारत है। इसमें नीली चौकियां व कांच का जड़ाऊ काम बड़ा सुन्दर व कलात्मक है। इसे शीशमहल की संज्ञा दी जाती है। हवापोल के ऊपर रंगमहल का निर्माण महारावल मूलराज द्वितीय (1762-1820 ई०) द्वारा करवाया गया था। इसकी दालान कला की दृष्टि से अति उत्तम है। इस दालान की दीवारों पर वृत्ताकार व घुमावदार रेखा-अंकित अलंकरण कला के उत्कर्ष नमूने कहे जा सकते हैं। पूर्व और उत्तर में स्थित प्रसादिकाओं के फलस्वरूप उस महल में पर्याप्त प्रकाश रहता है। एक अन्य मोतीमहल का निर्माण भी मूलराज द्वारा 1813 ई० में करवाया गया था। यह महल तीन मंजिला है। इसके मुखपट पर, विशेषकर इसके प्रस्तर के दरवाजों पर, फूल-पत्तियो की खुदाई का बड़ा सुन्दर व कलात्मक काम किया

गया है। इसकी पहली मंजिल पर सभाभवन है जहां पहले सभाओं का आयोजन किया जाता था।[110]

नगर सुरक्षा हेतु महारावल अखैसिंह ने वि० सं० 1796 में नगर-परकोटे का निर्माण करवाना प्रारम्भ किया जो महारावल मूलराज द्वितीय के समय में पूर्ण हुआ। चार प्रमुख पोलें–अमर सागर पोल, घड़सीसर पोल, केरो की पोल और मल्का पोल बनी। 19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में व्यापारी वर्ग, सम्पन्न वर्ग व प्रशासनिक वर्ग, सामन्त वर्ग के लोगों ने अपने निवास के लिए बड़ी-बड़ी हवेलियों का निर्माण करवाना शुरू किया।[120]

कला की दृष्टि से इन हवेलियों में पटवों की हवेलियों का विशिष्ट स्थान है। ये कुल पांच हवेलियां हैं। इन हवेलियों के कलाकार मुसलमान और हिन्दू दोनों ही थे। मुगलों के पराभव काल में ये कलाकार गुजरात, मालवा एवं सिन्ध की ओर से आकर यहां बसने लगे थे। इन हवेलियों में जैसलमेर के पास से ही प्राप्त पीले पत्थर का प्रयोग हुआ है। यह पत्थर खुदाई कार्य के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है।

हवेलियों के अग्र भाग बारीक नक्काशी व विविध कलाकृतियों से अलंकृत हैं। हवेलियों पर बने झरोखे, बारियां, गोखड़े, तिबारियां आदि बड़े सुन्दर व सुरम्य प्रतीत होते हैं। हवेलियों में कमरों की छतें लकड़ी की बनी हैं। इन पर सोने की कलम का सुन्दर मीनाकारी का काम किया गया है। यहां शयन-कक्ष रंग-बिरंगे विविध चित्रों, बेल-बूटों तथा पशु पक्षियों की आकृतियों से सजाये गये हैं। ऊपर फव्वारों की भी व्यवस्था की गई है। हवेलियों में झूलते झरोखों का दृश्य अनूठा है। इन झरोखों के निचले भाग में कटाई का बहुत ही सुन्दर काम किया गया है। इनके ऊपर के कमानीदार व चौकोर छज्जों की बनावट कला की दृष्टि से उत्कृष्ट कही जा सकती है। इन हवेलियों की चिनाई में सीमेन्ट एवं चूने का प्रयोग नहीं किया गया है। एक दूसरे पत्थर को खांचे में मिलाकर स्थिर कर दिया गया है।

दीवान सालिमसिंह की हवेली के चारों तरफ बारियां व बगलियां निर्मित हैं जिन पर अलग-अलग कलाकृतियां उत्कीर्ण हैं। इन पर बनी जाली पारदर्शक है। फूल-पत्तियां, बेल-बूटे तथा नाचते हुए मोरों की आकृतियां तक्षण-कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। हवेली के सामने एक ही पत्थर का बना हाथी कलामय व अत्यन्त आकर्षक है। हवेली दूर से एक जहाज का-सा दृश्य प्रस्तुत करती है। वस्तुतः जैसलमेर में हवेली-स्थापत्य-कला उच्चकोटि की है।

जैसलमेर नगर जालियों और झरोखों का नगर है। यहां कोई ऐसी गली नहीं है, न कोई ऐसा प्राचीन घर है, जिस पर किसी न किसी प्रकार की कला का प्रदर्शन नहीं किया गया है। इसलिए विदेशी पर्यटकों ने जैसलमेर को कलामय नगरी कहकर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[121]

आलोच्यकाल में हाड़ौती और बागड़ प्रदेशों में स्थापत्य के क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति दृष्टिगत नहीं होती, फिर भी वास्तु कला के कतिपय नमूने राजप्रासादों, जलाशयों

व मन्दिरों के रूप मे यत्र-तत्र देखने में आते हैं । बून्दी के महाराव उम्मेदसिंह ने शहर की पश्चिमी दिशा मे एक छोटा-सा नवलसागर नाम का सुन्दर जलाशय बनवाया था । महाराव विष्णुसिंह की उपपत्नी सुन्दरशोभा ने इस जलाशय पर एक घाट का निर्माण करवाया । तालाब के किनारे पर मोतीमहल बना हुआ है । कर्नल टॉड का कथन है कि बून्दी के राजमहल राजस्थान मे बेजोड़ हैं । भवन-निर्माण-कला में महराव मीनारनुमा स्तम्भ प्रणाली, छज्जे और जालियो का मुगलो के सम्पर्क मे आने के बाद कोटा मे व्यापक रूप से प्रचलन रहा ।[122]

बांसवाड़ा के शासक पृथ्वीसिंह ने राजधानी को शत्रुओं के आक्रमणों से सुरक्षित रखने के उद्देश्य से शहरपनाह का निर्माण करवाया । इनके नाम पर नगर मे पृथ्वीगंज की बस्ती बसाई गई और मोतीमहल का निर्माण करवाया गया । उसकी राठौड़ी रानी अनोपकुंवर ने 1799 ई० में भगवान लक्ष्मीनारायण का मन्दिर बनवाया था । विजयमहल, विजय बावड़ी और राजमहलों मे रघुनाथजी का मन्दिर महारावल विजयसिंह के समय मे बन कर तैयार हुए ।[123]

डूंगरपुर के शासक रामसिंह के काल मे राजधानी में रामपोल दरवाजा बनवाया गया । महारावल शिवसिंह को स्थापत्य कला से विशेष रुचि थी । उसने एक विशिष्ट प्रकार का झरोखा बनवाया जो उसके नाम पर शिवसिंह झरोखा कहलाया । राजधानी में इस प्रकार के झरोखों का व्यापक प्रचलन रहा । शिवसिंह ने पुराने महलो व डूंगरपुर के कोट की मरम्मत करवाई । त्रिपोलिया दरवाजा, गैब सागर (गोपाल सागर) तालाब, उसकी माता की स्मृति मे निर्मित शिवज्ञानेश्वर शिवालय और कालिका मन्दिर महाराव शिवसिंह का स्थापत्य के प्रति प्रेम के प्रतीक हैं ।[124]

प्रतापगढ़ के शासक गोपालसिंह ने अपने नाम पर प्रतापगढ मे गोपालगंज बस्ती का बसाई तथा देवलिया मे गोपाल महल का निर्माण करवाया । महारावल सालिमसिंह ने देवलिया दुर्ग का जीर्णोद्धार करवाया तथा प्रतापगढ़ नगर की रक्षा-हेतु नगर परकोटा बनवाया । महारावल सामन्तसिंह (1774-1821 ई०) के काल मे प्रतापगढ मे अनेक भवन व महल बने । उसकी माता ने देवलिया में विष्णु मन्दिर का निर्माण करवाया था । उसने स्वयं रघुनाथद्वार नामक एक भव्य देवालय तैयार करवाया । देवलिया मे चन्द्रशेखर का शिव मन्दिर और युगल किशोर का विष्णु मन्दिर भी बनवाये गये ।[125]

इस प्रकार हमारे अध्ययन काल में राजस्थान के सभी क्षेत्रों में स्थापत्य की विभिन्न प्रवृत्तियों की न्यूनाधिक रूप से सुखद अनुभूति का अनुभव किया जा सकता है ।

सन्दर्भिका

1. कालूराम शर्मा, सामाजिक एवं प्रार्थिक जीवन, पृ० 105-07
2. जी०एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ. 79-83
3. वही, पृ. 84-85, पद्मजा, पृ. 235, जे०के० प्रोभा, पृ. 281-82
4. प्रोभा, उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ. 709; प्रोभा, बीकानेर राज्य का इतिहास, पृ. 393-94; जी०एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ. 90-92; पद्मजा, पृ. 235-36
5. जी०एन० शर्मा, सोशल लाइफ पृ. 93-94, जे०के० प्रोभा, पृ. 282-83
6. जी०एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ. 94-96, राजस्थान का इतिहास, 477-78, प्रार०पी० व्यास, रोल प्राफ नोबिलिटी, पृ. 214-16, जे.के. प्रोभा, पृ. 284, द्रष्टव्य, प्रार०पी० व्यास लेख, राजस्थानहिस्ट्री प्रोसीडिंग्स, भाग XI, पृ. 84-91
7. जी०एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ. 96-97, प्रार०पी० व्यास, द्रष्टव्य लेख, पाली-ऐन एम्पोरियम ऑफ राजपूताना, जर्नल इन्स्टीट्यूट प्राफ हिस्टोरिकल स्टडीज, कलकत्ता नं० 3 (1978-79) पृ. 184-88
8. जी०एन० शर्मा, सोशल लाइफ पृ. 97
9. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 378, जे०के० प्रोभा, पृ. 284-85
10. जी०एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ. 98-101, पद्मजा पृ. 237, वाल्टर, गजेटियर, पृ. 25
11. शेरिंग, हिन्दू ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स, भाग 3, पृ. 78-79
12. वही, पृ० 81-82, जी०एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ. 101-02
13. बांकीदास री ख्यात, पृ. 167, जी० एन शर्मा, सोशल लाइफ, पृ. 103-05
14. जी०एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ. 109-10, कालूराम शर्मा, पृ. 114
15. द्रष्टव्य: जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, प्रध्याय 4, पृ. 108-120 कालूराम शर्मा, पृ. 115-118, जे. के. प्रोभा, पृ. 288-89
16. प्रजीतोदय, सर्ग 31, श्लोक 32-33, राजरूपक, पृ. 247-54
17. जे.के.प्रोभा, पृ. 292
18. वीर विनोद, पृ. 1323 : कविराज श्यामलदास के प्रनुसार त्याग लड़की का बाप नहीं देता था। त्याग की रकम हट द्वारा लड़के के बाप से लेने की प्रथा थी। लड़की को मारने का प्रमुख कारण सगाई के समय लड़की के पिता द्वारा टीका देना था।

19. जी. एन. शर्मा, सोशल लाइफ, पृ. 100 खरीद की रकम का एक चौथाई भाग कोटा राज्य में लिया जाता था।
20. दस्तूर कौमवार, भाग 25, फो. 335 वि. सं. 1774, जी. एन. शर्मा, सोशल लाइफ, पृ. 122-24
21. दस्तूर कौमवार, भाग 14; रेऊ, भाग 1, पृ. 390; नारायणसिंह पंवार, रावणा-राजपूत दर्शन, पृ. 21
22. दस्तूर कौमवार, वि.सं. 1786, फो .332
23. जी.एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 483
24. दरगाह फाइल नं. 6, 74 और 95, जे.के. ओझा, पृ. 300-01
25. जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 282-85, जे. के. ओझा पृ. 293-97
26. द्रष्टव्य: जी. एन. शर्मा, सोशल लाइफ, अध्याय 10, पृ 266-87
27. जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 499-500
28. राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, जैसलमेर, पृ. 65
29. तवारीख जैसलमेर, पृ. 73, रेऊ, भाग 1, पृ. 393, जी. एन. शर्मा, सोशल लाइफ, 199-201
30. जी. एन. शर्मा, सोशल लाइफ, पृ. 201-08, पद्मजा, पृ. 243-44, मांगीलाल मयंक, जैसलमेर राज्य का इतिहास, पृ. 238
31. जी. एन. शर्मा, सोशल लाइफ, पृ. 211-17, जे. के. ओझा, पृ. 302-03
32. जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 503-13
33. वही, पृ. 505-06
34. जे..के. ओझा, पृ. 302, मांगीलाल मयंक, पृ. 236
35. हकीकत बही नं. 1, वि.सं. 1836/1779, दरगाह फाइल 1818 ई. जी. एन. शर्मा, सोशल लाइफ, पृ. 219-223 और मेवाड़ एण्ड मुगल एम्परर्स, पृ. 223; सांस्कृतिक राजस्थान, हीरालाल माहेश्वरी का लेख, पृ. 35-36
36. जी. एन. शर्मा, सोशल लाइफ, पृ. 288-296, राजस्थान का इतिहास, पृ. 487-88; जे. के. ओझा, पृ. 307-08; मीरा, महाराजा अजीतसिंह एवं उनका काल, पृ. 289; पद्मजा, पृ. 253-56 मांगीलाल, 224-27, अकाल सम्बन्धी जैसलमेर राज्य मे एक दोहा प्रचलित था:—
पग पुंगल घड़ कोटड़े, बाहां बाड़मेर।
जोयो लादे जोधपुर, ठावो जैसलमेर॥
37. टॉड, भाग 2, पृ. 132-33; कालूराम शर्मा, पृ. 174-75

38 जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 488–89;
कालूराम शर्मा, पृ. 176–77
39. वही, पद्मजा, पृ. 257
40. *तवारीख जैसलमेर, पृ. 228; एडम्स, द वेस्टर्न राजपूताना स्टेट्स, पृ. 9*
41. कोटा रिकार्ड्स-भंडार नं 3, वि.सं. 1873–93; एडम्स, ए मेडिको टोपोग्राफिक एण्ड जनरल एकाउन्ट ऑफ मारवाड़, पृ० 417
42. *इम्पीरियल गजेटियर, पृ. 267; जी०एन. शर्मा, सोशल लाइफ, पृ. 305;* कालूराम शर्मा, पृ. 177-78
43. जी०एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ. 304-05; कालूराम शर्मा, पृ. 178
44. जी०एन शर्मा, सोशल लाइफ, पृ. 309; कालूराम शर्मा, पृ. 178-79; मांगीलाल मयंक, जैसलमेर राज्य का इतिहास, पृ. 228; पद्मजा, पृ. 257
45. जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ. 310; कालूराम शर्मा, पृ. 178-79; पाउलेट-गजेटियर ऑफ अलवर स्टेट, पृ. 43
46. जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 490; जे.के. ओझा, पृ. 311
47. पारिश्रमिक व वस्तुओं के भाव के लिए द्रष्टव्य :—
जी. एन. शर्मा, सोशल लाइफ, पृ. 311-14; पद्मजा, पृ. 260-64;
48. कालूराम शर्मा, पृ. 182-83
49. कालूराम शर्मा, पृ. 186
50. टॉड, भाग 1, पृ. 554, भाग 2, पृ. 125–26
51. टॉड, भाग 2, पृ. 158; गोविन्द अग्रवाल, चूरू मण्डल का शोधपूर्ण इतिहास, पृ. 478-79
52. जैसलमेर गजल छन्द 70-75; टॉड, भाग 2, पृ. 266-78 तवारीख जैसलमेर, पृ. 135
53. जी०एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ. 321
54. ऐन एकाउन्ट ऑफ द किंगडम ऑफ काबुल, भाग 1
55. कालूराम शर्मा, पृ. 185-86, गोविन्द अग्रवाल, पृ. 478-79
56. आर० पी० व्यास, पाली ऐन एम्पोरियम ऑफ राजस्थान, लेख प्रकाशित, राजिस्को, भाग 10, पृ. 77
57. बर्नस रिपोर्ट, सीक्रिट, कोन्स० 14 अक्टोबर, 1830, नं० 3-8, पत्र 7, बीमा को उस समय 'हुण्डा भाड़ा' कहा जाता था। इसमें किन्हीं विशेष शर्तों का उल्लेख नहीं होता था। केवल यह लिखा जाता था कि तातीसीली, चोरी जारी के वे जिम्मेवार हैं। परन्तु इस लिखावट का अर्थ बड़ा व्यापक होता था। द्रष्टव्यः गोविन्द अग्रवाल, पृ. 481, पाद टिप्पणी, 2

58. कालूराम शर्मा, पृ० 188-89
59. वही, पृ. 190, रामप्यारी, झाला जालिमसिंह, पृ. 356-58; पद्मजा, पृ. 248-49
60. भण्डार नं. 16 फाइल नं. 1-23, वि.सं. 1789
61. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 2, पृ. 642
राजस्थान के सिक्कों की विस्तृत जानकारी के लिए वैब कृत राजपूताने के हिन्दू रजवाड़ों के सिक्के पुस्तक द्रष्टव्य है। मांगीलाल ने इसका हिन्दी संस्करण निकाल दिया है; जी एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ० 495-96; जे.के. ओझा, पृ. 314; गोविन्द अग्रवाल, पृ. 471; मांगीलाल मयंक, पृ. 229-30
62. जी.एन.शर्मा, सोशल लाइफ, पृ. 339; गोविन्द अग्रवाल, पृ. 462, पाद टिप्पणी 3
63. गोविन्द अग्रवाल, पृ. 462, पाद टिप्पणी 3, यहा आठ आना सैकड़ा आढ़त व आठ आना सैकड़ा हुण्डावण लेने का उल्लेख है।
64. तवारीख, पृ. 66 और 259
जे.के. ओझा, पृ. 314
65. रेऊ, भाग 1, पृ. 21
66. मीरा मिश्र, महाराजा अजीतसिंह एवं उनका युग, पृ. 269
67. अजीतोदय और अजित चरित की मूल प्रतिलिपि पुस्तक प्रकाश जोधपुर में प्राप्य है। अजीत विलास को डा. नारायणसिंह भाटी ने परम्परा, भाग 27 में प्रकाशित किया है। इस कृति का महत्त्व मध्यकालीन राजस्थान के इतिहास की विस्तृत जानकारी की दृष्टि से तो है ही, परन्तु राजस्थानी भाषा के विकास के अध्ययन के लिए भी, इसमें पर्याप्त सामग्री है।
68. मीरा, पृ. 271-72; सांस्कृतिक राजस्थान हीरालाल माहेश्वरी का लेख, पृ. 35-36
69. ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 763; रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 22
70. मेनारिया, राजस्थानी का पिंगल साहित्य, पृ. 173; शिवदत्तदान, महाराजा विजयसिंह एवं उनका युग (शोध ग्रन्थ जोधपुर विश्वविद्यालय की पीएच. डी. उपाधि हेतु) पृ. 315-318
71. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग, 1, पृ. 23-24; आर.पी. व्यास, रोल ऑफ नोबिलिटी इन मारवाड़, पृ. 218-19
72. रेऊ, वही, मीरा, पृ. 250-52

73. ओझा, भाग 2, पृ. 609-10, 621-22 और 662-663 गोवर्धन विलास के माना घ्याय भाई के कुंड की प्रशस्ति, राज राजेश्वर की प्रशस्ति, पंचोलियों के मन्दिर की प्रशस्ति, भीमपक्षेश्वर की प्रशस्ति आदि भी उल्लेखनीय हैं।
74. जे.के.ओझा, पृ. 320 इन ग्रन्थों की प्रतियां प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान उदयपुर में सुरक्षित हैं।
75. ओझा, भाग 2, पृ. 721-22 पाद टिप्पणी, 1, जे. के. ओझा, पृ. 321; सांस्कृतिक राजस्थान, हीरालाल माहेश्वरी का लेख, पृ. 37
76. जे.के. ओझा, पृ. 322
77. इस काल के ग्रन्थों की सूची हेतु द्रष्टव्य:
    राजेन्द्रलाल मित्र, केटेलाग ऑफ द संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन द लाइब्रेरी ऑफ बीकानेर, पृ. 510-14;
    मुंशी देवीप्रसाद, राजरसनामृत, पृ. 46-48;
    ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 285-87
78. देवीप्रसाद, राजरसनामृत, पृ. 49-50
79. ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास भाग 1, पृ० 359-61.
79 (अ) सांस्कृतिक राजस्थान, हीरालाल माहेश्वरी का लेख, पृ. 35-36
80. पुरुषोत्तम् छंगाणी का लेख–जैसलमेर की साहित्यिक देन, प्रकाशित जैसलमेर : सर्वोदय-स्मारिका, पृ. *17*
81. वही., पृ. 19, तवारीख जैसलमेर, पृ. 118
82. टॉड, भाग 2, पृ. *290*, भटनागर, पृ. *202-03*
83. जगदीशसिंह गहलोत, कछवाहों का इतिहास, पृ. 102; भटनागर, पृ. *208-12*
84. जगदीशसिंह, पृ. 110, 114 और 117
85. वही, पृ. *126-27*; एम. एल. शर्मा, हिस्ट्री ऑफ द जयपुर स्टेट, पृ. 272-74, कल्चरल् हेरिटिज् ऑफ जयपुर, पृ. 211-212.
86. पी. सी. चान्दावत, महाराजा सूरजमल और उनका युग, पृ. 233-235
87. जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 529-30; जगदीशसिंह गहलोत, बून्दी राज्य का इतिहास, पृ. 13
88. गौ. ही. ओझा, बांसवाड़ा, पृ. 141; डूंगरपुर का इतिहास, पृ. 131; प्रतापगढ़ राज्य का इतिहास, पृ. 212
89. जी. एन. शर्मा, पृ. 531
89. (अ) जगदीशसिंह गहलोत, अलवर राज्य का इतिहास, पृ. 229; सांस्कृतिक राजस्थान, हीरालाल का लेख, पृ. 35

90. जी. एन. शर्मा, पृ. 607; रामनाथ, मध्यकालीन भारतीय कलाएं और उनका विकास, पृ. 18-19
91. सांस्कृतिक राजस्थान, खण्ड 1, में प्रकाशित राजस्थान की चित्रकला, द्वारा रामबल्लभ सोमानी, पृ. 156-167; रघुवीरसिंह, पूर्व आधुनिक राजस्थान, पृ. 264; जे. के. ओझा, पृ. 324-25
92. जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 613-14
93. विजय, राजस्थानी चित्रकला, पृ. 30-31; मीरामित्र, महाराजा अजीतसिंह एवं उनका युग, पृ. 272-76; पद्मजा, पृ. 252-53, सोमानी, पृ. 176-179
94. जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 611; बीकानेर इतिहास एवं संस्कृति, जमील उस्ता का लेख, पृ. 47-48; सोमानी, पृ. 174-75
95. जी. एन. शर्मा, पृ. 612, द्रष्टव्य: खण्डालवाला द्वारा सम्पादित किशनगढ़ पेंन्टिग्स
96. कल्चरल हेरिटेज ऑफ हाडोती, रामगोपाल विजयवर्गीय का लेख, पेन्टिग्स ऑफ बून्दी, पृ. 32-35, द्रष्टव्य: रूपरेखा, भाग 35, अंक 1-2, पृ. 6-14 पर डा. एम. एस. रंधावा का लेख, पेंन्टिग्स इन बून्दी।
97. द्रष्टव्य: सास्कृनिक राजस्थान, खंड एक, सोमानी का लेख, पृ. 183-85 कल्चरल हेरीटेज ऑफ हाड़ौती, रामगोपाल विजयवर्गीय लेख, पृ 30-32
98. जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 613
99. सोमानी, पृ. 187–89
100. जी. एन. शर्मा, वही, पृ. 613
101. सोमानी, पृ. 189
102. आर. ए. अग्रवाल, हिस्ट्री, आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ जैसलमेर, पृ. 71-72; मांगीलाल मयंक, जैसलमेर राज्य का इतिहास, पृ. 259-60
103. सोमानी, पृ. 189
104. रामनाथ, पृ. 15-16
105. रायकृष्णदास, भारतीय चित्रकला पृ. 56-58
106. रामनाथ, पृ. 32, जी. एन. शर्मा, पृ. 549-50
107. वही, पृ. 79
108. रेऊ, मारवाड़ राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 28; मीरा मित्र, महाराजा अजीतसिंह एवं उनका युग, पृ. 276-281; किसी व्यक्ति

की समृद्धि में तीन प्रकार के स्मारक बनाये जाते थे—थड़ा, छतरी और देवल। देवल स्मारक भवनों में सर्वश्रेष्ठ हैं।

109. रेऊ, वही, पृ. 357-58, 368-69 और 394
110. पद्मजा, पृ. 242-43 मारवाड़ में विभिन्न समय में बनी इमारतों के सम्बन्ध में जानकारी हेतु द्रष्टव्य, परिशिष्ट 1(क) मारवाड़ रा परगनां री विगत, प्रथम भाग, पृ. 559-78 डा. नारायणसिंह ने यह जानकारी कमठे की बही से उपलब्ध करवाई है।
111. वीर विनोद, पृ. 790 और 955-56; ओझा, पृ. 608-09, 619-20, 639; जे.के. ओझा, पृ. 325-27
जगनिवास महल का सविस्तार वर्णन कवि नेकराम ने 'जगद्विलास' नामक ग्रन्थ से किया है।
112. बीकानेर इतिहास एवं संस्कृति, अश्वनीकुमार गोयल का लेख, पृ. 53
113. ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 358
114. भटनागर, पृ. 205-208, एम.एल. शर्मा, हिस्ट्री ऑफ द जयपुर पृ. 155-57, असीमकुमार रोय, हिस्ट्री ऑफ जयपुर सिटी, पृ. 44-48 (रोय ने नगर की नीव की तिथि 29 नवम्बर दी है) जी. एन. शर्मा, पृ. 539
115. जी.एन. शर्मा, पृ. 539
असीम कुमार, पृ. 51 और 57
भोजनसार : चोपर केरू बाजार है हाकेक ई हजार।
देस देस के करत है व्यापारी व्यापार ॥96॥
बुद्धिविलास : नगर बसाये यक नयो जय स्यंघ सवाई
जाकि सोभा जगत में दसहों दिसि छाई
ताको वरनत करन को हुलसी मतिमेरी
इन्द्र पुरी है जानियो ताकी है चेरी ॥97॥
116. जगदीशसिंह गहलोत, कछवाहों का इतिहास, पृ. 114 और 127, असीमकुमार, पृ. 54 और 63 ब्रजनिधि ग्रन्थावली, पृ. 184
हवा महल याते कियो सब समझो यह भाव।
राधे कृष्ण सिधारसी दरस परस को भाव॥
असीम कुमार, द्रष्टव्य अपेंडिक्स 6 पृ. 228-30
117. राम पाण्डे, पृ. 38-39
118. पी.सी. चान्दावत, पृ. 236-37 भरतपुर नगर एवं दुर्ग-निर्माण के लिए द्रष्टव्य: सुजान चरित, पृ. 246, तवारीख भरतपुर, पृ. 20-22

119 आर. ए. अग्रवाल, हिस्ट्री, आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ जैसलमेर, पृ. 32 और 46

120. वही, पृ. 34 और 47, नन्दकिशोर शर्मा, झरोका की नगरी, पृ. 22-23

121. वही, पृ. 49-50, मांगीलाल मयंक, जैसलमेर राज्य का इतिहास, पृ. 250-51

122 जगदीशसिंह गहलोत, बून्दी राज्य का इतिहास, पृ. 20 और 95-96

123. ओझा, बांसवाड़ा राज्य का इतिहास, पृ. 137 और 149

124. ओझा, डूंगरपुर राज्य का इतिहास, पृ. 130-31

125. ओझा, प्रतापगढ़ राज्य का इतिहास, पृ. 245-256 और 276-77

परिशिष्ट–1

झाला जालिमसिंह (1739–1824 ई०)

जालिमसिंह झाला जाति का राजपूत था। उसके पूर्वज प्रारम्भ में सौराष्ट्र में बड़े ठिकानेदार थे। मुसलमानों के शासन-काल में झाला परिवार छिन्न-भिन्न हो गया। इसी परिवार का एक व्यक्ति भावसिंह ईडर पहुंचा। उसका विवाह मेवाड़ के सावर ठिकाने (अजमेर के निकट) के शक्तावत सरदार की पुत्री से हुआ था। ईडर में रहना उसके लिए उपयुक्त नहीं रहा, अतः वह अपने जीवन-यापन हेतु दिल्ली की ओर पलायन कर गया। परन्तु उसकी पत्नी व उसका लड़का माधोसिंह सावर ठिकाने में ही रहे। माधोसिंह जब बड़ा हुआ तो वह नौकरी की तलाश में बून्दी चला गया जहां उसे नौकरी मिल गई। वहां वह एक वर्ष तक ठहरा। इसके बाद अपने 25 सवारों के साथ वह कोटा के महाराव रामसिंह की सेवा में चला गया। रामसिंह के शासन-काल में तो सम्भवतः माधोसिंह को राज्य में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिला था, परन्तु महाराव भीमसिंह (1707–1720 ई०) के समय उसे अपनी योग्यता का प्रदर्शन करने का अच्छा अवसर मिला। उस समय बून्दी के राव बुद्धसिंह के कोटा राज्य पर आक्रमण हो रहे थे। भीमसिंह ने माधोसिंह को योग्यता से प्रभावित होकर उसे कोटा राज्य का फौजदार नियुक्त कर दिया। कोटा के तीन मील पश्चिम में स्थित नान्ता गांव उसे जागीर में दे दिया गया। इसके अतिरिक्त माधोसिंह की बहिन का विवाह कोटा के युवराज अर्जुनसिंह के साथ कर दिया गया। अब माधोसिंह कोटा राज्य का फौजदार और जागीरदार ही नहीं था बल्कि कोटा के महाराव का निकट का सम्बन्धी भी बन गया था। उसका देहान्त 1740 ई० में हुआ, और तब उसके पुत्र मदनसिंह को फौजदार का पद मिला। उसकी मृत्यु के बाद (1753 ई०) उसके भाई हिम्मतसिंह को फौजदार के पद पर नियुक्त किया गया। जब 1758 ई० में हिम्मतसिंह की निःसन्तान मृत्यु हो गई तो उसने बड़े भाई मदनसिंह के पौत्र और पृथ्वीसिंह के पुत्र जालिमसिंह को गोद लिया। जालिमसिंह का जन्म अपने पिता के मरणोपरान्त 1739 ई० में हुआ था। 1758 ई० में झाला जालिमसिंह 18 वर्ष की आयु में फौजदार के पद पर नियुक्त हुआ। इसके साथ ही उसे अपनी पैतृक नान्ता की जागीर भी प्राप्त हो गई।[1]

झाला जालिमसिंह जब फौजदार बना, तब शासन के सभी अधिकार उसे प्राप्त नहीं थे। उसके ऊपर अखयराम पंचोली की नियुक्ति की गई थी। कुछ समय तक जालिमसिंह अखयराम के साथ मिलकर शासन का कार्य करता रहा, परन्तु बाद में वह कोटा राज्य का सर्वेसर्वा बन गया था। 1761 ई० में जयपुर के विरुद्ध लड़े गये भटवाड़े के युद्ध में कोटा की सेना का नेतृत्व नौजवान सेनापति जालिमसिंह ने ही किया था। उस समय वह केवल 21 वर्ष का था। इस युद्ध मे जालिमसिंह ने अपनी संगठन-शक्ति और वीरता का परिचय दिया था और विजय का सम्पूर्ण श्रेय जालिमसिंह को ही था। वह अब कोटा का एक प्रभावशाली सामन्त बन गया था। भटवाड़े की विजय ने उसको कोटा राज्य मे ही नही, वल्कि अन्य निकटवर्ती राज्यो मे भी प्रसिद्ध कर दिया था। आगामी पचास वर्ष तक वह एक प्रतिष्ठित व्यक्ति के रूप में बना रहा और राजस्थान के इतिहास पर छाया रहा।[2]

सन् 1764 ई० में महाराव शत्रुसाल निःसन्तान मर गया। उसका छोटा भाई गुमानसिंह कोटा का महारावल बना। उसके राज्याभिषेक के कुछ समय बाद महाराव और जालिमसिंह के बीच मनमुटाव हो गया। महाराव ने उसे पदच्युत कर उसकी पैतृक नान्ता की जागीर जब्त कर ली और उसे कोटा से बाहर निकाल दिया।[3] जालिमसिंह मेवाड़ राज्य में चला गया। वहां महाराणा अरिसिंह ने, जो अभी गृहयुद्ध से संतप्त था, उसका स्वागत किया। वह महाराणा का मुख्य सलाहकार बन गया। अरिसिंह ने उसे राजराणा का खिताब दिया और उसके जीवन-निर्वाह के लिए चीताखेड़ा और किरपापुर के गांव जागीर मे दिये। जालिमसिंह महाराणा के पक्ष को सबल बनाने में लग गया। जालिमसिंह के प्रयत्नों से देलवाड़ा के झाला राघवदेव, शाहपुरा के उम्मेदसिंह तथा बनेड़ा के जागीरदार आदि ने महाराणा का पक्ष ग्रहण कर लिया। जब विरोधी सरदारो ने महादजी सिन्धिया की सहायता प्राप्त करके रत्नसिंह के पक्ष को सशक्त बनाया तो जालिमसिंह ने पेशवा से सैनिक सहायता प्राप्त कर ली जिससे महाराणा अरिसिंह की स्थिति सुदृढ़ बनी रही।[4]

महादजी सिन्धिया के साथ राणा की तरफ से सन्धि की वार्ता जब असफल हो गई तो जनवरी 1769 ई० मे उज्जैन के निकट क्षिप्रा नदी के किनारे पर सिन्धिया की सेना से युद्ध हुआ जिसमे जालिमसिंह घायल हुआ और कैद कर लिया गया। बाद मे उसके मित्र मराठा सरदार इंगले ने साठ हजार रुपये देकर उसको मुक्त करवाया।[5]

उन दिनो दक्षिण की तरफ से मराठा सेना कोटा राज्य में आगे बढ़ रही थी। इस समय कोटा की स्थिति बड़ी विषम थी। इस संकटमय स्थिति मे महाराव ने जालिमसिंह की अनुपस्थिति का अनुभव किया। कोटा स्थित मराठा वकील लालाजी बल्लाल के माध्यम से महाराव ने जालिमसिंह को कोटा बुला लिया।

अब उसे महाराव ने अपना प्रतिनिधि बनाकर मराठों से समझौता करने के लिए भेजा। उसने मराठों से बातचीत कर उन्हे कोटा राज्य से बाहर चले जाने के लिए राजी कर लिया। इस सेवा से महाराव गुमानसिंह प्रसन्न होकर पुनः जालिमसिंह पर पूर्ववत् विश्वास करने लगा। जालिमसिंह को फिर से फौजदार के पद पर नियुक्त कर उसकी नान्ता की जागीर बहाल कर दी। महाराजा स्वरूपसिंह उसकी अनुपस्थिति में शासन का कार्य चला रहा था। वह भी झाला के साथ राज्य-प्रबन्ध का कार्य करता रहा।[6]

कुछ समय बाद महाराव गुमानसिंह बीमार पड़ गया और उसे अब जीवित रहने की आशा नहीं रही। उसने अपने सभी जागीरदारो को आमन्त्रित किया और उनके सामने अपने दस वर्षीय पुत्र उम्मेदसिंह को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया तथा झाला जालिमसिंह को उसका संरक्षक नियुक्त किया। इसके बाद माघ शुक्ला प्रतिपदा वि० सं० 1827 ई० को उसका देहान्त हो गया। जालिमसिंह अब न केवल कोटा राज्य में फौजदार ही था बल्कि वह कोटा राज्य और राजा दोनो के संरक्षण का कार्य भी कर रहा था। इसके अतिरिक्त वह उम्मेदसिंह का मामा भी था–यानी महाराव के साथ उसका पारिवारिक सम्बन्ध भी था।[7]

जालिमसिंह बहुत ही महत्वाकांक्षी था। उसे अपनी शक्ति पर विश्वास था। वह कूटनीतिज्ञ, कुचक्री और षड्यन्त्रकारी भी था। उसने अपने विरोधियों का नाश कर दिया। वंशभास्कर के अनुसार 'जालिमसिंह ने महाराव गुमानसिंह को विष देकर मरवा डाला था।' परन्तु जालिमसिंह ने गुमानसिंह की मृत्यु के लिए दीवान स्वरूपसिंह को उत्तरदायी बताकर धायभाई जसकरण के द्वारा उसकी हत्या करवा दी। बाद मे जसकरण को कैद कर लिया और उसे युक्ति से जेल से मुक्त करवा कर कोटा राज्य से निष्कासित करवा दिया। वह जयपुर राज्य में दीन-हीन स्थिति में मृत्यु को प्राप्त हुआ। मालगुजारी, खजाना, जकात आदि का प्रबन्ध जो पहले स्वरूपसिंह के अधीन था, जालिमसिंह ने अपने हाथ में ले लिया। इस प्रकार वह अब राज्य का सर्वेसर्वा बन गया।[8] उसने गढ मे अपने लिए हवेली का निर्माण करवा लिया और वहीं वह रहने लगा। गढ़ मे रहकर महाराव से वह अपना निरन्तर सम्पर्क रखने मे समर्थ रहा और साथ ही उस पर वह पूर्ण नियन्त्रण भी रख सका।

जालिमसिंह की बढ़ती हुई शक्ति और उसकी स्वेच्छाचारिता व निरंकुशता से हाड़ा सरदार उससे घोर द्वेष करने लगे। जालिमसिंह ने राज्य मे उनके लिए ऐसी स्थिति उत्पन्न करदी कि उन्हें राज्य छोड़कर अन्य राज्यों में जाने के लिए बाध्य होना पड़ा। जालिमसिंह ने उनकी जागीरें जब्त कर ली और उन्हें देशद्रोही घोषित कर दिया। जालिमसिंह का अन्य रजवाड़ो मे इतना अधिक प्रभाव था

कि इन भागे हुए कोटा के जागीरदारो को कहीं शरण प्राप्त नहीं हो सकी। निराश होकर बहुत से सरदार कोटा वापिस आ गये। तब झाला जालिमसिंह ने उन पर दया कर उनके जीवन-यापन हेतु उन्हें छोटी जागीरे दे दी। अब वे शक्तिहीन थे। आटोण के एक लाख के पट्टायत देवीसिंह को भी, मराठो के एक अंग्रेजी फौजी अफसर मूसाकाल्यी को बुलाकर तथा उसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करवाकर उसे अपनी जागीर खाली कर कोटा राज्य से बाहर जाने के लिए बाध्य कर दिया। झाला के प्रभाव के कारण उसे कही भी आश्रय नही मिला। अन्त में वह दया के पात्र के रूप में कोटा लौटा। झाला ने सिन्धिया के कहने पर उसको सात गाव जागीर मे दिये जिनकी वार्षिक आय दस हजार रुपये आकी गई थी।[9]

उसने वि० स० 1836 (1779 ई.) मे 'टीका दौर' के नाम से सैनिक अभियान कर शाहबाद पर विजय प्राप्त की। वहा का शासक मेघसिंह युद्ध मे लड़ता हुआ मारा गया।[10] झाला ने अपनी योग्यता और सैनिक शक्ति से कोटा मे सभी विरोधी तत्त्वों को कुचल दिया। इस समय राजस्थान के अन्य सभी राज्यो में वहा के जागीरदारो से कलह चल रहे थे, परन्तु कोटा इस प्रकार के संकट से पूर्ण रूप से मुक्त रहा।

जालिमसिंह के कठोर शासन के कारण राज्य में उसके कई शत्रु हो गये थे। उसने अपनी शक्ति से कोटा सरदारो की शक्ति तो क्षीण कर दी, परन्तु उनके असन्तोष को वह नहीं मिटा सका। ऐसे अनेक हाड़ा राजपूत थे जो जालिमसिंह के शासन का अन्त करना चाहते थे। उन्होने झाला को मारने के भी षड्यन्त्र रचे परन्तु वे सफल नही हुए, क्योंकि जालिमसिंह बहुत सतर्क रहता था और उसके गुप्तचर बड़े दक्ष थे। यद्यपि षड्यन्त्रकारी उसे मारने मे सफल नही हुए तथापि झाला भयातुर जीवन से अत्यन्त संतप्त रहा करता था। नहाते और शिकार करते समय भी वह अपनी सुरक्षा का पूरा ध्यान रखता था। कभी-कभी वह लोहे के पिंजड़े मे सोया करता था जिसकी चाबी वह स्वयं अपने पास रखता था।[11]

मराठों के प्रति नीतिः 1737 ई. से ही मराठा वकील कोटा राज्य मे रहने लगा था। वह बड़ा प्रभावशाली होता था। अंग्रेजी काल के रेजीडेन्ट के समान ही उसकी महत्ता थी। मराठों के प्रथम वकील का नाम लालाजी बल्लाल था जो जालिमसिंह का परम मित्र था। दूसरे वकील का नाम था बालाजी यशवंत। मराठा वकील राज्य से राजस्व एकत्र करने का कार्य किया करता था। कोटा राज्य द्वारा मराठों को बहुत बड़ी धनराशि वार्षिक कर के रूप में दी जाती थी। वह रकम सिन्धिया अपने वकील के माध्यम से वसूल करता था और फिर वह पारस्परिक सन्धि के अनुसार इस रकम को सिन्धिया, होल्कर, पेशवा व पंवार के बीच निश्चित अनुपात मे बांट लिया करता था। मराठा वकील राज्य की राजनीतिक घटनाओं की सूचना अपने मराठा स्वामी के पास भेजता रहता था। उसे 38 हजार रुपये

वार्षिक वेतन के रूप में मिलते थे । इसके अतिरिक्त उसे जागीर भी प्रदान की जाती थी । आवश्यकता पड़ने पर वकील के अनुरोध पर कोटा राज्य को मराठों की सैनिक सहायता करनी पड़ती थी । वकील के नीचे उसका एक दीवान होता था जो राज्य मे मराठों को प्राप्त धनराशि का लेखा-जोखा रखता था । राज्य में मराठों की तरफ से कमाविसदार नियुक्त थे जो वर्तमान काल के तहसीलदारों की भांति राजस्व वसूल करने का कार्य करते थे । मराठों की तरफ से कोटा राज्य में इस प्रकार की व्यवस्था होने पर भी मराठा सरदार यदा-कदा कोटा राज्य पर आक्रमण कर ही देते थे ।[12]

झाला जालिमसिंह के सामने मराठा सरदारों को शान्त रखने की सबसे बड़ी समस्या थी । मराठा आक्रमणकारियों के कारण सम्पूर्ण राजस्थान त्रस्त था। मराठों का शक्ति से सामना करना कोटा राज्य की सामर्थ्य के बाहर था, इसलिए झाला ने मराठो के साथ साम, दाम और भेद की नीति का अनुसरण किया । वह कई मराठा सरदारों को धन देता, तो कइयों को सैनिक सहायता देकर सन्तुष्ट करने का प्रयास किया करता था । वि. सं. 1834 (1777 ई.) में जीवाजी अप्पा ने कोटा राज्य पर आक्रमण किया तो झाला ने अपने प्रतिनिधियों को भेजकर बातचीत कर कुछ धनराशि देकर कोटा राज्य को उसकी लूट-मार से बचाया था । वि. सं 1836 (1779 ई.) को जब जीवाजी की मृत्यु हुई तो उसके उत्तराधिकारी जनकोजी को टीके का दस्तूर कोटा राज्य की तरफ से भेजा गया ।[13]

इसी वर्ष इन्द्रगढ़, खातौली, करवाड़ और पीपल्दा की तरफ तथा शोपुर की ओर मराठो ने खूब लूट-खसोट की । ये स्थान कोटा राज्य के भाग थे । झाला ने साम और दाम की नीति अपना कर मराठों को वापिस लौटाया और कोटा राज्य की रक्षा की । इसी प्रकार वि.सं. 1841 (1784 ई.) मे मराठा सरदार नरहरराव पडित को 15 हजार रुपये देकर झाला ने पिंड छुड़ाया । वि. सं. 1842 मे खांडेराव को भी धन देकर कोटा की सीमा में प्रविष्ट नहीं होने दिया था ।[14]

तुकोजी होल्कर को भी वह समय-समय पर रुपये, उपहार आदि देकर संतुष्ट रखता था । वह उसे बड़ी खुशामद भरे पत्र लिखता था । एक पत्र में झाला ने उसे लिखा था—"यो राज आपको ही छै, और यहां बड़ो हुक्म आपको ही छै।" जब भी मराठा सरदार कोटा राज्य मे आते थे तो उनके आतिथ्य-सत्कार पर बहुत बड़ी धनराशि खर्च की जाती थी । वि. सं. 1839 में तुकोजी होल्कर के पुत्र मल्हारराव होल्कर के विवाह के उपलक्ष मे कोटा राज्य की तरफ से 7000 रुपये 'न्यौत' के भेजे गये थे ।[15]

बेंगू की रक्षा के लिए तथा शाहबाद की विजय के फलस्वरूप मराठो को धनराशि दी गई थी । शिवाजी विट्ठल और शिवाजी बापू को भी कोटा से कर

दिया जाता था। 1803 ई. में अंग्रेजों से सिन्धिया पराजित हो गया जिससे मराठों का प्रभुत्व अब कुछ क्षीण हो गया था। फिर भी उनका दबाव तो रहता ही था। अतः जालिमसिंह समयानुकूल कभी अंग्रेजों का साथ देता, तो कभी मराठों का। ईस्ट इण्डिया कम्पनी से परास्त होकर जब होल्कर भाग रहा था और मानसन उसका पीछा कर रहा था, उस समय जालिमसिंह ने होल्कर के विरुद्ध अंग्रेजों की सैनिक सहायता की थी। कोटा सेनानायक पलायथे का भाया अमरसिंह ने होल्कर की सेना का मुकाबला किया था और वह रणक्षेत्र में धराशायी हो गया था; परन्तु कर्नल मानसन की रक्षा हो सकी थी। इसके बाद जब होल्कर ने कोटा पर आक्रमण किया तो झाला ने उसे तीन लाख रुपये देकर राज्य को लूट-खसोट से बचाया।[16]

उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में जब सिन्धिया और होल्कर ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ सन्धियां कर ली तो झाला को समझने में देर नहीं लगी कि मराठों के दिन अब समाप्त होने वाले हैं। 1812 ई० के आस-पास सिन्धिया, भोंसले, होल्कर और पेशवा ने स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए युद्ध प्रारम्भ कर दिया, और उधर पिंडारियों के साथ भी कम्पनी को युद्ध करने के लिए बाध्य होना पड़ा। तब अंग्रेजों के राजदूत टॉड ने झाला के सामने सहायता का प्रस्ताव रखा। झाला ने इसे तुरन्त स्वीकार कर लिया और पिंडारियों तथा मराठों के साथ मित्रता होने पर भी उनके विरुद्ध ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेना व धन से मदद की थी।[17]

झाला जालिमसिंह का मराठों के साथ पचास वर्ष का सम्बन्ध रहा। वह कई बार मराठों के विरुद्ध व उनके पक्ष में भी लड़ा था। वह राजनीतिक पटुता से कोटा राज्य की मराठों की लूट खसोट से रक्षा करने में सफल रहा। उसने लाखों रुपये 'खण्डणी' के रूप में मराठों को भुगतान किये थे। वह अनेक बार सिन्धिया, होल्कर, पंवार व पेशवा से साक्षात्कार कर चुका था। सिन्धिया और होल्कर से उसकी बड़ी घनिष्ठता थी। उनके पारस्परिक पत्र-व्यवहार बड़े स्नेहपूर्ण हुआ करते थे। पेशवा भी उसके लिए बड़े सम्मान सूचक शब्दों का प्रयोग करता था। मराठा सरदारों के वकील उसके मित्र थे। लालाजी बल्लाल उसका अभिन्न मित्र था। अम्बाजी इंगले भी उसका व्यक्तिगत मित्र था। सामाजिक पर्वों पर वे एक दूसरे के यहा उपस्थित होते थे। उसने राज्य में अनेक मराठा पंडितों को नौकरी रख रखा था। अनेक मराठा पदाधिकारियों को राज्य में जागीरें प्राप्त थी। राजस्थान के अन्य राज्यों में जब कि मराठों के साथ सन्धियां होती थी और भंग हो जाती थी, कोटा में उनके साथ किये गये समझौते स्थायी रूप से बने रहे। उसके कारण मराठों के सम्बन्ध कभी विच्छेद नहीं हुए। अंग्रेजों के आगमन पर ही ऐसा सम्भव हुआ था।[18]

झाला जालिमसिंह कोटा राज्य में सर्वेसर्वा बन चुका था। उसकी यह भी आकांक्षा थी कि पड़ोसी राज्य मेवाड़ को चंगुल में फंसा कर सम्पूर्ण राजस्थान पर

अपना वर्चस्व स्थापित करे। इसलिए जब कभी भी उसे अवसर मिला, उसने मेवाड़ के मामले में हस्तक्षेप किया। लालसोट के युद्ध में जब महादजी सिन्धिया असफल होकर राजस्थान से पलायन कर गया था, उस समय समस्त राजस्थान में मराठा-विरोधी लहर चल पड़ी थी। मेवाड़ में भी राजमन्त्री सोमचन्द गांधी ने चूंडावतों और शक्तावतों में मेल करवा कर संयुक्त रूप से सैनिक कार्यवाही कर मेवाड़ स्थित मराठों को मार भगाने के लिए निम्बाहेड़ा, निकुम्भ, जीरण आदि स्थानों पर अधिकार कर लिया था। शक्तावतों के आग्रह पर झाला जालिमसिंह ने कोटा से एक सैनिक टुकड़ी इस सैनिक अभियान में भाग लेने के लिए भेजी थी। कुछ समय बाद मराठे पुनः मेवाड़ में सबल हो गये और चूंडावतों तथा शक्तावतों में भी फिर से उनका प्राचीन पारस्परिक वैमनस्य उभर कर सामने आया। चूंडावतों ने शक्तावतों के पक्षपाती मन्त्री सोमचन्द की हत्या करवा दी जिसके फलस्वरूप चूंडावतों और शक्तावतों में संघर्ष चालू हो गया। चित्तौड़ पर चूंडावतों का अधिकार था। महाराणा ने अब झाला जालिमसिंह को, जो चूंडावतों का शत्रु था, महादजी सिन्धिया के पास पुष्कर भेजा। झाला ने महादजी से सन्धि कर उसे महाराणा की सहायता के लिए मेवाड़ लाया। पहले यथास्थान पर उल्लेख किया जा चुका है कि झाला को कोटा भेज दिया जाये। इस शर्त पर रावत भीमसिंह ने चित्तौड़गढ़ को राणा के सुपुर्द करना स्वीकार कर लिया था। झाला को निराश होकर कोटा लौटना पड़ा था। इस तरह चूंडावतों को शक्तिहीन बनाकर मेवाड़ पर अपना प्रभाव स्थापित करने की झाला की मह नीति सफल नहीं हो सकी।[19]

कुछ समय बाद जलिमसिंह को अपनी राजनीतिक चालों का उपयोग करने का एक और अवसर मिला। मेवाड़ में लकवादादा तथा अम्बाजी इंगले के प्रतिनिधि गणेश पंत के बीच लड़ाई छिड़ी हुई थी। उस समय अबाजी इंगले का भाई बालेराव गणेश पंत की सहायतार्थ मेवाड़ पहुचा। उस समय झाला भी, जो इंगले का परम मित्र था, अपनी सेना के साथ उसकी मदद हेतु मेवाड़ गया। वहा युद्ध हुआ, परन्तु बालेराव या तो डर कर या लकवादादा के पुराने अहसानो का स्मरण कर रणक्षेत्र से हट गया। ऐसी स्थिति में महाराणा ने अम्बाजी इंगले का पक्ष त्याग दिया। राजराणा का मेवाड़ में ठहरने का कोई औचित्य नहीं रहा। अतः इस बार भी झाला को निराश होकर मेवाड़ से लौटना पडा था।[20]

लकवादादा के देहान्त हो जाने के बाद बालेराव मेवाड़ के प्रधान मन्त्री सतीदास से जा मिला। स्थिति को अनुकूल समझ कर जालिमसिंह एक सेना के साथ मेवाड़ पहुंचा और वह शक्तावतों का पक्ष लेने लगा। कुछ समय बाद बालेराव और महाराणा के बीच झगड़ा हो गया जिसमें बालेराव को परास्त कर दिया गया और वह कैद कर लिया गया। छठे अध्याय में बताया जा चुका है कि चूंडावत सहयोगी राजकीय सेना को झाला ने तेजाघाटी के युद्ध में परास्त कर दिया था। महाराणा ने झाला के साथ समझौता कर लिया जिसके अनुसार बालेराव को कैद से

मुक्त कर दिया गया तथा युद्ध-क्षति के रूप में जालिमसिंह को जहाजपुर का किला और परगना सौंप दिया गया। जालिमसिंह ने अपनी ओर से विष्णुसिंह शक्तावत को वहां का शासक नियुक्त कर दिया।[21]

झाला जालिमसिंह जहाजपुर लेकर सन्तुष्ट होने वाला नहीं था। वह भीलवाड़ा से पूर्व का समस्त क्षेत्र कोटा राज्य में मिलाने का इच्छुक था। उसने कोटड़ी और सांगानेर भी हस्तगत कर लिए। इसके बाद मांडलगढ़ पर अधिकार करने के यत्न किये गये परन्तु इसमें वह सफल नही हुआ। इसके सम्बन्ध में पिछले अध्यायो मे यथास्थान विवरण दिया जा चुका है।

सिन्धिया व होल्कर को 'खण्डनी' चुकाने तथा महाराणा के व्यक्तिगत व्यय के लिए समय-समय पर जालिमसिंह मेवाड़ राज्य को ऋण के रूप मे धन देता रहता था। उसने इस प्रकार 71 लाख रुपये राणा को कर्ज मे दिये थे। इस ऋण की अदायगी हेतु मेवाड़ के ईंटोदा, सकरगढ़, हस्तड़ा आदि परगनों पर कोटा राज्य का शासन स्थापित हो चुका था। जिस समय कोटा राज्य और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बीच सन्धि हुई, कर्नल टॉड ने अपने प्रभाव से ये सभी परगने वापिस मेवाड़ को दिला दिये थे। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अंग्रेजो के साथ सन्धि होने तक झाला जालिमसिंह का मेवाड़ की राजनीति में निरन्तर हस्तक्षेप चलता रहा।[22]

कोटा और बून्दी के बीच दीर्घकाल से वैमनस्य चला आ रहा था जिससे दोनो हाड़ा राजघरानों को बड़ी क्षति उठानी पड़ी थी। जालिमसिंह ने बून्दी के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की नीति अपनाई। उसने अपनी पुत्री का विवाह बून्दी के रावराजा विष्णुसिंह के साथ कर दिया। फिर झाला जालिमसिंह ने बून्दी राज्य के प्रधानमन्त्री धायभाई सुखराम से पाटण के स्थान पर मुलाकात की और वहां दोनो हाडा राज्यो के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये जाने के लिए बल दिया गया। सुखराम पाटण में केशवराय के दर्शनार्थ वहां पहुंचा था। झाला भी उसी समय वहां पहुंच गया और सुखराम का बड़ा स्वागत-सत्कार किया गया। उसी समय उक्त बातचीत सम्पन्न हुई। वि. सं. 1831 (1774 ई.) मार्गशीर्ष बदी द्वितीया को दोनों राजनीतिज्ञों ने श्री केशवराम जी को साक्षी करके मित्र होने की शपथ ली थी। झाला जालिमसिंह सुखराम को कोटा ले गया और कोटा महाराव के साथ उसकी भेंट करवाई। महाराव उम्मेदसिंह ने सिरोपांव, उपहार आदि देकर उसका स्वागत किया। कुछ दिनों तक वह कोटा में ठहरा रहा, फिर वह बून्दी लौटा। उस समय उसके साथ झाला के प्रतिनिधि भी बून्दी गये जिनका बून्दी के राव ने बड़ा स्वागत किया था। इस प्रकार दोनो हाड़ा राज्यों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गये। यह झाला की कूटनीति का ही परिणाम था।[23]

सन् 1792 ई. मे जालिमसिंह ने अपनी पुत्री अजबकौर बाई का विवाह

बून्दी के राव किशनसिंह के साथ बड़े धूमधाम के साथ अपनी पैतृक जागीर नान्ता में सम्पन्न किया। राजराणा ने इस विवाह में मुक्तहस्त से खर्च किया था। इस विवाह के अवसर पर मराठा सरदार, पिंडारी नेता, राजस्थान के राजा-महाराजा और अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति आमन्त्रित थे। इस शादी के समय नान्ता में 12 हजार से भी अधिक लोग एकत्रित हुए थे। जालिमसिंह ने बून्दी के राजपरिवार से अपना सम्बन्ध जोड़ा। वह इस शादी के माध्यम से बून्दी के शासन पर अपना वर्चस्व स्थापित करने की आकांक्षा रखता था। बून्दी का राव विशनसिंह इस समय केवल 19 वर्ष का नवयुवक था। उसका पितामह उम्मेदसिंह स्वेच्छा से सन्यासी हो गया था और वह धर्म-यात्रा में जगन्नाथपुरी चला गया था। बून्दी के राव को सलाह दी कि वह उम्मेदसिंह को वापिस बून्दी न आने के लिए पत्र लिखे। प्रशासन का कार्य सुखराम चलाता था और हिम्मतसिंह नाथावत राव का मुख्य सलाहकार था। हिम्मतसिंह की मृत्यु हो जाने पर कृष्णसिंह नाथावत का नवयुवक पर प्रभाव रहा। कृष्णसिंह पर जालिमसिंह का प्रभाव था। उसके माध्यम से झाला ने पहले तो सुखराम को पदच्युत करवाया और फिर उसे दण्डित किया गया। बून्दी के प्रशासन मे सभी महत्त्वपूर्ण पदों पर जालिमसिंह ने अपने विश्वसनीय व्यक्तियों की नियुक्तियां करवाई जिससे जालिमसिंह के उद्देश्य का पता चल गया। वह बून्दी के शासन को पूर्ण रूप से अपने प्रभाव मे लाना चाहता था। बून्दी के प्रतिष्ठित व्यक्तियो और राव के हितैषियो ने उसे सचेत किया कि वह जालिमसिंह की राजनीतिक चालों में न फंसे। उसे उम्मेदसिंह को वापिस बून्दी बुलवाने के लिए कहा गया। विशनसिंह भी अब सतर्क हो गया। उसने जालिमसिंह की सलाह की अवहेलना करना शुरू कर दिया। राज्य के शासन में अब वह स्वयं रुचि लेने लगा। अतः जालिमसिंह के लक्ष्य की पूर्ति नही हो सकी। उम्मेदसिंह भी बून्दी लौट आया जिससे विशनसिंह को उसके अनुभवों का लाभ मिल सका।

जब कोटा के महाराव किशोरसिंह और जालिमसिंह के बीच सत्ता के लिए संघर्ष चालू हुआ, उस समय किशोरसिंह खिन्न होकर शक्तिहीन स्थिति में बून्दी पहुंचा। वहां उसका बडा स्वागत हुआ। जालिमसिंह को भय था कि किशोरसिंह बून्दी के राव की सहायता से कोटा राज्य पर आक्रमण करने की योजना बना रहा है इसलिए उसने पोलिटिकल एजेंट कर्नल टॉड के द्वारा बून्दी के राव पर दबाव डलवाया कि वह कोटा के महाराव को अपने यहां शरण देकर सहयोग प्रदान न करे। यद्यपि कर्नल टॉड के इस व्यवहार से राव विशनसिंह बड़ा अप्रसन्न हुआ, फिर भी उसने उसकी आज्ञा की अवहेलना नही की। कोटा के महाराव को निराश होकर बून्दी से भी पलायन कर जाने के लिए विवश होना पडा।[24] बून्दी का राव राजराणा जालिमसिंह की गतिविधियों से सदैव शंकित रहने लगा था।

अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पिंडारियो का उत्पात निरन्तर बढ़ता जा

रहा था। मौका पाकर वे कोटा राज्य में प्रवेश कर जाते थे और लूट-मार कर वहां की जनता को उत्पीड़ित किया करते थे। पिंडारी वहां अधिक समय तक नहीं ठहरते थे। वे आंधी की तरह आते थे और आंधी की भांति ही लौट जाते थे, इसलिए राजकीय सेना उन्हें युद्ध में भी नहीं हरा सकती थी। वि.सं. 1830 (1773 ई.) में कोटा राज्य के दक्षिणी भाग में पिंडारियों ने बहुत लूट-मार की और कुछ समय के लिए उन्होंने अपना पड़ाव वहां डाल दिया। इस पर झाला जालिमसिंह ने दयानाथ भट्ट के नेतृत्व में एक राजकीय सेना पिंडारियों के विरुद्ध भेजी। इस सेना ने गागरोण के निकट पिंडारियों को पराजित कर उन्हें कोटा राज्य की सीमा से बाहर खदेड़ दिया।[25]

कोटा राज्य की दक्षिण पूर्वी सीमा पर स्थित गांवों को पिंडारियों के आक्रमणों से सुरक्षित रखने के लिए स्थायी रूप से अमरराम और सिलेदार मोहनसिंह के नेतृत्व में वहां एक राजकीय सेना तैनात कर दी गई। सीमावर्ती क्षेत्रों के भील, मीणा, रेवारी आदि सामरिक प्रवृत्ति वाले लोगों को संगठित कर स्थानीय सेना का गठन किया गया। उन्हें राज्य की ओर से शस्त्र दिये गये। गांवों की रक्षार्थ इन अर्द्ध-सैनिकों को विभिन्न छोटी-छोटी टुकड़ियों में विभाजित कर अपने-अपने नेताओं के नियंत्रण में अलग-अलग जगहों पर नियुक्त कर दिया था। सामूहिक तौर से वे सभी राजकीय सेनापति के अधीन रखे गये थे। राजपूत भोमियों को अपने-अपने क्षेत्रों की पिंडारियों से रक्षा करने का दायित्व सौंपा गया। इस प्रकार की व्यवस्था से जालिमसिंह ने पिंडारियों की लूट-खसोट से कोटा राज्य को सुरक्षित रखने का प्रयास किया, परन्तु अन्ततोगत्वा जब पिंडारियों की संख्या में वृद्धि होने लगी और उनके आक्रमण भी बार-बार होने लगे तब राजराणा ने अपनी नीति में परिवर्तन किया। उसने अब इन पिंडारियों को सहानुभूति, प्रेम और सहयोग से जीतना चाहा। उसने पिंडारियों के साथ मित्रता का व्यवहार किया तथा उन्हें येन-केन प्रकारेण सन्तुष्ट रखा गया। उसने पिंडारियों को अपने राज्य में बसने के लिए आमन्त्रित किया। उन्हें खेती करने के लिए भूमि और सुविधाएं व रियायतें दी गईं। झाला की इस नीति के फलस्वरूप बहुत से पिंडारी कोटा राज्य की सीमा पर बस गये और वे वहां खेती आदि कर शान्तिमय जीवन व्यतीत करने लगे। पिंडारियों के अनेक नेताओं को झाला जालिमसिंह ने जागीरें प्रदान कर उन्हें कोटा राज्य का जागीरदार बनने का सम्मान दिया। वे भी अन्य जागीरदारों की भांति वार्षिक कर राज्य-खजाने में जमा करवाते थे तथा राजकीय सेवा के लिए अपनी हैसियत के अनुसार घुड़सवार प्रस्तुत किया करते थे। ये पिंडारी जागीरदार राज्य के अन्य जागीरदारों व भोमियों की भांति सीमा की रक्षा का कार्य करने लगे।[26]

करीमखां और अमीरखां पिंडारियों के बहुत बड़े नेता थे जिनके पास कई हजार घुड़सवार रहते थे। वे मराठा सरदारों की सेवा में रहा करते थे। करीमखां

जब दौलतराव सिन्धिया द्वारा कैद कर लिया गया तब उसकी माता व अन्य सम्बन्धियों को राजराणा ने बड़ी सहानुभूति और प्रेम के साथ कोटा राज्य में शरण दी थी और उन्हें सभी प्रकार की सुविधाएं प्रदान की गईं। उन्हें बिलेन्दी गांव में ठहराया गया और उनके खाने-पीने की अच्छी व्यवस्था की गई। करीमखां के पुत्र श्यामतखां को एक हजार रुपये प्रति माह जीवन-निर्वाह के लिए दिये गये। जालिमसिंह ने पाच लाख रुपये देकर करीमखां को कैद से मुक्त करवाया था। इस आपत्तिकाल मे अपनी माता व अन्य सम्बन्धियों को कोटा राज्य में शरण देने के कारण करीमखां राजराणा का बड़ा आभारी था। वह झाला के साथ बड़े प्रेम व आदर का व्यवहार किया करता था। करीमखां के परिवार के सदस्य, जिनमे उसके पुत्र भी सम्मिलित थे, स्थायी रूप से कोटा राज्य में रहने लगे थे। जिस स्थान पर वे रहते थे, वह स्थान 'पिंडारियों की छावनी' के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा था। 1815 ई० में कर्नल टॉड ने उनकी वस्तियों का अवलोकन किया था।[27]

अमीरखां बड़ा साहसी और वीर पिंडारी सरदार था। जालिमसिंह उससे बहुत प्रभावित था। उससे मित्रता रखने मे ही झाला अपना हित समझता था। 1801 ई० मे जब जालिमसिंह ने अपने पुत्र गोवर्धनदास का विवाह किया, उस समय उसने अमीरखां और उसके परिवार को आमन्त्रित किया था। अमीरखां सपरिवार इस शादी में उपस्थित हुआ था और वर-वधू के लिए उसने बड़े कीमती उपहार भेंट किये थे। राजराणा ने अपनी पुत्री अजबकुंवरी के विवाह में भी पिंडारी जागीरदारों व सरदारों को आमन्त्रित किया था। वे बड़े शाही ठाट से अपने अनुयायियों के साथ वहां उपस्थित हुए थे। झाला ने भी इनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया था।[28]

अमीरखां बराबर जालिमसिंह को अन्य राज्यों की गतिविधियों से पत्रों द्वारा अवगत कराता रहता था। जालिमसिंह ने अमीरखां को शेरगढ़ मे रहने का स्थान दिया। अमीरखां इधर-उधर लूट-खसोट कर शेरगढ़ में आ जाया करता था। यहां किले में उसका परिवार बिल्कुल सुरक्षित था। राजराणा ने पिंडारियों के साथ भाईचारे के सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। अमीरखां की बेगम जालिमसिंह को राखी भेजा करती थी और जालिमसिंह भी उसे सुन्दर उपहार भेजा करता था।[29]

पिंडारियो के प्रति जालिमसिंह द्वारा अपनाई गई नीति का मूल उद्देश्य कोटा राज्य को पिंडारियों की लूट-खसोट से सुरक्षित रखना था, और इसीलिए वह पिंडारी सरदारो को उपहार, सैनिक सहायता, ऋण आदि देकर प्रसन्न रखता था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने करीमखां और अमीरखां के परिवार के सदस्यों को शरण दी थी क्योंकि पिंडारियों के बड़े-बड़े सरदारों के स्त्री-बच्चे व परिवार के अन्य सदस्य स्थायी रूप से कोटा राज्य में निवास करते थे; इसलिए ये सरदार

कोटा राज्य की सुरक्षा का सदैव ध्यान रखते थे। इसके अतिरिक्त इस मैत्री से जालिमसिंह को एक दूसरा लाभ भी था। होल्कर कोटा पर अनेक बार आक्रमण कर चुका था। अत: जालिमसिंह को सदैव उसका भय बना रहता था। इसीलिए जालिमसिंह ने अमीरखा को शेरगढ़ में बसाया। अमीरखां को रहने के लिए सुरक्षित स्थान मिल गया और जालिमसिंह को होल्कर के विरुद्ध खड़ा करने के लिए एक पिंडारी सरदार।[30]

राजराणा जालिमसिंह की पिंडारियों के प्रति अपनाई गई नीति के फलस्वरूप पिंडारी, जिनके नाम से लोग भयभीत हो जाते थे, जिनका जीवन लूट-मार पर आधारित था और बड़े निर्दयी और खूंखार होते थे, कोटा राज्य में सभ्य और भद्र नागरिकों की भाँति शान्तिमय जीवन व्यतीत करने लगे थे। झाला जालिमसिंह की यह महती उपलब्धि कही जा सकती है। अंग्रेजों के साथ कोटा राज्य की सन्धि हो जाने के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने राजराणा पर दबाव डाल कर पिंडारी जागीरदारों से 51 गांव, जिनकी आमदनी 63,700 रुपयों की आंकी गई थी, जब्त करवा दिये थे। धीरे-धीरे पिंडारियों को कोटा राज्य की सेना से भी मुक्त-कर दिया गया।[31]

अंग्रेजों के साथ सम्बन्ध—जैसा कि पहले छठे अध्याय में बताया जा चुका है, 1804 ई० में अंग्रेजी सेनानायक कर्नल मानसन के नेतृत्व में कम्पनी सरकार द्वारा होल्कर पर आक्रमण किया गया था। उस समय कोटा के झाला जालिमसिंह ने मानसन की सहायता की थी। 1817 ई० में जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने पिंडारियों को कुचलने के लिए झाला से सहयोग मांगा तब पिंडारियों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध होते हुए भी उसने कर्नल टॉड के आग्रह पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी को मदद देना सहर्ष स्वीकार कर लिया था। इस सहयोग के कारण कोटा राज्य को डीग, पचपहाड़, अहोर और गंगराड़ के परगने प्राप्त हुए थे और 1818 ई० की सन्धि के अनुसार राज्य की सारी सत्ता झाला जालिमसिंह को व उसके वंशजों को दे दी गई थी। अब कोटा का महारावं नाममात्र का शासक रह गया था।[32]

महाराव उम्मेदसिंह की 1819 ई० में मृत्यु हो गई। महाराव उम्मेदसिंह के स्थान पर उसका लड़का किशोरसिंह द्वितीय कोटा राज्य के सिंहासन पर आसीन हुआ। जालिमसिंह झाला पुनः राज्य के 'मुसाहिब आला' पद पर नियुक्त किया गया। वह नेत्रहीन व वृद्ध हो गया था। यद्यपि राज्य की नीति सम्बन्धी सभी निर्णय वह ही लेता था तथापि उसने राज्य का सामान्य प्रशासन अपने पुत्र माधोसिंह को सौंप दिया था। महाराव किशोरसिंह को जालिमसिंह एवं उसके पुत्र माधोसिंह का प्रशासन पर एकाधिकार पसन्द नहीं था। वह कोटा का वास्तविक शासक बनने का उत्सुक था। राज्य में अब दो गुट बन चुके थे। एक गुट का नेतृत्व झाला जालिमसिंह और उसका पुत्र माधोसिंह कर रहे थे, दूसरे गुट में महाराव का

सबसे छोटा भाई पृथ्वीसिंह और जालिमसिंह का औरस पुत्र गोवर्धनदास सम्मिलित थे। वे कोटा के महाराव को शासन अधिकार दिलाने के लिए प्रयत्नशील थे। कम्पनी सरकार का प्रतिनिधि पोलिटिकल एजेंट कर्नल टॉड ने झाला जालिमसिंह का समर्थन किया।

झाला जालिमसिंह व पोलिटिकल एजेन्ट महाराव किशोरसिंह के दोनों सलाहकार पृथ्वीसिंह और गोवर्धनदास को कोटा नरेश से पृथक् कर देने के पक्ष में थे। वे दोनों राजमहल में रहते थे। इनको गिरफ्तार करने के लिए गढ़ का घेरा डाल दिया गया। घेरा कई दिनों तक चलता रहा। अन्त में स्थिति को असह्य समझ कर महाराव किशोरसिंह ने अपने सहयोगियों के साथ किले के बाहर निकल रंगबाड़ी में जाकर अपना डेरा लगाया। कर्नल टॉड महाराव से मिला और उसे समझा कर पुनः किले में ले आया, परन्तु गोवर्धनदास कोटा राज्य से निष्कासित कर दिया गया।

टॉड द्वारा इस प्रकार स्थापित की गई शान्ति अल्पकाल तक ही रही। कुछ समय बाद दोनो पक्षों में पुनः विरोध की अग्नि भड़क उठी। किशोरसिंह ने कुछ सैनिकों की सहायता से किले पर अधिकार कर लिया। इस पर झाला ने किले का घेरा डाल दिया और गोले बरसाने आरम्भ कर दिये। महाराव अपने भाई पृथ्वीसिंह के साथ किले को छोड़ बून्दी की ओर प्रयाण कर गया। गोवर्धन भी अपने स्वामी की सेवा मे बून्दी में उपस्थित हो गया। परन्तु कर्नल टॉड के संकेत पर जब बून्दी नरेश उसे सहायता देने को तैयार नही हुआ तो किशोरसिंह वहां से वृन्दावन पहुंचा। वहां से एक बार उसने दिल्ली पहुंचकर रेजीडेन्ट से मुलाकात की और सन्धि की गुप्त धाराओं मे परिवर्तन करने के लिए आग्रह किया परन्तु रेजीडेन्ट ऐसा करने के लिए तैयार नही हुआ।

किशोरसिंह एक वर्ष के बाद फिर कोटा राज्य की सीमा मे पहुंचा। इस बार 3000 हाड़ा राजपूत उसकी सहायता के लिए उपस्थित हो गए। झाला जालिमसिंह की सहायता के लिए पोलिटिकल एजेंट कर्नल टॉड के नियन्त्रण में एक अंग्रेजी फौज पहुंच गई थी। टॉड ने महारावल को सन्धि की धाराओं के अनुसार राज्य करने की सलाह दी, परन्तु इसका कोई असर नहीं हुआ। अक्टूबर 1821 ई० को बाणगंगा के तट पर मंगरोल नामक स्थान पर युद्ध हुआ। उसमें महारावल पराजित होकर पीछे हटा और नाथद्वारा चला गया। उसने कोटा राज्य श्रीनाथ जी को समर्पित कर दिया। अन्त में मेवाड़ के भीमसिंह द्वारा मध्यस्थता करने पर महाराव और झाला जालिमसिंह के बीच 22 नवम्बर, 1821 को समझौता हो गया। इस समझौते के अनुसार यह तय हुआ कि महाराव के निजी कार्यों में जालिमसिंह हस्तक्षेप नही करेगा और झाला के राजकाज मे महाराव दखल नही देगा। दिसम्बर 1821 ई. में किशोरसिंह कोटा लौट आया। 1824 ई. में झाला

जालिमसिंह का देहान्त हो गया। वह उस समय 85 वर्ष का था। उसकी मृत्यु के बाद सन्धि के अनुसार उसका लड़का माधोसिंह जो पहले से ही राजकार्यों से सम्बन्धित था, विधिवत् कोटा का दीवान और फौजदार बन गया।[33] जैसे-तैसे किशोरसिंह और माधोसिंह के बीच मैत्री बनी रही और राज्य का कार्य चलता रहा। परन्तु किशोरसिंह का उत्तराधिकारी रामसिंह (1828 ई. में गद्दी पर बैठा) और माधोसिंह का पुत्र मदनसिंह जब 1833 ई. में क्रमशः फौजदार और दीवान बने तो महाराव और फौजदार के सम्बन्ध बिगड़ गये जिसके फलस्वरूप 1837 ई. में कोटा का अंग-भंग हुआ और झालावाड़ के नाम से एक नये राज्य का उदय हुआ।[34]

सन् 1761 ई० से 1824 ई० तक कोटा राज्य पर जालिमसिंह का एकछत्र शासन रहा। वह बड़ा वीर, साहसी, चतुर और अपने समय का माना हुआ कूटनीतिज्ञ था। उसने कोटा के हाड़ा सामन्तों को शक्तिहीन कर दिया और वहां राज्य में शान्ति और कानून की व्यवस्था बनाये रखने में पूर्ण रूप से सफल रहा। उसने मराठों और पिंडारियों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रख कर साम, दाम और भेद की नीति अपना कर कोटा राज्य की रक्षा की। उसने कोटा और बून्दी से शादी-सम्बन्ध स्थापित कर पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। उसका मेवाड़ की राजनीति पर भी दबदबा रहा। जब अंग्रेजी शक्ति का राजस्थान में अभ्युदय हुआ तो वह अंग्रेजों का सहयोगी हो गया। इस प्रकार वह एक सफल राजनीतिज्ञ सिद्ध हुआ।

सन्दर्भिका

1. मिस आर०पी० शास्त्री, झाला जालिमसिंह, पृ० 19–35;
   वीर विनोद में लिखा है कि माधोसिंह सावर से सीधे कोटा राज्य में गया था। सूर्यमल मिश्रण ने अपनी पुस्तक 'वंश भास्कर' में माधोसिंह का बून्दी आना लिखा है। उसका बून्दी में स्वागत किया गया था। मिश्रण का कथन अधिक विश्वसनीय है। टॉड ने हिम्मतसिंह को मदनसिंह का पुत्र और पृथ्वीसिंह का भाई माना है। टॉड, भाग 2, पृ० 419
2. वही, पृ० 49–50
3. एम०एल० शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ० 459–60, टॉड ने महाराव की नाराजगी का कारण गुमानसिंह और जालिमसिंह दोनों

का एक ही स्त्री से प्रेम करना माना है। परन्तु शर्मा के अनुसार जालिमसिंह की बढ़ती हुई शक्ति से शंकित होकर कोटा के जागीरदारों के कहने से महाराव ने उसे कोटा राज्य से निष्कासित किया था। भाग 2, पृ० 420, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ० 650, पाद टिप्पणी 3

4. ओझा, भाग 2, पृ० 650–51; शास्त्री, पृ० 54–55
5. वंश भास्कर, भाग 4, पृ० 3738–49; वीर विनोद, पृ० 1556–58
6. शर्मा, पृ० 463–464, स्वरूपसिंह भूतपूर्व महाराव अजीतसिंह के छोटे भाई बख्तसिंह का पुत्र था। वह इटावे का जागीरदार था।
7. टॉड, भाग 2, पृ० 422; शर्मा, भाग 2, पृ० 470–71
8. वंशभास्कर, भाग–1, पृ० 3816–18; शास्त्री, पृ० 62–63
9. टॉड, भाग 2, पृ० 423–25; शर्मा, भाग 2, पृ० 475–77
10. तवारीख झालावाड़, पृ० 14–15; शर्मा, भाग 2, पृ० 479
11. टॉड, भाग 2, पृ० 425–27; शर्मा भाग 2, पृ० 510–12
12. शर्मा, भाग 2, पृ 521-27
13. वही, पृ० 482-83
14. वही, पृ० 483
15. वही, पृ० 485
16. वही, पृ० 485-86, 489-495
17. वही, पृ० 519
18. वही, पृ० 518-19, द्रष्टव्य: परिशिष्ट संख्या 12, कोटा राज्य का इतिहास, भाग 2
19. शर्मा, पृ० 498-501, (i) भीम-विलास, पृ० 102 (ii) ओझाभाग 2, पृ० 677-682,
20. शर्मा पृ० 501-02
21. (i) वंशभास्कर, भाग 4, पृ० 3912
    (ii) वीर विनोद, भाग 2, प्रकरण 15
    (iii) टॉड, भाग 2
    (iv) ओझा, भाग 2, पृ० 693
22. शर्मा, भाग 2, पृ० 504-05
23. (i) शर्मा, भाग 2, पृ० 507-08
    (ii) शास्त्री, पृ० 255-56
24. शास्त्री, पृ० 257

25. शर्मा, भाग 2, पृ० 481
26. शास्त्री, पृ. 186-191
27. शास्त्री, पृ. 194-197, (i) टॉड, भाग 2, पृ. 589
28 शास्त्री, पृ 200-212
29. वही, पृ. 205
30. (i) टॉड, भाग 2, पृ. 445 (ii) शर्मा, भाग 2, पृ. 482, (iii) शास्त्री, पृ. 211,
31. शास्त्री, पृ. 216
32. शर्मा, भाग 2, पृ. 519 और 534
33. (i) टॉड, भाग 2, पृ. 460-476; (ii) द्रष्टव्य: शर्मा, भाग 2, पृ. 552-586; (iii) शास्त्री, पृ. 217-254
34. शर्मा, पृ. 587, 591-596

नामानुक्रमणिका

(अ)

(ख)

(ग)

(छ)

(ज)

(ड)

(त)

(थ)

(द)

(फ)

(ब)

(य)

(र)

(य)

(र)

(ल)

(व)

(ह)

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पैरा	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
2	1	8	1927	1527
4	2	1	सूत्रों	सूबों
4	2	अन्तिम	मे	से
6	2	12	चावंड	चावंडा
17	3	4	सेनार्थ	सेवार्थ
19	4	1	जाबनकाल	जीवनकाल
33	1	14	ढलवाये	ढ़लवाये[5]
33	1	19	बेदारबख्त	बादारबख्त
34	1	10	कर दी गई	कर दी गई[9]
35	2	4	राठोड़ा	राठौड़ी
39	2	12	आवृहान	आह्वान
40	1	16	गद्दा	गद्दी
42	1	10	राणा ने	राणा
42	1	11	भिजवाई	भिजवाए
48	2	3	शर्त	शान्ति
55	3	10	सूडों	सूबों
60	पाद टिप्पणी 66	8	मत मत	यह मत
66	1	13	शाह	शाहू
71	—	4	विधापुर	विद्यापुर
75	3	8	कर	पर
77	2	22	उभयसिंह	अभयसिंह
79	4	5	के	ने
94	2	18	दलेलसिंह	दलेलसिंह के लिए
94	2	19	बादशाही फरमान के लिए भी	बादशाही फरमान भी

पृष्ठ	पैरा	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
102	1	19	को देने लिए	को देने के लिए
110	पाद टिप्पणी	1	[illegible]	[illegible]
121	—	15	[illegible]	[illegible]
124	1	4	[illegible]	[illegible]
134	1	19	धर्मा का	धर्मा की
150	3	16	दत्ताजी	दत्ताजी
151	1	13	हुए	हुई
151	2	5	[illegible]	[illegible]
156	—	26	दोनों हुए	दोनों गए
179	1	10	[illegible]	[illegible]
186	1	15	[illegible]	[illegible]
191	3	8	रामजी पटेल	रामजी पाटिल
195	2	4	[illegible]	[illegible]
204	—	14	आत्मग्लानि को	आत्मग्लानि की
226	पाद टिप्पणी	51	पेशीन	देशीन
,,	,,	58	पेशीन	पेशीन
227	,,	86	पेशीन	पेशीन
230	—	27	भड़कते	भड़काते
236	—	3	जसवन्तराव	यशवन्तराव
236	2	6	हेवगढ़	देवगढ़
243	2	1	जदुनाथ सरकार	जदुनाथ सरकार[34]
243	2	8	एम. एस. शर्मा[34]	एम. एस. शर्मा[35]
253	3	3	मुत्सद्दियों	मुत्सद्दियों
257	2	1	मार्च 1808	मार्च 1809
257	3	2	जून 1810	जून 1809
259	1	16	प्रमुग	प्रमुख
269	3	5	उसने	उससे
269	4	1	उससे	उसने
271	2	6	गांवों	घरों
273	2	3	गट	गुट
275	2	10	वसूल	वसूल

पृष्ठ	पेरा	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
275	2	10	सोघमुख	सौधमुख
276	1	4	स्थायी	स्वामी
277	—	1	रार्मासह	रायसिंह
278	1	8	व्याप्त थी[11]	व्याप्त थी[110]
280	3	4	पोकर	होकर
317	2	7	व्ययं	व्यर्थ
321	3	1	हिंडन	हिंडौन
326	—	1	गाहद	गोहद
326	1	12	अधिकारा	अधिकारी
327	2	1	मसीर कासिम	मीरकासिम
328	1	15	सरजमल	सूरजमल
354	—	7	मुगलो	मुगलों के
356	1	5	तेशकशी	पेशकशी
359	5	3	जाती जाती है।	जानी जाती है[34]
364	2	9	'सारण'	'सरणा'
364	3	7	आत्मव्यसकता	अल्प व्यसकता
367	1	6	(दोहरा सम्मान) होती थी।	(दोहरा सम्मान) होती थी[99]
369	1	4	झटवाड़ा	भटवाड़ा
370	1	8	भाला जालिमसिंह	झाला जालिमसिंह
388	2	1	'त्याग बख्शी'	'प्याद बख्शी'
392	1	1	पसगनों	परगनो
403	2	8	राशि 454102 रु०	राशि 454102 रु०[99]
406	2	14	निपटाती	निपटाता
411	2	8	गागरोम	गागरौन
416	पाद टिप्पणी	76	टॉड भाग 1, पृ० 3911	टॉड भाग 1 पृ० 391
417	पाद टिप्पणी	100	रामत्यारी	रामप्यारी
417	पाद टिप्पणी	107	नब्द कोटा भण्डार 27, 34, 53	न० 6 कोटा भण्डार 27, 34, 52
419	—	6	प्रशस्तिया आज आज	प्रशस्ति आज
422	पेरा 1	12	भागलिया था[6]	भाग लिया था।

पृष्ठ	पैरा	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
423	3	14	शीशी	शीश की
431	2	15	मदरासा	मदरासी
433	4	5	सहकारिता म	सहकारिता तथा
434	—	6	प्रभाव पड़ना	प्रभाव पड़ता
439	4	5	भीमसान	भीमसार
440	2	2	ठहरने थे ।	ठहरते थे ।[10]
441	1	13	रैनी	रैली
469	1	2	मजदूरी	मजदूरों
476	पाद टिप्पणी	73	माना भाव	माना भाव
476	,,	,,	भीमसोलवर	भीमसेनवर
482	पैरा	4	फिर म	फिर से
485	—	6	होलर	होल्कर
488	—	1	किशनसिंह	बिशनसिंह